प्रकाशक
जगदीशचन्द्र गुप्त
अशोक प्रकाशन
नई सड़क दिल्ली ६

प्रथम संस्करण १९६२
मूल्य १२ ५
पृष्ठ संख्या ५६८

भूमिका

हिन्दी के मध्ययुगीन संत कवियों में कबीर अग्रगण्य हैं। इनके हृदय हिमालय से अजस्र प्रवाहित होने वाली काव्य-पयस्विनी ने मध्ययुग को ही पावन नहीं किया था वरन् वह आज भी हमारे जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा बनी हुई है। अपने युग की अनेकानेक साधनाओं एवं विचारधाराओं की सारमयी समन्विति रूप उनकी वाणी शास्त्रीय साहित्यिकता से असम्पृक्त तथा मौलिक विकास से विरहित होने के कारण सामान्य मानव के लिए सरलता से ग्राह्य और बोधगम्य नहीं रही है। सम्भवतः इसीलिए वह बहुत दिनों तक उपेक्षिता रही। संतोष है कि अब विद्वानों की प्रवृत्ति उसके अध्ययन की ओर उन्मुख है। इस दिशा में अब अच्छी प्रगति हो रही है। प्रस्तुत रचना उसी प्रगति का एक प्रशस्त चरण है। इसमें इसी लेखक ने उनकी वाणी के अर्थ-गौरव एवं उनके स्वतन्त्र चिन्तन के आत्मस्पर्शात स्फुलिंगों की झाँकी सँजोने की चेष्टा की है। उसने पहली बार कबीर ग्रंथावली की व्याख्या करने का प्रयास किया है। प्रारंभ में उसने एक पांडित्यपूर्ण आलोचना जोड़ कर अपनी कृति के मूल्य और गौरव में वृद्धि कर दी है। सम्पूर्ण रचना पर लेखक के व्यापक अध्ययन प्रकर्ष पांडित्य और अनुसंधानात्मिका प्रतिभा की छाप दिखाई पड़ती है। मैं उसकी व्याख्या और आलोचना दोनों से प्रभावित हुआ हूँ। मैं यह निस्संकोच कह सकता हूँ कि प्रस्तुत टीका बहुत-सी दृष्टियों से बड़ी उपयोगी है। विद्यार्थी समाज का तो इससे विशेष कल्याण होगा ही साथ ही-साथ संत काव्य के मर्मज्ञों में भी यह समादृत होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

—गोविन्द त्रिगुणायत

निवेदन

'मसि कागद छुयो नहीं कलम गह्यो नहिं हाथ' के कवि की स्थान-स्थान पर प्राप्त 'कहै कबीर ताहि गुर करौं जो या पदहि बिचारै' जैसी घोषणाओं के सम्मुख मुझ अल्पज्ञ की क्या सामर्थ्य जो परमपद प्राप्त शून्य साधक अगम्य लोकवासी रामरसमाते मस्त फक्कड़ की सहज-सुन्दर वाणी का मर्म हृदयंगम कर सकूँ ? कबीर ने अपने विचारों को जिस सहज प्रकृत सुन्दर भाषा के माध्यम से व्यक्त किया है, उससे अधिक सरल रूप की अपेक्षा करना अयुक्त है। किन्तु कबीर-काव्य की भाषा परम्परा और परिस्थिति वश आज के अधिकांश समाज के लिए कुछ दुरूह हो गई है। प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा यदि इस कठिनाई को दूर करने में कबीर के अभिप्रेत को पाठक तक पहुँचाने में मैं किंचित् भी सफल हो गया तो अपने श्रम को सार्थक समझूँगा। विद्यार्थियों की दृष्टि से पुस्तक को पूर्ण बनाने के लिए प्रारम्भ में आलोचना भाग भी जोड़ दिया गया है। जिन विद्वानों की कृतियों से पुस्तक में सहायता ली गई है मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

—लेखक

विषय-सूची

आलोचना भाग

जीवन-परिचय	१
कबीर-कालीन परिस्थितियाँ	७
कबीर पर पड़ने वाले आध्यात्मिक प्रभाव	१४
कबीर की भक्ति-पद्धति	४
कबीर-काव्य की रस-गागरी	१८
कबीर के प्रतीक और उलटबांसियाँ	४८
कबीर का रहस्यवाद	५१
कबीर सुधारक एवं समन्वयवादी	६१
कबीर का दर्शन	६७

साखी भाग

गुरुदेव कौ अंग	७७
सुमिरण कौ अंग	८५
बिरह कौ अंग	९१
ग्यान बिरह कौ अंग	१ ४
परचा कौ अंग	१ ६
रस कौ अंग	१२
लांबि कौ अंग	१२२
जर्णा कौ अंग	१२१
हैरान कौ अंग	१२५
लै कौ अंग	१२५
निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग	१२६
चितावणी कौ अंग	११२

मन कौ अंग	१४९
सूषिम मारग कौ अंग	१५०
सूषिम जन्म कौ अंग	१५
माया कौ अंग	१६१
चाणक कौ अंग	१७१
करणीं बिना कथणीं कौ अंग	१७७
कथणीं बिना करणीं कौ अंग	१७८
कामीं नर कौ अंग	१७९
सहज कौ अंग	१८५
साँच कौ अंग	१८६
भ्रम बिधौंसण कौ अंग	१९
भेष कौ अंग	१९४
कुसंगति कौ अंग	२
संगति कौ अंग	२ २
असाध कौ अंग	२ ४
साध कौ अंग	२ ५
साध साषीभूत कौ अंग	२ ८
साध महिमा कौ अंग	२११
मधि कौ अंग	२१५
सारग्राही कौ अंग	२१९
बिचार कौ अंग	२२
उपदेश कौ अंग	२२३
बेसास कौ अंग	२२६
पीव पिछांणन कौ अंग	२३२
बिर्कताई कौ अंग	२३३
सम्रथाई कौ अंग	२३५
कुसबद कौ अंग	२३८
सबद कौ अंग	२३९
जीवन मृतक कौ अंग	२४१
चितकपटी कौ अंग	२४४
गुरुसीष हेरा कौ अंग	२४५
हेत प्रीति स्नेह कौ अंग	२४८

आलोचना भाग

जीवन-परिचय

महात्मा कबीर हिन्दी साहित्य की महान् विभूति हैं। उन जैसा निरक्षर भट्टाचार्य किन्तु उच्चतम दार्शनिक उन जैसा फक्कड़ और अपनी धुन में मस्त रहने वाला किन्तु फिर भी समाज की प्रत्येक गतिविधि पर कठोरतम दृष्टि रखने वाला उन जैसा अक्खड़ फकीर किन्तु राम में प्रतिपल रमने वाला 'मसि कागद न छूकर' भी अपनी सरस वाणियों में काव्य की रस गागरी उंडेल देने वाला व्यक्तित्व दूसरा नहीं। किन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि विलक्षण व्यक्तित्व वाले कबीर का जीवन वृत्तान्त अब तक प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। वस्तुतः उन कवियों ने जिनकी वाणी पर बैठकर स्वयं सरस्वती ने कलम पकड़ी थी जो सर्वप्रसिद्ध और सर्वपूज्य होकर भी अपने को अहं की परिधियों से दूर रख सके थे जो कवि के साथ-साथ सन्त भक्त और परमतत्त्व के साधक भी थे अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। यदि लिखा भी है तो इतना संक्षिप्त कि उस एक-आध पंक्ति को लेकर अनुमान के भवन खड़े किए जा सकते हैं। यही स्थिति कबीर के साथ है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उनके जीवन के एकाध ही सूत्र को पकड़ा जा सकता है। अतः बहिःसाक्ष्य ही उनके जीवन-वृत्त जानने का एकमात्र आधार है। बहिःसाक्ष्य के आधार पर भी जो सामग्री प्राप्त है उससे अनेक अनुमान परिकल्पित किये जा सकते हैं।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कबीर की जन्मतिथि के विषय में इतना तो निश्चित ही है कि कबीर संस्कृत कवि जयदेव और नामदेव के पश्चात् हुए और इनके समय तक जयदेव और नामदेव की कीर्ति पर्याप्त फैल चुकी थी—

"गुरु परसादी जैदेव नामा।
भगति के प्रेम इन्हहि है जाना॥"

किन्तु इतने ही निश्चय से हम कबीर की जन्मतिथि के विषय में कुछ नहीं जान सकते अब भी अनुमान के लिए पर्याप्त अवसर रहता है। उनके जन्म के विषय में सर्वाधिक प्रसिद्ध यह पद उद्धृत किया जाता है—

"चौदह सौ पचपन साल गये चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए॥
घन गरजे दामिनि दमके बूँदें बरसें झर लाग गए।
लहर तालाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रकट भए॥"

उपर्युक्त पद्यानुसार कबीर का जन्म संवत् १४५५ के ज्येष्ठ मास में शुक्ल पक्ष की पूर्णमासी को जिस दिन सोमवार था हुआ। किन्तु ज्योतिष गणनानुसार संवत् १४५५ में ज्येष्ठ-पूर्णिमा सोमवार को नहीं पड़ती अपितु १४५६ में ज्येष्ठ-पूर्णिमा सोम को ही पड़ती है। अत 'चौदह सौ पचपन साल गए' का अर्थ सं १४५५ बीत जाने से लगाया गया है। इसी आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने इनकी जन्मतिथि जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार सं १४५६ वि निश्चित की थी किन्तु डा पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल जी ने इनकी जन्मतिथि सं १४ ७ और सं १४४० के बीच मानी है। उनका तर्क है कि नामदेव की प्रसिद्धि कबीर के समय में पर्याप्त हो गई थी। नामदेव की मृत्यु सं १४ ७ में मानी जाती है अत कबीर का जन्म सं १४ ७ के पश्चात् ही हुआ होगा। डा बड़थ्वाल जी कबीर के गुरु रामानन्द की मृत्यु तिथि सं १४६७ मानकर यह निश्चित करते हैं कि रामानन्द की मृत्यु के समय कबीर की आयु लगभग १८ २ वर्ष अवश्य रही होगी क्योंकि इससे पूर्व दीक्षा लेने वाली बात समझ में नहीं आती। इस भांति वे संवत् १४ ७ और संवत् १४४० के मध्य ही कबीर का जन्म मानते हैं। डा हंटर के अनुसार इनकी जन्मतिथि १४३७ वि सं व वेस्कार्ट के अनुसार सं १४६७। किन्तु डा श्यामसुन्दर डा रामकुमारसिंह प्रभृति विद्वान् आपकी जन्मतिथि संवत् १४५५ ही मानते हैं। यही तिथि अब अधिक मान्य है।

कबीर के जन्म की तिथि पर जिस भांति अनेक मत और विचारधाराएं हैं उसी प्रकार कबीर के जन्म स्थान के विषय में भी प्रमुख रूप से तीन मत हैं। प्रथम यह कि वे काशी में उत्पन्न हुए थे द्वितीय मत के पोषक मानते हैं कि वे मगहर में प्रकट हुए थे जबकि तीसरे मत के कुछ लोग उन्हें आजमगढ़ जिले में स्थित बेलहरा गांव का निवासी मानते हैं। काशी को कबीर का जन्म स्थान मानने वाले विद्वान् अपने समर्थन में कबीर की इन पंक्तियों का उद्धृत करते हैं—

'काशी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चिताये।

× × × ×

"त बाह्मन मैं काशी का जुलाहा चीन्ह न मोर गियाना।

× × × ×

"सगल जनमु सिवपुरी गंवाइया मरती बार मगहर उठि आइया।"

× × × ×

'पहले दरसन काशी पायो पुनि मगहर बसे आई।

× × × ×

"बहुत बरस तप कीया काशी मरनु भइया मगहर की बासी।

अन्तःसाक्ष्य के अतिरिक्त किंवदन्तियों और सम्प्रदाय के अन्य उल्लेखों द्वारा भी काशी ही कबीर का स्थान ठहरता है। उनके शिष्य धर्मदास आदि ने भी उन्हें

काशी वासी ही बताया है। डा० श्यामसुन्दर दास जी तथा पं० सीताराम चतुर्वेदी जी का भी यही मत है। किन्तु डा० रामकुमार वर्मा डा० त्रिगुणायत जी आदि ने उनका जन्म स्थान मगहर का माना है। मगहर को जन्म स्थान बताने वाले कबीर की एक पंक्ति जो काशी की पुष्टि करने वाले अपने पक्ष-समर्थन में देते हैं का पाठ इस प्रकार देते हैं—

'पहले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई।

इस पंक्ति में 'दरसन' शब्द को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। काशी के पोषक इस दरसन का अर्थ प्रभु-दर्शन करते हैं जबकि 'मगहर' को जन्म स्थान मानने वाले 'दरसन' का अर्थ जन्म धारण करना बताते हैं। डा० गोविन्द त्रिगुणायत जी मगहर को जन्म स्थान बताने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

१ मगहर में मुसलमानों की बस्ती बहुत अधिक है, वे सभी अधिकतर जुलाहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि कबीर इन्हीं जुलाहों के घर उत्पन्न हुए हों।

२ कबीरदासजी ने अपनी रचनाओं में मगहर की कई बार चर्चा की है। इस का तात्पर्य यह है कि मगहर से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने उसे सदैव काशी के समकक्ष ही पवित्र और उत्तम माना है। इतनी अधिक श्रद्धा भावना केवल जन्म स्थान के प्रति ही हो सकती है।

३ कबीरदास जी मृत्यु का समय समीप जान कर मगहर चले गए थे। उन्होंने काशी में रहना उचित नहीं समझा। यह मानव स्वभाव है कि वह जहां उत्पन्न होता है वहीं मरना चाहता है।

४ कबीरदास जी ने स्पष्ट लिखा है कि सबसे प्रथम उन्होंने मगहर को देखा था उसके बाद वे काशी में बस गये थे। उक्ति में खींचातानी कर दूसरा अर्थ *लगाना हठधर्मी मात्र होगी।*

५ कबीरदास जी ने लिखा है कि 'तोरे भरोसे मगहर बसियो मेरे तन की तपन बुझाई'। इस पंक्ति से स्पष्ट है कि अपनी जन्मभूमि में पहुंचकर इस प्रकार की शान्ति का अनुभव करना स्वाभाविक भी है।

एक बात और है आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया में लिखा है कि बिजली खां ने बस्ती जिले के पूर्व में आमी नदी के दाहिने तट पर रोजा सम्वत् १५०७ में बनवाया था। फिर्हरर मोदी और कबीर के मिलन की कथा के आधार पर निश्चित किया जा चुका है कि *उस समय कबीर जीवित थे।* मेरा अनुमान है कि बिजली खां कबीर का भक्त था। उसने कबीर के जीवन काल में कबीर के जन्म स्थान में कोई स्मारक बनवाया होगा। आगे चलकर फिदाई खां ने उनकी मृत्यु के बाद उस रोजे

का कम किया होगा।'[1]

किन्तु त्रिगुणायत जी के ये समस्त तर्क सर्वमान्य नहीं। डा० सरनाम सिंह जी ने प्रथम तर्क का उत्तर देते हुए कहा है— यह ठीक है कि मगहर में जुलाहों की संख्या अधिक है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि १ उक्त स्थान का 'मगहर' नाम कबीर का समकालीन है २ वहाँ कबीर के जन्म के पहले से ही जुलाहे रह रहे हैं ३ कबीर का जन्म किसी जुलाहे के ही घर में हुआ था और ४ वह इसी स्थान का जुलाहा था? हो सकता है कि यह मगहर कोई नयी बस्ती हो और कबीर के बाद जुलाहे लोग यहाँ आ बसे हों और उन्होंने अपने स्थान को महत्व देने के लिये कबीर से सम्बन्धित मगहर' के पीछे मगहर नाम रख लिया हो।[2]

दूसरे तर्क के उत्तर में सरनामसिंह जी का कथन है कि "यहाँ यह मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि यह मगहर जिसका कबीर दास ने बार-बार नाम लिया है काशी के समीप का ही मगहर है और यह भी कोई पुष्ट तर्क नहीं है कि मनुष्य जन्म स्थान के प्रति ही अधिक श्रद्धा-भावना रखता है। यदि ऐसा हो तो अनेक लोग अपने जन्म स्थान को छोड़कर श्रद्धावश काशी मथुरा द्वारिका आदि तीर्थ स्थानों में न जाय। "मैं समझता हूँ कबीरदास ने अपनी रचनाओं में मगहर की चर्चा इसलिए नहीं की कि वह उनका जन्म-स्थान था वरन् इसलिए कि वे मगहर पर लगे हुए निर्मूल कलंक को अन्ध-विश्वास के सिर मढ़ना चाहते थे। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित नहीं कि कबीर द्वारा की गई मगहर की चर्चा में श्रद्धा-भावना की सन्नद्धता न होकर रूढ़ि एवं अन्ध-विश्वास की उन्मूलनकारिणी प्रवृत्ति की सतर्कतामात्र है।'[3]

तीसरे तर्क के प्रत्युत्तर में डा० सरनामसिंह जी का कहना है कि कबीर जैसे निर्मोह जीवनमुक्त के सम्बन्ध में यह कहना उचित नहीं कि वे अपने अन्त काल में भी जन्म स्थान के ममत्व का संवरण न कर सके और यह कहना भी अनुचित है कि कबीरदास जी मानव-स्वभाव के अनुकूल ही मृत्युकाल के समीप अपने जन्म स्थान मगहर को चले गये थे। अतएव यह कहना ही उचित दीख पड़ता है कि वे सत्य के अनुसन्धान से प्राप्त अपने निजी विश्वास के अनुकूल ही मगहर गये थे। वे इस अन्ध वि वास का खण्डन करना चाहते थे कि मगहर में मरने वाले को गधे की योनि या नरक की प्राप्ति होती है। चौथे तर्क के प्रत्युत्तर में डा० सिंह का कथन

१ 'कबीर की विचारधारा'—पृष्ठ ११—२।
२ कबीर एक विवेचन' —पृष्ठ ११।
३ वही—पृष्ठ १२।

है कि— 'अनेक प्रतिलिपियों में यह पंक्ति भी तो मिलती है— 'पहले दरसन काशी पाये पुनि मगहर बसे आई । अतः इस समस्या के हल के निमित्त हठधर्मी नहीं वरन् इन दोनों पंक्तियों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में शोध की आवश्यकता है ।

पाँचवें तर्क का उत्तर देते हुए डा. सिंह ने उस पंक्ति का अर्थ ही दूसरा लिया है जो वास्तव में अभिप्राय से अधिक निकट है । छठे तर्क का उत्तर देते हुए डा० सिंह ने कहा है 'डा. साहब (त्रिगुणायत जी) का अनुमान है कि यह स्मारक कबीर के जन्म-स्थान में ही बनवाया गया होगा । उनके मत से कबीर का जन्म स्थान है काशी का समीपवर्ती मगहर । फिर यहाँ उस स्मारक का प्रश्न ही नहीं उठता जो बस्ती जिले में आमी नदी के तट पर बनाया गया था ।

तीसरे स्थान आजमगढ़ जिले का बेलहरा का एकमात्र पुष्ट प्रमाण 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' ही है । इस गाँव में एक तालाब भी जिसके साथ कबीर-जन्म की कथा जुड़ी है बताया जाता है । किन्तु फिर भी अधिक पुष्ट प्रमाणों के अभाव में अब इस स्थान को कबीर का जन्म ग्राम कोई नहीं मानता ।

चाहे कबीर का जन्म-स्थान काशी या उसका समीपस्थ मगहर अथवा अन्य कोई स्थान रहा हो किन्तु इतना सुनिश्चित है कि कबीर के जीवन का अधिकांश समय सिकपुरी काशी में ही व्यतीत हुआ यहीं उन्हें सत्संग की वे सुविधाएँ, सभाएँ, प्राप्त हुईं जिनका वर्णन उन्होंने अनेक स्थानों पर किया है एवं अपने जीवन की संध्या के अवसान काल में वे मगहर में आ बसे थे । मगहर में आने का उद्देश्य और कुछ नहीं था अपितु समाज में उसी सामान्य अंधविश्वास को जड़ से उखाड़ना था कि मगहर में शरीर छोड़ने से कुगति होती है । मगहर में ही संवत् १५७५ वि में कबीर का गोलोकवास हुआ था ।

कबीर का जन्म चाहे जिस जाति में हुआ हो किन्तु यह तो सर्वविदित एवं पूर्ण निश्चित है कि वह जुलाहा वंश से सम्बन्धित थी । जातिविषयक मतभेद का मुख्य विषय यह है कि कबीर हिन्दू जुलाहे जिन्हें 'कोरी' या 'कोली' कहा जाता है, व अथवा मुसलमान जुलाहे । अन्तःसाक्ष्य के आधार पर किसी निश्चित मत पर पहुँचना बड़ा कठिन है क्योंकि कहीं कबीर ने अपने को कोरी बताया है तो कहीं जुलाहा । यथा —

'हरि को नाम अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी ॥
× × ×
मेरे राम की अभै पद नगरी कहै कबीर जुलाहा ।"
× × ×
'पूरब जनम हम ब्राह्मण होते ओछे करम तपहीना ।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना ॥" आदि ।

डा श्यामसुन्दर दास डा रामकुमार वर्मा डा हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति सभी विद्वान् यह मानते हैं कि कबीर की जाति मूल रूप से हिन्दू ही थी चाहे उनका पालन-पोषण नीरू-नीमा नामक मुसलमान जुलाहा दम्पति ही ने किया हो। स्वर्गीय डा श्यामसुन्दरदास जी कबीर के जन्म के साथ जुड़ी विधवा ब्राह्मणी की कथा को सत्य करते कहते हैं—"कबीर का विधवा ब्राह्मण-कन्या का पुत्र होना असम्भव नहीं किन्तु स्वामी रामानन्द जी के आशीर्वाद की बात ब्राह्मण कन्या का कलंक मिटाने के उद्देश्य से पीछे से जोड़ी गई जान पड़ती है, जैसे कि अन्य प्रतिभा शाली व्यक्तियों के सम्बन्ध मे जोड़ी गई है। मुसलमान घर में पालित होने पर भी कबीर का हिन्दू विचारों मे सराबोर होना उनके शरीर मे प्रवाहित होने वाले ब्राह्मण अथवा कम से कम हिन्दू रक्त की ओर संकेत करता है। इसी भांति डा राम कुमार वर्मा कहते हैं कि 'कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होंगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियों के संस्कारों से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसाईं कहलाते थे। इन गोसाइयों पर नाथ पंथ का पर्याप्त प्रभाव था। डा हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का कथन है कि 'कबीरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमें से आधों को हिन्दुओं ने जलाया और आधों को मुसलमानों ने गाड़ दिया। कई पण्डितों ने इस बात को कपोलकल्पित किंवदन्ती कहकर उड़ा दिया है। पर मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कबीर दास को (त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियों की भांति) समाधि भी दी गई होगी और उनका अग्नि-संस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो दृढ़ता के साथ ही कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले के योगी जैसी किसी आश्रमभ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी।

जहाँ तक गुरु का सम्बन्ध है मुसलमान लोग उन्हें शेख तकी का शिष्य और कबीर के हिन्दू शिष्य उन्हें रामानन्द का शिष्य बताते हैं। किन्तु पुष्ट प्रमाणों से अब तो यह पूर्ण प्रमाणित हो चुका है कि कबीर के गुरु रामानन्द ही थे। उन्हीं से कबीर को प्रेम और भक्ति तथा राम नाम के अमरदान मिले हैं जिनसे कबीर काव्य भरा पड़ा है। दूसरे, उन्होंने जहाँ कहीं भी रामानन्द का उल्लेख किया है उस वर्णन मे गुरु के लिए अभीष्ट श्रद्धा है जबकि शेख तकी का नाम तो एकाध स्थान पर ही लिया है और वह भी इस रूप में कि स्वयं गुरु रूप में शेख तकी को कोई बात समझा रहे हों। ईश्वर से भी गुरुतर गुरु को मानने वाले कबीर से ऐसी आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने गुरु का नाम इस भांति लेते जिस भांति उन्होंने शेख तकी का उल्लेख किया है। दूसरी ओर जहाँ कहीं भी रामानन्द जी का प्रसंग आया

है, कबीर उतने ही विनम्र मज्ञावनत शिष्य बन गये हैं जितना उनके शिष्य होने के लिये वांछनीय है।

कबीर का विवाह लोई अथवा धनिया नाम की स्त्री के साथ हुआ। कुछ विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि कबीर के दो विवाह हुए थे—प्रथम लोई से और दूसरा धनिया से। इन विद्वानों का कथन है कि द्वितीय विवाह करने का कारण पहली पत्नी लोई के साथ ठीक प्रकार से नहीं पटना है। कबीर के एक पुत्र एक पुत्री—कमाल और कमाली—होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। स्वयं कबीर ने इस बात की पुष्टि इस प्रकार की है—

'बूड़ा बंस कबीर का उपज्यो पूत कमाल।
हरि को सुमिरन छाँड़ि के घर लै आया माल॥

मसि कागद छूयो नहीं कलम गही नहीं हाथ" की घोषणा करने वाले महात्मा कबीर ने कभी किसी पाठशाला की चहारदीवारियों में बैठकर शिक्षा प्राप्त नहीं की किन्तु फिर भी उनका ज्ञान किसी शिक्षित से कम नहीं। वास्तव में पुस्तकीय ज्ञान की तो उन्होंने मिट्टी पीटी है वे तो—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय।
एक अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

के उद्घोषक थे। पोथी को बहाकर वाक्य सागर मध्य से 'रमैं मर्म' में ही रुचि को रमादेने से ज्ञान के उच्चतम सोपान को उन्होंने आत्मसात् कर लिया।

इस भांति हम देखते हैं कि कबीर का जीवन और व्यक्तित्व अनेक विप मताओं में पड़कर उस अचल शिखर के समान हो गया था जिस पर प्रचण्ड से प्रचण्ड झंझावात कुछ भी प्रभाव नहीं छोड़ते अपितु उससे टकराकर स्वयं अपनी शक्ति को क्षीण कर भूमि में मिल जाते हैं।

कबीर-कालीन परिस्थितिया

महापुरुष समय की आवश्यकताओं से उत्पन्न होते हैं—यह कथन चाहे किसी महापुरुष के विषय में पूर्ण उपयुक्त हो या नहीं, किन्तु कबीर के विषय में तो अक्षरशः सत्य है। परिस्थितियों ने कबीर के व्यक्तित्व को इतना प्रखर और तेजस्वी बना दिया था कि समाज के बाह्याचार, धर्माडम्बर, झकोले वह गये। उन्होंने भारतीय लोक मानस का नेतृत्व ऐसे समय में किया जब जनता को ऐसे ही कर्णधार की आवश्यकता थी जो विविध धर्म-भावनाओं विरोधी भावनाओं का केन्द्र किन्तु समन्वय स्थल बन उनका पथ प्रशस्त कर सके। वास्तव में कबीर स्वतः प्रसूत ऐसे कल्प-कुसुम हैं जो

जल की शीतलता और मधुरिमता लेकर भी जल में उत्पन्न नहीं होता अपितु किसी ऐसे स्थल पर उत्पन्न होता है जहां दुर्गन्धमय वनस्पति का वातावरण है किन्तु इस कुसुम के विकास से उसका सौरभ समस्त दुर्गन्धमय वातावरण को सुरभित कर देता है। वे समाज की विषम परिस्थितियों के पंक में प्रसूत ऐसे पंकज हैं जो 'पद्मपत्र मिवाम्भसि' के आदर्श द्वारा जिस सरोवर में उत्पन्न होता है उसे भी निर्मल कर देता है।

कबीर-कालीन विविध परिस्थितियों के विहगावलोकन से इस कथन की सत्यता प्रमाणित होगी।

राजनीतिक परिस्थितियां—

दास वंश की दासता से शिथिल बना भारत हमारा देश तुगलक वंश की बुद्धिमत्तापूर्ण मूर्ख योजनाओं के दुष्परिणाम भोग रहा था। मुहम्मद तुगलक जो इतिहास का सर्वाधिक बुद्धिमान् मूर्ख बादशाह था अपनी राजधानी-परिवर्तन विश्व विजय की महत्त्वाकांक्षा ताम्रमुद्रा प्रचलन जैसी योजनाओं से प्रजा पर कष्ट के पहाड़ तोड़ रहा था। देश में बढ़ते हुए अकाल महामारी नृशंस नर-संहार आदि प्रजा में घोर निराशा और मानसिक ग्लानि के बीज वपन कर रहे थे। तुगलक वंश के शासन में देश की जनता ने देखा कि फीरोज तुगलक जैसे कट्टर मुसलमान संकीर्ण-हृदय शासक का शासन जो अपनी नृशंसता के लिए इतना कुख्यात है कि एक ब्राह्मण को केवल यह कहने पर कि हमारा धर्म भी इस्लाम के समान श्रेष्ठ है अग्नि की लपटों में झोंक स्वाहा कर दिया था। सर्वप्रथम फीरोज शाह तुगलक ने ही ब्राह्मणों पर 'पौज' कर जैसा धार्मिक कर लगाया था। इन्हीं विकराल परिस्थितियों में भारतीय जनता जब अपनी सांसों को गिन रही थी तैमूर का बर्बर आक्रमण हुआ। इस युद्ध ने अपनी भीषण नर-हत्या द्वारा रक्त की ऐसी नदियां बहाईं कि मानवता रो उठी। स्त्री पुरुष बच्चे तैमूर के सैनिकों की संगीनों के भक्ष्य बन गए। भ्रष्टाचार, बलात्कार आदि अमानुषिक कृत्यों से भारतीय जनता का—विशेषतः हिन्दू जनता की रही-सही प्रतिष्ठा सहित—सर्वस्व धूलि-धूसरित हो गया। देश में सर्वत्र अशान्ति आतंक निर्धनता और विपन्नता के रोंगटे खड़े कर देने वाले दृश्य उपस्थित हुए।

इस युद्ध के बाद दिल्ली जो तत्कालीन भारत का भाग्य बिन्दु था पर लोदी वंश की सत्ता स्थापित हुई। बहलोल लोदी ने अपने अल्पकालीन शासन में देश की एकता को सुरक्षित करने का प्रयास किया था किन्तु वह शीघ्र ही काल कवलित हो गया। बहलोल लोदी के पश्चात् सिकन्दर लोदी उसकी परम्परा को सुरक्षित न रख सका और अपनी धर्मान्धता के कारण इसने हिन्दुओं पर अगणित अत्याचार किए।

इतिहासकारों का यहाँ तक कहना है कि इस्लाम ग्रहण कराने के ही लिए उसने एक-एक दिन में १२ हिन्दुओं तक का वध किया था। इस्लाम प्रचार की धुन में व्यस्त इस क्रूर शासक ने हिन्दुओं के समस्त धार्मिक कृत्यों पर रोक लगा मन्दिरों तक को सरायों आदि में परिवर्तित कर दिया था।

ऐसी विकट राजनैतिक स्थिति में भारतीय हिन्दू जनता को ऐसे कर्णधार की आवश्यकता थी जो उन्हें डूबते को तिनके का सहारा देकर भी बचा ले। विपन्न हिन्दू जनता के लिए कबीर एक ऐसे पोत के समान आए जिसने उन्हें जीवनाधार दिया।

राजनैतिक प्रभावों का आकलन करते हुए डा० गो० त्रिगुणायत जी निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं—

१ धर्म सुधार की भावना जागृत हुई। उसी के फलस्वरूप गोरखनाथ जी ने नाथ पंथ चलाया। दक्षिण में लिंगायत और सिद्ध आदि पन्थों का भी उदय इसी धर्म सुधार भावना के कारण हुआ था। इन सब का लक्ष्य हिन्दू धर्म और इस्लाम में सामञ्जस्य स्थापित करना था। कबीर की विचारधारा भी ऐसा ही लक्ष्य लेकर चली थी।

२ पर्दा प्रथा समाज में दृढ़ होती गई। कुछ तो मुसलमानों की देखा-देखी और कुछ इस भावना से कि मुसलमान स्त्रियों को देख मोहित हो बलात्कार न कर बैठें हिन्दुओं में भी पर्दा प्रथा का प्रचार बढ़ गया। (मुसलमानों के अनुकरण की अपेक्षा पर्दा प्रथा अपनाने में आत्म-सुरक्षा की ही भावना अधिक थी। इसी भावना से प्रेरित होकर स्त्रियों ने अपने रूप-सौन्दर्य को विकृत तक किया था।)

३ हिन्दू समाज में निरुत्साह और निराशा फैल गई। इसके फलस्वरूप धर्म की ओर उसकी अभिरुचि बढ़ने लगी। धर्म भी सगुणोपासना में असमर्थ होने के कारण निर्गुणोपासना की ओर झुका। (किन्तु निर्गुणोपासना की ओर झुकने में मुख्य कारण सगुणोपासना का अवसर न प्राप्त होना इतना नहीं जितना जनता का सगुणोपासना से विश्वास उठ जाना है।)

४ हिन्दू लोग राजनीति से उदासीन हो गये। उनका जीवन दारिद्र्य और निराशा में ही बीतने लगा। इसी ऐकान्तिकता और निवृत्यात्मकता से प्रेरित हो उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना प्रारम्भ की।

कबीर के साहित्य में ये सब भावनाएं इस रूप में प्रस्फुटित हुई हैं कि जनता उनसे मनोनुकूल सम्बल पा गई। इससे कबीर-काव्य लोकमानस के इतना सन्निकट है कि उसे पूर्ण का काव्य चाहे जितना ही लोक-मंगल की भावना को लेकर चला

१ कबीर की विचारधारा—पृष्ठ ७१-७२।

हो किन्तु वह जनप्रिय न हो सका। वस्तुतः कबीर-साहित्य प्रथम आवश्यकता को पूर्ण करता है शिव की भावना को प्रश्रय देता है, तदनन्तर काव्य के अन्य प्रयोजनों को पूर्ण करता है। यह साहित्य 'शिव' की ही भावना से प्रसूत है।

सामाजिक स्थिति—

तात्कालिक राजनैतिक परिस्थिति से ही हम यह अनुमान भली भांति लगा सकते हैं कि यहां की सामाजिक दशा अच्छी न रही थी। युद्ध के पश्चात् किसी देश की सामाजिक स्थिति ठीक भी कैसे रह सकती थी? हिन्दू समाज तो विजित जाति होने के कारण घोर मानसिक हीनता ग्रंथि से ग्रसित था। फलस्वरूप उसमें घोर निराशा बढ़ रही थी। यवनों के बढ़ते अत्याचारों को केवल धर्मप्राण हिन्दू जनता कराह रही थी। साथ ही वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था के बंधन जटिल से जटिलतर होते जा रहे थे। हिन्दू-धर्म अपनी वर्ण-व्यवस्था के बंधनों को कठोर कर अपने चतुर्दिक रक्षात्मक व्यूह बनाता जा रहा था एक प्रकार से वह निःशेष हिन्दुओं की पवित्रता के लिए उन्हें हिन्दू रखने के लिए और अधिक कठोर नियमों की सीमा में आबद्ध हो रहा था। इस व्यवस्था से हानि-लाभ दोनों हुए। लाभ तो इस रूप में कि व्यवस्था हिन्दुओं के बचे धर्म की रक्षा में प्राणपण से प्रस्तुत थी और हानि इस रूप में कि यह व्यवस्था रक्षा तो अत्यल्प अंश हिन्दुओं की कर पायी और हिन्दू-समाज से उसका एक बहुत बड़ा निम्नवर्गीय समुदाय पृथक् हो गया। इस निम्नवर्गीय समुदाय को हिन्दुओं की कठोर व्यवस्था द्वारा प्रताड़ना लांछना और तिरस्कार मिला था किन्तु अब इनके सम्मुख इस्लाम का ही उन्मुक्त द्वार था जहां छोटे-बड़े का भेद भाव नहीं था। अब हिन्दू समाज को ऐसे मत की आवश्यकता थी जो 'जाति-पांति माने नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।' की भावना को प्रश्रय दे। विभिन्न बुद्ध साधनाएं और मत इसके लिए प्रस्तुत थे। यही कारण है कि वज्रयानी मन्त्रयानी सिद्ध लगभग सभी निम्न वर्ग के थे और स्वयं कबीर आदि के भी शिष्य निम्न-जातीय हैं। हिन्दू संस्कृति और भाषा-साहित्य सभी ह्रासोन्मुख हो रहे थे क्योंकि शिक्षा का अभाव होता जा रहा था।

दूसरी ओर मुसलमान समाज यद्यपि बहुत सी सुविधाएं प्राप्त कर रहा था तो भी वह अवनति के गर्त में जा रहा था। इसका कारण धन-वैभव पाकर विलासिता में पड़े रहना और आचरणहीनता ही थी। छोटे-छोटे मुसलमान ताल्लुकेदार तक सुन्दरियों की सेना से घिरे रहते थे। इतिहासकारों का कथन है कि यवन जाति इस समय अपना पुरुषत्व को आचरणभ्रष्ट हो गई थी और उनका वह बाहुबल निःशेष हो गया था जिसके आधार पर उन्होंने भारत पर प्रभुसत्ता स्थापित की थी।

इन दोनों जातियों के सम्बन्ध पर जब हम विचार करते हैं तो ज्ञात होगा कि राज्य की नीति और शासकों की क्रूरता द्वारा दोनों जातियों के बीच भेद की एक खाई बढ़ी होती जा रही थी। किन्तु यह सौभाग्य की बात है कि कबीर के समय में आकर दोनों जातियों में एक वर्ग ऐसा हो गया था जो दोनों जातियों को एक देखना चाहता था। वास्तव में कबीर एक ऐसी युग-सन्धि के काल में पैदा हुए थे जिसमें हिन्दू और मुसलमान जातियों के उच्च वर्गों में एक दूसरे के प्रति चाहे कितनी असहिष्णुता क्यों न रही हो लेकिन निम्न वर्ग और जातियों में परस्पर एक दूसरे के निकट आने की और मिल-जुलकर रहने की भावना बलवती होती जा रही थी और युग की आवश्यकता यह थी कि कोई सर्वसाधारण के अनियन्त्रित विक्षोभ और विद्रोह को एक सरल और सीधा मार्ग दिखा सके। कबीर ने निर्गुण प्रेमभक्ति का मार्ग लोगों को दिखाया और उन्होंने प्रेम को ही साध्य और साधन दोनों माना।[1]

इन सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप जो भावनाएं स्वाभाविक रूप से कबीर-काव्य में आईं उनमें समाज की कुरीतियों और बाह्याडम्बरों के प्रति विरोध एवं दोनों जातियों में एकत्व भावना उत्पन्न करना आदि प्रमुख हैं।

धार्मिक स्थिति—

कबीर कालीन धार्मिक स्थिति के परिशीलन से स्पष्ट होगा कि उस समय समाज में नाना धार्मिक साधनाएं प्रचलित थीं। इन समस्त मतों और साधनाओं को विद्वान् दो वर्गों में रखते हैं—एक वे जो उच्च वर्ग में मान्य और प्रिय थीं दूसरी वे जिनमें निम्नवर्गीय समाज रुचि लेता था। डा० सत्यनारायणसिंह शर्मा जी ने इस ही वैदिक धारा और वेद-विरोधी धारा के नाम से पुकारा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वेद-विरोधी साधनाओं के द्वार समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए उन्मुक्त थे जबकि वैदिक धारा के अंतर्गत आने वाली साधनाएं उच्च वर्गों को ही प्रश्रय देती थीं। इन दोनों कोटियों की साधनाओं और सम्प्रदायों में वैष्णव संप्रदाय शैव सम्प्रदाय शाक्त सम्प्रदाय बौद्ध और जैन सम्प्रदाय विशेष प्रसिद्ध थे। इतना ही नहीं इन सम्प्रदायों के भी उपभाग थे जैसे वैष्णव सम्प्रदाय में शंकर, रामानुज माधवाचार्य निम्बार्काचार्य आदि के सम्प्रदाय और शैवों में वीरशैव सम्प्रदाय।

इस समय हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय में इतने आचार-व्यवहार धर्म के कर्मकांड हो गए थे जिनसे जनता एक प्रकार से ऊब गई थी किन्तु फिर भी हिन्दू कहलाने के लिए उसे उन आचरणों का निष्ठापूर्वक पालन करना होता था। पाखंड का इस प्रकार बोलबाला था कि धर्म की व्यापक भावनाएं और उदात्त अर्थ जल गया,

[1] डा० शिवराम सिंह चौहान।

छापा तिलक एवं पत्थर पूजा तक ही सीमित रह गया। गेरुए वस्त्रों की महत्ता रह गई थी साधु की नहीं। सवर्ण हिन्दू अवर्णों पर इतना अत्याचार करते थे कि उनके लिए जीवन निर्वाह दूभर हो गया था। उनकी छाया तक से घृणा की सीमा इतनी बढ़ गई थी कि शूद्र की छाया पड़ने पर भी स्नान की व्यवस्था धर्म के ठेकेदारों ने कर रखी थी।

ऐसी स्थिति में अवर्ण हिन्दुओं के सम्मुख एक ही मार्ग था ऐसे धर्म का पल्ला पकड़ना जो उनको समादृत कर उचित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान कर सके। इसका एकमात्र समाधान प्रस्तुत करता था इस्लाम। यद्यपि भारत में भी नाथ-पंथ आदि जितने भी वेद-विरोधी सम्प्रदाय थे सब जाति-पाँति के बंधन नहीं मानते थे किन्तु जनता इतनी इनकी ओर आकृष्ट नहीं हो रही थी जितनी इस्लाम की ओर। इसका प्रमुख कारण यह था कि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय अपने वैभव को खो कर लुप्तप्राय हो गये थे यदि शेष रहे थे तो बौद्ध धर्म से उद्भूत नाथ पंथ सहजयान सम्प्रदाय आदि जिनमें साधना की गुह्यता इतनी बढ़ती जा रही थी कि वे सर्व साधारण की पहुँच से परे थे। अतः भारत भूमि में इस समय विदेशी धर्म—सूफी मत और इस्लाम—ही शेष रह गये थे जिनकी ओर तथाकथित हिन्दू धर्म के ठेकेदारों से तिरस्कृत निम्न वर्ग आकृष्ट हुए। किन्तु हम देखते हैं कि इन विषम परिस्थितियों में भी हिन्दू धर्म ने अपनी अद्भुत शक्ति का परिचय दिया। यह हिन्दू धर्म की अपरिमेय शक्ति का ही परिणाम है कि इस्लाम ग्रहण करने पर वैभव प्राप्ति के प्रलोभन के होने पर भी अधिकांश जनता सवर्ण हिन्दुओं से पिसकर भी हिन्दू बनी रही। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि यदि हिन्दू-धर्म ने अपने इस अंग को जो दलित वर्ग के नाम से पुकारा जा सकता है इतना उपेक्षित और तिरस्कृत न किया होता और मुसलमानों ने तलवार के बल पर इस्लाम प्रचार न किया होता तो कदाचित् भारतीय जनता का एकाध प्रतिशत भाग भी कठिनाई से ही मुसलमान बन पाता।

इस समय इस्लाम धर्म में भी बाह्याचारों और अंधविश्वासों का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। कुरान रोजा नमाज सम्बन्धी विविध आचरणों में ही धर्म केन्द्रित हो रहा था और तथाकथित इस्लाम के धर्म-प्रचारक शासनकर्ता कादम्ब और कामिनी के विलास में फँसे हुए थे।

कबीर ने दोनों धर्मों के प्रभावों को बड़े निकट से परखा था। उन्हें अपने जन्म के कारण कुछ ऐसी सुविधाएं प्राप्त थीं जो मध्यकाल के किसी अन्य साधक, सुधारक अथवा कवि को प्राप्त नहीं थीं। संयोग से वे ऐसे युग-सन्धि के समय उत्पन्न हुए थे जिसे हम विविध धर्म साधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा

कह सकते हैं। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। कबीरदास ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे जहां से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व जहां एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर अशिक्षा जहाँ एक ओर योग मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग जहां से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।[1]

यही कारण है कि कबीर ने समस्त साधनाओं के दोष-गुणों को इतनी बारीकी से परखा था कि समाज की आँखें खुल गईं और एक नवीन प्रेमाभक्ति का मार्ग उनके सम्मुख कबीर के द्वारा आया।

साहित्यिक परिस्थिति—

साहित्य के विकास के लिए राष्ट्र की संस्कृति का विकास परमावश्यक है। किन्तु ऊपर कैसा जा चुका है कि कबीर के समय भारत का सांस्कृतिक ह्रास हो रहा था। कबीर के समय तक आते-आते हिन्दी अपभ्रंश की गोद से निकलकर चलना ही सीख रही थी। अब तक उसमें दो ही प्रकार का साहित्य प्राप्त होता है या तो आश्रयदाताओं की प्रशंसा में लिखा गया साहित्य अथवा अपने विविध धर्म-सिद्धांतों का व्याख्याता सहजयान वज्रयान आदि का साहित्य। वज्रयानी अथवा सहजयानी साहित्य में हम सन्तमत की बहुत सी बातें अपने प्रारम्भिक रूप में मिल जायेंगी। इस पूर्ववर्ती साहित्य में प्रतिक्रियात्मक भावना जाति-पांति विरोध खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति मिथ्याचरण विरोध मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना का विरोध रहस्यवादी प्रवृत्ति हठयोगी साधना-वर्णन आदि बातें ऐसी प्राप्त होती हैं जो आगे चलकर सन्त मत में प्रचलित हुईं। साहित्यिक परिस्थितियों के देखते समय विस्तार में जाने की आवश्यकता इसलिए नहीं कि कबीर-काव्य का प्रमुख प्रयोजन 'विशुद्ध साहित्य' के समान कलात्मक नहीं अपितु लोकमंगल है। यह दूसरी बात है कि इस लोकमंगल भावना से प्रसूत साहित्य में काव्य की उच्च से उच्चतम वस्तु रस का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर जिन परिस्थितियों में उत्पन्न हुए, वे अत्यन्त विषम थीं। इन्हीं विषम परिस्थितियों ने उन्हें मध्ययुग का युग प्रवर्तक

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी—"हिन्दी साहित्य"—पृष्ठ १२०-२१।

संत और महाकवि बना दिया। अपनी परिस्थितियों का अध्ययन-मनन कर कबीर ने जो कुछ भी कहा है उसमें तत्कालीन समस्त समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है।

कबीर पर पड़ने वाले आध्यात्मिक प्रभाव

किसी भी कवि पर अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। कबीर पर भी उस समय तक प्रचलित नाना धर्म साधनाओं विचारों एवं प्रतिष्ठित धर्मग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। किन्तु कबीर पर यह प्रभाव सीधे नहीं पड़ा है क्योंकि उन्होंने तो पुस्तकीय ज्ञान सीखा ही नहीं था। वे बहुश्रुत थे उन पर विविध धर्म-सम्प्रदायों और दर्शन ग्रन्थों का प्रभाव साधु-संगति से आया है। यही कारण है कि कहीं-कहीं कबीर ने हिन्दू पौराणिक आख्यानों का उपयोग यथावत् नहीं किया है।

कुछ विद्वान् कबीर आदि सन्तों पर इस्लाम का अत्यधिक प्रभाव मानते थे किन्तु डा ह प्र द्विवेदी प्रभृति विद्वानों की नवीन खोजों के प्रकाश में देखने से यह मान्यता निर्मूल दृष्टिगत होती है। आचार्यप्रवर ह प्र द्विवेदी जी का कथन है—"उपस्थापन पद्धति विषय भाव भाषा अलंकार छंद पद आदि में ये संत (कबीर आदि) शत प्रतिशत भारतीय परम्परा में पड़ते हैं। कबीर की एकेश्वर भावना निराकार उपासना समान व्यवहार खण्डन-मण्डन प्रवृत्ति सब में मुसलमानी मत पाने वाली मान्यताएं अब निर्मूल सिद्ध हो चुकी हैं।

कबीर पर पड़ने वाले आध्यात्मिक प्रभावों पर दृष्टिपात करने से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कबीर भारतीय अथवा विदेशी परम्परा में किसके अधिक निकट हैं—

वैदिक साहित्य का प्रभाव—वास्तव में वैदिक धर्म ग्रन्थों का इतना विशाल और समृद्ध भण्डार है कि भारतीय सांस्कृतिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि पर उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतभूमि में कोई भी ऐसा धर्म अथवा सम्प्रदाय नहीं जिस पर कुछ न कुछ प्रभाव वैदिक चिन्तन का न हो। वैदिक विचारधारा के विरोध में उत्पन्न धर्म-सम्प्रदाय भी इस प्रभाव से न बच सके।

वैदिक साहित्य को संहिता ब्राह्मण आरण्यक एवं उपनिषद् के रूप में विभक्त किया गया है। संहिताओं में अधिकतर वैदिक देवताओं की स्तुतियाँ संगृहीत हैं। ब्राह्मणों में कर्म-काण्ड का वर्णन मिलता है। आरण्यकों में विविध उपासनाओं की चर्चा है। उपनिषदों में ज्ञान-काण्ड का विवेचन है। भारत में सबसे अधिक उपनिषदों

चर्चा होती रही है। ये उपनिषद् संख्या में बहुत अधिक थे। कहते हैं कि ऋग्वेद की २१ यजुर्वेद की १०२ सामवेद की १ और अथर्ववेद की ९ शाखाएं प्रशाखाएं थीं। इन सभी शाखाओं से सम्बन्धित उपनिषद् भी रहे होंगे। केवल मुक्तिकोपनिषद् में १ ८ उपनिषदों के नाम दिये हैं।[1]

समस्त उपनिषद् साहित्य की रचना ब्राह्मण साहित्य की कर्मकाण्डी प्रवृत्ति के विरोध में हुई है। बहुदेववाद व कर्मकाण्ड की धज्जियां इसी साहित्य में उड़ायी गीं। कबीर के समय भी बहुदेवोपासना एवं ब्राह्मणों द्वारा नियन्त्रित हिन्दू धर्म की कर्मकाण्डी प्रवृत्ति का बोलबाला था। अतः उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार साहित्य यदि प्राप्त था तो वह उपनिषद् साहित्य ही। उपनिषदों में प्रस्थापित अद्वैत भावना का कबीर पर अत्यधिक प्रभाव है। कुछ लोग कबीर की एकेश्वर भावना और निराकार उपासना को इस्लाम से प्रभावित मानते हैं किन्तु यह भ्रामक है। हमें केवल 'एक' शब्द के आधार पर कबीर की ब्रह्म भावना को मुस्लिम प्रभावापन्न नहीं मानना चाहिए। वास्तव में एकत्व भावना वैदिक अद्वैतवाद की आधार भूमि है अद्वैत के सिद्धान्त वाक्य 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' और 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' द्वारा भी यही सिद्ध है कि वह एक ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कुछ नहीं। इस्लाम का खुदा एक होते हुए भी सातवें आसमान पर तख्त के ऊपर बैठने वाला दो हाथ पैर का दाढ़ी वाला सर्वशक्तिमान् है, जबकि कबीर का ब्रह्म उपनिषदों के ब्रह्म के समान इन्द्रियातीत अगम्य अगोचर, अनिर्वचनीय तत्त्वरूप है। श्रुति-ग्रन्थों के परिशीलन से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि वहाँ ब्रह्म की मान्यता दो स्वरूपों में है। एक निर्गुण निर्विशेष निराकार और निरुपाधि एवं दूसरा इन सब बातों से युक्त अर्थात् सगुण सविशेष साकार और सोपाधि। साधारणतः यह बात बड़ी अटपटी सी लगती है कि वह ब्रह्म एक साथ ही इस भांति द्विरूपी कैसे है ? इसके अनुसार में वेदान्तवादी कहते हैं कि ब्रह्म अपने आप में तो निर्गुण निराकार निर्विशेष और निरुपाधि है परन्तु अविद्या या नासमझी जिसे हम माया भी कह सकते हैं के कारण हम उसमें उपाधियों या सीमाओं का आरोप करते हैं। यह नासमझी अथवा भ्रम हमारा ही है। इसलिए उपनिषद् बारम्बार स्थान-स्थान पर ब्रह्म को इस प्रकार बताती है—

'वह मोटा भी नहीं पतला भी नहीं छोटा भी नहीं बड़ा भी नहीं लाहित भी नहीं स्नेह भी नहीं छायायुक्त भी नहीं अंधकार भी नहीं वायु भी नहीं आकाश भी नहीं।
—'बृहदारण्यकोपनिषद्'

"वह शब्द रहित स्पर्श रहित रूप रहित रस रहित गंध रहित है।
—कठोपनिषद्

---

1 कबीर की विचारधारा"।

इस प्रकार के वर्णन हमें कबीर की ब्रह्म सम्बन्धी वाणियों में प्राप्त होते हैं यथा—

'संतो धोखा कासू कहिये ।
गुण में निरगुण निरगुण में गुण है,
बाट छाड़ि क्यूं बहिये ॥
अजरा, अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई ।
नाति सरूप वरण नहीं जाके घटि घटि रह्यौ समाई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड छाड़ि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई ॥

× × × ×

"भारी कहौं तो बहु डरौं हलका कहौं तो झूठ ।
मैं का जाणूं राम कूं नैनूं कबहुं न दीठा ॥"

कबीर का आराध्य उपनिषदों के ब्रह्म के समान ही अजीब-गरीब है जो बिना ही रूपाकार के क्रियाशील है, बिना पग चलता है बिना मुख खाता है ।

कबीर पर वैदिक उपनिषद् साहित्य का दूसरा प्रभाव मन-साधना का है । इन उपनिषद् ग्रन्थों मे मन की चंचलता पर नियन्त्रण रखने के लिये बहुत आग्रह है । मन की चंचलता ही विरागी को रागी संन्यासी को गृहस्थ बना देती है । कबीर ने भी मन-साधना पर बड़ा जोर दिया है—

'काया कसूं कमाण ज्यूं पंचतत्त करि बाण ।
मारौं तो मन मृग को नहीं तो मिथ्या जाण ॥

× × × ×

"मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार हैं, ते साधू कोई एक ॥"

× × × ×

कबिरा मन ही गयन्द है आंकुस दै दै राखि ।
विष की बेलि परिहरो अमृत के फल चाखि ॥

कबीर मे इष्ट के नाम-स्मरण का जो अत्यधिक आग्रह है वह भी श्रुतियों का प्रभाव है । इस संसार-सागर से तरने के लिए 'नामस्मरण' को कबीर ने बोहित तुल्य माना है यथा—

'तो मन मेरे हरि का नांउ पांति न बांधी बेडि न बाड़ै ।
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बाड़ी भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी ॥
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा तुम्ह बिन और न जानौं दूजा ॥

नाउ मेरे बांधव नाउ मेरे भाई अंत बिरियां नाउं सहाई ॥
नाउं मेरे निरधन ज्यू निधि पाई कहै कबीर जसे रंक मिठाई ॥

वैष्णव प्रभाव—वैष्णवों के प्रपत्तिप्रधान भक्तितत्व ने कबीर को बहुत प्रभावित किया है। प्रेमाभक्ति की प्राप्ति कबीर को वैष्णवों के प्रसिद्ध आचार्य रामानन्द से हुई है। इस अनन्य भक्ति प्राप्ति से कबीर-साहित्य को एक नूतनता प्राप्त होती है। यह नूतनता अत्यन्त विलक्षण है जो कबीर को सिद्धों और नाथों की परम्परा से सर्वथा पृथक् कर देती है। भक्ति ऐसा तत्व है जिसे पाकर कबीर स्वयं धन्य हुए, इसी से उन्होंने अपने साहित्य को भी धन्य कर दिया। कबीर की भक्ति की अविरलता और अनन्यता को देखते ही बनती है वैष्णव प्रभाव ही है। यथा—

'कबीर रेख सिंदूर की काजल दिया न जाई।
नैनू रमइया रमि रह्या दूजा कहां समाई ॥

इसी अनन्यता का परिचय कबीर ने आत्मा को 'सती' का रूपक देकर किया है—

"कै सुमिरि साईं मजे तजे आन की आस।
ताहि न कबहू परिहरै पलक न छांड़ै पास ॥

इतना ही नहीं उस ब्रह्म के प्रति इतनी श्रद्धा है कि वे उसका कुत्ता बनने में भी नहीं हिचकते—

"कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउ ॥
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउ ॥"

इष्ट की इस भावना पर तुलसी के—

'राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो' की शत-शत भावनाएं न्योछावर की जा सकती हैं। कबीर पर यह सब विशुद्ध वैष्णव प्रभाव है।

डा० ह० प्र० द्विवेदी जैसे विद्वानों ने इस मान्यता का कि कबीर की प्रेम भावना पर सूफी प्रभाव है खण्डन कर यह प्रस्थापना की है कि कबीर की प्रेम की पीर वैष्णव भावना से प्रभावित है। द्विवेदी जी का कथन है कि "निर्गुण राम का उपासक होने के कारण उन्हें वैष्णव न मानना उस महात्मा के साथ अन्याय करना है। वास्तव में वे स्वभाव और विचार दोनों से वैष्णव थे।"

कबीर-काव्य में शील क्षमा दया उदारता संतोष धैर्य दीनता और सत्यता आदि का उपदेश भी वैष्णवों के 'सदाचार-महत्त्व' से प्रभावित है। यथा—

बड़ा भया तो का भया जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर ॥"

× × ×

'ऊँचै कुल का जनमिया करनी ऊँच न होय।
स्वर्ण कलश मदिरा भरा साधु निन्दै सोय॥

कबीर से पूर्व जाति-पाँति के विभेद को दूर करने का प्रयास वैष्णवाचार्य रामानुज ने किया था। अतः जाति-पाँति के बंधनों को न मानना भी कबीर की विचारधारा पर वैष्णव प्रभाव है। हाँ! यह निस्सन्देह सत्य है कि रामानुज तो केवल भक्ति क्षेत्र में ही सामाजिक समानता ला सके किन्तु कबीर ने प्रत्येक क्षेत्र में जाति-पाँति के विभेद को दूर किया। उन्होंने सवर्ण हिन्दू और मुस्लिम वर्गों के बीच की खाई को पाटा और— 'जाति-पाँति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' की पुकार लगाई।

सर्वप्रथम रामानन्द ने धर्म के सिद्धान्तों को जन भाषा में उद्घाटित किया अन्यथा अब तक समस्त धर्म-सिद्धान्त की व्याख्या का एकमात्र वाहन संस्कृत थी जो अब जन-भाषा नहीं थी। कबीर पर भी यह प्रभाव ही है कि उन्होंने तथा अन्य परवर्ती सन्तों ने अपने विचारों का माध्यम लोक-भाषा को ही बनाया। कबीर ने कहा था— 'संस्कृत है कूप जल भाषा बहता नीर'। वैसे कहा जा सकता है कि— 'मसि कागद' तक न स्पर्श करने वाला संत संस्कृत में कैसे रचना करता? किन्तु हमारा विचार है कि सत्य के इस अद्भुत अन्वेषी के लिए संस्कृत में भी काव्य रचना करना असम्भव न था।

कबीर पर एक अन्य वैष्णव प्रभाव माया-तत्त्व है। जिस प्रकार वैष्णवों ने प्रभु-भक्ति में माया को बाधक माना है उसी प्रकार कबीर ने भी माया को साधना में 'दुर्गम घाटी बोय' में से एक माना है। वैष्णवों में प्रचलित विष्णु के सहस्र नामों में से भी कबीर ने कुछ को अपनाया है। कबीर-काव्य में राम हरि गोविन्द मुकुन्द मुरारि, विष्णु, मधु-सूदन आदि नामों का प्रयोग हुआ है, जिनमें 'राम' तो सर्वप्रमुख और कबीर-काव्य का केन्द्र बिन्दु है ही।

इतना ही नहीं कबीर ने वैष्णवों के कुछ भावात्मक कल्पित स्थानों को भी अपनी वाणी में स्थान दिया है। यथा—

'अमरपुर लै चलु हो सजना।
× × ×
"अमरपुरी की सकरी गलियाँ अड़बड़ है चढ़ना।

कबीर ने इन्द्रपुरी विष्णुलोक आदि इन समस्त स्थानों के नाम को यद्यपि शून्य के अर्थ में ही ग्रहण किया किन्तु इससे वैष्णव प्रभाव सहज ही में परिलक्षित किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर पूर्ण वैष्णव थे जिसकी घोषणा वे स्वयं भी करते हैं।[1]

बौद्धों के महायान का प्रभाव—

बौद्धों की महायान शाखा का भी प्रभाव कबीर पर पड़ा है। जीवन की क्षण-भंगुरता मध्यम मार्ग शरीर कष्ट का विरोध आदि बातें कबीर में महायान के प्रभाव से ही आईं। क्षणिकवाद का उदाहरण देखिए—

"पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा प्रभात॥"

शरीरकष्ट का विरोध जैसा महायान में है, वैसा कबीर में भी कहीं-कहीं मिलता है। यद्यपि योग साधना में कुण्डलिनी साधना आसन के फलक बोधना इड़ा पिंगला सुषुम्ना का समन्वय इन सब बातों में काया-कष्ट है ही किन्तु फिर भी

"भूखे भगति न कीजै अपनी माला लीजै

जैसी विरल उक्तियाँ तो मिल ही जाती हैं।

सिद्धों और नाथ-पंथी योगियों का प्रभाव—

कबीर पर बौद्ध मत के अन्तिम दिनों में प्रचलित वज्रयान और सहजयान शाखाओं के सिद्धों का भी बहुत प्रभाव पड़ा। सिद्धों की ही सुसम्बद्ध परम्परा नाथों की है।

डा० रामकुमार वर्मा जी का कथन है कि "सिद्ध साहित्य नाथ पंथ और संतमत एक ही विचारधारा की तीन परिस्थितियाँ हैं। इन दोनों का सम्मिलित प्रभाव कबीर पर पड़ा है। कबीर ने जिस योग साधना षट्चक्र इड़ा पिंगला सुषुम्ना आदि का वर्णन कर साधना का रूप बनाया है वह सिद्धों और नाथों द्वारा अनुमोदित है। यह दूसरी बात है कि कबीर तक आते-आते साधना के कुछ पारिभाषिक शब्द दूसरे रूप में ग्रहण किये गये। कबीर के निम्नस्थ पद द्वारा हम देख सकते हैं कि कबीर ने योग-साधना को वही रूप दिया है जो सिद्धों और नाथों ने।

हिंडोलना तहाँ झूलै आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि को बिश्राम॥
चंद सूर दोइ खंभवा बंकनालि की डोर।
झूलै पंच पियारिया तहाँ झूलै जिय मोर॥
द्वादस गम के अंतरा तहाँ अमृत को ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास॥

---

१ मेरे संगी दोइ जना एक वैष्णव एक राम।"

सहज सुनि को नैहरो गगन मण्डल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूले हिंडोल॥
अरध-उरध की गंगा जमुना मूल कमल को घाट।
षट्-चक्र की गागरी त्रिवेणी संगम बाट॥
नाद ब्यंद की नावरी राम नाम कनिहार।
कहे कबीर गुण गाइले गुरगमि उतरौ पार॥

इस पद में सिद्धों और नाथों से यदि कोई वस्तु भिन्न है तो वह प्रेमाभक्ति जिस पर वैष्णव प्रभावान्तर्गत विचार किया जा चुका है।

गुरुमहत्ता भी कबीर को सिद्धों और योगियों से प्राप्त हुई। इन्होंने साधना में गुरु को वैसा ही महत्त्व दिया जैसा सिद्धों और योगियों ने। साधक जब साधनावस्था की जटिलता से निराश होता है तो मार्ग-दर्शन के लिए गुरु के पास ही जाता है। सिद्धों ने कहा है—

गुरु बतावई गुरु पुच्छेउ जाण।

किन्तु कबीर ने केवल गुरु को पूजा ही नहीं अपितु गुरु के बिना साधना को ही अपूर्ण माना गुरु को ब्रह्म से भी उच्च स्थान प्रदान किया—

'गुरु गोबिन्द दोनों खड़े काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोबिन्द दियो बताय॥

× × ×

"गुरु पारस को अन्तरो जानत हैं सब संत।
वह लोहा कंचन करे ये करि लेइ महन्त॥

कबीर ने बाह्याडम्बर, जाति-पाँति आदि का जो खण्डन अपनी करारी उक्तियों से किया वह सिद्धों और नाथों की ही देन है। अपनी तार्किक शैली में समाज के बाह्याचारों पर जो कटु-प्रहार कबीर ने किये हैं उनका सूत्रपात सिद्धों और योगियों के ही समय हो चुका था। सिद्धों ने कहा—

"आगमवेअ पुराणे पंडिअ
ते थि विषअअ भमई कुरु पंडिआ॥

कबीर ने कहा था—

जो तू बाह्मन बाह्मनी जाया
आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।

इसी प्रभाव से उन्होंने मुल्ला की बाग और हिन्दुओं की पीतल पिटंत पर तिलमिला देने वाली उक्तियाँ नहीं हैं चुटकियाँ ले-ले कर व्यंग्य कसे हैं। इन्हीं उक्तियों के माध्यम से उन्होंने धर्म के मूलतत्त्व को पहचान ढोंग के ढोल की पोल

बोल दी—

"मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहिब तेरा बहिरा है ?
चिउंटी के पग नेवर बाजै सो भी साहब सुनता है ।
पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है ।।"

विद्वानों का विचार है कि कबीर के रहस्यवाद, उलटबांसी और प्रतीकों का भी मूल यहीं है । कहीं-कहीं तो कबीर ने इनकी उलटबांसी रूपक आदि को साखी रूप में उद्धृत कर दिया है—

'बलद बियायल गविया बाँझे'
× × ×
'बरसै कम्बल भीजै पानी'
× × ×
'नाव बिच नदिया डूबी जाय'

ये सब उलटबांसियां सिद्धों और कबीर में समान रूप से प्राप्त हैं ।

इस प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी इन परम्पराओं ने कबीर काव्य को प्रभावित किया । इन उलटबांसियों में विभावना विरोधाभास आदि अलंकार भी समान रूप से व्यवहृत हैं—

'ऐसा अद्भुत मेरे गुर कथ्या मैं रह्या उमेषे ।
मूसा हस्ती सौं लड़ै कोई बिरला पेखै ।।
मूसा पैठा बांबि मैं लारै सापणि धाई ।
उलटि मूसै सापणि गिली यहु अचिरज भाई ।।
चींटी परबत ऊषण्यां ले राख्यौ चौड़ै ।
मुरगा मिनकी सूं लड़ै झल पांणी दौड़ै ।।
सुरही चूंषै बछ तलि बछा दूध उतारै ।
ऐसा नवल गुणी भया सारदूलहि मारै ।।
भील लुक्या बन बीझ मैं ससा सर मारै ।
कहै कबीर ताहि गुर करौं जो या पदहि बिचारै ।।'

इसके साथ सिद्धों और योगियों से कबीर ने साधनामूलक पारिभाषिक शब्दों को यथावत् ग्रहण कर लिया है । पवन अनाहतनाद निरंजन इंगला पिंगला सुषमना संध्या गंगा यमुना योगिनी कैलाश सूर्य चन्द्र गोमांसभक्षण वारुणीपान सोमरस आदि शब्द कबीर ने यहीं से ग्रहण किये हैं । यथा—

अवधू गगन मंडल घर कीजै ।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै ।

सुम बांधि सर गगन समाना सुषमन यो तन लागी ।
काम-क्रोध दोऊ भया पलीता तहां जोगिनी जागी ॥

हां! कुछ पारिभाषिक शब्दों का अर्थ कबीर-काव्य में आकर परिवर्तित हो गया है, जैसे 'सहज'—

"सहज-सहज सबहीं कहैं, सहज न चीन्हैं कोय ।
जिन सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोय ॥

कबीर ने जो स्थान-स्थान पर पुस्तकीय ज्ञान की खिल्ली उड़ाई है, उसका कारण भी योगियों का प्रभाव है। गोरखनाथ ने 'गोरख सिद्धान्त संग्रह' में पुस्तकीय ज्ञान वाले व्यक्ति को 'भारवाही गर्दभ' कहा है। कबीर ने अनेक स्थानों पर पुस्तकीय ज्ञान की खिल्ली उड़ाई है—

'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय ।
एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय ॥

× × ×

'कबीर पढ़िबा दूरि करि पोथी देय बहाय ।
बावन आखर सोध कर ररै मम चित लाय ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध और नाथ-सम्प्रदाय ने पर्याप्त मात्रा में कबीर को प्रभावित किया है। हम कह सकते हैं कि कबीर ने सिद्धों और नाथों की परम्परा को सुसंस्कृत कर उसका विकास किया। डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भी कथन है कि महात्मा कबीर तो नाम छोड़ और सब दृष्टियों से एक हिन्दू कवि ही थे जो उत्तर भारत के मध्ययुगीन हिन्दू धर्मोपदेशकों और प्रबन्धकारों तथा गोरखनाथ की सीधी परम्परा के एक महान् सन्त और भक्त थे।

कबीर पर सिद्धों और नाथों के इस अत्यधिक प्रभाव के दो कारण विशेष हैं। प्रथम तो यह कि कबीर का जन्म ऐसी जुलाहा जाति में हुआ था जो कुछ समय पूर्व ही मुसलमान हुई थी पहले से वह जाति नाथों की शिष्य परम्परा में थी। अतः स्वभावतः उसके अपने प्राचीन नाथपंथी संस्कार प्रविष्ट रह गये थे। द्वितीय कारण यह कि रामानन्द के समस्त शिष्यों ने जिनमें कबीर भी हैं नाथों के बड़े-बड़े मठाधीशों को अपने अधीन करके उनके अनुयायियों को अपना शिष्य बनाया था—उन लोगों के सम्पर्क से इनमें भी कुछ न कुछ नाथ पंथी संस्कार अवश्य आ गये।

सूफियों का प्रभाव—

कबीर के समय में भारत में इस्लाम का अत्यधिक सुसंस्कृत संस्करण सूफी धर्म के रूप में आ चुका था। कुछ विद्वानों का मत है कि सूफी साधना का किंचित् मात्र भी प्रभाव कबीर-काव्य पर नहीं पड़ा है। किन्तु कबीर जैसे सारग्राही महात्मा ने

अवश्य ही सूफी-धर्म की अच्छी बातों को ग्रहण किया होगा — यह अनुमान सहज है। सूफी-धर्म का प्रभाव इसलिए भी कबीर पर पड़ा है क्योंकि वह भारतीय धर्म-साधना से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित था। मार्टेन महोदय का मत है कि सूफी मत में 'तीन-चौथाई बौद्धमत का प्रसार है, तो एक-चौथाई मुहम्मदियों का।' श्री जे० सी० आर्चर का भी कथन है कि — Greek Persian & the Buddhist waters have joined the stream of the mystic current in Islam

कबीर की प्रेम-पीर को बहुत से विद्वान् वैष्णव देन मानते हैं किन्तु वास्तव में देखा जाय तो कबीर में प्रेम पीर की तीव्र और तीखी व्यंजना सूफी प्रभाव से ही है, यद्यपि कबीर को इस प्रेम की पीर में सूफियों की भाँति पल-पल में इल्हाम नहीं होता। डा० सरनामसिंह शर्मा जी का मत है कि "जो लोग यह कहते हैं कि कबीर ने सूफी प्रेम-साधना से कुछ नहीं लिया वे हाथी को देखकर भी उसके अस्तित्व का निषेध करते हैं। ऐसी बात नहीं है कि कबीर ने परमात्मा के केवल प्रिय (पति) रूप को ही अंगीकार किया था अपितु माता-पिता पुत्र स्वामी आदि अनेक रूपों में उनको उन्होंने चित्रित किया है। सूफी सम्प्रदाय में इन सब रूपों को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता नहीं है। सूफियों के लिए परमात्मा 'माशूक' है जीवात्मा 'आशिक' है और कबीर के दाम्पत्य सम्बन्ध में हरि 'पीव' है और वे उनकी 'बहुरिया' हैं। पीव और बहुरिया के पीछे भारतीय दाम्पत्य जीवन की जो व्यंजना है उसमें सूफी मान्यता का भी पुट है। यह ठीक है कि कबीर और हरि—जीव और परमात्मा – में जो पत्नी और पति का संबन्ध है वह भारतीय भक्ति-परम्परा के अनुरूप है किन्तु माधुर्य और आलम्बन में सन्निहित आरोप भी स्पष्ट है। इस आरोप के लिए भारतीय भक्ति में कोई स्थान नहीं है। कृष्ण भक्ति में व्रज-गोपिया का कृष्ण से पत्नी-पति सम्बन्ध आरोप के लिए कोई स्थान नहीं देता। इसी लिए नारदीय-भक्ति सूत्र में भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'सा तु परमप्रेमरूपा यथा व्रज गोपिकानाम्' किन्तु सूफी प्रेम साधना का मार्ग मदन ही इस आरोप के ऊपर पड़ा है। प्रेम की पीर पर सूफियो के प्रभाव के अतिरिक्त कबीर में ब्रह्म की सौन्दर्य भावना भी सूफीमत से प्रभावित है—

> विरह प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनन्त।
> सता खूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत॥

× × ×

> लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
> लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥"

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर पर सूफीमत का जो कुछ भी प्रभाव पड़ा है वह इसलिए कि यह मत भारतीय परम्परानुकूल है। अतः कबीर पर सूफियों की उन्हीं बातों का प्रभाव पड़ सका है जो अद्वैत से मेल खाती हैं।

इस भांति हम देखते हैं कि कबीर ने समस्त सारपूर्ण धार्मिक साधनाओं से कुछ न कुछ तत्व ग्रहण कर अपनी भक्ति का भव्य भवन स्थापित किया था। वस्तुतः आचार्यप्रवर क्षितिमोहन सेन जी के ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं—"कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती इसीलिए वह ग्रहणशील है वर्जनशील नहीं है इसीलिए उन्होंने हिन्दू मुसलमान सूफी वैष्णव योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है।"[1]

वस्तुतः कबीर ने मधुमक्खी के समान अपने समय में विद्यमान समस्त धर्म-साधनाओं और मिश्री के योग से अपनी भक्ति का ऐसा छत्ता तैयार किया है जिसका मधु अमृतोपम है, जिसका पान कर भारतीय जन-मानस कृत-कृत्य हो उठा है। वह मधु अक्षय है, युगों से भारतीय इसकी मधुरिमा का रसास्वादन कर रहे हैं।

कबीर की भक्ति-पद्धति

कबीर की भक्ति ने भारतीय जन-मानस को उस समय अवलम्ब प्रदान किया जब वह सिद्धों और योगियों की गुह्यसाधना से ऊब रही थी। कबीरकालीन परिस्थितियों में धार्मिक अवस्था का अवलोकन करते समय हम देख चुके हैं कि उस समय प्रचलित नाना धर्म-साधनाएं किस प्रकार जनता को भूलभुलैया सी में डाल रही थीं। इस महान् सन्त ने अपनी प्रेमभक्ति का ऐसा सबल और दृढ़ अवलम्ब धर्म-प्राण जनता को प्रदान किया कि वह राम-रस में भाव-विह्वल हो झूम उठी। यद्यपि कबीर से पूर्व रामानन्द ने भी भक्ति की ऐसी ही भाव-पूर्ण धारा बहाई थी किन्तु उसका प्रसार सीमित क्षेत्र तक ही रहा। रामानन्द को 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद' का श्रेय तो अवश्य प्राप्त है किन्तु उसका व्यापक प्रसार और प्रचार कबीर के द्वारा ही हुआ। उसे 'सप्त दीप नवखण्ड' में कबीर ने ही प्रकट किया था।

कबीर की भक्ति पर वैष्णव-विचारधारा का मौलिक प्रभाव पड़ा है। कबीर पर पड़ने वाले आर्यार्य मत प्रभावों में इसका विश्लेषण किया जा चुका है। कबीर की भक्ति के विवेचन से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम यह देखें कि भारतीय भक्ति का स्वरूप किस प्रकार वर्णित है। आचार्यों ने इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न

---

१ 'कबीर की विचारधारा' से उद्धृत—पृष्ठ १७४।

प्रकार से की है। रामानुजाचार्य जी ने 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य प्रस्तुत करते हुए भक्ति की व्याख्या में कहा है—

'ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते।

परमात्मा के निरन्तर स्मरण को ही भक्ति कहते हैं। व्यास ने इसकी व्याख्या में कहा है कि प्रणिधान वह भक्ति है जिसके द्वारा परमेश्वर उस योगी पर कृपा दृष्टि करते हैं तथा उसकी इच्छाओं की पूर्ति निमित्त उसे वरदान देते हैं—

"प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण ।

—पातञ्जल दर्शन प्रथम अध्याय व्यासभाष्य।

पतञ्जलि के इसी 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्र की व्याख्या में भोज ने जो भक्ति का स्वरूप समझाया है वह वल्लभ के पुष्टि-समर्पण के अत्यन्त निकट है। उनका कथन है कि 'प्रणिधान वह भक्ति है जिसमें इन्द्रिय-भोगादिक सम्पूर्ण फलाकांक्षाओं का त्याग करके सब कर्म उस परम गुरु परमात्मा को समर्पित कर दिए जाते हैं—

"प्रणिधानं तत्र भक्ति-विशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणामपि तत्रार्पणम्।
विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् गुरावर्पयति।'

—पातञ्जल दर्शन प्रथम अध्याय भोजवृत्ति।

भक्ति की अत्यंत सुन्दर व्याख्या भक्तराज प्रह्लाद ने की है। उनका कथन है कि जैसी तीव्रासक्ति अविवेकी पुरुष को इन्द्रिय विषयों में होती है उसी प्रकार आसक्ति आपका (प्रभु का) स्मरण करते समय मेरे हृदय से निकल न जाए—

'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

—विष्णुपुराण १ २ १९।

नारद भक्ति सूत्रान्तर्गत भक्ति की महिमा बताते हुए कहा है—

'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।

वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति प्रेमरूप है एवं साथ ही—

'अमृतस्वरूपा च।

उसका स्वरूप-विश्लेषण नारद ने—

'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।"

कह कर दिया है। पराशर ने उसको विधि-विहित कर्मों में सीमित करते हुए भी अनुरागपूर्ण माना है— 'पूजादिष्वनुराग'।

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र में उस परा कोटि को मानते हुए ईश्वर के प्रति परम अनुरागरूपा माना है—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे।

नारद ने भक्ति के दो रूप माने हैं—

१ प्रेमरूपा।

२ गौणी।

प्रेमरूपा भक्ति के उन्होंने दो भेद किये हैं। प्रथम 'कामरूपा'—जिसमें एक ही भाव की प्रधानता रहती है जैसी गोपियों की कृष्ण मे। द्वितीय सम्बन्धरूपा' जिसमें दास्य सख्य वात्सल्य आत्मनिवेदनादि भाव आते हैं। कबीर की भक्ति में यद्यपि प्रधानता कामरूपा' की ही है, किन्तु सम्बन्धरूपा के भी उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं—

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउं॥
—दास्यासक्ति।

× × ×

"मोरे घर आये राम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहौं पाँचों तत्त्व बराती।
रामदेव मोहे ब्याहन आये मैं जोबन मदमाती॥
—कांतासक्ति।

× × ×

'हरि जननी मैं बालक तोरा।
काहि न अवगुन बकसहु मोरा।
—वात्सल्यासक्ति।

इसी भाँति अन्य आसक्तियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

प्रेमरूपाभक्ति को तीन वर्गों मे रखा गया है—

१ गौण—जो सांसारिकता के समीप है।

२ मुख्य—प्रेम-प्रभव पर जगत् के प्रति उदासीन नही।

३ अनन्य—स्पृहारहित ज्ञान कर्म आदि से ऊपर आराध्य में लीन रहना।

कबीर की भक्ति इस वर्ग विभाग में 'अनन्या कोटि में आती है क्योंकि वहाँ 'सब तज हरि भज' की ही भावना है।

गौणी के भी नारद ने तीन भेद किये हैं—सात्विकी राजसी एवं तामसी। कबीर की भक्ति सात्विकी कोटि में आती है।

चैतन्य सम्प्रदाय मे भी भक्ति का लगभग इसी प्रकार का विभाजन किया गया है। उसे निम्न प्रकार से निर्दिष्ट किया जा सकता है—
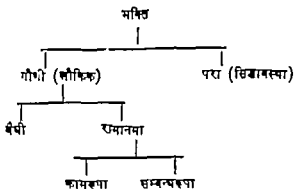
इस विभाजन में कबीर की भक्ति 'परा'—सिद्धावस्था के अंतर्गत आती है।

कबीर ने अपनी भक्ति में जिस आराध्य का वर्णन किया है वह उपनिषदों की अद्वैती भावना के प्रभाव से प्रभावित है। कबीर की ब्रह्मभावना यद्यपि अधिकांशतः अद्वैती है किन्तु कहीं-कहीं अद्वैत से भिन्न है। इसका कारण यह है कि कबीर किसी सिद्धान्त के अनुयायी या प्रस्थापक नहीं। उन्होंने ब्रह्म का जो कुछ भी वर्णन किया है वह अनुभव के आधार पर। कबीर प्रथम साधक हैं तब कवि। अतः भक्ति साधना में जिस-जिस रूप में वे ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार करते जाते हैं उसी-उसी रूप में उसे बताते हैं। वे कविता के माध्यम से 'निज ब्रह्म-विचार'—'आतम साधन' को व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि कबीर के ब्रह्म का स्वरूप हमारे सम्मुख कभी किसी रूप में तो कभी दूसरे रूप में आता है। ब्रह्म के स्वरूप-परिवर्तन का वास्तविक कारण यही है कि वह किसी भी दार्शनिकवाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक विचार से ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "वह ऐसा सुमन है जो किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता केवल उसकी सुगन्ध ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है कि हम उसे किसी प्रत्यक्ष रूप में नहीं देख सकते वरन् उसका कलकल नाद करते हुए ही सुन सकते हैं।" अनुभूति के विविध स्तरों के द्वारा ही वह कहीं अद्वैत है और कहीं द्वैताद्वैत कहीं विशिष्टाद्वैत। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकांशतः कबीर ने अद्वैती भावनानुरूप उस ब्रह्म का वर्णन किया है। जब कबीर कहते हैं—

"कस्तूरी कुंडलि बसै मृग ढूँढै बन माहिं।
ऐसे घट घट राम हैं दुनिया देखै नाहिं॥
× × ×
मृगा पास कस्तूरी बास आप न खोजै खोजै घास।

तो वे ईश्वर की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हैं। वास्तव में उनका प्रभु रोम-प्रतिरोम और सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त है। वह हृदयस्थ होते हुए भी दूर दिखाई देता है किन्तु जब वह प्रियतम पास में ही है तो उसे संदेश भेजने की क्या आवश्यकता है? इसीलिए कबीर कहते हैं—

"प्रियतम को पतियाँ लिखूँ जो कहीं होय बिदेस।
तन मन में नैन में ताकौ कहा संदेस॥

वास्तव में प्रियतम के इस प्रकार के संदेश-प्रेषण को तो वे दिखावा मात्र कृत्रिम प्रेम का परिचायक मानते हैं क्योंकि जहाँ देखो वहीं उस ईश्वर-प्रिय की सत्ता विद्यमान है—

'कागद लिखै सो कागदी, कि व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहा लिखै जित देखै तित पीव॥

कबीर ने इस ब्रह्म की स्थिति सर्वत्र उसी भाँति मानी है जिस प्रकार अद्वैत भावना के पोषक प्रतिबिम्बवाद में। हमारा यह कहने का तात्पर्य कदापि नहीं कि कबीर ने अद्वैती भावना का अनुगमन कर प्रतिबिम्बवाद को भी अपने काव्य में प्रयुक्त किया वे तो उस ईश्वर की सर्वव्यापकता को अनुभव करते थे। इसीलिए उन्होंने कहा था—

'ज्यु जल में प्रतिबिम्ब त्यू सकल रामहि जानीजे।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति का आलम्बन अद्वैती भावना युक्त है। निम्नस्थ प्रसिद्ध साखी तो उन्हें एकदम अद्वैती सिद्ध कर देती है—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥

अद्वैतवादी भावना के साथ यह पूर्ण स्पष्ट है कि उनका ब्रह्म निर्गुण निराकार है—

"जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तै पातरा ऐसा तत्त अनूप॥

किन्तु जब वे इस ब्रह्म को समस्त संसार को बनाने वाला बिगाड़ने वाला मानते हैं तो निर्गुण का अस्तित्व प्रश्न सूचक चिह्न के साथ रखना पड़ता है।

"सात समुद की मसी करौं लेखनी सब बनराइ।
सब धरती कागद करौं प्रभु गुन लिखा न जाइ॥

जिस ईश्वर के गुणों का इतना विस्तार है, वह निरुपाधि निर्विशेष निर्गुण कैसे रहा? इतना ही नहीं कहीं-कहीं तो वह निरुपाधि ब्रह्म सोपाधि सविशेष सगुण एवं साकार तथा वैष्णवों के समान अवतारी हुआ जान पड़ता है। यथा—

"पंडिता मन रंजिता भगति हेत ल्यौ लाइ रे।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर और कारण जाइ रे।
दाम छै पणि काम नाहीं ग्यान छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरति नाहीं नैन छै पणि अंध रे।
जाके नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा चरन गंग तरंग।
कहै कबीर हरि भगति बांछू जगत गुर गोब्यंद रे॥"

भला निर्गुण-निराकार की नाभि से ब्रह्मा और चरणों से गंगा निकलने की क्या संगति ? वास्तव में ऐसे कथन कबीर ने भक्ति की झोंक में ही कहे हैं और इन स्थलों पर उन्हें सूर-तुलसी आदि भक्तों की कोटि से अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में उनके निराकार ब्रह्म का अर्थ निर्विषय कदापि नहीं इसीलिए कबीर के न चाहते हुए भी उसमें गुणों का आरोप स्वतः हो गया है। डा० ह० प्र० द्विवेदी जी[1] ने भी स्वीकार किया है कि 'कबीरदास के निर्गुण ब्रह्म में गुण का अर्थ सत्व रज आदि गुण हैं इसलिए निर्गुण ब्रह्म का अर्थ वे निराकार निस्सीम आदि समझते हैं निर्विषय नहीं।

कबीर की निर्गुण भक्ति में 'साकार' ब्रह्म के जो तत्व आ गए हैं उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि वे कोरे तीव्र भक्ति-भाव के ही द्योतक नहीं अपितु जन-मन में 'साकार' स्वरूप की जो उपासना प्रचलित थी उसका पूर्ण विरोध करते हुए भी कबीर स्वयं कहीं कहीं उसके प्रभाव से बच नहीं पाये हैं। वास्तव में लोक-प्रचलित परम्परा का पूर्ण बहिष्कार सम्भव नहीं।

शुक्ल जी जैसे विद्वानों ने कबीर में केवल शुष्क ज्ञान ही माना था इसीलिए उन्होंने सन्तों का पृथक् वर्ग कर उसे 'ज्ञानमार्गी' नाम दिया। किन्तु वास्तविकता इस मान्यता से कोसों दूर है। कबीर की भक्ति में और विशेष रूप से उन स्थलों पर जहाँ उनकी आत्मा अपने प्रिय से विरहिणी रूप में आत्म-निवेदन करती है, भावों की सरसतम निधि प्राप्त होती है—

'फाड़ि पुटोला धज करौं कामड़िली पहिराउँ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै सोई सोई भेष कराउँ॥

वास्तव में रामानन्द के द्वारा उन्हें राम की ऐसी मधुर भक्ति प्राप्त हुई जिसकी सरसता निस्सन्देह विस्मय की वस्तु है। इसी को पाकर कबीर 'बीर' हो गये—सबसे अलग सबसे ऊपर, सबसे निराला सबसे न्यारा सबसे तेज।

कबीर ने भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन माना है स्थान-स्थान पर भक्ति की महत्ता उन्होंने प्रतिपादित की है—

१ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

'भक्ति नसैनी मुक्ति की।

× × ×

क्या जप क्या तप क्या संजम क्या व्रत क्या अस्नान।
जब लगि जुगत न जानिये भाव भक्ति भगवान॥

मुक्ति के साथ-साथ संसार के दुख शमन का भी साधन प्रभु-भक्ति ही है—

'भाव भगति विसवास बिन कटै न संसै मूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल॥

कबीर के भगवत् प्रेम के आदर्श दो ही हैं—'सती' और 'सूर'। सती के आदर्श को चुनने में एक तो प्रेम की अनन्यता प्रकट होती है, दूसरे भक्त भगवान् के अधिक निकट आ जाता है। वास्तव में 'सती' भाव का आचरण करने पर भक्त तो अपने गुरुतर कर्त्तव्य से मुक्त हो जाता है और उत्तरदायित्व प्रभु पर आ जाता है—

उस सम्रथ का दास हौ कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तो उस ही पुरुष को लाज॥

सूर और का आदर्श इसलिए अपनाया गया है कि वास्तव में साधना मार्ग में जीवन की कठिनता साहस और लक्ष्य के लिए दत्तचित्त होने की आवश्यकता सूर के ही समान है जिस भाँति शूरवीर युद्ध-क्षेत्र में लोहे की करारी मार के सम्मुख भी तिल भर भी नहीं मुड़ता और प्राणोत्सर्ग कर अपने कर्त्तव्य की रक्षा करता है, वही स्थिति सच्चे भक्त के लिए आवश्यक है। शूरवीर और सच्चे भक्त की एक मात्र कसौटी यही है—

'सूरा तबही परषिये लड़ै धर्णी के हेत।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै तऊ न छाड़ै खेत॥

संसार जिस मृत्यु से भय खाता है सूर और भक्त उसी का अभिनन्दन हंसते हंसते अपने लक्ष्य के लिए कर लेते हैं—

"जिस मरनें थैं जग डरैं सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूं कब देखिहूं पूरन परमानन्द॥

ये दोनों आदर्श ही कबीर की भक्ति की अनन्यता में सहायता पहुँचाते हैं। कबीर ने भी ध्यान आराध्य के लिए अपना सर्वस्व 'मार्जार शिशु-न्यायवत्' कर दिया है। सर्वस्व समर्पण के साथ-साथ अपने अस्तित्व को साध्य में लीन करने की उत्कृष्ट भावना कबीर में परिलक्षित होती है। यही कारण है कि वे ईश्वर के गुलाम बनने में भी नहीं हिचकते—

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं।
तन मन धन मेरा राम जी के तांईं॥

इससे भी आगे बढ़ कर न अपना को मानव छोड़ते ही नहीं ईश्वर-सामीप्य और सर्वथा एकमेक रहने की कामना ही उनसे यह कहलाती है—

'कबीर कता राम का मुतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाऊँ॥

इस पद पर झूमकर ह प्र द्विवेदी जी ने लिखा है— निरीह आत्म्य का यह चरम दृष्टान्त है, आत्मसमर्पण की यह हद है। इतने पर भी मन को प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतम को कौन सा ढंग पसद हो कौन सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय उस अजब मस्ताने प्रिय का समागम कैसा होगा होगा ?"

"मन परतीति न प्रम रस ना इस तन मैं ढंग।
क्या जाणों उस पीव सू कैसी रहसी रंग॥

ऐसे अद्भुत प्रियतम का जब आत्मा नहीं पाती तो उसके वियोग म पूब तड़पती है। कबीर-काव्य की यह तड़पन मीरा स कम नहीं। जब से गुरु ने उस परमात्मा का ज्ञान कराया तब ही स भक्त उसके लिये व्याकुल-व्याकुल है—

'गूगा हुआ बावला बहरा हुआ कान।
पाऊँ थें पंगल भया सतगुरु मारा बाण॥

उस प्रिय क वियोग में प्रियतमा का हृदय अहर्निश छटपटाता रहता है—

"तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहीं चैन रात नहीं निंदिया तलफ तलफ के भोर किया॥

कबीर की भक्तात्मा न इस विरह का जो वर्णन किया है वह इतना स्वाभाविक और मार्मिक है कि लगता है कि कबीर का कबीरत्व पौरुषत्व नहीं समाप्त हो गया है और उनकी आत्मा न स्त्री रूप म प्रियतम के लिए म दन ठा है। प्रिय म संदेश पाने के लिए आत्मा इस भांति छटपटाती है मानो यदि उसे अभीष्ट प्राप्ति न हुई तो न जाने क्या होगा ?—

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहु पीव का कबर मिलैंगे आइ॥

वह केवल मात्र म^ की इच्छुक है। भक्तात्मा का प्रम-दर्शन क अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन ही नहीं। इसलिए वह यह न पूछ कर कि प्रिय कुशल है अथवा नहीं मुझे भी याद करते है या नहीं—आदि कुछ नहीं पूछती केवल यही कहती है 'एक सबद कहु पीव का कबर मिलैंगे आइ' जो यह भी ध्वनित करती है कि और काम की तो छोड़ पथिक पहल यही बता कि वे कब आयेंगे ? किन्तु शीघ्र ही भक्त इस कल्पना जगत् से नीचे उतर इस वास्तविकता पर आता है—

"आइ न सकौं तुझ पै सकूं न तुझ बुलाइ ।
जियरा यौंही लेहुगे विरह तपाइ तपाइ ॥

इस दूरी के व्यवधान को दूर करना तो भक्त की सामर्थ्य से बाहर है किन्तु प्रिय से मिलना फिर भी चाहता है । इसीलिए कहता है—

"यहु तन जारौं मसि करौं लिखौं राम का नाउं ।
लेखणि करूं करंक की लिखि लिखि राम पठाउं ॥

किन्तु बेचारा भक्त इस विरहाग्नि में भी कहाँ तक जले जब दुख उसका सहन शक्ति की सीमा से बाहर हो उठता है जब भक्त का हृदय प्रिय वियोग में टूक-टूक हुआ जाता है तब विवश हो उसे ईश्वर को आक्रोश-पूर्ण यह ताना देना पड़ता है—

कै विरहनि कूं मींच दे, कै आपा दिखलाय ।
आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाय ॥

वास्तव में यह प्रेम का चरमोत्कर्ष है जो प्रभु-प्रियतम के अभाव में भी आत्मा-परमात्मा भक्त-भगवान् के अटूट प्रेम की उद्घोषणा कर रहा है । उनकी इस प्रेम भावना का विवेचन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है— इस प्रेम में भावुकता नहीं है पर मस्ती है । कर्कशता नहीं है पर कठोरता है । मसमस नहीं है पर स्वाधीनता है । अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है उजड्डता नहीं है पर अक्खड़ता है । इसकी अर्थवता सरलता का परिणाम है अमता विश्वास का फल है तीव्रता आत्मानुभूति का निष्कर्ष है ।

यदि कबीर को प्रभु की प्राप्ति भी हो जाय तो उससे कोई कामना सिद्धि की बात नहीं सोचते । उनकी तो एकमात्र कामना है—

'नैनन की करि कोठरी पुतरी पलंग बिछाय ।
पलकन की चिक डारिकै पिय कू लेऊं रिझाय ॥

या दूसरी कामना है—

'नैना अंतरि आव तू ज्यू हौ नैन झपेउं ।
ना मैं देखू और कू ना तुम देखन देउं ॥

भक्ति में कामना के तो कबीर घोर विरोधी थे तभी तो उन्होंने कहा था—

"जब लगि भगति सकामता तब लगि निष्फल सेव ।

इसलिए अन्त समय तक उस प्रभु की भक्ति करने नाम जपने का उपदेश उन्होंने दिया था—

"कबीर निरभै राम जपि जब लग दीवै बाति ।
तेल घट्या बाती बुझी सोवैगा दिन राति ॥

कबीर की इस भक्ति में ज्ञान—पुस्तकीय ज्ञान—का कोई महत्त्व नहीं क्योंकि उनका विश्वास है कि ईश्वर में अटूट भय ही मुक्ति के लिये पर्याप्त है, ज्ञान तो पंडितों की कुर्सी में उलझा देता है। भक्त के लिए इतना ही ज्ञान पर्याप्त है कि वह विषय-वासनाओं से मुक्त हो ईश्वर-भजन करे—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

इसी भांति—

'कबीर पढ़िबा दूर कर पोथी देव बहाय।
बावन आखर सोध कर, ररै ममैं चित लाय॥"

कबीर ने भक्ति के द्वार प्रत्येक के लिए खोलकर सबको उसका अधिकारी बताया। वहां ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि में किसी भी भांति का भेदभाव नहीं क्योंकि सबकी रचना उन्हीं पांच तत्वों से हुई है सबका स्रष्टा पिता परमात्मा एक ही है।

"जाति-पांति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

इस भक्ति के द्वार खुले हुए तो सबके लिए हैं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति भक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता इसका कारण साधना भक्ति का मार्ग 'खांडे की धार पर चलना' ही है। साधना की इस विषमता का वर्णन कबीर ने स्थान-स्थान पर किया है—

"गुरु भक्ति अति कठिन है, ज्यों खांडे की धार।
बिना सांच पहुंचे नहीं महाकठिन व्यौहार॥"

इस भक्ति-साधना के लिये तो साधक को जीवन न्यौछावर करने के लिए शीश उतार कर हथेली पर रखना पड़ता है—

"कामड़ देस नूरन का घर है तहां जिनि जाई दाझण का डर है।
सब जग देखौं कोई न धीरा परत धरि सिरि कहत कबीरा।
न तहां सरवर न तहां पाणी न तहां सतगुर साधु बाणी।
न तहां कोकिल न तहां सूवा ऊंचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।
देस मालवा गहर गंभीर डग डग रोटी पग-पग नीर।
कहै कबीर' घर ही मनमाना गूंगे का गुड़ गूंगे जाना।

भक्ति मार्ग में आने वाली जिन बाधाओं का वर्णन कबीर ने किया है उनमें 'कनक' और 'कामिनी' प्रमुख हैं। इन्हें तो कबीर 'दुलभ घाटी दाय' बताते हैं। इनके अतिरिक्त कुल दुर्गम लोभ मान कपट माया और तृष्णा आदि। वस्तुतः यह

सब मन द्वारा ही प्रस्तुत होते हैं क्योंकि यह सब माया जाल मन-सृष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसलिए कबीर ने मन-साधना पर बड़ा बल दिया है—

"काया कसू कमान ज्यू पंचतत्त करि बाण।
मारौं तो मन मृग को नहीं तो मिथ्या जाण॥

कबीर ने अपनी भक्ति के ३ प्रमुख सहायक साधन बताये हैं—

१ मानव शरीर।
२ गुरु।
३ सत्संग।

८४ लक्ष योनियों में मानव शरीर ही एकमात्र ऐसा है जिसमें प्रभु-भक्ति का अवसर है। यदि इसे भी विषयानन्द में गंवा दिया तो फिर पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता—

"कबीरा हरि की भक्ति कर तजि विषया रस चौंप।
बार-बार नहीं पाइ है मानुष जनम की मौंज॥

भक्ति-मार्ग पर तो एकमात्र मार्ग-दर्शक गुरु ही है। गुरु के बिना तो भक्ति सम्भव नहीं—

"सतगुरु की महिमा अनत अनत किया उपगार।
लोचन अनत उघाड़िया अनत दिखावण हार॥

साधु-संगति की महिमा अपार है। भक्ति का तो यह प्रवत्तक अंग है। इसे कबीर ने स्वर्ग से भी अधिक महत्व प्रदान किया है—

"राम-बुलावा भेजिया दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु-संग में सो बैकुंठ न होय॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की भक्ति पीयूष-सलिला भागीरथी के समान पावन है जिसके पुनीत कूलों पर न जाने कितनों के भटकते मन-कुरंगों को विश्रान्ति मिली है।

कबीर-काव्य की रस-गागरी

कविता कबीर का लक्ष्य नहीं था अपितु साधन था। वे अपने विचारों को नैसर्गिक अभिव्यक्ति दिया करते थे जिससे वे जनग्राह्य हो सकें। उन्होंने अपने मन में उदित होने वाले भावों को वाणी का विषय बनाया जिसे उनके शिष्यों ने कागज पर अंकित कर दिया। आज हम उसी भावानुभूत वाणी को काव्य की सर्वोत्तम निधि मानते हैं—

"यह बनि बानी मीत है यह निज ब्रह्म विचार,
केवल कहि समझाइया आतम साधन रे।

मध्य-युग के इस महान् फक्कड़ संत को कभी यह आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई कि वे अपनी विचारावली को पहले साज-संवार में तब अभिव्यक्ति दें। उन्हें तो केवल अपनी बात दूसरों तक पहुँचानी थी और जितने प्रभावशाली रूप में उन्हें अपनी इस अनुभूति में सहायता मिली है वस्तुतः 'मसि कागद' से अपरिचित व्यक्ति के लिए यह आश्चर्य की वस्तु है। कबीर काव्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि उसकी प्रेषणीयता है। इस सम्प्रेषणीयता के लिए उन्होंने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं अपितु 'रसना पर जो शब्द जिस रूप में निकल गया' ठीक था।

कबीर-काव्य का सौन्दर्य उस पर्वत-सरिता के समान है जिसका मार्ग पहले से बनाया हुआ नहीं होता अपितु वह तो गिरिराज की गोद से निकल कल-कल, छल छल करती जिधर उचित समझती है वह चलती है और उसका वही मार्ग सर्वाधिक मनोरम एवं उपयुक्त होता है। किसी बंधी-बंधाई लीक पर चलना इस सरिता के लिए असम्भव और स्वभावविरुद्ध होता है। मनुष्य इस नाना रूपात्मक सृष्टि में विविध क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं देखता है। इस निरीक्षण से उसके मन पर जो प्रभाव पड़ते हैं, जो अनुभव उसे होता है उसे सर्वसुलभ बनाने के लिए जो अभिव्यक्ति की जाती है वह काव्य है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि नामरूपात्मक सृष्टि के विविध अनुभवों को जब कवि-आत्मा व्यक्ति की सीमा से निकालकर समष्टि तक पहुँचाना चाहती है तभी काव्य की सृष्टि होती है। कबीर का काव्य भी इसी सहज भावना का सहज परिणाम है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कबीर-काव्य की सर्वाधिक विशिष्टता और आकर्षण उसकी सहजता और स्वाभाविकता में है अपने आन्तरिक वातावरण में आत्मा की सहज पुकार से उद्भूत यह काव्य इसी प्रकार से फूटा है जैसे पर्वत के हृदय से अनजाने ही रसस्रोत निर्झर फूट पड़ते हैं। कबीर का काव्य भी आत्मा की अन्तःप्रेरणा से फूटा है किसी बाहरी दबाव से नहीं।

कबीर की अविरल प्रेरणा किसी स्थल विशेष पर नहीं अपितु सृष्टि के कण-कण में विद्यमान थी। बाह्य जगत् ने कबीर काव्य को मुख्यतः दो धाराएं प्रदान की जो वास्तव में समस्त कबीर साहित्य की परिधि में परिव्याप्त हैं। प्रथम समाज की कुरीतियों और आडम्बरों पर तीव्र प्रहार द्वारा सत्य तत्त्व का उद्घाटन एवं द्वितीय वही जिसकी गोद में सृष्टि का कण-कण आकुल-व्याकुल है—

"महानील इस परम व्योम में अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान ॥

यहाँ यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कबीर की रहस्य-भावना परम तत्त्व के लिए व्याकुलता प्रकृति प्रसूत है अपितु हमारा मन्तव्य यही है कि सृष्टि के अन्य तत्त्वों की भाँति कबीर की आत्मा भी प्रियतम के वियोग में विरहिणी तुल्य असत्य बन्धन के साथ छटपटाती है। वे 'कुरंग' की भाँति वन-वन भटकने पर भी अभीष्ट प्राप्ति की निष्फलता से परिचित हो उसे स्वयं की ही परिधि में खोजते हैं। बन्धन-मुक्ति द्वारा सत्य तत्त्वोद्घाटन एवं प्रिय की खोज—यही दो भावनाएं कबीर-काव्य के इस छोर से लेकर उस छोर तक फैली दिखाई देती हैं।

कबीर के रहस्यवादी पदों में तो काव्य की उच्चतम सिद्धि प्राप्त होती है। विरहिणी के विकल भावों की पुकार, उसकी अन्तर-व्यथा की मर्मभेदी हूक भावनाओं का यह आवेग-प्रवेग छन्द-छन्द बड़ा मनोहारी बन पड़ा है—

"नैनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकनु की चिक डारिकै पिय को लेहु रिझाय॥

प्राणाधिक प्रियतम के लिए इससे सुन्दर आवास दूसरा हो ही नहीं सकता आधुनिक शीतवातानुकूलित भवन भी इस व्यवस्था के आगे तुच्छ हैं। यहाँ प्रिय की प्रतीक्षा करते-करते विरहिणी की भावना जितनी मार्मिक हो गई है उसकी अभिव्यक्ति के लिए कल्पना उतनी ही अधिक सजीली। अपनी असह्य वेदना का वर्णन करते हुए कबीर ने लिखा है—

"अंखड़ियां झाईं पड़ी पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियां छाला पड़्या राम पुकारि-पुकारि॥"

क्या 'निसिदिन बरसत नैन हमारे, सदा रहत पावस ऋतु हम पर जबतें स्याम सिधारे' में वेदना की इतनी तीव्रानुभूति है? यहाँ तो प्रतीक्षा की अवधि आँखों में झाईं पड़ने एवं जीभ में छाले पड़ने से अनन्त दिखाई देती है। साथ ही इस साखी से यह भी ध्वनित है कि आँखों को कोई कार्य था तो प्रिय का पंथ निहारना और जिह्वा को कोई कार्य था तो प्रिय का नाम रटना। प्रिय पर तन मन धन सर्वस्व अर्पण करने की और प्रीति की एकतानता की इससे सुन्दर अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्रेमदीवानी मीरा में जो प्रेम की कसक प्रेम-पीर से आहत जायसी में जो प्रेम का चीत्कार है वह सब कबीर की व्यथा तल्लीनता, बेचैनी कसक, पीड़ा के सामने तुच्छ जान पड़ता है। उनमें ऐसी व्यग्रता कहाँ—

बिरहनि ऊभी पंथ सिर पंथी बूझै धाय।
एक सबद कहु पीव का कबर मिलैंगे आय॥

इस विरहिणी की व्यथा का उपचारक कोई नहीं—

'कबिरा बद बुलाइया पकरि के देखी बाँहि।
बैद न बेदन जानई करक करेजे माँहि॥

क्या मीरा में इसकी अनुकृति होने पर भी ऐसी 'करक' है? महादेवी चाहे शत-सहस्र बार प्राणों में पीड़ा को पालें किन्तु इस राम दीवाने की तुलना नहीं कर सकीं। प्रिय वल्लभ के लिए व्याकुल कबीर की आत्मा जो-जो उपक्रम करने को प्रस्तुत है वे भी दर्शनीय हैं—

'फाड़ि पुटोला धज करौं कहौ तो कामलियां पहराउं।
जिहि जिहि भेषा हरि मिलैं सोई सोई भेष कराउं॥

यहाँ समाज के मिथ्याचारों पर निर्दय होकर करारी चोट करने वाले सन्त का अक्खड़ और फक्कड़ व्यक्तित्व नारी से भी अधिक कोमलता धारण कर प्रिय की प्रेम भावना पर सर्वस्व न्यौछावर करने को आतुर है। उनका विरह-काव्य हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ विरही कवियों—सूर मीरा घनानन्द 'प्रसाद' आदि—की कोटि में निस्संकोच भाव से रखा जा सकता है।

अपने आध्यात्मिक मिलन के जो चित्र कबीर ने प्रस्तुत किये हैं, वे भी अनुपम हैं। ब्रह्म-दर्शन के अनुभव की अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती क्योंकि वह अपरूप भावना में एकाध क्षण के लिए अपनी ऐसी अलौकिक छटा दिखाता है कि साधक उसके स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता। तभी तो ईश्वर को अनिर्वचनीय और 'गूंगा केरी शर्करा' के स्वाद के समान माना गया है। ऋषियों ने भी उसे 'मूकास्वादन वत् कहकर' छोड़ दिया किन्तु कबीर विविध प्रतीकों द्वारा उसी अवर्णनीय तत्त्व की सत्ता को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते हैं—

'एक कहूं तो है नहीं दोय कहूं तो गारी।
है जैसा तैसा रहै कहैं कबीर विचारी॥"

× × ×

'हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई।
बूंद समानी समुद्र में सो कत हेरी जाई॥

क्या आज का प्रयोगवादी कवि अवचेतन मन के उलझे भावगह्वरों को व्यक्त करने में इतना सफल हो पाया है?

प्रिय के साक्षात्कार पूर्व की मनःस्थिति का भी अद्भुत वर्णन कबीर ने प्रथम समागम से भयभीत नायिका के समान किया है—

'रैनि गई मति दिन भी जाइ भंवर उड़ बग बैठे आइ।
कांचे करवै रहै न पानी, हंस उड़्या काया कुमिलानी।
थरहर थरहर कांपै जीव नां जानूं का करिहै पीव।

<u>कौवा उड़ावत मेरी बहियाँ पिरानी</u>
कहै कबीर मेरी कथा सिरानी ॥

रेखांकित पद की प्रथम पंक्ति में जहाँ कबीर के सात्विक अनुभावों की संयुक्त अभिव्यक्ति द्वारा मनोभाव की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ दूसरी पंक्ति में स्त्री सुलभ शकुन-विश्वास द्वारा प्रियागम की मंगल आशा भी प्राप्त होती है। कहीं-कहीं 'वासकसज्जा' के हृदय की आतुरता के दर्शन भी कबीर में प्राप्त होते हैं—

'वै दिन कब आवैंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ ॥
हौं जानूं जे हिलमिल खेलूं तन मन प्रान समाइ ।
या कामना करौ परिपूरन समरथ हौ राम राइ ॥
माँहि उदासी माधो चाहै चितवत रैनि बिहाइ ।
सेज हमारी स्यंघ भई है जब सोऊं तब खाइ ।
यहु अरदास दास की सुणिये तन की तपनि बुझाइ ।
कहै कबीर मिलै जे साँई मिलि करि मंगल गाइ ॥

अशरीरी आध्यात्मिक प्रियतम के लिए ऐसी मनोरम कल्पनाएं काव्य की उच्चतम निधि हैं।

कबीर काव्य में ओज माधुर्य प्रसाद तीनों गुणों की सुन्दर समन्विति प्राप्त होती है। अपनी डाट फटकार में कबीर ने इतनी ओजपूर्ण तिलमिला देने वाली उक्तियाँ कही हैं कि जिसके लिए वे उक्तियाँ कही गई हैं वह तिलमिला उठता है और साथ ही कबीर द्वारा निर्दिष्ट पथ पर आगे आगे हो लेता है—

'अरे इन दोऊ राह न पाई ।

× × ×

'मीयाँ तुम्हसौं बोल्या बनि नहिं आव ।

× × ×

हिंदू तुरक कहाँ ते आये किन यहु राह चलाई ।
दिल महिं सोच बिचार न आवे भिस्त दोजक किन पाई ॥

माधुर्य गुण के दर्शन कबीर के आध्यात्मिक मिलन प्रसंगों से प्राप्त होते हैं—

'मोरे घर आये राजा राम भरतार ।
तन रति करि मैं मन रति करिहौं पाँचों तत्त बराती ।
राम देव मोहे ब्याहन आये मैं जोबन मदमाती ॥

प्रसाद गुण से तो समस्त कबीर-काव्य ओत प्रोत है। इसी प्रसाद गुण के कारण आज यह जन-मानस पर अपना एकाधिकार किये हुए है। यथा—

"कबीर कहता जात हूँ सुनता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा नहीं तर भला न होइ॥

बात को कितने सीधे-सादे ढंग से कबीर ने यहाँ रखा है। प्रसाद गुण के अपवाद कबीर के कुछ साधनापरक रूपक प्रतीक और उलटबासियाँ हैं। इनके विषय में यही कहा जा सकता है कि यह भाषा आज के समाज की पहुँच से ही दूर है। जिस समय कबीर ने उस काव्य की रचना की थी उस समय समस्त योगपरक पारिभाषिक शब्द जिनसे आज हम अपरिचित हैं जनता को ज्ञात थे। सिद्धों नाथों आदि ने अपने प्रचार से योग साधना को साधकों के लिए तो सुलभ बनाया था ही साथ ही सामान्य जनता भी उसकी शब्दावली आदि से अपरिचित नहीं थी। उस समाज में चमत्कार रूप से (जिसका माध्यम उलटबासी थी) बात को कहने का अत्यधिक प्रचार हो चला था। कबीर ने भी उस परम तत्व का वर्णन कुछ स्थानों पर इन्हीं रूपकों और प्रतीकों द्वारा किया था। किन्तु ये समस्त स्थल अपवाद स्वरूप हैं अन्यथा सर्वत्र कबीर-काव्य में प्रसाद गुण विद्यमान है।

इन तीनों गुणों के साथ ही कबीर-काव्य में ज्ञान भावना और कल्पना तीनों तत्वों का सुन्दर सम्मिश्रण प्राप्त होता है। कबीर के रहस्यवादी पदों में ज्ञान की उच्च से उच्च वस्तु और निगूढ़ तत्व विद्यमान हैं। अद्वैतवाद के आधार पर सब उनके भक्ति-भवन में ज्ञान ही ज्ञान भरा पड़ा है। संसार, माया आदि के सम्बन्ध में ऐसी तत्त्वयुक्त बातें प्राप्त होती हैं कि व्यक्ति की आँखें खुलती चली जाती हैं। यथा—

"जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथ्यौ ग्यानी॥

इसी भाँति—

'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन म गई, म भी हो गई लाल॥"

उनकी रहस्यभावना की मधुरता पर प्रकाश डालते हुए भावनाओं की उदात्तता के उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं। कल्पना तत्त्व भी कबीर के रूपकों प्रतीकों आदि में प्रकट हुआ है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर की कल्पना अत्यन्त उच्च कोटि की है—

"बिसनां म लोभ लहरि काम क्रोध नीरा।
मद मच्छर कछ मछ हरषि सोक तीरा।
कामनी अरु कनक भवर बोये बहु बीरा।
कहै कबीर नवका हरि खेवट गुरु कीरा॥

ज्ञान भावना एवं कल्पना के सम्मिश्रण से उनका काव्य प्रत्येक कोटि के पाठक की मानसिक परितृप्ति कर उसकी तृषा को शान्त करता है।

महाकवि मिल्टन ने किसी श्रेष्ठ काव्य के जो तीन गुण—१ सादगी २ असलियत ३ जोश निर्धारित किये हैं वे हमें कबीर-काव्य में प्राप्त होते हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का कथन है कि " बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। किन्तु हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी जी के इस कथन का अपवाद कबीर साहित्य है। सादगी असलियत जोश—कबीर में इन तीनों गुणों की प्रस्थापना के विरोध में कोई तर्क नहीं रखा जा सकता। सादगी का निम्नलिखित उदाहरण तो दर्शनीय है—

"आऊं या न जाऊंगा मरूंगा न जीऊंगा।
गुरु के सबद में मैं, रमि रमि रहूंगा॥"

इन तीनों गुणों ने ही कबीर-काव्य को अद्भुत सम्प्रेषणीयता प्रदान कर दी है।

कविता करना यद्यपि कबीर का लक्ष्य नहीं था किन्तु काव्य की समृद्ध परम्पराओं का ज्ञान उनको मिला था। अपनी एक वार्ता में डा गुलाबराय जी ने उदाहरण द्वारा इस बात को भली भांति समझाया है। वे एक सिद्ध कवि की भांति काव्य की परम्पराओं कवि समयों आदि से परिचित थे। साहित्य की परम्परागत भाव-सम्पत्ति का दाय उनको प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ था तभी तो उनमें सूर, तुलसी आदि महाकवियों के साथ भाव-साम्य के दर्शन होते हैं। हंस के नीर-क्षीर विवेक की बात को कबीर और तुलसी ने समान रूप से अपनाया है—

"हंसा बक एक रंग लखि चरैं एक ही ताल।
क्षीर नीर ते जानिए बक उघरैं तेहि काल।

तुलसीदास जी ने भी इसी कवि-समय का उपयोग करते हुए लिखा है

'बरन धौल लोचन रची चली मराली चाल।
क्षीर नीर बिवरन समय बक उघरत तेहि काल॥

चातक के प्रेम की अनन्यता के भी कबीर और तुलसी दोनों एक ही परम्परा के उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। कबीरदास जी ने कहा है—

'चातक सुतहि पढ़ावही आन नीर मत लेइ।
मम कुल यही सुभाव है, स्वाति बूंद चित देइ॥"

तुलसीदास जी अपनी कल्पना के विस्तार से चातक का परलोक में भी स्वाति जल से प्रेम दिखाते हैं, सुनिए—

'चातक सुतहि देत सिख बार ही बार।
तात न तर्पन कीजिए बिना बारिवर बार॥"

सेमर का फूल संसार की निस्सारता का प्रतीक माना गया है। इस कवि प्रसिद्धि का कबीर और सूर दोनों ने बड़ी मार्मिकता से उपयोग किया है। कबीरदास जी कहते हैं

'सेमर सुवना सेइया दुई ढेढ़ी की आस ।
ढेढ़ी फूटी चटाक दे सुवना चला निरास ॥'

कबीरदास जी इस उदाहरण की व्यंजना पाठक पर ही छोड़ देते हैं किन्तु सूरदास जी उस व्यंजना को स्पष्ट करके गाते हैं—

"रे मन छाड़ विषय को रचिबो ।
तू कत सुवा होत सेमर को अन्तहि कपट न बचिबो ॥

वे एक जगह और भी कहते हैं

"रतनग जानि सुवा सेमर को चोंच घालि पछतायो ।

रात को चकवे-चकई के रैन-वियोग का वर्णन हमारे कवियों को बहुत प्रिय है। इस कवि-समय को अन्योक्ति के रूप में कबीर और सूर ने समान रूप से अपनाया है— चल चकई वा सर विषै जहाँ न रैन वियोग। तुलसी के साथ तो बहुत सी बातों में कबीर का भाव-साम्य है। जनता की भेड़ियाधसान वृत्ति का दोनों ने ही उल्लेख किया है। कबीर कहते हैं 'ऐसी गत संसार की ज्यों गाडर की ठार' इसी से मिलता-जुलता तुलसीदास जी का पद है—"तुलसी भेड़ी की धसान जड़ जनता समान। 'भय बिनु होय न प्रीति' का भाव दोनो म समान है।

कबीर ने संस्कृत विचार-परम्परा को बहुत कुछ अपनाया है —'भृंग ज्यों कीट को पलटि भृंग किन्ही' में वेदान्तियों के 'कीट भृंग न्याय' की झलक है और "है साधु संसार में कमला जल माही' में 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' की छाया है। 'सब बन चन्दन नाहिं सूरों का दल नाहिं' में उलट-फेर दिखाई पड़ता है। ऐसी ही उलट-पलट नीचे के दोहे में है

'वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखै नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर ॥

इसका संस्कृत का बिम्ब रूप देखिए —

"पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धारन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतां विभूतयः ॥
असित-गिरि-समं स्यात् कज्जलं सिन्धु पात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व-कालम्
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।

महिम्नस्तोत्र की इस उक्ति को सूर और तुलसी द्वारा अपनाये जाने पर कबीर ने इस प्रकार अपनाया था। सुनिये—

'सब धरती कागद करूं लेखनि सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूं गुरु गुण लिखा न जाय॥

इन उदाहरणों के अतिरिक्त तुलसी के 'भूए क मौरहर देखि तु म भूलि रे' जैसा ही—

"यह संसार इसी रे प्राणी जैसे धू वरि मेह॥

इसी भांति 'नलिनी के सुवटा' का दृष्टान्त तो सूर, तुलसी कबीर तीनों में प्राप्त होता है। भक्तराज प्रह्लाद द्वारा की गई भक्ति की व्याख्या का भाव-साम्य भी कबीर में प्राप्त होता है—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

कबीर ने इसे यों कहा है—

"ज्यूं कामी कौं काम पियारा ज्यूं प्यासे कू नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी हरि सू कहै सुनाई रे।

जब कबीर-काव्य की भाषा पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि वे जनभाषा के प्रथम निर्भय कवि थे। कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं और बोलियों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। उनकी भाषा पर सर्वाधिक प्रभाव भोजपुरी पंजाबी व राजस्थानी का है। इसीलिए आलोचकों ने इनकी भाषा को सधुक्कड़ी नाम दिया है। डा. रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वानों ने इसकी अकृत्रिमता के ही कारण यह कहा है—"भाषा बहुत अपरिष्कृत है उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है।¹ किन्तु इस प्रकार की भ्रामक बातें कहना कबीर-काव्य की आत्मा को दबोच देना है। वास्तविकता इन कथनों से बहुत दूर है। कबीर की भाषा की 'अकृत्रिमता' में ही उसका सहज सौन्दर्य है। उनकी भाषा में विभिन्न भाषाओं के रूपों के सम्मिश्रण का प्रथम कारण तो यह है कि उस समय लोक-भाषाओं के रूप बन रहे थे अर्थ निर्माण काल की इस प्रारम्भिक अवस्था में एक दूसरी भाषा से इतना अधिक अन्तर नहीं था कि कोई भाषा दूसरे प्रदेश वाले को समझ न आये। डा. सरनामसिंह शर्मा जी का कथन है कि 'उस समय के रूपों को देखकर यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश ने अपना दायित्व लोक-भाषाओं को सौंप दिया था जिनमें से किसी में भी अपने शुद्ध रूप और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की झलक नहीं मिलती। जिस प्रकार गुजराती और राजस्थानी में उस समय बहुत साम्य था उसी प्रकार राजस्थानी ब्रजभाषा या गुजराती में भी बहुत

¹'कबीर एक निरीक्षण'—आकाशवाणी दिल्ली पृष्ठ ११-१४

साम्य था। यद्यपि सारे भाषाओं की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी किन्तु उनके बीच में कोई विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं था। इस साम्य के कारण एक भाषा भाषी दूसरे स्थानों की भाषा सरलता से बोल सकता था।

कबीर की भाषा में इस खिचड़ीपन का दूसरा कारण कबीर की पर्यटनशील प्रवृत्ति है। वे जहां-जहां गये वहां की भाषा के शब्द स्वभावतः उनकी भाषा में आ गये क्योंकि उन्हें तो अपनी बात वहां के लोगों की भाषा में या उस भाषा के सर्वाधिक निकट रूप के माध्यम द्वारा समझानी थी। तीसरा कारण यह है कि कबीर के शिष्य जो उनके लिपिकार भी थे विभिन्न प्रदेशों के निवासी थे। उन्होंने अपनी भाषा के अनु-रूप शब्दों को रूप दे दिया। यद्यपि सद्गुरु की पवित्र वाणी में जान बूझ कर उन्होंने हेर-फेर नहीं किया किन्तु अल्पशिक्षित शिष्य अपनी भाषा के प्रभाव से कबीर वाणी को मुक्त न रख सके।

डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी जी आपकी भाषा को सधुक्कड़ी न मान कर सिद्धों और नाथों की सन्ध्या भाषा की परम्परा में बताते हैं। किन्तु इसका प्रत्युत्तर देते हुए डा. सरनामसिंह शर्मा जी ने उचित ही कहा है कि 'कबीर की भाषा को सन्ध्या भाषा से सम्बन्धित कदापि नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्ध्या भाषा के प्रवर्तकों का जो लक्ष्य था उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था। जबकि पहले भोले भाली जनता को भ्रान्ति में डालना चाहते थे कबीर उसे शान्ति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धों की भाषा दुर्बोध करने वाली थी और कबीर की भाषा राह दिखाने वाली थी।' इस भांति हम देखते हैं कि कबीर ने अपनी काव्य-भाषा को जो रूप दिया है वह उस समय की जनता के लिए सर्वग्राह्य थी। सर्वाधिक प्रमुख बात यह है कि भाषा में कबीर का व्यक्तित्व इतना प्रखर और सुन्दर रूप में अभिव्यक्त हुआ है कि वह कबीर-काव्य को सर्वथा विलक्षण ओज और कान्ति प्रदान करता है। डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने आपके काव्य का उचित ही मूल्यांकन करते हुए लिखा है—

"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है।

"आकासे मुखि औंधा कुवां पाताले पनिहारि।
ताका पाणि को हंसा पीवै बिरला आदि बिचारि॥

किन्तु इन प्रतीकों में जैसा कि कहा जा चुका है कोई मौलिकता नहीं।

पारिभाषिक प्रतीक—

वस्तुत पारिभाषिक और सांकेतिक प्रतीकों में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं क्योंकि सांकेतिक प्रतीक और पारिभाषिक प्रतीक दोनों ही साधनामूलक स्थानों क्रियाओं का बोध कराते हैं। अतः इनका वर्णन कबीर ने नाथों आदि के अनुकरण पर अधिकतर किया है। अतः सांकेतिक प्रतीक और पारिभाषिक प्रतीक दोनों को एकत्र में 'साधनापरक प्रतीक' में अन्तर्भूत किया जा सकता है। कबीर ने जिन पारिभाषिक प्रतीकों का वर्णन किया है उसमें सूर्य चन्द्र गंगा जमुना कुण्डलिनी आदि प्रमुख हैं—

'मन लागा उनमन्न सौं गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चन्द बिहूणा चांदिणां तहाँ अलख निरंजन राइ॥
× × ×
"अवधू दरिया अमृत बर्षे कदली कवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदिगी के कोई निज दास॥

संख्यामूलक प्रतीक—

संख्यामूलक प्रतीकों द्वारा भी कबीर ने साधनात्मक स्थितियों आदि का वर्णन किया है —

"नौ पौरी पर दसवं दुवारा तापर झाग जौति उजियारा।
× × ×
"चौसठ दीया जोय के चौदह चन्दा मांहि।
तेहि घर किसका चानणो जेहि घर गोविंद नांहि॥

रूपात्मक प्रतीक—

कबीर ने अपनी रूपक योजना में भी बहुत से प्रतीक प्रयुक्त किये हैं—

'काहे री नलिनी तू कुमिलानी। तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल उत्पति जल में बास। जल मे नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपर आगि। तोर हेत कहु कासनि लागी।
कहैं कबीर जे उदिक समान। ते नहीं मूए हमारे जान॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने अपने प्रतीकों द्वारा रहस्यमयी अनुभूति -साधना की गोप्यतम बातों को सरल रूप में हमारे सम्मुख रखा है। यद्यपि आज ने

प्रतीक हमें कुछ दुरूह भी प्रतीत होते हैं किन्तु उस समय ये सर्वसाधारण में प्रचलित थे।

कबीर की उलटबाँसियों पर विचार करने से पूर्व उसके अर्थ और परम्परा पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। 'उलटबाँसी' शब्द का अर्थ सामान्यतः उलटा अर्थ लिया जाता है किन्तु यह अर्थ और परिभाषा कुछ भ्रम में डाल देने वाली है। इसके दो अर्थ लगाए जा सकते हैं प्रथम तो 'जैसा कि अर्थ वास्तव में प्रकट है उससे उल्टा लगाया जाय' दूसरे या प्रतिपाद्य का वास्तविक अर्थ है उससे उल्टा समझा जाय। श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने इस शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक स्थान पर उन्होंने इस शब्द में 'उल्टा' और 'अंश' शब्द की संधि मानी है। एक अन्य प्रकार से दूसरी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं 'उलटबाँसी' शब्द के इस अर्थ का समर्थन उस 'उलटा' एवं 'बाँस' शब्दों द्वारा निर्मित मानकर भी किया जा सकता है, जिस विधा में उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका बाँस (पार्श्वभाग अथवा पक्ष) उल्टा या विपरीत ढंग का पाया जाय।

किन्तु चतुर्वेदी से अधिक सन्तोषजनक परिभाषा और अर्थ का स्पष्टीकरण का प्रयत्न डा॰ धरमसिंह जी के द्वारा हुआ है। उनका कथन है— 'मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—एक तो 'उलटबाँ-सी' संयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटबाँस' से सम्बन्धित। पहले शब्द 'उलटबाँ' का अर्थ उलटी हुई है और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव 'उलटबाँसी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति'। उलटबाँसियों में उलटी बातें कही गई हैं इसलिए यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। गोरखनाथ का 'उलटी चर्चा' और कबीर का 'उलटा वेद' आदिक प्रयोग इस अर्थ का भी समर्थन करते हैं।

दूसरी व्युत्पत्ति कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है और वह है 'उलटबास' शब्द से। परमपद या आध्यात्मिक-लोक में रहने वालों का निवासस्थान बाम्नाय में 'उलटबास' है। इससे सम्बन्धित वाणी 'उलटबाँसी' वाणी कहला सकती है। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक-विपरीत अनुभूतियाँ होती हैं और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली वाणी लोक दृष्टि से उलटी प्रतीत होती है वास्तव में वह उलटी होती है। इस शब्द में 'बा' के ऊपर जो सानुनासिकता दिखाई पड़ती है वह अकारण है।

वस्तुतः धर्मा जी ने जो दोनों परिभाषाएँ या व्याख्याएँ दी हैं वे सम्यक् लगते हैं। वीर-काव्य लोक-साम्य के अधिक निकट अथवा दूसरे शब्दों में यह कहें कि वह जुगरहल लोक साहित्य है। डा॰ साहब की व्याख्याएँ भी लोक-मान्य प्रवृत्ति के अनुरूप ही हैं।

यदि उलटबाँसी परम्परा पर दृष्टिपात करें तो विद्वानों ने वेदों में भी उलटबाँसी

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कबीर का लक्ष्य कविता नहीं था किन्तु फिर भी उनके काव्य में उच्चतम कविता के गुण प्राप्त होते हैं काव्यत्व उनमें कोष्ठक का मात्र है। उनके काव्य की रस-माधुरी से रस छलता पड़ता है।

कबीर के प्रतीक और उलटवासियां

यद्यपि कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था किन्तु जैसा कि देखा जा चुका है उनकी वाणी में काव्य की उच्चतम भूमि प्राप्त होती है। मस्ती की मौज में ऊंचा उठकर कबीर ने अपने भावपरक अध्यात्म चिन्तन से जिस अलौकिक अगम्य निराकार ज्योति-स्वरूप ब्रह्म के दर्शन किये हैं उसे वे सामान्य भाषा में व्यक्त करने में असमर्थ हैं। वहां वाणी मूक और सभी अपनी मर्मभेदक छवियां खो बैठती हैं 'गूंगे केरी सर्करा' का वर्णन करें तो कैसे करें? किन्तु कबीर ब्रह्मानन्द रस के आनन्द को अपनी परिधि में समेट कर नहीं रख सकते उनकी वाणी अटपटे प्रतीकों रूपकों और उलटवासियों का माध्यम ले उस परम सत्य को अभिव्यक्त करती है।

डा॰ गोविन्द त्रिगुणायत ने प्रतीक पद्धति का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है — 'आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति में वैदिक ऋषियों ने भी इसका आश्रय लिया था। बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म-वर्णन सूर्य चन्द्र आदि के प्रतीकों से किया गया है। वेदों में वर्णित कुछ विद्वान् सोमरस को निष्कलंक आनन्द का प्रतीक मानते हैं। भारत में प्रतीक-पद्धति के विकास को सूफी की प्रतीकपद्धति से प्रेरणा मिली है। किन्तु कबीर के प्रतीक सूफी परम्परा से प्रभावित नहीं वे तो वैष्णवों के आधार पर लिये गये हैं। यद्यपि सूफियों में भी दाम्पत्य प्रेम प्रतीक का पर्याप्त वर्णन हुआ है किन्तु कबीर में प्रयुक्त दाम्पत्य भावना ईश्वर को पति रूप में मानने पर शुद्ध वैष्णवी है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है—

Vaishnavism is to worship God domestically

कबीर ने अपनी भक्ति के लिए दाम्पत्य प्रतीक के साथ-साथ वात्सल्यात्मक प्रतीकों का भी आश्रय लिया है। यह भावना भी शुद्ध वैष्णवी है। कबीर ने दाम्पत्य भावना के प्रतीकों द्वारा अपने प्रेम की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। यथा —

'मेरे घर आये राजा राम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहूँ पाँचों तत्त बराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आये मैं जोबन मदमाती॥

इस आध्यात्मिक विवाह के पश्चात् दाम्पत्य प्रतीक के ही माध्यम से महामिलन के सुख का वर्णन किया गया है —

"किये सिंगार मिलन के ताईं हरि न मिले जगजीवन गुसाईं।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।
धनि पिय एकै संग बसेरा सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धन्न सुहागिन जो पिय भावै कहि कबीर फिरि जनम न पावै॥

महामिलन के इस अनुपम सुख को ही नहीं अपितु विरह की विदग्ध-वेदना को भी दाम्पत्य प्रतीक के ही माध्यम से कबीर ने व्यक्त किया है—

'बिरहनि ऊभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाई।
एक सबद कहु पीव का कबर मिलैगे आई॥

इस आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को कबीर ने पुत्र-पिता के प्रतीक द्वारा भी व्यक्त किया है—

'पिता हमारो बड़ गुसाइं

किन्तु पिता-पुत्र प्रतीक कबीर द्वारा इतना प्रयुक्त नहीं हुआ जितना माता पुत्र प्रतीक। यह स्वाभाविक भी है। बालक का माता से जितना तादात्म्य होता है माता से जो अपरिमित स्नेह उसे प्राप्त होता है वह पिता से नहीं—

"हरि जननी मैं बालक तोरा काहे न औगुण बकसहु मोरा।
सुत अपराध करै दिन केते जननी के चित रहै न तेते।
कर गहि केस करै जो घाता तऊ न हेत उतारै माता।
कहैं कबीर एक बुद्धि बिचारी बालक दुखी दुखी महतारी॥

दास्य-भावना की अभिव्यक्ति के लिए कबीर भावाकुल हो कूरो तक के प्रतीक पर उतर आते हैं—

"कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी जित खींचें तित जाउं॥

त्रिगुणायत जी ने कबीर के प्रतीकों का विभाजन निम्नस्थ चार वर्गों में किया है इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत उनके प्रतीकों का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है—

१ सांकेतिक प्रतीक
२ पारिभाषिक प्रतीक
३ संख्यामूलक प्रतीक
४ रूपात्मक प्रतीक

सांकेतिक प्रतीक—

इन प्रतीकों में कबीर ने संकेत द्वारा साधना—हठयोगी साधना के विभिन्न सोपानों का वर्णन किया है। सिद्धों और नाथों की परम्परा में प्राप्त इन प्रतीकों की कबीर-काव्य में प्रचुरता है

"आकासे मुखि औंधा कुवा, पाताले पनिहारि।
ताका पाणि को हंसा पीवै बिरला आदि बिचारि॥

किन्तु इन प्रतीकों में जैसा कि कहा जा चुका है, कोई मौलिकता नहीं।

पारिभाषिक प्रतीक—

वस्तुत पारिभाषिक और सांकेतिक प्रतीकों में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं क्योंकि सांकेतिक प्रतीक और पारिभाषिक प्रतीक दोनों ही साधनामूलक स्थानों क्रियाओं का बोध कराते हैं। अत इनका वर्णन कबीर ने नाथों आदि के अनुकरण पर यथावत् किया है। अत सांकेतिक प्रतीक और पारिभाषिक प्रतीक दोनों को एकवर्ग 'साधनापरक प्रतीक' में अन्तर्गत किया जा सकता है। कबीर ने जिन पारिभाषिक प्रतीकों का वर्णन किया है उसमें सूर्य चन्द्र गंगा यमुना कुण्डलिनी आदि प्रमुख हैं—

'मन लागा उनमन्न सौं गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चन्द बिहूँणा चाँदिणाँ तहाँ अलख निरंजन राइ॥

× × ×

"गगन गरजि अमृत चवै कदली कंवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदिगी क कोई निज दास॥

संख्यामूलक प्रतीक—

संख्यामूलक प्रतीकों द्वारा भी कबीर ने साधनात्मक स्थितियों आदि का वर्णन किया है—

'नौ पौरी पर दसवं दुवारा तापर झलक जोति उजियारा।

× × ×

'चौसठ दीवा जोय के चौदह चन्दा माहिं।
तेहि घर किसका चानड़ो जेहि घर गोविंद नाहिं॥

रूपात्मक प्रतीक—

कबीर ने अपनी रूपक योजना में भी बहुत से प्रतीक प्रयुक्त किये हैं—

"काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी। तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल उत्पत्ति जल म बास। जल में नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपर आगि। तोर हेत कहु कासनि लागी।
कहैं कबीर जे उदिक समान। ते नहीं मुए हमारे जान॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने अपने प्रतीकों द्वारा रहस्यमयी अनुभूति -साधना एवं गोप्यतम बातों को सरल रूप में हमारे सम्मुख रखा है। यद्यपि भाव के

प्रतीक हमें कुछ दुरूह भी प्रतीत होते हैं किन्तु उस समय के सर्वसाधारण में प्रचलित थे।

कबीर की उलटबासियों पर विचार करने से पूर्व उसके अर्थ और परम्परा पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। 'उलटबांसी शब्द' का अर्थ सामान्यतः उलटा अर्थ लिया जाता है किन्तु यह अर्थ और परिभाषा कुछ भ्रम में डाल देने वाली है। इसके दो अर्थ लगाये जा सकते हैं प्रथम तो 'जैसा कि अर्थ वास्तव में प्रकट है उससे उल्टा समझा जाय' दूसरे जो प्रतिपाद्य का वास्तविक अर्थ है उससे उल्टा समझा जाय। श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने इस शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक स्थान पर उन्होंने इस शब्द में 'उल्टा' और 'अंस' शब्द की संधि मानी है। एक अन्य प्रकार से दूसरी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं 'उलटबांसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'बाँस' शब्दों द्वारा निर्मित मानकर भी किया जा सकता है जिस दिशा में उसका ठीक-ठीक यथार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका बाँस (पार्श्वभाग अथवा अंग) उल्टा या विपरीत क्रम का पाया जाय।

किन्तु चतुर्वेदी से अधिक सन्तोषजनक परिभाषा और अर्थ का स्पष्टीकरण का प्रयत्न डा० सरनामसिंह जी के द्वारा हुआ है। उनका कथन है—'मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—एक तो 'उलटबां-सी' संयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटबा' से सम्बन्धित। पहले शब्द 'उलटबा' का अर्थ उलटी हुई है और 'सी' का अर्थ समान है अतएव 'उलटबांसी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति'। उलटबांसियों में उलटी बातें कही गई हैं इसलिए यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। गोरखनाथ का 'उलटी चर्चा' और कबीर का 'उलटा वेद' आदिक प्रयोग इस अर्थ का भी समर्थन करते हैं।

'दूसरी व्युत्पत्ति कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है और वह है 'उलटवास' शब्द से। परमतत्व या आध्यात्मिक-लोक में रहने वाला निवासस्थान वास्तव में 'उलटवास' है। उसमें सम्बन्धित वाली 'उलटबांसी' बानी कहला सकती है। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक-विपरीत अनुभूतियाँ होती हैं और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली बानी लोक दृष्टि से उलटी प्रतीत होती है वास्तव में वह उलटी होती है। इस शब्द में बा के ऊपर जो सानुनासिकता दिखाई पड़ती है वह अकारण है।

वस्तुतः वर्मा जी ने जो दोनों परिभाषाएं या व्याख्याएं दी हैं वे सम्यक् लगती हैं। वीर-काव्य लोक-काव्य के अधिक निकट अथवा दूसरे शब्दों में यह कहें कि वह मुख्यतः लोक साहित्य है। डा० साहब की व्याख्याएं भी लोक-काव्य प्रवृत्ति के अनुरूप ही हैं।

यदि उलटबांसी परम्परा पर दृष्टिपात करें तो विद्वानों ने वेदों में भी उलटबांसी

शैली की प्रवस्थिति मानी है। ऋग्वेद से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए विद्वानों ने मुख्यतया निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

"अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत [1]

("बिना पैरों वाली पैरोंवाली से पहले आ जाती है मित्रावरुण इस रहस्य को नहीं जानते। ऋग्वेद २ १ १५२—३)

"चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति"[2]

(इस बैल के चार सींग तीन चरण दो सिर और सात हाथ हैं यह तीन प्रकार से बंधा हुआ उच्च शब्द करता है। ऋग्वेद ३ ४ ५८—३)

"इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः

(हे मनुष्यो! यह वपु निर्वचन है क्योंकि इसमें जल स्थिर है और नदियाँ बहती हैं। —ऋग्वेद ४ ५ ६-७-५)

वेदों से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए डा त्रिगुणायत जी ने निम्नस्थ उदाहरण प्रस्तुत किया है—

के इमं वो नृष्य आचिकेत वत्सो मातृर्जनयति सुधाभिः

—ऋग्वेद १ १-७-५ मंत्र १५

अथर्ववेद आदि में भी इसी प्रकार के उदाहरण खोजे गये हैं।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों द्वारा इस शैली का और भी अधिक विकास हुआ। उपनिषदों ने ब्रह्म के विलक्षण स्वरूप कथन में जहाँ उसे विरुद्धधर्मी बताया गया है किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् ईशोपनिषद् कठोपनिषद् आदि में ऐसे उदाहरण पर्याप्त हैं।

उपनिषदों से विचित्र कथन की यह प्रणाली सिद्धों नाथों आदि में आई। सिद्धों और नाथों ने अपनी साधना की विचित्रता और गुह्यता प्रकट करने के लिए ऐसी उक्तियों का खूब प्रयोग किया। वास्तव में सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म की विकृतावस्था से विकसित हुए थे और बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में भी उलटबाँसी शैली के प्रयोग प्राप्त होते हैं। अत उसी धर्म से निकलने वाले सिद्धों में स्वाभाविक रूप से ये विचित्र उक्तियाँ आ गई हैं। कबीर ने कहीं-कहीं तो सिद्धों और नाथों की उक्तियों को यथावत् रख दिया है। यथा—

"बैल बियायल गविया बाँझे।

× × ×

"बरसे कम्बल भीगै पानी।

× + ×

"नाव बिच नदिया डूबी जाय।

ये उक्तियाँ कबीर और सिद्धों आदि में समान रूप से प्राप्त होती हैं। कदाचित् इसका कारण इन उक्तियों का साधारण जनता में अत्यधिक प्रचलन था। आज भी ग्राम्य समाज में (ग्राम्य से यहाँ असभ्य समाज का तात्पर्य किंचित् भी नहीं है) "हम सुनो भई गप्प भाव बिच नदिया डूबी जाय" जैसी उक्तियाँ सुनने को मिल जाती हैं। कुछ लोकोक्तियों में भी इन उलटबाँसियों की छाया पड़ गई है। यथा—

"जो बैल ब्याई गाय तो बूढ़ो ना होय।

कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर के समय तक इस प्रकार की उक्तियों का पर्याप्त प्रचलन हो गया था। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इतने प्राचीन समय से प्रयुक्त इस विचित्र उक्ति शैली का नाम कबीर से पूर्व कहीं भी प्राप्त नहीं होता। डा सरनामसिंह जी का कथन है कि "इस शब्द को हम कबीर से पहले का नहीं मान सकते। यह कबीर से पहले का नहीं हो सकता क्योंकि पहले का होने पर कबीर की बानी में कहीं न कहीं इसका उपयोग होता अथवा अन्यत्र यह शब्द मिलता। जब शब्द का प्रयोग कबीर बानी में नहीं मिलता तो अवश्य ही इस का जन्म कबीर के बाद में हुआ है और वह भी किसी ऐसे व्यक्ति की बानी में जिसने इसका अभिप्राय समझा हो। बहुत सम्भव है कि यह शब्द बहुत प्राचीन न हो क्योंकि बाद के संतों में भी इसका प्रयोग मिलता है।"

हम डा सरनामसिंह जी के इस मत से सहमत नहीं कि कबीर की उलटबाँसियाँ सिद्धों की परम्परा की उलटबाँसियाँ नहीं हैं। क्योंकि ऊपर उदाहरण देकर दिखाया जा चुका है कि कुछ उक्तियाँ सिद्धों और कबीर में समानरूप मिलती हैं। दूसरे हठयोगी साधना को सिद्धों और नाथों की परम्परा से लेने वाले कबीर पर उनकी उलटबाँसी शैली का प्रभाव अवश्य ही पड़ा होगा।

विद्वानों ने कबीर की उलटबाँसियों के प्राय ३ वर्ग किये हैं—

१ चमत्कार प्रधान

२ अद्भुत प्रधान

३ प्रतीक प्रधान।

चमत्कार प्रधान—जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन उलटबाँसियों में अधिकांशतः विरोधी बातें ही रहती हैं। अत इनमें प्रयुक्त अलंकार भी विरोधमूलक हैं जो किसी न किसी रूप आश्चर्य की सृष्टि करते हैं। इन अलंकारों में विरोधाभास असंगत विभावना असंगति विषम आदि का प्राधान्य रहता है। विरोधाभास का उदाहरण देखिए—

'अवधू ऐसा ग्यान बिचार ।
भेरैं चढ़े सु अधधर डूबे निराधार भये पार ।
ऊघट चले सु नगरि पहूँचे बाट चले ते लूटे ।
एक जेवड़ी सब लपटानें के बाँधे के छूटे ।
मन्दिर पसि चहुँदिसि भीगे बाहर रहे ते सूका ।
सीर मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूखा ।
बिन नैनन के सब जग देखै लोचन अछते अंधा ।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा ।

उपर्युक्त पद के उत्तरार्द्ध में 'बिन नैनन   अंधा' में विभावना का उदाहरण भी प्राप्त हो जाता है । किन्तु कहीं कहीं सम्पूर्ण पद में ही विभावना की स्थिति रहती है । ब्रह्म निरूपण करते हुए वे कहते हैं—

'बिन मुख खाइ चरन बिन चालै बिन जिभ्या गुण गावै ।
आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै दह दिसिहिं फिरि आवै ।
बिनहीं तालाँ ताल बजावै बिन मंदल षट ताला ।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै तहाँ निरतत हैं गोपाला ॥

विषम अलंकार—

'तालि बुझै जल भीतर लउका परबति करै सौरा मछ ।
जल की हिरनी करै बियानी ससा फिरैं अकासा ॥
ऊट नारि में चारैं गाया हस्ती तरउवा देई ।
बबूर की डरियाँ बनसी लेहू सीयरा धुँकि-धुँकि खाई ॥

अद्भुत प्रधान उलटवाँसी—

अद्भुत प्रधान उलटवाँसियों में अद्भुत रस की ही विशेष प्रतिष्ठा कवि के कथन में हुई है । यद्यपि चमत्कार और प्रतीकों की भी स्थिति ऐसे कथनों में स्वाभाविक रूप से रही है किन्तु प्रमुखता अद्भुत रस की ही रहती है—

"डाल गह्या थे मूल न सूझै, मूल गह्या फल पाया ।
बंबई उलटि सरप कौ लागी धरणि महारस खाया ।
बैठि गुफा में सब जग देख्या बाहरि कछू न सूझै ।
उलटै धनकि पारधी मार्यो यहु अचिरज कोई बूझै ।
× × ×
अंबर बरसै धरती भीजै यहु जाणै सब कोई ।
धरती बरसै अंबर भीजै बूझै बिरला कोई ॥

प्रतीक-प्रधान उलटवांसी—

प्रतीकात्मक उलटवांसियों में कबीर ने साधना के निगूढ़ रहस्यों को प्रायः रूपक आदि के द्वारा कहा है। इन रूपकों में किसी स्थान पर रूपक प्रधान है और कहीं रूपक प्रधान न होकर प्रतीक प्रधान। निम्नस्थ उदाहरण में रूपक प्रधान है—

"तरवर एक अनन्त मूरति सुरता लेहु पिछाणी।
साखा पेड़ फूल फल नाहीं ताकी अमृत वाणी।
पुहुप बास एक भवरा रसता बारा लै उर धरिया।
सोलह मंझे पवन झकोरै आकासे फल फलिया॥
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या धरती जल हर सोख्या।
कहै कबीर तास मैं चेला जिनि यहु तरवर पेख्या॥

अब एक उदाहरण से हम यह स्पष्ट करेंगे कि कबीर की उक्तियों में कहीं कहीं प्रतीक ही प्रधान है ऐसे स्थानों पर रूपक-योजना गौण हो जाती है, यथा—

है कोई जगत गुर ग्यानी उलटि बेद बूझै।
पाणी मैं अगनि जरै अंधरे कौं सूझै॥
एकनि दादुर खाये पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ हरनि खायौ चीता।
कागिल गर फांदिया बटेरैं बाज जीता॥
मूसै मंजार खायौ स्यालि खायौ स्वानां।
आदि कौ आदेस करत कहै कबीर ग्यानां॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीरदास जी के प्रतीक और उलटवांसियों में अद्भुत रहस्य और ज्ञान का अपरिमित कोष भरा पड़ा है।

कबीर का रहस्यवाद

मानव में जबसे ज्ञान—बुद्धि—नामक तत्त्व की स्थिति हुई तभी से उसकी चिन्तन प्रक्रिया में सृष्टि के उद्गम और अपने मूल के सम्बन्ध में जिज्ञासा रही है। उसने जब इस सृष्टि निर्माता के स्वरूप की गुत्थी को ज्ञान का आश्रय लेकर सुलझाने का प्रयास किया तब वह दर्शन का विषय बन गया किन्तु जब इसे कवि ने समझने का प्रयास कर अपने अनुभवों को वाणी की विशेष पद्धति में अभिव्यक्त किया तब इसे 'रहस्यवाद' कहा गया। संसार का लगभग प्रत्येक श्रेष्ठ कवि किसी न किसी रूप में रहस्यवादी होता है क्योंकि जन-मानस की भावनाएं कवि के द्वारा अभिव्यक्ति

पाती है। अमेरिकन प्रो० प्रॉट (Prof Prat) का कथन उचित ही है कि Every poet has at least a touch of mysticism विद्वानों ने रहस्यवाद की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। आचार्यप्रवर रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन है कि ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है। किन्तु डा० सत्यनारायण शर्मा जी का मत इससे भिन्न है। शुक्ल जी के कथन की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है—"यह कहना कुछ विशेष समीचीन नहीं दीख पड़ता कि जो ज्ञान के क्षेत्र में अद्वैतवाद कहलाता है वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद' कहलाता है। क्योंकि भावना के अतिरिक्त रहस्यवाद का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के एक विशेष रूप से भी तो है जिसमें शब्द का अपना अर्थ और अपना संकेत होता है। आप रहस्यवाद की अपनी परिभाषा देते हुए कहते हैं—'विशेष अनुभूति की प्रतीकाश्रित अभिव्यक्ति साहित्य में 'रहस्यवाद' नाम पाती है। रहस्यवाद कोई दार्शनिकवाद न होकर वस्तुतः साहित्यिकवाद है जिसका लक्षण है प्रेमामयी अद्वैतानुभूति एवं प्रतीकामयी सांकेतिक अभिव्यक्ति।

डा० रामकुमार वर्मा जी के अनुसार 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ता जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती हैं। जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का तेज अन्तर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को इस प्रकार से भूल सा जाती है। एक भावना एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और यह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती रहती है। यही दिव्य संयोग है। यहाँ हम डा० वर्मा जी की अन्य सब बातों से तो सहमत हैं किन्तु रेखांकित वाद से नहीं क्योंकि यदि आत्मा अपने पृथक अस्तित्व को भूल जाय तो वहाँ रहस्यवाद का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा परमात्मा का अंश होते हुए भी उससे पृथक है और यह पार्थक्य बोध ही उसे प्राप्त करने का या रहस्यात्मक अनुभूति का मूल है। मैं 'अज्ञेय' जी के इस कथन से पूर्ण सहमत हूँ कि—

द्वैतत्व की सत्ता न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा ?

हाँ ! यह अवश्य मानना होगा कि आत्मा और परमात्मा का यह द्वैतत्व क्षणिक है और रहस्यवाद की चरम परिणति चरम उपलब्धि अन्तिम सोपान मिलन ही है। अतः जीवात्मा रहस्यवाद के अन्तिम सोपान पर ही पहुँच अपने अस्तित्व को भूलती है वहाँ पार्थक्य नहीं रहता। वहाँ 'अहम्' और 'इदम्' की सीमाओं का क्रमशः लोप होता है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी जी का कथन है कि रहस्यवाद काव्य की एकधारा विशेष को सूचित करता है। यह प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष गम्भीर एवं तीव्रानुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है। इस अनुभूति का वास्तविक आधार अन्तर्हृदय हुआ करता है जो वैयक्तिक चेतना का मूल स्रोत है और इसमें 'अहम्' एवं 'इदम्' की भावना का क्रमशः लोप हो जाता है।

'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।' —जयशंकर प्रसाद

एक लेखक का कथन है कि "रहस्यवाद वैराग्य मिश्रित अनुराग है वैराग्य सृष्टि से और अनुराग ब्रह्म से।" किन्तु यह परिभाषा भक्ति और रहस्यवाद के अन्तर का स्पष्टीकरण नहीं करती। डा० त्रिगुणायत जी ने ज्ञान भक्ति और रहस्यवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए कहा है "बुद्धि के सहारे आध्यात्मिक सत्य का निरूपण करना ज्ञान है। भावना और प्रेम के सहारे ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप की उपासना भक्ति है। रहस्यवाद इन दोनों से भिन्न है। जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।"

वस्तुतः रहस्यवाद साहित्यकार की ईश्वरविषयक प्रेममय अनुभूतियों की ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका निरूपण साधारण भाषा की क्षमता से परे है। अतः उस अभिव्यंजना को स्वभावतः ही प्रतीकात्मकता का आश्रय लेना पड़ता है। 'गूंगे केरी सर्करा' का वर्णन तो प्रतीकों के इशारों से ही हो सकता है।

भारतीय परम्परा में रहस्यवाद की सर्वप्रथम झलक यद्यपि कुछ लोग वेदों में मानते हैं किन्तु वैदिक मन्त्रों एवं प्रार्थनाओं में विशुद्ध रहस्यवाद जैसी वस्तु नहीं मिलती। वहाँ तो देवताओं से अपने कल्याण की प्रार्थना और विनय ही प्रधान है। हाँ कहीं-कहीं ईश्वर से पिता आदि के सम्बन्ध भी जोड़े गए हैं किन्तु फिर भी आत्मा का परमात्मा से वह उत्कट प्रेम व्यंजित नहीं होता जो रहस्यवाद की प्रमुख प्रवृत्ति है। वेद-मन्त्रों में स्थापित सम्बन्धों में रक्षा और कल्याण की भावना का ही प्राधान्य है। उपनिषदों में आकर अद्वैतवाद के प्रतिपादन में रहस्यवादी परम्परा का आरम्भ होता है किन्तु वहाँ भावनात्मक माधुर्य के स्थान न होकर दर्शन की शुष्क ज्ञानात्मक गुत्थी ही अधिकतर सुलझायी गयी है। कहीं-कहीं उनमें विशुद्ध रहस्यवादी प्रवृत्ति के अनुरूप भावात्मकता भी है। सर्वप्रथम गीता के दशम अध्याय में भावात्मक प्रमाणों पर सर्वेश्वरवाद का निरूपण हुआ है जो रहस्यवाद का ही एक अंग है—

'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजा ॥
एतां विभूति योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥"

तदनन्तर सिद्धों और योगियों की वाणी में भी रहस्य भावना के दर्शन होते हैं किन्तु वहां भावना से प्रमुख साधना है। सूफियों और (सन्तों में) कबीर के द्वारा ही सर्वप्रथम रहस्यवाद को प्रेम की मधुर भावना प्राप्त होती है। भक्ति युग के पश्चात रहस्यवाद के दर्शन आधुनिक युग मे छायावादी कवियों मे ही होते है। किन्तु छायावादी काल की रहस्यवादी कविता पूर्व-युगों की रहस्यवादी रचनाओं से कुछ विभिन्न है। यहाँ कल्पना का आधिक्य है जबकि मध्य-कालीन रहस्यवाद में साधनात्मक अनुभूति का। उन मध्यकालीन रहस्यवादी कवियों की साधना प्रेम-साधना और यौगिक साधना—दोनों ही प्रकार की है।

कबीर के रहस्यवाद में अद्वैती और सूफीमत की गंगा-जमुनी धारा प्रवाहित है यद्यपि उसमें प्रमुख अद्वैती गंगा-धारा ही है। डा हजारीप्रसाद द्विवेदी जी जैसे विद्वान् इस पर किंचित् भी सूफी प्रभाव नहीं मानते किन्तु, जैसा कि कबीर पर पड़ने वाले प्रभावों पर विचार करते समय देखा जा चुका है कि प्रेम-पीर की व्यंजना में सूफियों का प्रभाव कबीर पर अवश्य परिलक्षित होता है। कबीर ने कहीं भी तर्क जाल आश्रित ब्रह्म का वर्णन नहीं—इसका कारण यही है कि कबीर ने अपनी अनुभूति को ही वाणी का रूपाकार दिया था। अनुभवैकगम्यता के कारण उसमें विभिन्नता आना स्वाभाविक था। इसलिए वह ब्रह्म इन्द्रियातीत अगम्य होते हुए भी गम्य है। वह प्रेम से प्राप्य है। उन्होंने उस परमात्मा के विरह में बड़ी सुन्दर सुन्दर मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति की है। उनकी आत्मा ने प्रियतमा के समान ही प्रिय के लिए प्रतीक्षा की है—

"बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं मनि नहीं बिश्राम ॥

कबीर की विरह-वेदना इतनी बढ़ गई है कि वह अवर्णनीय हो गई है। अब उसे तो केवल दो ही जान सकते हैं, एक तो वह जिसके वियोग में यह व्यथा भोगनी पड़ रही है और दूसरा वह (आत्मा) जो इस व्यथा को सह रहा है—

"चोट सतौणी विरह की सब तन जर-जर होइ।
मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी सोइ॥

अपने शरीर को जो विरह-व्यथा से जर्जर है, विरहिणी (आत्मा) प्रिय (परमात्मा) के लिए न जाने कौन-कौन से कष्ट देने के लिए तत्पर है। वह अपने समस्त शरीर को दीपक कर अपने प्राणों की वर्तिका बना और शरीर का रक्त ही उसमें तेल के रूप में डाल प्रियतम का मुख देखने के लिए आतुर है—

"इस तन का दीवा करौं बाती मेल्यूं जीव।
लोही सींचौ तेल ज्यूं कब मुख देखौं पीव॥

इस प्रेमी की मनःस्थिति बड़ी विचित्र है क्योंकि यह मूर्ख संसार तो उसे पागल समझता है। यदि प्रिय-वियोग में अहर्निश रोते-रोते उसके नेत्र लाल हो गये हैं तो लोग उसे आँख दुखने की बीमारी से अधिक कुछ नहीं समझते—

"आँखड़ियां प्रेम कसाइयां लोग जाणै दुखड़ियां।
साईं अपने कारणै रोइ रोइ रातड़ियां॥

किन्तु विरहिणी रोये भी कहाँ तक आखिर उसकी भी तो शक्ति की सीमा है अतः यदि वह मौन अथवा प्रसन्न रहे तो प्रियतम समझेंगे कि अब तो इसकी वृत्ति संसार में उलझ गई और यह व्यभिचारिणी हो गई। अतः ऐसी स्थिति में मन ही मन घुन के समान पिसने के अतिरिक्त चारा ही क्या है?—

"जो रोऊँ तो बल घटे हँसौं तो राम रिसाइ।
मन ही माँहि बिसूरणां ज्यूं घुण काठहि खाइ।"

विरहिणी यह भी जानती है कि हँस-हँसकर कोई भी प्रिय को नहीं पा सका जो कोई भी पाता है रोकर ही—

"हँसि हँसि कन्त न पाइया जिन पाइया तिनि रोइ।
जै हाँसि ही हरि मिलै तौ नहीं दुहागिनि कोइ।

यदि कोई प्रिय के लिए संदेश न भेजने का प्रश्न उठाता है तो विरहिणी कितना सुन्दर उत्तर देती है—

"प्रियतम कूं पतियां लिखूं जो कहीं होय विदेस।
तन में मन में नैन में ताको कहा संदेस॥

और फिर विरहिणी प्रिय-दर्शन के लिए प्रत्येक सम्भव-असम्भव कार्य करने को प्रस्तुत है। संसार की कोई भी बाधा उसके सम्मुख खड़ी नहीं रह सकती। दूसरे शब्दों

में कहाँ तो प्रिय के अतिरिक्त प्रेमी को कुछ सूझता ही नहीं अब संसार-सत्ता उसके लिए नष्ट हो जाती है। इसलिए वह कहती है—

"काढ़ि पुरोकार भव करों कामदिसी पहिराउ ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै सोइ सोइ भेष कराउ ॥

प्रिय-मिलन की इस आतुरता और प्रेम की चरम-परिणति से विरहिणी को प्रिय-दर्शन से पूर्व उसको पाते ही विरहिणी की जो विचित्र मन स्थिति होती है उसका भी कबीर ने वर्णन किया है—

"बरहुर बरहुर कंपै जीव ना जानू का करिहै पीव ।
कौवा उड़ावत मेरी बहियां पिरानी कहै कबीर मेरी कथा सिरानी ॥

आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार—मिलन—के चित्र भी कबीर ने बड़ी रमणीयता से प्रस्तुत किए हैं—

'कबीर तेज अनत का मानो ऊगी सूरज सेणि ।
पति संग जागी सुन्दरी कौतिग दीठा तेणि ॥

वास्तव मे उस प्रिय का तेज इतना अलौकिक ज्योतिष्मान् है कि उसका वर्णन असम्भव है। साक्षात्कार की उस अनुभूति को यदि कवि वर्णन कर दे तो फिर तो एक प्रकार से सब ही उस आनन्द को प्राप्त कर लें। महामिलन की अनुभूति का वर्णन करने का जब कवि प्रयास करता है तो जिह्वा लड़खड़ा जाती है और वह उस सुख की केवल सीमाएं परिधियाँ ही छू पाता है—

'पारब्रह्म के तेज का कैसे है उनमान।
कहिबे कू सीमा नहीं देख्या ही परवान ॥

और अब आत्मा-परमात्मा अंश-अंशी अग्नि स्फुलिंग की द्वैत भावना का अन्त हो गया। 'अहम्' ने 'इदम्' में पर्यवसान पा लिया—

"जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहिं ।
सब अंधियारा मिटि गया जब दीपक देख्या माहिं ॥

और अब तो सर्वत्र की स्थिति आ गई है। प्रेमी जिधर भी दृष्टिपात करती है उधर ही परमात्मा ही परमात्मा है—

"तू तू करता तू भया मुझ में रही न हूं ।
वारी फेरी बलि गई जित देखौं तित तू ॥

अपने चतुर्दिक प्रियतम की ही सत्ता पाकर भी आत्मा को सन्तोष कहाँ उसे मिलन से तृप्ति नहीं मन वह प्रिय पर पूर्ण एवं सदैव अधिकार चाहती है इसलिए कहती है—

"अब तोहि जान न देहूं राम पियारे ।
ज्यूं भावे त्यू होउ हमारे ॥

बहुत दिनन के बिछुरे प्रियतम पाये भाग बड़ घर बैठे आये ।
चरननि लागि करौं बरियाई प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।
इत मन मन्दिर रहौ नित चोखे कहै कबीर परहु मत धोखे ।।

इस भांति कबीर अपनी उस अभिलाषा को जिसमें उनके अतिरिक्त प्रिय को और कोई न देख सके पूर्ण करते हैं—

"नैनन अन्तर आव तू ज्यूं ही नैन झपेऊं ।
ना मैं देखूं और कूं ना तुझ देखन देऊं ।।

वस्तुतः यह प्रेममूलक रहस्यवाद कबीर-काव्य की सर्वोत्तम सृष्टि है ।

कबीर में दूसरे प्रकार का रहस्यवाद वहाँ प्राप्त होता है जहाँ वे उस प्रिय को विविध हठयोगी साधनाओं से प्राप्त करने का उपक्रम करते हैं । यहाँ भावना की मधुरता नहीं अपितु साधना की जटिलता है—

'अष्ट दल कंवल निवासिया चहु को फेरि मिलाइ रे ।
राहु मैं बोच समापिया तहाँ काल न पास आइ रे ।
अष्ट कंवल दल भीतरा तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे ।
सतगुरु मिलै तो पाइये नहिं तो जन्म अकारथ जाइ रे ।
कदली कुसुम दल भीतरा तहाँ दस आंगुल का बीच रे ।
तहाँ दुवादस खोजि ले जनम होत नहीं मीच रे ।
बंक नालि के अन्तर पच्छिम दिसा की बाट ।
नीझर झरै रस पीजिए तहाँ भंवर गुफा के घाट रे ।
× × × ×
तहाँ कबीरा रमि रह्या सहज समाधि सोइ रे ।।

इस प्रकार के साधनात्मक रहस्यवाद के स्थल कबीर काव्य में विरल नहीं हैं । इनमें कबीर ने हठयोग का वर्णन अधिकांशतः सिद्धों और योगियों की परम्परा में किया है ।

तृतीय प्रकार का रहस्यवाद कबीर में पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से प्राप्त होता है । ये पारिभाषिक शब्द भी प्रायः वही हैं जो हठयोग साधना में मान्य हैं । यथा—

इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं ब्रह्म अगनि परजारी ।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे लागी जोग जुग तारी ।
मन मतिवाला पीवै राम रस दूजा कछू न सुहाई ।
उलटी गंग नीर बहि आया अमृत धार चुवाई ।

पंथ चले सो संग करि लीन्हें, चलत कुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे सोवत नागिनी जागी।
सहज सुनि में जिनि रस चाख्या सतगुर थें सुधि पाई।
दास कबीर इहि रस माता कबहू उछकि न जाई॥

इस साधनात्मक पारिभाषिक शब्दों से युक्त रहस्यवाद का प्रेममूलक रहस्य वाद के समान ही मिलनावस्था तक पूर्ण विकास प्राप्त होता है। मिलन का वर्णन भी कबीर ने साधनात्मक प्रतीकों द्वारा ही किया है—

"सुरति समाणीं निरत मैं अजपा माहैं जाप।
लेख समाणां अलेख मैं यूं आपा माहैं आप॥

× × ×

'मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहिं।
मकताहल मयता चुगै अब उड़ि अनत न जाहिं॥

एक अन्य प्रकार का रहस्यवाद जो केवल अभिव्यक्ति जनित है कबीर में और प्राप्त होता है। यह भी सिद्धों योगियों की संध्या भाषा के अनुकरण पर उलट बासियों में लिखा गया है। इसमे भाव के समाज के लिये तो दुरुहता ही है चाहे कबीर के समय अभिव्यक्ति की यह शैली कितनी भी लोकग्राह्य क्यों न रही हो। एक उदाहरण देखिए—

'ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या मैं रह्या उमेषैं।
मूसा हसती सौं लड़ै कोई बिरला पेषै॥
मूसा पैठा बांबि मैं लारै सापणि धाई।
उलटि मूसैं सापणि गिली यहु अचरज भाई॥

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि कबीर के चारों प्रकार के रहस्यवाद में सर्वश्रेष्ठ प्रेममूलक कोटि का ही रहस्यवाद है। शेष तीन रूपों में तो परम्परा का आग्रह है जबकि उस प्रेमात्मक रहस्यवाद मे कबीर की मौलिक उद्भावनाएं मन मोह लेती हैं। चाहे कुछ भी हो कबीर हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि ठहरते हैं एक स्वर से सब ने यह स्वीकार किया है। अमेरिकन महिला अण्डरहिल ने उन्हें भारतीय रहस्यवाद के इतिहास मे सर्वाधिक रोचक व्यक्ति' उचित ही माना है—

"The most interesting personality of the history of Indian Mysticism

कबीर और जायसी का रहस्यवाद—

कबीर और जायसी में रहस्यवाद के क्षेत्र में पर्याप्त साम्य है। इसका प्रमुख कारण सूफीमत की आधारशिला अद्वैतवाद का होना है जो कबीर के रहस्य

वाद का भी मूलाधार है। अद्वैत से प्रभावित दार्शनिक प्रवृत्ति दोनों कवियों के रहस्यवाद में मिलती है। कबीर ने कहा था—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना इहि तत कथ्यौ ग्यानी॥

इसी भाँति जायसी ने भी कहा है—

'धरती सरग मिले हुत दोउ केहि निनार कै दीन्ह बिछोहू।

कबीर के समान जायसी का भी पूर्ण विश्वास है कि वियुक्त प्रिय और प्रेमी का मिलन अवश्य होगा—

"बूंद समुद्र जैस होइ मेरा गा हिराइ अस मिलै न हेरा॥"

कबीर ने जिस प्रकार प्रतिबिम्बवाद के माध्यम से उसे देखा है—

"ज्यूं जल में प्रतिबिम्ब त्यूं सकल रामहिं जानिजै।

उसी भाँति जायसी ने भी प्रतिबिम्ब के माध्यम से उस खुदा का नूर' देखा है—

'नयरी सहस पचास जौं कोइ पानी भरि धर।
सूरज दिपै प्रकास महम्मद सब में देखिए॥

जिस प्रकार सर्ववाद की सत्ता कबीर ने स्वीकार कर कहा था—

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

उसी प्रकार जायसी ने पिंड ब्रह्माण्ड और उसके कण-कण में उसी तन्मयता को ही देखा है—

"सातौं दीप नव खण्ड आठौं दिसा जो आहिं।
जो ब्रह्मण्ड सो पिंड है हेरत अंत न जाहिं॥

दोनों कवियों में समान रूप से प्रेम की मधुरता एवं विरह की कातरता प्राप्त होती है। यह दूसरी बात है कि एक की प्रेम-पीर का आधार अधिकांशतः ईश्वर भावना है तो दूसरे की भी अधिकांशतः सूफीमत जिसमें प्रेम पीर में कहीं-कहीं मांस आदि के वर्णन में वीभत्सता भी आ गई है चाहे ये सूक्ष्म अन्तर अभिव्यक्ति शैलियों में आकर हो गये हों किन्तु फिर भी प्रेम की मधुरता और विरह की मार्मिकता दोनों कवियों में समान है। कबीर की विरह भावना का पर्याप्त वर्णन उनके रहस्यवाद पर विचार करते हुए किया जा चुका है, जायसी का उदाहरण देखिये—

'जौंलि बेलि मन विरह अपारा विरह धमार करै तेहि सारा॥

भावनात्मक रहस्यवाद के रूप दोनों कवियों में प्राप्त होते हैं। यदि, कबीर ने नटवर को हार पर चोर दृष्टा सिपाही सुहागिन भूलभिनी महमार आदि के

वर्णन किये हैं तो जायसी ने भी मकहब कह काब सूफ़ी साधक की चार अवस्थाएं —शरीअत तरीकत मारफत आदि के वर्णन किये हैं—

"कही सरीयत चिस्ती पीर। उघरित असरफ औ जहाँगीर।
राह 'हकीकती' परै न चूकी। पैठि 'मारफत' मार बुड़की॥

जिस प्रकार कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रतीकों रूपकों और उलटवांसी आदि के माध्यम से की है उसी भांति जायसी ने भी अपने रहस्यवादी भावों को अन्योक्ति और समासोक्ति के माध्यम से प्रकट किया है।

जायसी के रहस्यवाद के चार रूप प्राप्त होते हैं—आध्यात्मिक योगमूलक प्रेममूलक एवं प्रकृतिमूलक। कबीर में प्रथम तीन रूप तो प्रचुरता से प्राप्त हैं किन्तु प्रकृतिमूलक रहस्यवाद के उदाहरण विरल हैं—

काहे री नलिनी तू कुम्हलानी तेरे ही नाल सरोवर पानी
जल उपजी जल ही सों नेहा रटत पियास पियास॥

ये साम्य होते हुए भी दोनों कवियों के रहस्यवादी रूप में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य है। सर्वप्रथम अन्तर दोनों की उपास्य भावना का है। कबीर में अद्वैत के व्यष्टिमूलक स्वरूप की प्रधानता है—

'तेरा साईं तुझ में ज्यूं पुहुपन में बास।
× × ×
'मृगा पास कस्तूरी बास आप न खोजै घास।

दूसरी ओर जायसी का इष्ट अत्यन्त व्यापक सृष्टि में ही अधिक रमा है जहाँ सर्ववाद की प्रधानता है—

'या अंधियार रैनि ससि छूटी या भिनसार किरन रवि फूटी।
× × ×
"रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।

कबीर के रहस्यवाद का प्राणतत्व अद्वैत ही है जबकि जायसी के रहस्यवाद का सर्वस्व सूफी प्रेम विरह-भावना। प्रेम भावना कबीर में भी है किन्तु वह विशुद्ध वैष्णवी है जबकि यह सूफी—

'सुनि बलि प्रेम सुरा के पिये मरन जियन डर रहे नहीं हिये॥

कबीर ने अद्वैत के 'अहं ब्रह्मास्मि' को अपने प्रिय-साक्षात्कार का माध्यम बनाया था जबकि जायसी का मुख्याधार है 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'। कबीर ने तो रहस्यवादी साधना में सृष्टि—प्रकृति और माया—को बाधक माना है जबकि जायसी ने समस्त सृष्टि प्रकृति भी जिसका एक अंग है में खुदा का नूर प्रतिबिम्बित देखा है। साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत एक ने हठयोगी साधना का आश्रय लिया

है तो दूसरे में सूफी साधना का। सूफी-साधना और भारतीय परम्परा के प्रभाव भेद स ही एक परमात्मा को पत्नी और आत्मा को पति मानता है तो दूसरा आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति।

अभिव्यक्ति के माध्यम पर विचार कर देखें तो कबीर न सर्वत्र अपना भाव भावों की अभिव्यक्ति मुक्तक रूप में प्रतीक रूपक उलटबांसी आदि क द्वारा की है जबकि जायसी न प्रबन्धकाव्य ही कथा के द्वारा अपने विचारों को अन्योक्ति और समासोक्ति प्रणाली में प्रकट किया है।

दोनों के रहस्यवाद में कौन श्रेष्ठ है इस विषय में विभिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न विचार हैं—

'कबीर का रहस्यवाद प्राय शुष्क और नीरस है पर जायसी आदि का ऐसा नहीं। —चन्द्रबली पाण्डय

'कबीर आदि सन्तों का रहस्यवाद ज्ञानजन्य है। अत वह उतना काव्योपयोगी नहीं जितना जायसी आदि सूफियों का। —डा श्यामसुन्दर दास

कविता की दृष्टि से कबीर का रहस्यवाद सरस न होने के कारण उतना उत्कृष्ट नहीं है जितना सूफियों का। —श्यामसुन्दरदास

एक का रहस्यवाद भारतीय भक्तिमार्ग श्रुतिग्रन्थ सिद्धमत और नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिक ऐकान्तिक व्यष्टिमूलक सजीव और वर्णनात्मक। दूसरे का सूफी साधना और भावना से अनुप्राणित होने से अत्यन्त सरस एकीभावात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के कारण मधुर और नाटकीय भी है। —डा गोविन्द त्रिगुणायत

डा रामकुमार जी कबीर के रहस्यवाद को श्रेष्ठ मानते हुए उसे 'विचारमूलक आनन्द से भरा मानते हैं।

वास्तव म सूर्य और चन्द्र की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना अधिक युक्तिसंगत नहीं दोनों का अपना महत्व है। हां कबीर के रहस्यवाद को केवल आध्यात्मिक ऐकान्तिक व्यष्टिमूलक सजीव और वर्णनात्मक मानना अनुचित है। उसमें अभिव्यक्त प्रेम अत्यन्त सरल मार्मिक और उच्चकोटि का है।

सुधारक कबीर एव समन्वयवादी कबीर

महापुरुष अपने समय की देन होते हैं। महात्मा कबीर मध्यकाल के तिमि राच्छन्न वातावरण में अपना आलोक लेकर अवतरित होते हैं जिससे सूनी-अन्धी जनता उचित पथ और सम्बल पाती है। कबीर का समय जैसा कि कबीरकालीन

"जो तू बाम्हन बम्हनी जाया
आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया ॥

ब्राह्मणों की छुआछूत आदि के धर्म-नियमों को भी कबीर ने उखाड़ फेंकने में कसर नहीं उठा रखी—

'काहु बोड़े सचि करम ठांव
जिहि पर भोजन बैठि खाऊं ॥
माता जूठी पिता पुनि जूठा जूठे फल चित लागे।
जूठा आवन जूठा जाना चेतहु क्यू न अभागे।
अन्न जूठा पानी पुनि जूठा जूठ बैठि पकाया।
जूठी कड़छी अन्न परोस्या जूठे जूठा खाया।
चौका जूठा गोबर जूठा जूठी का ढोकारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे जे हरि भजति तजहिं बिकारा ॥"

इस भाँति उन्होंने पंडितों की नौ कनौजिये तेरह चूल्हे' वाली प्रवृत्ति पर तीव्राघात किया। छुआछूत के कबीर कट्टर विरोधी थे। ब्राह्मण शूद्रों की छाया तक से घृणा करते थे। कबीर ने उस वर्ग को जो पूर्ण रूपेण इन पंडितों के प्रपंच से पिस रहा था मुक्त किया। एक स्थान पर उन्होंने पंडित से खुलकर पूछा है कि उनमें शूद्रों से कौन सी श्रेष्ठता है—

'काहे को कीजै पांडे छोति बिचारा।
छोतिहि ते उपना संसारा।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद।
छोति छोति करता तुम्हही जाए।
तौ ग्रभवास काहे को आए ॥

इस प्रकार उन्होंने ब्राह्मणों की सामन्ती प्रवृत्ति का समूलोन्मूलन कर दिया। इसीलिए प्रसिद्ध विद्वान् एम मैकर का कथन है—

"Kabir came to deny Brahmanical authority and all Hindu deities & ritual.

ब्राह्मण और शूद्र की ही नहीं इन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच वैमनस्य भिन्नता की खाई को भी पाटने का बड़ा स्तुत्य प्रयास किया। दोनों धर्मावलम्बी एक दू के मत की छीछालेदारी करने में लगे रहते थे और स्वयं अपनी ओर दृष्पात नहीं देखते थे। कबीर ने इन्हीं कुप्रवृत्तियों की ओर इंगित कर दोनों जातियों

*The Hindu Religion —पृष्ठ ११४।

में सुहृदयता स्थापित करने का प्रयास किया । उन्होंने किसी एक जाति विशेष का पक्ष नहीं लिया अपितु दोनों के दोषों को निस्संकोचपूर्वक कह दिया है । यथा—

"ना जाने तेरा साहिब कैसा है ।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै क्या साहिब तेरा बहिरा है ?
चिउंटी के पग नेवर बाजे सो भी साहब सुनता है ।
पंडित होय के आसन मारै लम्बी माला जपता है ।
अन्तर तेरे कपट कतरनी सो भी साहब लखता है ॥"

दोनों मतों के दोष प्रकट करने में कबीर ने पूर्ण निष्पक्षता से काम लिया है । यदि उन्होंने हिन्दुओं की पत्थर पूजा की खिल्ली उड़ाई है—

'हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ ।
सतगुरु की किरपा भयी डार्‌या सिर थे बोझ ॥
× × ×
'पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार ।

तो दूसरी ओर मुसलमानों की अजान आदि पर भी व्यंग्य किया है—

कांकर पत्थर जोड़ के मसजिद लई बनाय ।
तापर मुल्ला बांग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय ॥

जातीय विभेद को दूर करने के अतिरिक्त कबीर ने समाज की आचरण-भ्रष्टता को दूर किया । तत्कालीन समाज के लिए यह बहुत बड़ा उपकार था । 'कबीर की वाणी ने समाज-क्षेत्र में एक और बहुत बड़ा कार्य किया था । वह है सात्विकता और आचरण सभ्यता का प्रचार । कबीर के युग में वासना अपना भयंकर रूप धारण करती जा रही थी । कबीर को उसका डटकर सामना करना पड़ा था । उसके लिए उन्हें स्त्रियों की निंदा करनी पड़ी । ब्रह्मचर्य का उपदेश देना पड़ा । उन्होंने समाज में सात्विक वृत्तियों के प्रचार के लिए बड़ा तप किया था ।"[1] स्त्री-निंदा करते हुए उनका मुख्य उद्देश्य साधक और समाज के सामान्य व्यक्तियों को चरित्र भ्रष्टता से बचाना था इसीलिए उन्होंने कहा था—

"कामिनि काली नागनी तीन्यूं लोक मंझारि ।
रामसनेही ऊबरे, विषयी खाये झारि ॥

इतना ही नहीं कबीर अपने समय में प्रचलित व्यभिचार, परस्त्रीगमन से अपरिचित नहीं थे । इसलिए जहां उन्होंने सामान्य रूप से नारी-निन्दा की है वहां पर-नारी गमन पर भी विरोध प्रकट किया है

"पर नारी राता फिरैं चोरी बिढ़ता खांहि ।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि ॥"

---

१ डा० गोविन्द त्रिगुणायत जी—'कबीर की विचार धारा' पृष्ठ १११

परिस्थितियों में देखा जा चुका है ऐसे विधर्मी शासकों का युग है जिनकी तलवार की लपलपाती जिह्वा सर्वदा हिन्दुओं के रक्त की प्यासी रहती थी। यह भारतीय संस्कृति जिसने प्रारम्भ से ही न जाने कितने आक्रमणों को अपना बना कर यहाँ की मिट्टी को उनके लिये जननी जन्मभूमि की भावना में परिवर्तित कर दिया था इस्लाम के प्रचारक इन क्रूर आक्रमणकारियों को आत्मसात् न कर सकी। इसलिये तात्कालिक समाज में आचार-विचार, संस्कृति भाषा धर्म आदि को लेकर खाई बढ़ती जा रही थी। साथ ही विधर्मियों के इस आघात को सहन करने के लिए हिन्दू धर्म के तथाकथित ठेकेदार ब्राह्मणाचार की कर्मकाण्डी प्रवृत्तियों द्वारा अपने धर्म की व्यवस्था को कठोर से कठोरतर बनाते जा रहे थे। इससे जहाँ एक ओर दूसरे धर्म से हिन्दुओं की रक्षा हुई, दूसरी ओर हिन्दू समाज का एक वर्ग—निम्न-वर्ग उससे पृथक सा होता जा रहा था। ब्राह्मण वर्ग ने प्रत्येक क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था सी बना दी थी। उनका समाज के धर्म कर्म एवं जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप पर अधिकार सा था। यद्यपि समाज में समानता स्थापित करने के प्रयत्न कबीर से पूर्व रामानन्द आदि के द्वारा भी किये गये किन्तु वे उतने सफल न हो पाये। सर्वप्रथम कबीर ने इन ब्राह्मणवादी आडम्बरवादी प्रवृत्ति के जड़ोन्मूलन का बीड़ा उठाया।

यद्यपि सुधार करना या नेतागीरी की प्रवृत्ति फक्कड़ मस्तमौला सन्त कबीर में नहीं थी किन्तु वे समाज के कूड़ा-कर्कट या कुरूप को निकाल फेंकना चाहते थे। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वे स्वतः सुधारक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सुधारक न बनना चाहते हुए भी राम-दीवाने कबीर को सुधारक का पद प्राप्त हो ही जाता है। वास्तव में वे तो मानव के दुःख से उत्पीड़ित हो उसकी सहायता के लिए चले। जनता के दुःख-दर्द और उसकी वेदना से फूटकर ही उनके काव्य की सरस्वती बही थी।[1] मिथ्याडम्बरों के प्रति प्रतिक्रिया कबीर का जन्मजात गुण थी। वे यही कहते थे कि जो उनकी आत्मा सत्य तत्व की कसौटी पर परख कर उचित समझे किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वे हठवादी थे। वास्तव में सहज सत्य को सहज ढंग से वर्णन करने में कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते।[2]

समाज की अधिम रीति को देखकर उस पर उन्होंने इतने तीखे प्रहार किये हैं कि ढोंग और ढपोलशंखो की धज्जियाँ उड़ गईं। इसीलिए कबीर की वाणी में इतना तीव्र तीखा तिक्त और अभीष्ट-सिद्धि करने वाला प्रभुक व्यंग है कि व्यंग के क्षेत्र में उनकी तुलना हिन्दी का कोई भी लेखक नहीं कर सकता। उनका व्यंग तर्कातीत नहीं अपितु विशुद्ध बौद्धिकता पर आधारित है। तर्काश्रयी इन्द्रवादियों को

---

१ श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त—'आकारसाबी बाढ़ी'

२ श्री हजा० ह० प्र० द्विवेदी।

तो उन्होंने मूर्ख मोटी बुद्धि वाला बताया है—

"कहै कबीर तरक जिनि साधै तिनकी मति है मोटी।

उनके इन तीव्र प्रहारों में विद्रोह मात्र अथवा हीनता-ग्रंथि नहीं। उन्होंने जो व्यंग्य किये हैं वे स्वयं शुद्ध होकर। इसी कारण उनकी कटुतम उक्तियों में भी वैमनस्य द्वेष की गंध नहीं और न उनकी गर्वोक्तियों में है आत्मश्लाघा। वह संत आत्मान्वेषी महात्मा दूसरे को मिट्टी बताने से पूर्व स्वयं कंचन बना था। इसलिये उनकी गर्वोक्तियों में भी आत्मश्लाघा नहीं अपितु अपने चरित्र-बल का दृढ़ विश्वास है। डा० ह० प्र० द्विवेदी जी ने *आपके व्यंग्यों को सिद्धों और योगियों के व्यंग्यों से* पृथक करते हुए लिखा है—

'कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रमणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीनभावना की ग्रंथि या 'इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स' पायी जाती है। वे मानो लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि हैं मानो चिलम न पा सकने वालों के आक्रोश हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है आक्रोश है पर मस्ती नहीं है तीव्रता है पर मृदुता नहीं। कबीरदास के आक्रमणों में भी एक रस है एक जीवन है, क्योंकि वे आक्रान्त के वैभव से परिचित नहीं थे और अपने को समस्त आकर्षण योग्य दुर्गुणों से मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हें लापरवाही का कवच मिला था वहाँ प्रचण्ड आत्मविश्वास का कृपाण भी। इसी लिये कबीर स्थान-स्थान पर बड़े निस्संकोचपूर्वक यह कह जाते हैं—

'सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।

दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥"

'सुर नर मुनि' सबको अपनी चारित्रिक श्रेष्ठता की उद्घोषणा से पीछे छोड़ जाने वाला यह आत्मविश्वास धन्य है।

समाज-क्षेत्र में फैलने वाले मिथ्याचारों की कबीर ने धज्जियां उड़ा दी। इस तीव्रालोचना में उन्होंने हिन्दू-मुसलमान किसी को न बख्शा। उनके समय में कबीर दास के अतिरिक्त समस्त समाज कापथगामी हो रहा था—

'एक न भूला दोइ न भूला भूला सब संसारा।

एक न भूला दास कबीरा जाके राम अधारा॥"

ब्राह्मण न जन्म के आधार पर ही चाहे आचरण कितना ही निम्न क्यों न हो अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित कर रखी थी। एक *निस्म से निर्मित* मानवशरीर अथवा निर्माता एक ही ब्रह्म रूपी कुम्भकार सबकी जन्मानियाँ एक सी तो फिर जन्म के आधार पर यह भेद कैसा? इसीलिये उन्होंने ब्राह्मण को ललकारा—

"जो तू बाम्हन बम्हनी जाया
आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया ॥

ब्राह्मणों की छुआछूत आदि के धर्म-नियमों को भी कबीर ने उखाड़ फेंकने में कसर नहीं उठा रखी—

'कहु पांडे सुचि कवन ठांव,
जिहि घर भोजन बैठि खाऊं ॥
माता जूठी पिता पुनि जूठा जूठे फल चित लागे ।
जूठा आवन जूठा जाना चेतहु क्यूं न अभागे ।
अन्न जूठा पानी पुनि जूठा जूठे बैठि पकाया ।
जूठी कड़छी अन्न परोस्या जूठे जूठा खाया ।
चौका जूठा गोबर जूठा जूठी का ढोकारा ।
कहै कबीर तेई जन सूचे जे हरि भजि तजहिं बिकारा ॥

इस भांति उन्होंने पंडितों की 'नौ कनौजिये तेरह चूल्हे' वाली प्रवृत्ति पर तीव्राघात किया। छुआछूत के कबीर कट्टर विरोधी थे। ब्राह्मण शूद्रों की छाया तक से घृणा करते थे। कबीर ने उस वर्ग को जो पूर्णरूपेण इन पंडितों के प्रपंच से पिस रहा था मुक्त किया। एक स्थान पर उन्होंने पंडित से खुलकर पूछा है कि उनमें शूद्रों से कौन सी अच्छा है—

'काहे को कीजै पांडे छोति बिचारा ।
छोतिहि ते उपजा संसारा ।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध ।
तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद ।
छोति छोति करत तुमही जाए ।
तौ ग्रभवास काहे को आए ॥

इस प्रकार उन्होंने ब्राह्मणों की सामन्ती प्रवृत्ति का समूलोन्मूलन कर दिया। इसीलिए प्रसिद्ध विद्वान् एम० वेबर का कथन है—

'Kabir came to deny Brahamanical authority and all Hindu deities & ritual

ब्राह्मण और शूद्र की ही नहीं इन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच वैमनस्य भेदभाव की खाई को भी पाटने का बड़ा स्तुत्य प्रयास किया। दोनों धर्मावलम्बी एक दू के मत की छीछालेदारी करने में लगे रहते थे और स्वयं अपनी ओर दृष्टिपात न नहीं देखते थे। कबीर ने इन्हीं कुप्रवृत्तियों की ओर इंगित कर दोनों जातियों

"The Hindu Religion"—पृष्ठ ११४ ।

में एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने किसी एक जाति विशेष का पक्ष नहीं लिया अपितु दोनों के दोषों को निस्संकोचपूर्वक कह दिया है। यथा—

'ना जाने तेरा साहिब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै क्या साहिब तेरा बहिरा है?
चिउंटी के पग नेवर बाजै सो भी साहब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारै लम्बी माला जपता है।
अन्दर तेरे कपट कतरनी सो भी साहब लखता है॥

दोनों मतों के दोष प्रकट करने में कबीर ने पूर्ण निष्पक्षता से काम लिया है। यदि उन्होंने हिन्दुओं की पत्थर पूजा की खिल्ली उड़ाई है—

'हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ।
सतगुरु की किरपा भयी डार्या सिर थैं बोझ॥
× × ×
"पत्थर पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूं पहाड़।"

तो दूसरी ओर मुसलमानों की अजान आदि पर भी व्यंग्य किया है—

कंकड़ पत्थर जोड़ के मसजिद लई बनाय।
तापर मुल्ला बांग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय॥

जातीय विभेद को दूर करने के अतिरिक्त कबीर ने समाज की आचरण-भ्रष्टता को दूर किया। तत्कालीन समाज के लिए यह बहुत बड़ा उपकार था। "कबीर की वाणी ने समाज-क्षेत्र में एक और बहुत बड़ा कार्य किया था। वह है सात्विकता और आचरण प्रवणता का प्रचार। कबीर के युग में वासना अपना भयंकर रूप धारण करती जा रही थी। कबीर को उसका डटकर सामना करना पड़ा था। उसके लिए उन्हें स्त्रियों की निंदा करनी पड़ी। ब्रह्मचर्य का उपदेश देना पड़ा। उन्होंने समाज में सात्विक वृत्तियों के प्रचार के लिए बड़ा तप किया था।"[1] स्त्री-निंदा करते हुए उनका मुख्य उद्देश्य साधक और समाज के सामान्य व्यक्तियों को चरित्र भ्रष्टता से बचाना था इसीलिए उन्होंने कहा था—

"कामणि काली नागणी तीन्यूं लोक मंझारि।
रामसनेही ऊबरे, विषई खाये झारि॥

इतना ही नहीं कबीर अपने समय में प्रचलित व्यभिचार परस्त्रीगमन से अपरिचित नहीं थे। इसलिए जहां उन्होंने सामान्य रूप से नारी-निन्दा की है वहां पर-नारी गमन पर भी विरोध प्रकट किया है

"पर नारी राता फिरैं चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि॥

---

१ डा॰ गोविन्द त्रिगुणायत जी—'कबीर की विचारधारा' पृष्ठ ३३२

मन को भी नियन्त्रित रखने के लिए कबीर ने बहुत बल दिया है। कबीर जानते थे कि समस्त इन्द्रियों का संचालक पापकारण विषयजन्य आकर्षणों में रमने वाला मन ही है, इसलिए यदि इसे वश में कर लिया जाय तो सब ठीक हो जाय—

कबीर मारू मन कूं टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि लुणत कहा पछिताइ॥

इसी प्रकार उन्होंने आचरण सम्बन्धी अन्य बातों पर बहुत बल दिया है।

दर्शन और धर्म के क्षेत्र में भी कबीर ने बड़ा कार्य किया। जैसा कि बताया जा चुका है कबीर के समय में जनता नाना धर्म साधनाओं की बाह्याडम्बरता के पंकिल गर्त में डूबी जा रही थी। इन विभिन्न धर्म-साधनाओं का परिचय स्वयं कबीर ने भी दिया है—

अब भूले षट दरसन भाई। पाखंड भेष रहे लपटाई।
जैन बौध और साकत सैना। चारवाक चतुरंग बिहूना॥
जन बोध की गति न जानै। पाती तोरी देहुर आन॥

कबीरदास ने मधुमक्खिका के समान समस्त साधनाओं समस्त धर्म का सार लेकर जनता को धर्म का ऐसा रूप दिखाया जो सर्वग्राह्य एवं सर्वसुखकारी था। धर्म के इस सर्वजन-सुलभ स्वरूप को प्रस्तुत करने में कबीर को पूर्व प्रस्थापित धार्मिक विचारधाराओं के आडम्बरों का खण्डन करना पड़ा था। इस धार्मिक क्षेत्र-दर्शन में कबीर पूर्ण निष्पक्ष रहे। उन्होंने हिन्दू मुसलमान दोनों धर्मों के ठेकेदारों को बुरी तरह फटकारा है—

"जो रे खुदाय मसीत बसतु है और मुलुक किहि केरा।
हिंदू मूरति नाम निवासी दुहुमति तत्तु न हेरा॥"

इसी भाँति यद्यपि वैष्णवों से कबीर का बहुत लगाव है क्योंकि उन्हीं के राम रसायन में वे मग्न हैं किन्तु उनके क्षेत्र-दर्शन में भी उन्होंने पैर पीछे नहीं हटाया है—

वैष्णों भया तो क्या भया बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाइ कर दग्ध्या लोक अनेक॥

पूजा तीर्थ स्नानादि का भी उन्होंने खूब खुलकर विरोध किया है—

पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं तब लग संसय मेल॥

योगियों आदि की हठयोगी साधना में भी कबीर ने सुधार कर कुछ धर्मों की धर्म भ्रांति को दूर कर साधकों को नवीन मार्ग प्रशस्त किया था—

सहज सहज सब ही कहैं, सहज न चीन्हैं कोय।
जो कबीर विषया तजै सहज कहीजै सोय॥'

इस भाँति हम देखते हैं कि कबीर ने समाज के विभिन्न धर्मों में भ्रष्टाचार को दूर कर व्यवस्था स्थापित की थी। त्रिगुणायत जी ने उचित ही लिखा है, "उन्होंने देश में धर्म में समाज में दर्शन में साधना में सभी क्षेत्रों में क्रान्ति की जो धारा बहाई थी उससे निश्चय ही उन क्षेत्रों के कालुष्य बह गये थे।

वास्तव में कबीर ने मध्यकाल में अपने इन अमृतोपम वचनों से अज्ञानांधकार में भटकती जनता का बड़ा उपकार किया। इस कलि-मल-हरन पावन वचनावली से वह मनुष्य भी कुछ प्रकाश रेखाएं प्राप्त कर सकता है जो आज की इस वैज्ञानिक सभ्यता में विपन्न है।

—×—

कबीर का दर्शन

कबीर का लक्ष्य जिस प्रकार कविता करना नहीं था उसी भाँति दर्शन की गुत्थी को सुलझाना भी उन्हें अभीष्ट नहीं था। किन्तु भक्ति में प्रेम की विविध भाव-व्यंजनाओं के साथ-साथ कबीर की ब्रह्म जीव जगत् माया आदि से सम्बन्धित विचार-धारा भी सम्मुख आई है। इन विचारों के आधार पर ही हम उनकी विभिन्न धारणाओं का पता लगा सकते हैं।

यद्यपि कविता एवं दर्शन दोनों पृथक-पृथक क्षेत्र हैं किन्तु फिर भी हम देखते हैं कि कवि भी दार्शनिक होता है यह दूसरी बात है कि वह इस रूप में नहीं जिस रूप में दर्शन का विज्ञान्। इस सम्बन्ध में महादेवी जी के शब्द द्रष्टव्य हैं— 'कवि से दार्शनिक की योजना करना साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनों एक दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज प्रारम्भ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचा कर दार्शनिक सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक क्रम सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परखकर सत्य का मूल्य आँकने का उसे अवकाश नहीं भाव की गहराई में डूबकर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो विज्ञान जगत् का अधिकारी है। बुद्धि अन्तर का बोध कराकर एकता का निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संकेत करता है। परिणामतः

चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सांख्य जिस रेखा पर बढ़ कर सत्य की प्राप्ति करता है वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुंचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रह कर ही सक्रियता पाती है इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुंचने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को चेतना अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है।"[1] रामरसायन से उन्मत्त कबीर जीवन — सांसारिक जीवन — से विरक्त हो स्थितप्रज्ञ या जीवनमुक्त की दशा में आ गये थे। इसी अनोखे प्रेम जगत् भावलोक से जो उनका वास्तविक जीवन रह गया था कबीर ने जो आस्थाएं विचार प्रकट किये हैं उनसे हमें उनकी विचार-धारा चिन्तन-परिणामों का ज्ञान होता है।

ब्रह्म

कबीर का ब्रह्म जैसा कि पहले देखा जा चुका है उपनिषदों के अद्वैत से ही अधिक प्रभावित है। कबीर की ब्रह्म-भावना आदि से अन्त तक अद्वैतपरक है किन्तु उस अद्वैत की प्राप्ति का प्रारम्भ या प्रयत्न जब कबीर करते हैं, प्रिय परमात्मा से वियुक्त हृदय की मनोभावनाओं की जिस समय अभिव्यक्ति करते हैं, उस समय वे द्वैत भावना से प्रस्थान करते हैं। किन्तु यह द्वैत भ्रमवश है यही अज्ञान है। इस द्वैत भावना से कबीर की अद्वैती भावना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सर्वत्र उसका निरूपण उपनिषदों के समान अद्वैती भावना से उत्प्रेरित होकर ही करते हैं—

"कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूंढै बन माहि।
ऐसे घट घट राम हैं दुनिया देखै नाहि॥"

जिस भाँति ब्रह्म को कबीर ने हृदयस्थ मानकर पत्रिका आदि लिखने का विरोध किया है उसी प्रकार प्रतिबिम्बवाद के आश्रय पर उसे सर्वत्र भी माना है —

'ज्यू जल में प्रतिबिम्ब त्यूं सकल रामहिं जानिजै।

अद्वैतियों के ही समान कबीर का विश्वास है कि ब्रह्म से ही समस्त सृष्टि का निर्माण होता है और उसी के द्वारा उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है—

'पाणी ही तैं हिम भया हिम ह्वै गया बिलाय।
कबीरा जो था सो भया अब कुछ कह्यौ न जाय॥"

---

१ महादेवी वर्मा— 'दीपशिखा' पृ० २ २१।

सृष्टि-निर्माता होने के साथ-साथ यह ब्रह्म पूर्ण निराकार, रूपविहीन निर्लिप्त है समस्त सृष्टि के अणु-प्रति-अणु में व्याप्त होकर भी प्रत्येक कण में भी वास करता है—

"शरीर सरोवर भीतर, आछै कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुषोत्तमों जाके रेख न रूप॥

उसे शरीर स्थित ज्योतिस्वरूप निराकार मानकर भी कबीर ने अद्वैती भावनानुरूप अखण्ड एकरस माना है—

'आदि मध्य औ अन्त लौं अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस कर्ता की सेवक तजै न संग॥

समस्त सृष्टि व्यापी होने के साथ-साथ उस ब्रह्म की महिमा अपार है। वह इतना सामर्थ्यवान है कि बिना इन्द्रियों के बिना स्वरूप के भी समस्त कार्य कर रहा है—

'बिन मख खाइ चरन बिन चालै बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहीं छाडै बहु दिसिही फिरि आवै।
बिनहीं ताला ताल बजावै बिन मदल षट ताला।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै तहां निरतत है गोपाला॥"

वास्तव में इसकी शक्ति का वर्णन करना सम्भव ही नहीं वह तो अनुभव की ही वस्तु है—

'पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कू सोभा नहीं देख्या ही परवान॥

कबीर ने इस ब्रह्म को राम हरि मुरारि माधव विष्णु आदि नामों का सम्बोधन देकर भी निर्गुण-निराकार माना है। अवतारों के अवतारी नाम देकर भी वे ब्रह्म को उनके समान अवतारवाले नहीं मानते—

'ना जसरथ घरि औतरि आवा ना लंका का राव सतावा।
दवै कूखि न औतरि आवा ना जसवै ले गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन के संग फिरिया गोवरधन ले न कर धरिया।
बावन होइ नहीं बलि छलिया धरनी बेद लै न उधरिया।
गंडक सालिगराम न कोला मछ कछ ह्वै जलहि न डोला।
बद्री बैस्य ध्यान नहीं लावा परसराम ह्वै खत्री न सतावा।
द्वारामती सरीर न छाड़ा जगन्नाथ लै प्यंड न गाड़ा॥

किन्तु कुछ स्वामी पर यह बात समझ में नहीं आती कि अवतारी परिकल्पना को इस प्रकार मिथ्या सिद्ध करने वाला स्वयं उसका विश्वासी कैसे बन बैठा

है। कहीं-कहीं तो उनकी उक्तियां सगुण भक्त कवियों के समान ही प्राप्त होती हैं। उन स्थलों पर प्रमातिरेक ने कबीर को सगुण भक्तों की भाव-भूमि पर ही पहुंचा दिया है—

> माधो म ऐसा अपराधी तेरी भगति होत नहीं साधी।
> कारनि कवन आइ जग जनम्यां जनमि कवन सचु पाया।
> भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि ता चित घड़ी न लाया।
> तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भो हारी।
> कहै कबीर धीर मति राखहु सासति करौ हमारी॥

× × ×

> "जो जाचौ तो केवल राम आन देव सू नाहीं काम।
> जाकै सूरिज कोटि करैं परकास कोटि महादेव गिरि कविलास।
> ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरैं दुर्गा कोटि जाके मरदन करैं।
> कोटि चन्द्रमा गहैं चिराग सुर तैतीसूं जीमैं पाक॥
> नौग्रह कोटि ठाढ़े दरबार धरमराइ पौली प्रतिहार॥
> कोटि कुबेर जाके भर भंडार, लक्ष्मी कोटि करैं सिंगार॥
> कोटि समुद्र जाके पनिहारा रोमावली अठारह भारा।
> असंखि कोटि जाके जमावली रावण सेन्या जाथें चली॥

उपर्युक्त समस्त बातों से तो उसकी साकारता सगुणता सिद्ध होती ही है किन्तु बिल्कुल अन्त में 'रावण सेन्या जाथैं चली' के सम्मुख कबीर की यह बात समझ में नहीं आती कि वह अवतारी दशरथ-सुत नहीं। दशरथ-सुत राम ने ही तो रावण-सेना-संहार किया था। अत यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म को निर्गुण मानकर भी कबीर उसके सगुण स्वरूप से अछूते नहीं रहे हैं इसकी यत्किंचित स्वीकृति उनके निम्न कथन में भी प्राप्त होती है—

> संतो धोखा का सों कहिये।
> गुण मैं निर्गुण निर्गुण में गुण है।
> बाट छांडि क्या बहिए॥

अतः हम कह सकते हैं कि कबीर का ब्रह्म अनिर्वचनीय अतीतस्वरूप का निर्गुण निराकार, निरुपाधि है किन्तु कहीं-कहीं उसमें सगुण भावनाओं के लिये भी स्थान है। इसका कारण कबीर की प्रेमाभक्ति और उपनिषदों का ब्रह्म को विरुद्ध धर्मामयी चित्रित करना है जिसका प्रभाव इन पर पड़ा है।

माया—

कबीर ने माया का वर्णन अद्वैतियों के ही समान मिथ्या मानकर किया है। "कबीर की माया धर्म और स्वभाव से सांख्यवादियों की प्रकृति से बहुत मिलती जुलती है।"[1] सांख्यानुरूप ही कबीर ने इसे ब्रह्म से सम्बद्ध और त्रिगुणात्मक प्रवृत्तियुक्त माना है—

"राजस तामस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया।"

माया ने समस्त संसार को अपने वश में कर चरित्रभ्रष्ट कर रखा है। इसी-लिए कबीर ने इसे व्यभिचारिणी तक कह डाला—

"तू माया रघुनाथ की खेलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुनि-चुनि मारे, कोइ न छोड़या नेड़ै॥
मुनियर पीर डिगबर मारे जतन करता जोगी।
जंगल महि के जगम मारे, तू रै फिर बलिवंती॥
वेद पढ़न्ता ब्राह्मण मारा सेवा करता स्वामी।
अरथ करता मिसर पछाड़या तू रै फिर मैंमंती॥
× × ×
दास कबीर राम कै सरनै ज्यूं लागी त्यूं तोरी॥

केवल प्रभु के दास ही इससे मुक्त, अन्यथा और सब तो इसके बन्धन में आबद्ध हैं। यदि कोई माया से बचकर रहता है तो भी यह उसे अपने फंदे में फंसा लेती है—इससे त्राण का एकमात्र उपाय है प्रभु भक्ति इसी भक्ति के सम्बल से कबीर ने इसे विजित किया था—

"कबीर माया पापणीं फंध लै बैठी हाटि।
सब जग तौ फंधै पड़्या गया कबीरा काटि॥

इससे त्राण का एक और भी उपाय कबीर ने बताया है वह यह कि एक बार यदि मनुष्य इसके मिथ्यात्व को हृदय से समझ ले और इसे मिथ्या मान इससे दूर रहने का उपाय करे तो फिर यह दासी की नाईं चारों ओर लगी-लगी फिरती है—

"कबीर माया मोहनी मांगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि तब लागी डोलै साथि॥

इसी विरूपण में आकर्षण वाली बात को कबीर ने दूसरे प्रकार से कहा है—

"जो काटौं तो डहडही सींचौं तो कुम्हलाय।
इस गुणवंती बेल का कुछ गुण कह्या न जाय॥

---

1 डा० त्रिगुणायत पृ० २४

इसी सिद्धान्त को अपनाकर सन्त लोग हंसात्माएं माया को दासी बनाकर रखते हैं जिसका वर्णन कबीर ने इन शब्दों में किया है—

"माया दासी संत की ऊभी देह असीस।
विलसी अरु लातौं छड़ी सुमरि सुमरि जगदीस॥

संसार—

कबीर ने अद्वैतियों के ही समान 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को अपनाकर संसार का वर्णन किया है। वे सर्वत्र संसार की सत्ता मिथ्या मानते हैं और अद्वैतियों के ही समान उसके मिथ्या भाव को प्रकट करने के लिए सेंबल फूल आकाश-नीलिमा मृगमरीचिका आदि के उपमान प्रयुक्त करते हैं।

"जिन धूं धूं के कारणें जैसे सेंबल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि सांचे कूं भूले॥"

× × ×

बिना बारि के तुरंग फूल तिनहिं देखि कहा रह्यो है भूल।
वा बनासपति में लागैगी आगि तब तू जैहौ कहां भागि।

ईश्वर स्मरण के बिना यह मिथ्या संसार जिसकी क्षणिक स्थिति है और भी अधिक दुखदायी है क्योंकि सर्वथा कच्चे धागे में लटकी तलवार की भांति काल सिर पर खड़ा रहता है—

"राम बिना संसार धंध कुहेरा
सिरि प्रगट्या जम का पेरा॥"

इस संसार का नाश सर्वथा निश्चित है, इसकी उत्पत्ति और प्रलय में कुछ समय नहीं लगता यह भी पूर्ण अनिश्चित है—

नर जानें अमर मेरी काया घर घर बात दुपहरी छाया॥
मारग छाड़ि कुमारग जोवै आपण मरै और कूं रोवै॥
कछू एक किया कछू एक करणां मुगध न चेतै निहचैं मरणा॥
ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा उपजत बिनसत लगै न बारा॥

कबीर का विश्वास है कि इस दुख-सुखमय संसार से तब तक छुटकारा नहीं हो सकता जब तक हमारा मन निष्कलुष न हो—

"जब लग मनहिं विकारा तब लगि नहीं छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना तब निर्मल माहिं समाना॥"

कबीर का विश्वास है कि इस संसार में जो जीवन मिला है वह हमारे पिछले कुछ पुण्यों का फल है अन्यथा ८४ लाख योनियों में से किसी भी एक में हो सकते

थे। इसलिए मनुष्य जन्म पा सत्कर्मों का व्यापार करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है—

"कोली बनज ब्योपार करीज
माइलें बिलावरि रे राम जपि लाहो लीज ॥

अब कबीर तो इस व्यापार को करने में पूर्ण दक्ष हो गये हैं और उन्होंने सत्कर्मों की पूंजी संचित कर ली है इसीलिए काल रूपी दलाल का भी उन्हें भय नहीं रहा— "रे जम नाहिं नवं ब्योपारी जे भरें जमाति तुम्हारी।

अमुवा छाड़ि बनिज हम कीन्हों लाद्यो हरि को नाऊ।
राम नाम की पूंजि भराई हरि कै टांडे जाऊं ॥

इसी भांति 'चदरिया झीनी बीनी' में कबीर ने यही अभिव्यक्त किया है कि इस संसार में प्राप्त मानव जीवन को निष्कलंक रख सत्कर्मों का बनिज करना चाहिए।

जीवात्मा और शरीर—

जहां तक आत्मा का सम्बन्ध है कबीर ने सर्वत्र उसे परमात्मा का अंश माना है। जिस प्रकार अद्वैतवादियों ने उपनिषदों का आधार लेकर ब्रह्म और आत्मा की एकता को प्रस्थापित किया उसी भांति कबीर ने भी अंश-अंशी भाव की अवस्थिति सर्वत्र मानी है। अपने रहस्यवाद में सर्वत्र उन्होंने आत्मा और परमात्मा का ऐक्य प्रस्थापित किया है—

'प्रीतम कूं पतियां लिखूं जो कहूँ होय बिदेस।
तन में मन में नैन में ताको कहा संदेस ॥

इसी अद्वैतता के आधार पर ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए आत्मा विकल है। यह विरह—वियुक्तावस्था—क्षणिक है इसी भाव को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं।

सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत जब आपा पर नहीं जाना।
ज्यूं जल मैं पैसि न निकसै कहै कबीर मन माना ॥

आत्मा और परमात्मा का यह पृथक्त्व माया के कारण है, माया का आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा पुन एक हैं। यह उसी भांति है जिस प्रकार जल में रखे हुए कुम्भ में भी लहर वाला जल है किन्तु दोनों एक जैसे होते हुए भी अलग अलग हैं। दोनों का मिलन तभी सम्भव है जब कुम्भ (शरीर—माया—) की सत्ता समाप्त हो जाय—

"जल मे कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना इहि तत कथ्यौ ग्यानी ॥

इसीलिए जब आत्मा परमात्मा की खोज में चली तो उसे सर्वत्र परमात्मा दृष्टिगत हुआ— लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल ॥"

इस प्रकार अन्ततः आत्मा और परमात्मा एक ही हैं।

जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है कबीर का मत है कि जो कुछ समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड—में है, उस सबकी सत्ता शरीर में है शरीर भी ब्रह्माण्ड का ही लघु संस्करण है— "ब्रह्माण्डे सो प्यण्डे जानि।"

किन्तु इस शरीर शरीर की स्थिति बड़ी क्षणिक है—

'पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यौं तारा परभात ॥

प्रस्तुत भी उसकी क्षणिकता का प्रतिपादन बड़े सुन्दर एवं नवीन उपमानों द्वारा कवि ने किया है। शरीर के लिए सर्वाधिक सुन्दर उपमा अंजलि के जल से दी है। अंजलि में रोका हुआ जल प्रति पल रिसता रहता है साथ ही किसी भी समय अंजलि खुल जाने पर उसका अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है—

'तन जन जौबन अंजुली कौ पानी जात न लाग बार।
× × × ×
"जल अंजुरी जोबन जैसा ताका है किसा भरोसा ॥

साथ ही कबीर का यह भी विश्वास है कि शरीर-पूर्ति के लिए नाना पाप कर्म करने से कोई लाभ नहीं क्योंकि यह मिथ्या है। दूसरे हम जिनके लिए पाप-बोझ ढोते हैं मृत्यु हो जाने पर, पंच तत्वमय शरीर की सत्ता समाप्त हो जाने पर, किसी का भी राग इससे नहीं रह जाता है—

'मुठी एक मठिया मठि एक कठिया संगि काहू कै न जाइ।
देहुली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लगी सग माइ।
मड़हट लूँ सब लोग कुटुम्बी हंस अकेला जाइ ॥

इस संसार में शरीर का नाश—मृत्यु—उतनी ही निश्चित है जितना स्वयं निश्चित सत्य— 'जो उग्या सो आंथवै फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै जो आया सो जाइ ॥

प्राणी को इस मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं। जो आज दूसरों की श्मशान यात्रा कर शोकाकुल हो रहे हैं वे भी निश्चित रूप से इसी भांति श्मशान के दर्शन करते— 'रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार।
हा हा करते ते मुए कासनि करौं पुकार ॥

इस शरीर को धारण करने में बारम्बार मातृगर्भ में रह असीमित वेदना सहनी पड़ती है इसका एक ही उपाय है मोक्ष। यह मोक्ष या मुक्ति व्यक्ति को अपने सत् कार्यों एवं अनन्य दृढ़ ईश्वर-भक्ति से प्राप्त होती है। मुक्ति प्राप्ति पर भक्त भगवान् अथवा प्राणी आत्मा-परमात्मा एक हो जाते हैं दोनों में कोई भेद नहीं रहजाता है

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर के दार्शनिक विचार वेदान्ती है। दर्शन-क्षेत्र में निश्चित रूप से उन पर शुद्ध भारतीय प्रभाव है।

———

साखी भाग

१ गुरुदेव कौ अंग

सतगुर सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति ॥१॥

शब्दार्थ—सवाँन=समान। सोधी=तत्वशोधक अर्थात् साधु। सईं=समान।

(इस संसार में) सद्गुरु के समान अपना कोई निकट संबन्धी नहीं है। तत्वशोधक या प्रभु की खोज करने वाले साधु के समान कोई दाता नहीं क्योंकि वह अपना समस्त ज्ञानार्जन शिष्य में उंडेल देता है। दयालु प्रभु तुल्य अपना कोई हितैषी नहीं है और प्रभुभक्तों के समान कोई जाति नहीं है (क्योंकि हरि को भजै सो हरि का होई)।

विशेष—१ अनन्वयोपमा एवं अनुप्रास अलंकार।

बलिहारी गुर आपणैं द्यौं हाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता करत न लागी बार ॥२॥

कबीर के समान अन्य भक्तिकालीन कवियों ने भी गुरुमहिमा पर बल दिया है, तुलना कीजिए—

'बन्दौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर॥' —तुलसी

शब्दार्थ—आपणैं=अपने। हाड़ी=शरीर (अस्थिचर्ममय)।

मैं इस शरीर को अपने गुरु के ऊपर बार बार न्यौछावर करूं। मैं उनकी बलि बलि जाता हूँ जिन्होंने अत्यन्त अल्प समय में मुझे मनुष्य से देवता बना दिया अर्थात् मेरी मानवीय दुर्बलताओं को नष्ट कर मुझे दिव्यगुण युक्त कर दिया।

सतगुर की महिमा अनँत अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया अनँत दिखावणहार ॥३॥

शब्दार्थ—अनँत=अनन्त। लोचन अनँत=ज्ञान चक्षु प्रज्ञा-चक्षु। अनँत=ब्रह्म।

सद्गुरु की महिमा अपरम्पार है, उन्होंने मेरे साथ महान् उपकार किया है। उन्होंने मेरे (चर्मचक्षुओं के स्थान पर) ज्ञान चक्षु खोल दिये दिव्य-दृष्टि प्रदान कर दी जिसके द्वारा उस अनन्त ब्रह्म के दर्शन हो गये।

विशेष—१ यमक अलंकार। २ तुलना कीजिए—

श्री गुरु पद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥

—'रामचरित मानस'

राम नाम के पटतरै, देबे कौं कुछ नांहि।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन मांहि॥४॥

शब्दार्थ—पटतरै=बदले में।

गुरु ने राम-नाम का जो अमूल्य मन्त्र दिया है उसके बदले में देने के लिये मेरे पास कुछ नहीं है क्योंकि उस राम नाम के सम्मुख समस्त वस्तुएं तुच्छ और हेय हैं, फिर भला मैं क्या देकर गुरुदेव को सन्तुष्ट करूं—यही अभिलाषा मन में हुमक कर रह जाती है।

सतगुर के सदके करूं, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा बाछ॥५॥

शब्दार्थ—साछ=साक्षी। बाछ=रक्षक।

मैं सद्गुरु पर प्राणपण से न्यौछावर हूं एवं अपने हृदय को साक्षी करके कहता हूं कि कलिकाल अर्थात् विविध मायामोह के प्रपंच मुझसे जूझ रहे हैं पापों का और मेरे मन का संघर्ष चल रहा है किन्तु शक्तिसम्पन्न गुरुवर मेरे रक्षक हैं—अतः वे पाप-पुंज मुझे परास्त नहीं कर सकते।

विशेष महाकवि विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' नाटक में गुरु का महत्व वर्णन इस प्रकार किया है—

इह विरचयन् साध्वीं शिष्य क्रियां न निवार्यते।
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरङ्कुशः॥

(जब तक शिष्य ठीक काम करता है उसे उस काम से नहीं हटाया जाता। जब वह अज्ञान-वश मार्ग को छोड़ देता है तभी गुरु उसके लिए अंकुश-समान हो जाता है, अर्थात् उसे सन्मार्ग में प्रवृत्त करता है।)

सतगुर लई कमांण करि, बाहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर॥६॥

सद्गुरु ने हाथ में धनुष धारण कर लिया एवं तीरों की वर्षा करने लगे अर्थात् अध्यवसायपूर्वक प्रयत्नपूर्वक शिष्य को उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। इन उपदेश बाणों में एक बाण इस प्रकार प्रेमपूर्वक चलाया जिसने

अंतर को बेधकर हृदय में घर कर लिया। हृदय तक बाण को पहुँचाने के लिये मध्य के समस्त अंधावरण बेधने पड़े हैं इसीलिए वह हृदय में जाकर रह गया। यह बाण था प्रेम का।

सतगुर साँचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिल गया पड़्या कलेजै छेक ॥७॥

सद्गुरु सच्चे शूरवीर हैं। जिस प्रकार रणभूमि में शूर अपने विरोधी पक्ष को बाण-वर्षा से परास्त कर देता है, उसी प्रकार उस सद्गुरु रूपी शूर ने 'शब्द' (उपदेश) का एक बाण जो चलाया तो उसके लगते ही मैं अर्थात् अहं नष्ट हो गया अथवा उसके लगते ही मेरा आत्मस्वरूप से साक्षात्कार हो गया। उस बाण के लगते ही हृदय में प्रेम की टेक का छिद्र हो गया। तात्पर्य यह है कि यह प्रेम उस सद्गुरु के उपदेश रूपी बाण का ही परिणाम है।

विशेष—१ अलंकार—सांगरूपक।

सतगुर मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया गई दवा सूँ फूटि ॥८॥

८ सद्गुरु ने साधक के ऊपर यह उपदेश-बाण पूर्ण शक्ति से खींचकर एवं मूठ को लक्ष्योन्मुख सीधी कर मारा जिससे दावाग्नि सी फूट पड़ी समस्त वासना माया आदि जल-जल कर क्षार होने लगे एवं साधक शरीर के वस्त्र माया आदि आवरण उतार कर फेंकने लगा अर्थात् उसका वस्तुस्थिति से साक्षात्कार हो गया।

विशेष—१ उपमा एवं सांगरूपक अलंकार।

हँसै न बोलै उनमनी चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिद्या सतगुर कै हथियारि ॥९॥

योग की उन्मन दशा का वर्णन करते हुए कबीर दास जी कहते हैं कि मन की चंचल वृत्तियों को समाप्त कर सद्गुरु के उस उपदेश (प्रेम का) बाण ने हृदय को बेध दिया। परिणामस्वरूप शिष्य न हँसता है और न बोलता है अर्थात् सांसारिक हास विलास तथा राग विराग से अनासक्त हो गया है।

गूँगा हूवा बावला बहरा हूवा कान।
पाऊँ थै पंगुल भया सतगुर मार्या बाण ॥१०॥

सद्गुरु के उपदेश-बाण के लगते ही शिष्य गूँगा पागल कानों से बहरा और पैरों से लंगड़ा हो गया। भाव यह है कि शिष्य वाणी का दुरुपयोग व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं करता एवं उसके कान भी प्रेम भक्ति-चर्चा के अतिरिक्त अन्य विषयों के लिये बहरे हैं एवं सांसारिक प्रपंच से विरत होने

के कारण संसार हो गया इस विशेष स्थिति के कारण ही उसे पागल बताया गया है।

पीछें लागा जाइ था लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या दीपक दीया हाथि ॥११॥

मैं (शिष्य) लोक एवं वेदविहित मार्ग का अन्धानुकरण करता आ रहा था किन्तु आगे पथ में गुरुदेव मिल गये और उन्होंने ज्ञान का दीपक मेरे हाथ में दे दिया जिससे मैं अपना पथ स्वयं खोज कर लक्ष्य (ब्रह्म प्राप्ति) तक पहुँच सकूं।

विशेष—सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां बहुरि न आँवौं हट्ट ॥१२॥

सद्गुरु ने प्रेमरूपी तैल से परिपूर्ण एवं सर्वदा रहने वाली ज्ञान वर्तिका से युक्त दीपक मुझे प्रदान किया। इसके प्रकाश में संसार रूपी बाजार में मैंने कर्मों का समस्त क्रय विक्रय उपयुक्त रीति से कर लिया। अब मैं पुनः इस बाजार म नहीं आऊँगा।

विशेष—१ अलंकार—सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति। २ कबीर के पुनर्जन्म एवं आवागमन मे विश्वास का परिचय प्राप्त होता है।

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोबिंद कृपा करी तब गुर मिलिया आइ ॥१३॥

गुरुदेव स भेंट होने पर हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो गया। ऐसे ज्ञान स्वरूप गरु स विमुख नहीं होना चाहिये। यह प्रभु कृपा का ही फल है कि गुरुवर मुझे मिल गये।

विशेष—१ सद्गुरु की प्राप्ति के लिये कबीर भगवत्कृपा को आवश्यक मानते हैं।

कबीर गुर गरवा मिल्या रलि गया आटैं लूंण।
जाति पाँति कुल सब मिटे नाँव धरौगे कौंण ॥१४॥

कबीर कहते हैं कि मुझे गौरवमय गुरुदेव के दर्शन हुए उन्होंने अपने ज्ञानस्वरूप में मुझे इसी प्रकार एक कर लिया अपने में मिला लिया जैसे आटे में नमक मिल जाता है। गुरुदेव से इस प्रकार एक हो जाने पर मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व न रह गया और मेरे स्वतन्त्र व्यक्तित्व के बोधक जाति पाँति कुल आदि सब नष्ट हो गये अब तुम (संसार) मुझे गुरु से पृथक् मानने के लिये किस नाम से पुकारोगे? भाव यह है कि अब मेरा गुरु के ज्ञानस्वरूप के साथ ऐक्य स्थापित हो गया है।

जाका गुर भी अंधला चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया दून्यू कूप पड़ंत ॥१५॥

यहाँ कबीरदास जी गुरु की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि जिस शिष्य का गुरु भी अन्धा है अज्ञानी है एवं शिष्य भी पूर्णरूपेण अन्धा मूढ़ है वे दोनों लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेंगे। अन्धा अन्धे को अज्ञानी अज्ञानी को बिना देखे ही ठेल-ठालकर मार्ग पर बढ़ायेगा तो परिणाम यह होगा कि दोनों ही पतन के कूए में गिर पड़ेंगे।

विशेष—यहाँ शब्दों की अभिव्यंजना शक्ति दर्शनीय है।

नाँ गुर मिल्या न सिष भया लालच खेल्या डाव।
दून्यू बूड़े धार में चढ़ि पाथर की नाव ॥१६॥

न तो ज्ञानी सद्गुरु ही मिला और न शिष्य वास्तविक परिभाषा में शिष्य अर्थात् ज्ञानाभिलाषी ही था। दोनों ज्ञान के नाम पर लालच का दांव खेलते रहे एक दूसरे को धोखे में डालने का प्रयास करते रहे और इस प्रकार दोनों मझधार में ही डूब गये तट—लक्ष्य—तक नहीं पहुँच पाये जैसे कोई पत्थर की नाव का आश्रय लेकर सागर तरने का प्रयास करे तो बीच ही में डूब जाय।

विशेष—उपमा अलंकार।

चौसठि दीवा जोइ करि चौदह चन्दा माँहि।
तिहि घरि किसकौ चानिणौं जिहि घरि गोविंद नाँहि ॥१७॥

यदि कोई अपने हृदय-मन्दिर में चौंसठ कलाओं की ज्योति प्रकाशित कर ले और चन्द्रमा की चौदह कलाओं के समान प्रकाशपूर्ण चौदह विद्याओं का उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण कर ले अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो जाय किन्तु प्रभु भक्ति के अभाव में वहाँ अन्धकार ही अन्धकार है। एकमात्र भगवान् ही हृदय में अलौकिक प्रकाश उत्पन्न कर सकते हैं।

विशेष—१ कबीर यहाँ ज्ञान और भक्ति के समन्वय के वाहक हैं और भक्ति को ज्ञान के ऊपर मानते हैं। २ चन्द्रमा की चौदह कलाएं कहने से कबीर पर हठयोगी संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है।

निस अंधियारी कारणैं चौरासी लख चंद।
अति आतुर ऊदै किया तऊ दिष्टि नहिं मंद ॥१८॥

प्राणी अज्ञान की अन्धकारमयता के कारण गुरु चौरासी लाख योनियों में भटक कर उनकी यातना सहनी पड़ी और तब वह अन्त में मानव

योनि में माया मूर्ख फिर भी तेरी आँखें नहीं खुलती तू फिर भी कुमार्ग की ओर ही बढ़ रहा है।

विशेष—कबीर पर वैष्णव प्रभाव देखा जा सकता है।

भली भई जु गुर मिल्या नहीं तर होती हांणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं पड़ता पूरी जाणि ॥१६॥

शब्दार्थ—नहीं तर=अन्यथा। पूरी जाणि=सर्वस्व समझकर।

साधक कहता है कि यह अच्छा ही हुआ कि गुरुदेव मिल गये अन्यथा बड़ी भारी हानि होती। जिस प्रकार पतंग दीप-शिखा को सर्वस्व जान उस पर जल मरता है उसी प्रकार मैं भी सांसारिक माया आकर्षणों को सर्वस्व समझकर पतंगे-कीड़े के समान जलकर नष्ट हो जाता।

माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवैं पड़त।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं एक आध उबरंत ॥२०॥

माया रूपी दीपक है और मानव पतंगा है जो मंडरा-मंडरा कर, आकर्षित होकर उसी दीपशिखा पर गिरकर विनष्ट होता है। कबीर कहते हैं कि इस माया दीप के आकर्षण से कोई एकाध विरले ही गुरु से ज्ञान प्राप्त कर बच पाते हैं।

सतगर बपुरा क्या करै जे सिषही मांहै चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि ले ज्यूं बंसि बजाई फूक ॥२१॥

यदि शिष्य में ही त्रुटि है तो बेचारा ज्ञानी गुरु भी क्या कर सकता है। चाहे उसे किसी प्रकार से भी समझा दो किन्तु सब यों ही क्षण में बाहर निकल जाता है। जैसे बंशी में फूंक क्षण भर रह कर बाहर निकल जाती है और वह बांसुरी फिर काष्ठ की काष्ठ अर्थात् निर्जीव (शिष्य पक्ष में मूढ़) रह जाती है।

संसै खाया सकल जग संसा किनहू न खद्ध।
जे बेधे गुर अष्षिरा तिनि ससा चुणि चुणि खद्ध ॥२२॥

माया के भ्रम ने सर्वदा से समस्त जगत् को विनष्ट किया है कि इस भ्रम को कोई नहीं नष्ट कर पाया। गुरु उपदेश की वाणी से प्रभावित जो लोग थे उन्होंने इस माया भ्रम को चुन चुनकर नष्ट कर दिया।

चेतनि चौकी बैसि करि सतगुर दीन्हाँ धीर।
निरभै होइ निसंक भजि केवल कहै कबीर ॥२३॥

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने ज्ञान की चौकी पर बैठकर शिष्य को प्रबोध देकर धैर्य प्रदान कर कहा कि तुम निर्भय चित्त हो सांसारिक-त्रासों से भय रहित होकर केवल ईश्वर का ही भजन करो।

सतगुर मिल्या त का भया जे मन पाड़ी भोल ।
पासि बिनंठा कप्पड़ा क्या करै बिचारी चोल ॥२४॥

जिन लोगों के चित्त भ्रम युक्त हैं उन्हें यदि सद्गुरु मिल भी गये तो क्या लाभ होगा ? वे ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । यदि वस्त्र को रंगने से पूर्व पुट देने में ही वह नष्ट हो जाय तो सुन्दर रंग देने में समर्थ मजीठ बिचारा क्या कर सकता है—फटे हुए वस्त्र को किस प्रकार सुन्दर रंग दे । त्रुटिपूर्ण शिष्य के साथ यही अवस्था गुरु की है ।

बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि ।
भेरा देख्या जरजरा (तब) ऊतरि पड़े फरंकि ॥ ५॥

हम तो इस भवसागर में डूबने को ही थे कि गुरु कृपा की एक लहर ने हमें पार लगा दिया । जब गुरु कृपा के द्वारा ही हमने देखा कि जिस बेड़ (शास्त्र आदि के बेड़े) से हम संसार-सागर पार करना चाहते थे वह तो जीर्ण शीर्ण है, अतः हम तत्क्षण कूद पड़े और प्रभु भक्ति का अवलंब ग्रहण किया ।

गुर गोबिंद तौ एक है दूजा यहु आकार ।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥२६॥

गुरु और गोबिन्द (ब्रह्म) तो एक ही हैं उनमें कोई अन्तर नहीं है । यह अपना मायाजनित शरीर ही इस भासित भेद का कारण है । यदि हम इस अहंत्व, मम भाव, परोक्ष भी भावना का समाप्त कर जीवन्मुक्त हो जायें तो प्रभु—ब्रह्म—की प्राप्ति हो सकती है ।

विशेष—तुलना कीजिए—

सोऽहं हंस हो जाय तभी वह सोऽहं है ।
सोऽहं का हंस में लय ही तत्त्व परम है ॥

कबीर सतगुर नां मिल्या रही अधूरी सीष ।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि मांगै भीष ॥२७॥

कबीरदास जी कहते हैं कि यदि शिष्य को सद्गुरु की प्राप्ति नहीं होती तो उसकी शिक्षा अपूर्ण रह जाती है । तपस्वी का धारण करके द्वार द्वार पर भिक्षा मांगने वाले सद्गुरु नहीं हो सकते ।

सतगुर साँचा सूरिवाँ तातैं लोहिं लुहार ।
कसणी दे कंचन किया ताइ लिया ततसार ॥२८॥

सतगुरु—सच्चा । लोहिं—लोहा । लुहार—लोहे का काम करने वाला ।

सद्गुरु सच्चा शूरवीर है जो शिष्य को अपने प्रयत्नों से उसी प्रकार योग्य बना देता है जिस प्रकार लुहार तप्त लोहे को पीट-पीट कर सुघड़ और सुडौल आकार देता है। आगे कबीर कहते हैं कि सद्गुरु शिष्य को परीक्षा की अग्नि में तपा-तपा कर स्वर्णकार की भाँति उसे इस योग्य बना देते हैं कि वह शुद्ध कंचन की कसौटी पर खरा उतर कर ब्रह्म (तत्व) को प्राप्त कर ले।

बापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा-बणजिया मानसरोवर तीर ॥२१॥

शब्दार्थ—बापणि=शिष्य रूप में अपनी स्थापना। बणजिया=व्यापार।

सद्गुरु से शिष्य रूप में स्वीकृति पाकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर मेरा चंचल मन स्थिर हो गया और उन्होंने मुझे धैर्य प्रदान किया। इस मन की एकाग्रता से मैं मनरूपी सरोवर पर (हंसों की भाँति) मुक्ता चुग रहा हूं।

विशेष—मन-साधना की महत्ता प्रकट की गई है।

निहचल निधि मिलाइ तत सतगुर साहस धीर।
निपजी में साझी घणां बाँटै नहीं कबीर ॥१ ॥

शब्दार्थ—निहचल निधि=ब्रह्म। तत=आत्मा। घण=बहुत से।

सद्गुरु के साहस और धैर्य ने आत्मा को ब्रह्म से मिला दिया। इस महामिलन से जो सुख उत्पन्न हुआ उसका भागीदार बनने के लिए बहुत से व्यक्ति व्याकुल हैं किन्तु कबीर उसे बाँटने के लिए प्रस्तुत नहीं क्योंकि वह परमतत्व का आनन्द दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता अतः उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए स्वयं की आत्मा का ब्रह्म से साक्षात्कार आवश्यक है।

चौपड़ि माँडी चौहटै अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा राम जन खेलौ संत बिचार ॥११॥

शब्दार्थ—चौपड़ि=चौपड़ का खेल। माँडी=बिछी है।

शरीर के चौराहे त्रिकुटी पर चौपड़ बिछी है। उसके नीचे एवं ऊपर दोनों ओर चक्रों का बाजार लगा हुआ है (योगियों ने शरीर के अंतर्गत षट्चक्रों की स्थिति मानी है जो मूलाधार से प्रारम्भ होकर शीर्ष में ब्रह्मरन्ध्र तक बिखे हुए हैं। इन षट्चक्रों का भेदन करके ही कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है जहां अमृत निस्सृत होता है)। कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु भक्त—सन्त गण इस खेल को विचारपूर्वक खेलते हैं अर्थात् योगसाधना में प्रवृत्त होते हैं।

पासा पकड़ या प्रेम का सारी किया सरीर।
सतगुर दाव बताइया खेल दास कबीर ॥१२॥

प्रेम के पासे से शरीर रूपी चौपड़ पर भक्त कबीर ने खेल प्रारम्भ कर दिया है और सद्गुरु दाव बताते जा रहे हैं। भाव यह है कि साधक ने प्रेम का आश्रय लेकर गुरु के निर्देशन में योगसाधना प्रारम्भ कर दी है।

सतगुर हम सू रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग ॥१३॥

रीझि करि—प्रसन्न होकर।

सद्गुरु ने हमसे प्रसन्न होकर प्रभु भक्ति की ऐसी मनोरम चर्चा छेड़ी कि प्रेम का बादल बरस गया जिससे शरीर का अंग प्रत्यंग उस प्रेम जल से सिक्त हो गया।

कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आतमां हरी भई बनराइ ॥१४॥

प्रभु प्रेम का बादल बरसा जिससे अन्तरात्मा उस प्रभु प्रेम जल से भीग गई और उसी के आनन्द से शरीर रूपी वन प्रदेश में भी हरियाली परिपूर्णता छा गई क्योंकि हृदय की अनुभूति बाह्य उतारें।

विशेष—असंगति अलंकार।

पूरे से परचा भया सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आतमां तार्थे सदा हजूरि ॥१५॥

सर्वसमर्थ पूर्ण गुरु से मेरा परिचय हो गया उन्होंने समस्त दुःख दूर कर दिये। उन दुखों के अभाव में आत्मा निर्मल होकर सर्वदा प्रभु भक्ति में संलग्न रहती है।

---

(२) सुमिरण कौ अंग

कबीर कहता जात हूँ सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा नहिं तर भला न होइ ॥१॥

कबीरदास जी कहते हैं कि मैं यह निरन्तर प्रचारित करता जा रहा हूँ कि राम नाम जपने से ही कल्याण होगा अन्यथा आचरण से कल्याण सिद्ध नहीं होगा। इस बात को सुनते तो सब हैं किन्तु आचरण सब नहीं करते।

कबीर कहै मैं कथि गया कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नांव ततसार है सब काहू उपदेस ॥ ॥

कबीरदास कहते हैं कि मैं यह कह चुका हूं कि राम नाम (भगवान् नाम) ही समस्त तत्वों का सार है यही सबका उपदेश है। इसी तथ्य का कथन ब्रह्मा एवं शिव ने किया है

विशेष—कबीर देवतावाद के विरोधी हैं किन्तु यहां वे देवों की दुहाई देकर अपना सिद्धांत पोषण करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कबीर देवतावाद का समर्थन कर रहे हैं वे तो केवल अपनी मान्यता का परम्परानुमोदित सिद्ध करके उसकी सत्यता का प्रस्थापन मात्र करना चाहते हैं।

तत तिलक तिहूँ लोक मैं राम नाँव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया सोभा अधिक अपार ॥३॥

सार तत्व राम नाम तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ है। उसी का दास कबीर ने अपने मस्तक पर धारण किया है अर्थात् उसे शिरसा स्वीकार किया है। भाव यह है कि कबीर चन्दनादि का तिलक धारण करना नहीं चाहते अपितु राम नाम ही उनके लिए तिलक—सर्वोपरि है।

भगति भजन हरि नाँव है दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमनां कबीर सुमिरण सार ॥४॥

प्रभु-भक्ति और भजन जो कुछ भी है वह उनका नाम स्मरण ही है, इसके लिए जो अन्य साधन बताये गये हैं वे अमित दुखों से परिपूर्ण हैं। कबीर कहते हैं कि मन वाणी और कर्म से सर्वस्विता प्रभु नाम स्मरण ही सर्व श्रेष्ठ है।

कबीर सुमिरण सार है और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया दूजा देखौं काल ॥५॥

कबीर कहते हैं कि एकमात्र प्रभु नाम स्मरण ही समस्त तत्वों का सार है और इसके अतिरिक्त हरि भक्ति के अन्य साधन जाल (जिसमें से निकलने का प्रयत्न करने पर और फंस जाता है)। मैंने उनका आदि और अवसान अथवा प्रथम से इति तक अवलोकन करके देख लिया कि वे काल स्वरूप विनाश कारक हैं।

अलंकार—रूपक।

च्यंता तौ हरि नाँव की और न चिंता दास।
जे कुछ चितवें राम बिन सोइ काल की पास ॥६॥

भक्त को यदि कुछ चिन्ता रहनी है तो केवल हरिनाम स्मरण की अन्य कोई चिन्ता नहीं। यदि राम नाम के अतिरिक्त कुछ चिन्तन करता है वह मृत्यु के फन्दे के समान है अर्थात् उसके नाश का कारण है।

पंच सँगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरे मन ।
आई सूति कबीर की पाया राम रतन ॥७॥

कबीरदास की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं छठे मन ने प्रभु के प्रिय नाम की रट (चातक के समान क्योंकि 'पीव' शब्द है) लगा रखी है और ऐसी स्थिति में कबीर अपनी समाधि अवस्था में पहुँच गये हैं जहाँ उन्हें राम के अतिरिक्त और कोई नहीं सूझता अतः कहते हैं कि मैंने राम रूपी रत्न प्राप्त कर लिया है।

विशेष—द्वितीय चरण का अर्थ यह भी हो सकता है कि कबीर की सुक्ति (सूति) हो गया एवं 'पीव पीव' की रटन से स्वाति नक्षत्र में वर्षा (प्रभु प्रेम) होने के कारण उस सुक्ति में प्रेम जल पड़कर राम रूपी रत्न बन गया है। यह कवि-समय है कि स्वाति नक्षत्र की बूँद सुक्ति में पड़ने पर वह मोती बन जाती है।

मेरा मन सुमिरै राम कूँ मेरा मन रामहिं आहि ।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या सीस नवावौं काहि ॥८॥

कबीर कहते हैं कि राम नाम का स्मरण करते-करते मेरा मन स्वयं ही राम में ही रम गया है और इससे भी आगे अब वह स्वयं राम हो गया है अब स्वयं मन ही राम हो गया तो शीश किसे नवाया जाय अर्थात् भक्त और भगवान ही नाम स्मरण से एक हो गये हैं।

विशेष—यह भक्ति की चरम उपलब्धि है जब भक्त और भगवान् एकाकार हो जाते हैं। यहीं शंकर के अद्वैत की अहं 'ब्रह्मास्मि' की भावना आ जाती है।

तूं तूं करता तूं भया मुझ में रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई जित देखौं तित तूं ॥९॥

हे प्रभु मैं तेरा नाम स्मरण करते-करते तेरे स्वरूप में ही विलीन हो गया मुझमें किंचित् भी अहंत्व शेष नहीं रह गया अर्थात् मुझे अपना पृथक् अस्तित्व का ज्ञान ही न रहा। अब मैं प्रभु तेरे ऊपर बार-बार बलिहारी जाता हूँ क्योंकि जिधर देखता हूँ तू ही तू दृष्टिगत होता है।

विशेष—१ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना से साम्य है। २ अन्यत्र भी कबीर ने कहा है—

"लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गयी लाल ॥"

कबीर निरभै राम जपि जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी (तब) सोवैगा दिन राति ॥११॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य जब तक तेरे शरीर रूपी दीपक में जीवन रूपी वर्तिका है तब तक तू सांसारिक भ्रमों एवं चिन्ताओं से मुक्त होकर राम नाम का स्मरण कर। व्यर्थ आलस्य—कुबुद्धि—में अपना जीवन मत गवा क्योंकि जब श्वास रूपी तेल समाप्त हो जाने पर जीवन-वर्तिका बुझ जायेगी तब अहर्निश चिरनिद्रा में ही सोवेगा अर्थात् प्रभु भक्ति के लिए ही तुझे यह जीवन मिला है।

कबीर सूता क्या करै जागि न जपै मुरारि।
एक दिनां भी सोवणां लंबे पांव पसारि ॥११॥

शब्दार्थ—सूता=सोता हुआ अज्ञान-निद्रा।

कबीरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य तू अज्ञान-निद्रा में पड़ा क्या कर रहा है, जागकर—ज्ञानयुक्त होकर प्रभु का भजन क्यों नहीं करता। यह विश्राम तो फिर भी हो सकता है क्योंकि अन्तत: एक न एक दिन अवश्य ही चिरनिद्रा में लीन होना है।

कबीर सूता क्या करै काहे न देखै जागि।
जाका संग तैं बीछुड़्या ताही के संग लागि ॥१२॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू सोता हुआ क्या कर रहा है, अज्ञान में क्यों पड़ा हुआ है ज्ञान की चैतन्य प्राप्त कर अपनी वास्तविक स्थिति को क्यों नहीं देखता। तू जिस ब्रह्म का अंश है उसी का साक्षात्कार कर अपनी मुक्त अवस्था को प्राप्त कर।

विशेष—आत्मा परमात्मा का अंश है, अद्वैतवाद के समान कबीर की भी यही मान्यता है।

कबीर सूता क्या करै उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मैं सो क्यूं सोवै सुक्ख ॥१३॥

कबीर कहते हैं हे मनुष्य तू अज्ञानावस्था में पड़ा हुआ क्या कर रहा है, अपने उद्धार का प्रयत्न क्यों नहीं करता? जिससे जागने पर (दूसरा जन्म लेने पर) तुझे अपने दुखों के लिए रोना न पड़े। भला जिसका मृत्यु के मुख में सर्वदा निवास रहता है उस मनुष्य को सुख की निद्रा कैसे आ सकती है—अतः तू प्रभु भजन कर ज्ञान सम्पन्न हो अपना जन्म सुधार ले।

कबीर सूता क्या करै गुण गोबिन्द के गाइ।
तेरे सिर परि जम खड़ा खरच कदे का खाइ ॥१४॥

कबीर कहते हैं हे मनुष्य तू अज्ञानावस्था में क्यों पड़ा हुआ है प्रभु के गुणों का गान कर। यह थोड़ी सी ही तेरी आयु है फिर यह कार्य नहीं होने का क्योंकि यमराज तेरे सिर पर किसी मस्ती साहूकार के समान खड़ा हुआ तकाजा कर रहा है।

कबीर सूता क्या करै सूतां होइ अकाज।
ब्रह्मा का आसण खिस्या सुणत काल की गाज ॥१५॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू सोता हुआ अज्ञानावस्था में क्या कर रहा है? इस अज्ञान से तो तेरी हानि ही हो रही है क्योंकि आयु अल्प है और कालचक्र किसी को भी नहीं छोड़ता उसकी गति के भय से ब्रह्मा का आसन भी खिसक गया है—मनुष्यों की तो बात ही क्या।

विशेष—पन्त ने भी कालचक्र का ऐसा ही भयानक वर्णन किया है।

केसौ कहि कहि कूकिये ना सोइयै असरार।
रात दिवस के कूकणें (मत) कबहूं लगै पुकार ॥१६।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू अहर्निश प्रभु का नाम ही लिया कर एवं अज्ञान में लिप्त होकर चैतन्य हीन मत हो। रातदिवस की इस नाम स्मृति की ध्वनि न जाने कब प्रभु के कान में पड़ जाय और वे तुझ पर कृपा करें।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में उपजि पये बेकाम ॥१७॥

जिनके हृदय में न तो प्रेम ही है और न प्रेमानन्द और न जिनकी वाणी राम नाम का उच्चारण करती है, वे मनुष्य इस संसार में आकर व्यर्थ ही नष्ट हो गये। उन्होंने अपने जीवनोद्देश्य को पूर्ण नहीं किया।

कबीर प्रेम न चषिया चषि न लीया साव।
सूनें घर का पाहुणां ज्यूं आया त्यूं जाव ॥१८॥

शब्दार्थ—साव=स्वाद। पाहुणा=अतिथि।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तूने प्रेम—भक्ति—का अनुभव किया ही नहीं और उसके अनुभव से वंचित होने पर तू उसका आनन्द भी नहीं उठा सका। इस प्रकार तूने अपना जीवन व्यर्थ ही इस प्रकार नष्ट कर दिया जिस प्रकार सूने गृह में अतिथि जैसा आता है वैसा ही लौट जाता है—उसे कुछ प्राप्त नहीं होता है।

विशेष—जगत् को शून्य गृह से उपमा देकर कबीर उसको मिथ्या ही बताते हैं यह विचार शंकर के 'जगन्मिथ्या ब्रह्म-सत्यम्' से पर्याप्त साम्य रखता है।

पहली बुरी कमाइ करि बांधी बिष की पोट।
कोटि करम फिल पलक में (जब) आया हरि की ओट ॥१९॥

शब्दार्थ—फिल=समाप्त नष्ट। ओट=शरण।

मनुष्य तूने अपने पूर्वजन्म म संचित कुकर्मों की विष की पोटली बांध रखी थी अर्थात् अतिशय पाप एकत्रित कर रखे थे किन्तु वे करोड़ों पातक प्रभु की शरण में आते ही पल भर में समाप्त हो गये।

कोटि क्रम पेलै पलक में जे र चक आवै नाउँ।
अनेक जुग जे पुन्नि कर नहीं राम बिन ठाउ ॥२०॥

यदि क्षणिक भी प्रभु का नाम स्मरण किया जाय तो मनुष्य के करोड़ों कुकर्म—पाप—क्षण भर म विनष्ट हो जाते हैं। यदि कोई अनेक युगों से पुण्य करके बिना राम नाम के अपना उद्धार चाहे तो असम्भव है राम नाम के आश्रय बिना शान्ति कहां?

जिहि हरि जैसा जाणियां तिन कू तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई जब लग धसै न आभ ॥२१॥

जिन्होंने प्रभु को जिस रूप में जाना है, उन्हें वैसा ही प्राप्ति होती है। केवल मात्र ओस चाटने से तृषित की तृषा शान्त नहीं होगी उसका शमन तो जल में पैठकर ही सम्भव है। भाव यह है कि हरिभक्ति के अन्य साधन ओस सदृश हैं जिनमें जल के कुछ ही कण हैं, मनुष्य को पूर्ण परितृप्ति हरिशरण के अथाह जल के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है।

राम पियारा छाँड़ि करि, करै आन का जाप।
बस्वां केरा पूत ज्यूं कहै कौन सू बाप ॥२२॥

जो मनुष्य परम प्रिय राम के अतिरिक्त अन्य अनेक देवताओं का भजन करता है उसकी स्थिति वेश्यापुत्र के समान है जो किसी एक को अपना पिता (पालक) नहीं कह सकता।

विशेष—यहां कबीर ने दिखाया है कि आत्मा का सनातन सम्बन्ध केवल राम ब्रह्म से ही है उसे अन्य देवताओं की पूजा में प्रवृत्त करना व्यभिचार है। इस प्रकार व बहुदेववाद के विरोधी है।

कबीर आपण राम कहि औरा राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न ऊचरै तिहि मुख फेरि कहाइ ॥२३॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू स्वयं भी राम नाम का उच्चारण कर और अन्यों से भी रामनाम कहलाने का प्रयत्न कर। यदि उनमें से कुछ तेरे निवेदन करने पर भी राम नाम का उच्चारण न कर तो उनसे पुनः पुन

'राम' कहलाने का आग्रह कर। इससे वह रामनाम स्मरण में प्रवृत्त हो सकेगा।

विशेष—तुलना कीजिए—

"करत करत अभ्यास तें जड़मति होत सुजान

जैसें माया मन रमें यूं जे राम रमाइ।
(तौ) तारा-मंडल छाँडि करि, जहाँ के सो तहाँ जाइ ॥२४॥

जिस भाव से मन माया के विविध आकर्षणों में आसक्त होता है उसी उत्कटता और तीव्रता के साथ वह प्रभु में रम जाय तो साधक तारामण्डल—इस भौतिक सृष्टि—के परे जहाँ से माया है वहीं पहुँच जाय अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाय।

विशेष—मन की ममत्वासक्ति के लिए तुलसी ने भी कबीर से मिलती-जुलती उपमा दी है—

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

लूटि सक तौ लूटियौ राम नाम है लूटि।
पीछें ही पछिताहुगे यहु तन जइ छूटि ॥२५॥

राम नाम (जैसे सुधन) की लूट हो रही है यथाशक्ति जितनी प्राप्त कर सकते हो कर लो क्योंकि यह राम नाम का स्मरण भी मानव जन्म में सम्भव है। नहीं तो फिर शरीर छूट जाने पर पश्चात्ताप ही शेष रह जायगा कि काश ! हम भी राम नाम जप पाते।

लूटि सक तौ लूटियौ राम नाम भडार।
काल कठ तें गहैगा रूधै दसू दुवार ॥२६॥

हे मनुष्य ! यदि तू राम नाम रूपी बहुमूल्य रत्न को लूटना चाहता है तो लूट ले अन्यथा फिर यह अवसर प्राप्त नहीं होगा। फिर तो मृत्यु कण्ठ पकड़ कर तेरे दसों द्वारों को बन्द कर तुझे चेतनाविहीन जीवनरहित कर देगी।

विशेष—शरीर के दस द्वार—

दो आँख, दो नासिका विवर, दो कर्ण, एक मुख तथा ब्रह्मरन्ध्र, गुदामार्ग और मूत्र मार्ग।

लंबा मारग दूरि घर विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यूं पाइये दुर्लभ हरि-दीदार ॥२७॥

शब्दार्थ—मार=काम वासना। दीदार=दर्शन।

कबीर कहते हैं कि हे संत जनो ! हरि दर्शन अत्यन्त कठिन है क्योंकि उनका निवासस्थान बहुत दूर है, साधना का पथ भी बड़ा कठिन है जिसमें काम आदि शत्रुओं के बहुत से भय हैं।

विशेष—'दूरि घर' से ब्रह्म की अगम्यता एवं अगोचरता 'विकट पंथ' से साधना की कठिन स्थली एवं 'बहु मार' से सांसारिक भयों की ओर इंगित है।

> गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न राम वियोग।
> अह निसि हरि ध्याव नहीं, क्यूं पावै दुर्लभ जोग ॥२८॥

प्रभु की गुणावलि का गान करने से यह संसार-बंधन समाप्त हो जाता है—इस बात को सुनकर तू प्रभु-वियोग में राम नाम क्यों नहीं रटता। यदि तू अहर्निश प्रभु की नाम-चर्चा नहीं करेगा तो उनके दर्शनों का दुर्लभ संयोग कैसे प्राप्त कर सकेगा ?

> कबीर कठिनाई खरी सुमिरतां हरि-नाम।
> सूली ऊपरि नट विद्या गिरूं त नाहीं ठाम ॥२९॥

२९ कबीर कहते हैं कि हरिनाम स्मरण अर्थात् भक्ति-साधना में कठिनाइयां बहुत हैं। यह नट की उसी कुशलता के समान है जो मृत्यु की सूली पर चढ़कर अपने मार्मिक कौशल दिखाता है यदि वह वहां से गिर जाय तो उसके बचने का कोई उपाय नहीं। इसी प्रकार भक्ति-साधना से पथभ्रष्ट भक्त का भी रक्षक कोई नहीं क्योंकि उसके लोक एवं परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

> कबीर राम ध्याइ लै जिभ्या सौं करि मंत।
> हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत ॥३०॥

शब्दार्थ—छीलर=छिछला गड्ढा।

कबीर कहते हैं कि जिह्वा का सहयोग प्राप्त कर राम नाम का स्मरण कर लो। भक्ति के अन्य साधना रूपी पोखरों को देखकर लोभवश हरि रूपी सागर को विस्मृत मत करो।

> कबीर राम रिझाइ लै मुखि अंमृत गुण गाइ।
> फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन संधे संधि मिलाइ ॥३१॥

कबीर कहते हैं कि तू अपने मुख से राम के अमृतमय गुणों का गान कर उन्हें प्रसन्न कर ले और इस प्रकार उनसे अपना मन मिला जिस प्रकार फूटे नग को नग से जोड़ पर मिलाकर दोनों को एक कर दिया जाता है।

विशेष—अन-अनी भाव का प्रतिपादन है।

कबीर चित चमकिया चहुँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथू घड़ा बेगे लेहु बुझाइ ॥१२॥

कबीर कहते हैं कि हृदयरूपी चकमक पत्थर के कारण चारों ओर माया के आकर्षणों की अग्नि लग गई है। इस अग्नि को बुझाने के लिये हरि स्मरण रूपी घट हमारे साथ विद्यमान है, अतः इससे इस वासना की अग्नि का शीघ्र बुझा डालो। भाव यह है कि संसार जाल से मुक्ति का एकमात्र उपाय हरि-स्मरण ही है।

---

३ विरह कौ अंग

रातयूं रूंनी बिरहनीं ज्यूं बंचौ कूं कुंच।
कबीर अंतर प्रजल्या प्रगट्या बिरहा पुंज ॥१॥

परम तत्त्व की बिरहिणी आत्मा रात्रि भर इस प्रकार रोती रही जिस प्रकार वियुक्त क्रौंच पक्षी करुण चीत्कार करता रहता है। कबीर जी कहते हैं कि विरह समूह के प्रकट होने से हृदय वियोग-ज्वाला में दग्ध हो रहा है।

अंबर कुंजां कुरलियां गरजि भरे सब ताल।
जिनि थैं गोविंद बीछुटे तिनके कौण हवाल ॥२॥

आकाश में क्रौंच एवं कुररी पक्षियों की विरहानुभूति पर करुणार्द्र हो बरस कर समस्त ताल जल से आपूर्ण कर दिए—इन विरहिणियों की पुकार तो बादल ने सुन भी ली किन्तु जो प्रभु से वियुक्त हैं उनका रक्षक तो (प्रभु के अतिरिक्त) और कोई नहीं है।

चकवी बिछुटी रैणि की आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूं ते दिन मिले न राति ॥३॥

रात्रि को बिछड़ी हुई चकवी अपने चकवे से प्रभात के आगमन पर मिल जाती है किन्तु जो राम वियुक्त हैं वे तो दिन या रात कभी भी उनसे नहीं मिल पाते।

विशेष—१ एक प्रकार से कबीर के इस वियोग का उद्दीपन विभाव वर्णन है जिसमें विरहिणी आत्मा को एक विहंगयुग्म का मिलन देखकर अपना मिलना खटकता है।

२ यह विश्वास है कि चकवा और चकवी रात्रि होते ही अलग अलग होकर एक दूसरे के विरह में तड़पते हैं और प्रभात में मिल जाते हैं।

बासुरि सुख नां रैंणि सुख नां सुख सुपिनै माहिं ।
कबीर बिछुट्या राम सूं नां सुख धूप न छांह ।।४।।

कबीर जी कहते हैं कि रामवियोगी को न दिन में और न रात में सुख है और न स्वप्न में—उसे प्रिय की वियोग-व्यथा ही व्यथित किये रहती है। धूप या छांह—कहीं भी उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

विशेष—कबीर के उपमान जीवन से लिये गये हैं इसी आधार पर इस दोहे के निर्माण की ऋतु ग्रीष्म जान पड़ती है। ग्रीष्म में छांह में व्यक्ति को चैन मिलता है और धूप में बढ़ती है व्याकुलता किन्तु राम वियोगी को धूप-छांह दोनों में ही विकलता रहती है।

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का कबर मिलैंगे आइ ।।५।।

ऊभी=खड़ी हुई। पंथसिरि=मार्ग के किनारे।

विरहिणी मार्ग में प्रिय की प्रतीक्षा में खड़ी आते-जाते पथिक से जिस प्रकार उत्कण्ठा सहित प्रिय आगमन का समाचार पूछती है उसी प्रकार साधक की ब्रह्म-वियुक्त आत्मा गुरु से प्रिय (ब्रह्म की) चर्चा सुनती हुई यह जानना चाहती है कि प्रभु से कब भेंट होगी।

बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम ।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं मनि नाहीं विश्राम ।।६।।

हे राम! मैं (विरहिणी आत्मा) तुम्हारी प्रतीक्षा बहुत समय से कर रही हूं। मेरे प्राण तेरे दर्शन के लिये तृषित हैं और मन बिना दर्शन व्याकुल है।

विशेष—तुलना कीजिए—

प्रिय आता क्यूं इस पार नहीं शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाये तिमिर केश युग युग से करती आती मैं हूं
क्या अभिनव शृंगार नहीं प्रिय आता क्यूं इस पार नहीं।

विरहिन ऊठ भी पड़े दरसन कारनि राम ।
मूवां पीछे देहुगे सो दरसन किहि काम ।।७।।

मूवा=मरने पर। दी-दरसन=सुदर्शन।

हे राम! यदि आपके दर्शनों की उत्सुकता में विरहिणी उठती भी है तो क्षीणकाय होने के कारण गिर गिर पड़ती है अर्थात् आपके विरह में वह अत्यन्त

विरहिणी कहती है कि मह इच्छा होती है कि इस शरीर को जलाकर स्याही बना लू और अस्थियों की लेखनी इससे राम का नाम लिखू और लिख-लिख कर अपने प्रभु राम को प्रेषित करू—कदाचित् इस कृत्य से प्रसन्न होकर वे दर्शन दें।

कबीर पीर पिरावनीं पंजर पीड़ न जाइ।
एक ज पीड़ परीति की रही कलेजा छाइ ॥१३॥

पीर—वेदना। पिरावनी—कसकपूर्ण।

कबीर कहते हैं कि पीड़ा बड़ी वेदनापूर्ण होती है शरीर की पीड़ा ही इतनी कसकमय होती है कि उपचार करने पर भी नहीं जाती फिर जो प्रेम की पीड़ा है वह तो सर्वथा ही उपचार से बाहर है, वही असह्य पीड़ा हृदय में समा गई है।

चोट सताणीं विरह की सब तन जर जर होइ।
मारणहारा जांणिहै कै जिहिं लागी सोइ ॥१४॥

सताणी—व्यथित करती है।

विरह की चोट बड़ी व्यथित करती है इसकी वेदना से शरीर कृशकाय हो जाता है। इस पीड़ा का अनुभव केवल दो को ही होता है—एक तो जो इसे भोग रहा है तथा दूसरे वह जो इस पीड़ा को प्रदान करता है।

कर कमाण सर सांधि करि खंचिजु मार्या मांहि।
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै जीवै कि जीवै न र हि ॥१५॥

सांधि करि—साधकर। सुमार—गहरी चोट।

भगवान् रूपी प्रियतम ने हाथ मे धनुष धारण कर खींच कर ऐसा प्रेमबाण चलाया है कि वह हृदय के आरपार हो गया। हृदय प्रेममय ही हो गया। उस क प्रेम तीर की यह चोट इतनी गहरी लगी है कि जीवन जन्म और मरण के मध्य भूल रहा है अर्थात् प्रभु प्रम उसे अपनी ओर खींचता है और दूसरी ओर सांसारिक आकर्षण हैं।

जबहूं मार्या खैंचि करि, तब मैं पाई जांणि।
लागी चोट मरम्म की गई कलेजा छांणि ॥१६॥

जाणि—ज्ञान ज्ञान। मरम्म—मर्मान्तक।

जब गुरुवर ने पूर्ण शक्ति के साथ खींच कर उपदेश द्वारा प्रेम रूपी बाण चलाया तभी मुझे ज्ञान हुआ कि इस प्र म बाण की मर्मान्तक चोट मेरे हृदय के पार हो गई। भाव यह है कि प्र म से तन-मन बिंध गया।

जिहि सरि मारी काल्हि सो सर मेरे मन बस्या ।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नहीं ॥१७॥

हे गुरुदेव जिस प्रेम बाण से आपने मुझ पर चोट की वह मेरे मन में बस गया है। वह बाण स्वर—साखी का बाण था अर्थात् प्रेमोपदेश। उसी (साखी के) बाण को मेरे प्राण भी मार उसके बिना मुझे शान्ति नहीं।

विशेष—कैसा विरोधाभास है जो बाण शरीर को बेधता है वही प्रिय लग रहा है—यह कबीर जैसे प्रेमी के लिये ही सम्भव है।

बिरह भुवंगम तन बसै मंत्र न लागै कोइ ।
राम बियोगी ना जिवै जिवै त बौरा होइ ॥१८॥

विरह रूपी सर्प शरीर की बाँबी में घुसा बैठा है उसे कोई भी मंत्र (साधक) बाहर निकालने में समर्थ नहीं हो सकता प्रभु का वियोगी तो जीवित ही नहीं रह सकता वह जीवनमुक्त हो जाता है और यदि जीवित रहता है तो सांसारिक कर्तव्यों आदि से पूर्ण असम्पृक्त हो जाता है जिसे लोग पागल कहने लगते हैं।

विशेष——प्रथम चरण में सर्प को पकड़ने की क्रिया से विरह की तुलना है बाँबी में से सर्प को मंत्र बल से निकाल कर वशीकृत किया जाता है। रूपक अलंकार।

बिरह भुवंगम पैसि करि किया कलेजै घाव ।
साधू अंग न मोड़हीं ज्यूं भावै त्यूं खाव ॥१९॥

पैसि कर—पैठकर, प्रवेश कर। अंग न मोड़हीं—विचलित नहीं होते।

विरह रूपी सर्प ने शरीर में प्रवेश कर हृदय में घाव कर लिया है किन्तु इस वेदना से साधुजन विचलित नहीं होते जैसी उसकी इच्छा होती है, उस रूप में उस घाव को खाने देते हैं। भाव यह है कि साधक विरह की कठोर यातनाओं से पथ-विचलित नहीं होते।

सब रँग तंतर बावतम बिरहु बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै कै साँई कै चित्त ॥२० ॥

रग—रग शिराएँ। तंतर—पशु चर्म निर्मित तांत जो तन्त्री में प्रयुक्त होती है। रबाब—इकतारे के समान तन्त्री जिसे जोगी बजाते फिरा करते हैं।

शरीर रूपी तन्त्री पर शिराओं रूपी तांतों को विरह नित्य बजाता है। विरह वेदना में शिराएँ झंकृत रहती हैं। इसमें निस्सृत संगीत को कोई दूसरा नहीं सुन सकता या तो प्रियतम ही सुन सकते हैं और या मेरा हृदय ही। प्रेम पंथ के अनुभव ऐसे हैं जिन्हें केवल भोगी ही जान सकते हैं।

बिरहा बुरहा जिनि कहौ बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥२१॥

बुरहा=बुरा। जिनि=मत।

हे मनुष्यो बिरह को बुरा मत बताओ वह तो राजा के समान सर्वोपरि है—संयोग से भी ऊपर है। जिस हृदय में बिरह का संचार नहीं होता वह सर्वदा श्मशान की भांति शून्य है, निर्जीव है।

विशेष—कबीर के समान अन्य कवियों ने भी बिरह की महत्ता प्रदर्शित की है—

'न बिना विप्रलम्भेन संयोग पुष्टिमश्नुते'

× × ×

"वेदना में ही तप कर प्राण
दमक दिखलाते स्वर्ण हुलास। —पन्त'

× × ×

"ऊधौ बिरहौ प्रेम करै'

अषड़ियाँ झांई पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़या राम पुकारि पुकारि ॥२२॥

अंषड़िया=नेत्र। झाई=मन्द।

प्रिय-आगमन का मार्ग तकते-तकते मेरी नेत्र-ज्योति मन्द पड़ गई है एवं राम को पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये हैं। प्रियतम! मैं कब से तुम्हारी बाट जोह रही हूं।

इस तन का दीवा करौ बाती मेल्यूं जीव।
लोही सींचौ तेल ज्यूं कब मुख देखौ पीव ॥२३॥

दीवा=दीपक। मेल्यूं=डालूं। जीव=प्राण। लोही=रक्त।

मैं अपने शरीर रूपी दीपक में प्राणों की वर्तिका डाल कर और उसका लोहू रूपी तेल—स्नेह—से अभिसिंचन कर न जाने कब से प्रिय आगमन का मार्ग देख रही हूं कि कब उनका मुख निहार सकूंगी।

नैनां नीझर लाइया रहट बहै निस जाम।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौ कबरु मिलहुगे राम ॥२४॥

नैनां=नेत्रों से। नीझर=निर्झर। जाम=याम प्रहर (दिन के)।

मेरे नेत्रों से अहर्निश प्रेम प्रवाह रहट की भांति अबाधगति से बहता रहता है एवं सर्वदा पपीहे की भांति प्रिय-नाम रटती रहती हूं। हे प्रियतम राम! तुम कब मिलोगे?

अंषड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ लोग जाँणै दुखड़ियाँ।
साँई अपणैं कारणैं रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥२५॥

प्रेम कसाइयाँ=प्रेम की कसौटी पर कसी गईं। साँई=स्वामी प्रिय।

मेरी आँखें प्रेम की कसौटी पर लाल हो गई हैं। वे प्रिय-वियोग में निरन्तर रोने के कारण लाल हो गई हैं और संसार यह अनुमान लगा रहा है कि ये दुखने आ गई हैं।

सोई आँसू सजणाँ सोई लोक बिड़ाँहि।
जे लोइण लोहीं चुवै तौ जाँणै हेत हियाँहि ॥२६॥

सोई=वे ही। सजणाँ=सज्जनों के। लोक बिड़ाँहि=लोक-बाह्य अर्थात् दुर्जनों के। लोइण=नेत्र। लोही=रक्त। चुवै=गिरता है।

केवल मात्र अश्रु देखकर सच्चे प्रेम की पहचान नहीं की जा सकती क्योंकि आँसू तो सज्जन और दुर्जन दोनों के समान रूप से गिरते हैं किन्तु जिन नेत्रों से रक्त के आँसू गिरें वहीं सच्चे प्रेम की अवस्थिति जानो।

विशेष—कबीर का प्रेमादर्श बड़ा महान् है जिसमें शीश उतारे गए सके तब पद पर भक्ति का सिद्धान्त सर्वत्र प्राप्त होता है। वहाँ त्याग और समर्पण ही सब कुछ है।

कबीर हसणाँ दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयाँ क्यूँ पाइए प्रेम पियारा मित्त ॥२७॥

मित्त=मित्र।

कबीर कहते हैं कि हे मित्र हँसना छोड़ दे अर्थात् सुखमय जीवन को त्याग दे एवं रुदन अर्थात् प्रिय वियोग की व्यथा को ही अपना। बिना विरह की अनुभूति के प्रेम पात्र को तू कैसे प्राप्त कर सकता?

जौ रोऊँ तौ बल घटै हँसौं तौ राम रिसाइ।
मनहीं माँहि बिसूरणाँ ज्यूँ घुण काठहि खाइ ॥२८॥

बिसूरणा=रुदन। घुण=घुन। काठहि=काठ को।

यदि मैं विरह में रोता हूँ तो मेरी शक्ति क्षीण होती है हँसता हूँ तो राम का प्रिय नहीं है क्योंकि बिना विरह उल्लास क्यों भी करे? अब मेरी आत्मा मन ही मन रुदन कर मुझे क्षीण करती रहती है जैसे घुन भीतर ही भीतर काठ को चाट कर खोखला बना देता है। भाव यह है कि विरह भीतर ही भीतर मारता रहता है।

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिन रोइ ।
जो हाँसेही हरि मिलै तो नहीं दुहागनि कोइ ॥२६॥

२६. दुहागनि—दुर्भागिनी ।

हंस हंस कर, सांसारिक आनन्द उड़ाते हुए, किसी ने प्रभु को नहीं पाया है। जिसने भी उनकी प्राप्ति की है उसने उनके विरह की मर्मानुभूति की है। जो इस प्रकार भोगविलास द्वारा ब्रह्म स्वामी की प्राप्ति हो जाय तो संसार में सभी (आत्माएं) उनकी प्राप्ति कर सुहागिन बन जायें कोई अभागिन रह ही नहीं।

हाँसी खेलों हरि मिलै तौ कौण सहै परसान ।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै ताहि मिलै भगवान ॥३०॥

यदि प्रभु सुख-वैभव की विविध क्रीड़ाओं में प्राप्त हो जायें तो तलवार की धार के समान तीक्ष्ण विरह-वेदना का अनुभव करने के लिए कौन प्रस्तुत होगा। जो काम क्रोध एवं तृष्णा का परित्याग कर देता उसे ही भगवद् प्राप्ति हो सकती है।

विशेष—तुलना कीजिये—

"अति तीक्ष्ण प्रेम को पंथ महा तलवार की धार प धावनो है।"

पूत पियारो पिता कौं गौहनि लागा धाइ ।
लोभ मिठाई हाथि दे आपण गया भुलाइ ॥३१॥

आत्मा रूपी पुत्र प्रभु रूपी पिता के प्रेम के कारण उसके साथ के लिए दौड़ पड़ा किन्तु वह पिता लोभ की मिठाई पुत्र के हाथ में देकर स्वयं को छिपा गया। भाव यह है कि आत्मा तो स्वाभाविक प्रेम के कारण परमात्मा से मिलना चाहती है किन्तु प्रभु लोभ का व्यवधान डालकर छिप जाते हैं—साधक की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

विशेष—पिता के साथ जब बाहर जाने के लिए पुत्र बहुत मचलता है तो पिता उसे पैसे या अन्य कोई लोभ की वस्तु दे देता है, बच्चा उस वस्तु में अटक जाता है और पिता उससे अलग चला जाता है। कबीर ने यही रूपक प्रस्तुत किया है।

डारी खाँड़ पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ ।
रोवत रोवत मिलि गया पिता पियारे जाइ ॥३२॥

किन्तु इस लोभ की मिठाई की सारहीनता जब आत्मा रूपी पुत्र ने देखी तो उसने उसे उठा कर फेंक दिया लोभ का परित्याग कर दिया और उसे अपने हृदय पर आक्रोश हुआ कि यह मैंने क्या किया? इस तुच्छ मिठाई

के कारण पिता को छोड़ दिया। इस वियोग में वह पुत्र (आत्मा) वेदना का अनुभव कर रोने लगा और रोता रोता अपने प्रिय पिता (प्रभु) तक जा पहुँचा।

नैनां अंतरि आचरू निस दिन निरषौं तोंहि।
कब हरि दरसन देहुगे सो दिन आवै मोंहि ॥१३॥

हे प्रभु! न जाने वह दिवस कब आयेगा जब मैं आपको नेत्रों के भीतर काजल के समान आंजकर अहर्निश आपका दर्शन लाभ प्राप्त करूंगी। न जाने प्रभु आप कब दर्शन देकर मेरे लिए इस सौभाग्यशाली दिवस को बनाओगे। भाव यह है कि मुझे किस दिन यह सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा।

कबीर देखत दिन गया निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नहीं जियरा तलपै माइ ॥१४॥

कबीर कहते हैं कि विरहिणी आत्मा दूसरी आत्मा को सम्बोधित कर कहती है कि हे सखि प्रिय की प्रतीक्षा में समस्त दिवस बीत गया और रात्रि भी यूं ही रोती बीती जा रही है। विरहिणी को प्रिय की प्राप्ति नहीं होती इससे उसका हृदय वेदना में तड़पता है।

कै बिरहणि कूं मींच दे कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां मोपै सह्या न जाइ ॥१५॥

मींच = मृत्यु। दाझणां = दग्ध होना।]

हे प्रभु मुझ विरहिणी की या तो जीवन लीला ही समाप्त कर दो या अपना स्वरूप दर्शन दो। अब दिन रात यह वेदना मुझसे सहन नहीं हो पाती।

बिरहणि थी तौ क्यूं रही जली न पीव की नालि।
रहु रहु मुगध गहेलड़ी प्रेम न लाजूं मारि ॥१६॥

नालि = साथ। रहु रहु = बस-बस। मुगध = मुग्धा। गहेलड़ी = देरी करने वाली।

यदि तू वास्तविक अर्थों में वियोगिनी थी तो जीवित क्यों रह गयी? प्रिय के साथ चिता में ही क्यों न भस्म हो गई। अरी मुग्धा अकारण विलम्ब में असफलता प्राप्त करा देने वाली मुग्धा! तू अधिक बात मत बना बस कर अपने इस प्रेम को भी लज्जित न करो है।

हौं बिरह की लाकड़ी समझि समझि धूंधाऊं।
छूटि पड़ौं या बिरह तैं जे सारी ही जलि जाऊं ॥१७॥

समझि-समझि = समझ-बूझकर।

मैं विरह की उस लकड़ी के समान हूं जो धीमे-धीमे सुलग-सुलग कर जल रही है। इससे तो अच्छा है कि प्रिय दर्शन दे दें और मैं इस विरह से मुक्त हो सकूं अथवा मैं जलकर सर्वथा क्षार हो जाऊं। यह विरहावस्था असह्यनीय है।

कबीर तन मन यौं जल्या बिरह अगनि सूं लागि।
मृतक पीड़ न जांणई, जांणैंगी यहु आगि ॥३८॥

कबीर कहते हैं विरह-अग्नि से मेरा शरीर और हृदय इस प्रकार भस्म हो गये कि वे चैतन्य रहित हैं। जिस प्रकार मृतक पीड़ा से सर्वथा असम्पृक्त रहता है उसी प्रकार विरहिणी भी। यदि कुछ वेदना की जलन का अनुभव और ज्ञान होगा तो इस विरहाग्नि को ही होगा।

बिरह जलाई मैं जलौं जलती जल हरि जाऊं।
मो देख्यां जल हरि जलै संतौ कहां बुझाऊं ॥३९॥

मैं विरहाग्नि में जली जा रही हूं। इस असह्य अवस्था के शमन के लिए यदि मैं गुरु रूपी तालाब के पास जाती हूं तो मुझको उस प्रेमाग्नि में जलता देखकर गुरु भी और अधिक उस आग से जलने लगे। हे संतजन मैं इस विचित्र स्थिति का क्या वर्णन करूं। भाव यह है कि शिष्य का यह अपार प्रेम देखकर गुरु में भी प्रेम उद्दीप्त हो उठता है।

परबति परबति मैं फिर्‍या नैन गँवाये रोइ।
सो बूटी पांऊं नहीं जातैं जीवनि होइ ॥४०॥

मैंने पर्वत-पर्वत छान डाला और नेत्र प्रिय वियोग में रोते रोते नष्ट कर बैठा किन्तु मैं कहीं भी वह संजीवनी बूटी अर्थात् ब्रह्म-स्वामी नहीं प्राप्त कर सका जिससे जीवन सफल हो सके।

विशेष—कबीर के ध्यान में इस समय लक्ष्मण-शक्ति प्रसंग अवश्य घूम रहा होगा।

फाड़ि पुटोला धज करौं कामलड़ी पहिराउं।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै सोइ सोई भेष कराउं ॥४१॥

पुटोला—रेशमी वस्त्र। धज—टूक-टूक धज्जियां। कामलड़ी—कम्बल।

यदि प्रिय को मेरा यह सौन्दर्यपूर्ण वेश रुचिकर नहीं तो अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़कर धज्जियां कर साधुओं के समान कम्बल धारण कर लूं। जिस-जिस वेश (आवरण) के द्वारा प्रभु-मिलन की सम्भावना है मैं वही वेश धारण कर सकती हूं।

नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोईं तुम्झ।
न तू मिले नाँ मैं खुसी ऐसी बेदन मुम्झ ॥४२॥

लोईं=प्रतीक्षा में देखना। खुसी=प्रसन्न।

मेरे नेत्र क्षण-क्षण में तेरी प्रतीक्षा में बाट जोहते-जोहते नष्ट हो गए। मुझे ऐसी वेदना है कि तेरे मिलन बिना आनन्द नहीं।

भेला पाया सर्प सौं भौसागर के मांहि।
जे छांडौं तौ बूबिहौं गहौं त डसिये बांह ॥४३॥

भेला=बेड़ा।

इस भवसागर के मध्य डूबते हुए का तरने के लिए बड़े परिश्रम से प्रेम का बेड़ा मिला है किन्तु इस पर विरह रूपी सर्प बैठा हुआ है। जो इस छोड़ता हूं तो डूबने का भय है और यदि इसका आश्रय लेता हूं तो आशंका है कि यह विरह भुजंगम मुझे डस न ले। भाव यह है कि संसार से मुक्त होने के लिए प्रेम एकमात्र साधन है किन्तु इसके साथ विरह अवश्य भोगना पड़ता है।

रैंणा दूर बिछोहिया रहु रे संषम भूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी देसी ऊगे सूरि ॥४४॥

संषम=चकवाक। भूरि=बिसूर बिसूर कर। धाहड़ी=उच्च-स्वर में।

चकवाक पक्ष में—हे चकवाक! रात्रि ने तेरे प्रिय को तुमसे वियुक्त कर दिया है, अब तू विलाप कर उच्च वाणी में मन्दिर-मन्दिर अथवा घर-घर पर उसके लिए पुकार लगा रहा है किन्तु उससे मिलन सूर्य हो करायगा।

मनुष्य पक्ष में—अज्ञान रात्रि ने तुमसे प्रभु वियुक्त हो गए हैं। अब तू चकवाक की भांति मन्दिर-मन्दिर में उनके लिए पुकार लगा रहा है किन्तु उनकी प्राप्ति ज्ञान सूर्य उदय होने पर ही होगी।

विशेष—अन्योक्ति से पुष्ट समासोक्ति अलंकार।

सुखिया सब संसार है खायै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै ॥४५॥

कबीर कहते हैं कि समस्त संसार सुखी है जो भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर अज्ञान रात्रि में सोता है सुखी तो केवल एक कबीर है जो ज्ञान प्राप्ति के लिए जाग भी रहा है और प्रभु मिलन के लिए रो भी रहा है।

—×—

४ ग्यान बिरह कौ अंग

दीपक पावक आणिया तेल भी आण्या संग
तीन्यू मिलि करि जोइया (तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग ॥१॥

दीपक=जीवात्मा। पावक=ज्ञान ज्योति। तेल=स्नेह। आण्या=डालकर। जोइया=जलाया प्रदीप्त किया। [पतंग=विषय वासना के उपादान रूपी पतंगे।

जीवात्मा रूपी दीपक में ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित कर तथा उसमें स्नेह (तेल) डालकर प्रदीप्त किया। इस प्रकार जब तीनों आत्मा ज्ञान एवं स्नेह मिलकर एकत्रित हो प्रदीप्त हुए तब उसकी अग्नि शिखा में विषयवासना रूपी पतंगे गिर गिर कर नष्ट होने लगे।

मार्या है जे मरेगा बिन सर थोथी भालि।
पड़या पुकारै ब्रिछ तरि, मरै के कालि ॥२॥

बिन सर=बिना फलक के। थोथी=खाली। ब्रिछ=वृक्ष संसार वृक्ष।

जो मारा गया है वह तो बिना फलक के खाली भाले से ही मर सकता है। भाव यह है कि मरने के लिए हिंसापूर्ण शस्त्रों की आवश्यकता नहीं अपितु जीवन्मुक्त होने के लिए प्रेम का बाण ही पर्याप्त है। उस बाण के लगते ही वह बेचनाकुल होकर संसार—वृक्ष के नीचे पड़ा कराह रहा है, पीड़ा का अनुभव कर इस प्रतीक्षा में है कि वह आज जीवन्मुक्त होगा या कल। अथवा यह संसार वृक्ष के नीचे पड़ा बेचनाग्रस्त है आज या कल में ही अर्थात् शीघ्र ही उसे प्रिय प्राप्ति हो जावेगी।

हिरदा भीतरि दौं बलै धूवां न प्रगट होइ।
जाकै लागी सो लखै कै जिहि लाई सोइ ॥३॥

हिरदा=हृदय। दौं=अग्नि। बलै=जले। लाई=लगाकर।

हृदय के भीतर प्रेम की दावाग्नि धधक रही है उसका धुआं प्रकट नहीं होता वह तो भीतर ही भीतर जलती रहती है। इस अग्नि का अनुभव तो वो ही कर सकते हैं या तो वह जिसके हृदय में यह अग्नि धधकती है और या फिर उसको जो इस अग्नि को जलाने वाला है। शेष संसार इस अग्नि का धुंआं अर्थात् कुछ भी चिह्न नहीं देख पाता।

झल ऊठी झोली जली खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया आसणि रही बिभूति ॥४॥

मम=अग्नि। झोली=शरीर। मनरा=झोपड़ी। विभूति=राख।

योगाग्नि के प्रज्वलित होने पर शरीर की झोली तो जलकर भस्म हो गई और झोपड़ी रूपी खप्पर टूट-फूट गया। योगी की आत्मा तो परम तत्व से मिल गई, उसके समाधि स्थान पर तो केवल शरीर की राख ही अवशिष्ट रह पाई। भाव यह है कि आत्मा के महामिलन में योगी को वैसाखि आदि उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती।

अगनि जु लागी नीर में कंदू जलिया झारि।
उत्तर दषिण के पंडिता रहे बिचारि बिचारि ॥५॥

कंदू=पंक पाप।

माया रूपी नीर में ज्ञानाग्नि लग जाने से विषय-वासना का पंक जल कर समाप्त हो गया। इस अद्भुत दृश्य को देख (कि पानी में आग कैसे लग गई) उत्तर से लेकर दक्षिण तक के ज्ञानी विचार-विचार कर रह गए किन्तु यह रहस्य उनकी समझ में न आया।

दौं लागी साइर जल्या पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै सतगुर गया लगाय ॥६॥

ज्ञानाग्नि के लगने से वासना का सागर भस्म हो गया और नवीन सृष्टि में (ज्ञानयुक्त होने पर) वैराग्य विवेक करुणा आदि गुणों के पक्षी आकर चहचहाने लगे। इस दग्ध वासना शरीर को मैं पुनः पल्लवित नहीं होने दूंगा क्योंकि सतगुरु ने ज्ञान-अग्नि लगा दी है।

गुर दाधा चेला जल्या बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुड़ा ऊबर्या गलि पूरे के लागि ॥७॥

दाधा=दग्ध किया। बपुड़ा=बेचारा। गलि=(गले) साथ। पूरे=पूर्ण ब्रह्म।

गुरु ने प्रज्वलित को प्रज्वलित किया उसमें चेला जल गया अर्थात् प्रज्वलित में भस्म हो गया। किन्तु इसकी विरहानुभूति से वह तभी मुक्त हुआ जब तृण तुल्य नगण्य अस्तित्वहीन आत्मा पूर्ण ब्रह्म में लीन हो गई। भाव यह है कि प्रभु मिलन से ही मुक्ति हो सकती है।

अहेड़ी दौं लाइया मृग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी दाझत है बन सोइ ॥ ॥

अहेड़ी=आखेटक—गुरु। लाइया=लगा दी। मृग=जीव—जनरव। क्रीला=क्रीड़ा। दाझत=जलता है। बन=विषय-वासना से पूर्ण माया का संसार।

सद्गुरु रूपी आखेटक ने माया के विषय-वासनामुक्त वन में ज्ञान की अग्नि लगा दी। जीव रूपी मृग यह पुकार कर रो उठे कि जिस वन में हमने क्रीड़ायें कर सुख भोग प्राप्त किया वही जल रहा है।

विशेष—मृगों को पकड़ने या मारने के लिए आखेटक सम्पूर्ण वन में आग लगा देते हैं। वन में आग लगती देख मृग सम्मुख आ जाते हैं और आखेटक उन्हें अपने बाणों का लक्ष्य बना लेता है। यही रूपक कबीर ने यहाँ प्रयुक्त किया है।

पाणी माँहैं प्रजली भई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रह गई मछ रहे जल त्यागि ॥१॥

पानी=विषय वासना या माया। अप्रबल=अत्यन्त तीव्र। मंछ=मत्स्य जीव। जल=संसार।

विषयवासना रूपी जल में ज्ञान की आग लगकर तीव्र वेग से फैल गई। ज्ञान ने सम्पूर्ण माया बंधन को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। माया की सरिता का प्रवाह रुक जाने से जीवों ने जल—संसार—का परित्याग कर दिया अर्थात् वे जीवनमुक्त हो गये।

समदर लागी आगि नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि मछी रूषाँ चढ़ि गई ॥१ ॥१२२॥

समंदर=संसार सागर। नदियाँ=विषय वासनाएँ। कोयला=शुष्कता से तात्पर्य है। मछी=मछली मनुष्य। रूषाँ=वृक्ष।

संसार समुद्र में ज्ञान की अग्नि लग गई जिससे विषय-वासना और सांसारिक आकर्षणों की सरितायें जल कर कोयले के समान शुष्क हो गई। किन्तु कितनी ही मछलियाँ रूपी आत्मायें इस विनाश चक्र में न पड़ीं। वे तो अपनी साधना द्वारा ब्रह्म-लीन हो गईं (रूषाँ चढ़ि गईं) अतः हे कबीर! तू इस स्थिति को देखकर जाग और साधना द्वारा तू भी ब्रह्म को प्राप्त कर।

—×—

५ परचा कौ अंग

परचा परिचय का अपभ्रंश है। जिस परिचय का कबीर यहाँ वर्णन करते हैं वह आत्मा और परमात्मा अपूर्ण और पूर्ण अंश एवं अंशी मनुष्य और उसके आराध्य का परिचय महामिलन है। वाणी के माध्यम से इस महामिलन सुख की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती क्योंकि वह आनन्द तो 'गूँगा केरी सर्करा' के समान है। किन्तु फिर भी व्यक्ति की सीमा का यह आनन्द

अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल रहता है—चाहे वह अस्पष्ट ही सही। कबीर ने भी प्रतीकों आदि के माध्यम से इसी परिचय—महामिलन—का वर्णन यहाँ किया है।

> कबीर तेज अनंत का मानो ऊगी सूरज सेणि।
> पति संगि जागी सुंदरी कौतिग दीठा तेणि ॥१॥

अनन्त=परमात्मा। सेणि=श्रेणी अथवा सेना। पति=स्वामी ब्रह्म। जागी=ज्ञान प्राप्त। सुन्दरी=पत्नी अर्थात् आत्मा। दीठा=दृष्टिगत हुआ।

कबीर कहते हैं कि उस परमात्मा के सौन्दर्य का तेज ऐसा भासमान है कि मानो अनेक सूर्यों की श्रेणी अथवा सेना उदित हुई हो। पति अर्थात् स्वामी (क्योंकि आत्मा 'राम की बहुरिया' है) ब्रह्म के साथ (अज्ञानरात्रि से) जाग कर उसने यह सौन्दर्यमय आश्चर्यपूर्ण दृश्य देखा।

विशेष—अज्ञानरात्रि में केवल आत्मा ही जागती और तब प्रिय—परमात्मा—का संयोग पा वह आनन्दमय दृश्यावलोकन करती है।

> कौतिग दीठा देह बिन रवि ससि बिना उजास।
> साहिब सेवा माँहि है बेपरवाही दास ॥२॥

जिस स्वामी—ब्रह्म—का सौन्दर्य देखा गया वह अशरीरी था निराकार के सौन्दर्य का ही वह दर्शन था। यह उसी के समान था जैसे कोई सूर्य और चन्द्र न देखकर केवल मात्र उनके प्रकाश का दर्शन करे। (सत्य तो यह है कि) प्रभु जन-सेवा से ही प्राप्य है उसमें भक्त भी निश्चिन्त हो जाता है।

विशेष—(१) 'साहिब सेवा माँहि'—से तात्पर्य जन-सेवा इसलिये है कि जन-सेवा ही जनता-नारायण सेवा है मनुष्य उसी का तो अंश है। अंश की सेवा अंशी की भी सेवा है। कबीर का यह दृष्टिकोण अत्यन्त सामाजिक और लोक मंगल की भावना से ओत-प्रोत है।

( ) विभावना अलंकार।

> पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
> कहिबे कूँ सोभा नहीं देख्या ही परवान ॥३॥

उस प्रभु के तेजपूर्ण सौन्दर्य का वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस अनुपम रूप की शोभा ही नहीं। उस सौन्दर्य का अनुमान भी नहीं लगा सकता वह तो एकमात्र दर्शन का ही विषय है।

> अगम अगोचर गमि नहीं तहाँ जगमगै जोति।
> जहाँ कबीरा बन्दिगी (तहाँ) पाप पुन्य नहीं छोति ॥४॥

वह परम तत्व अगम्य और अगोचर है (साधारण व्यक्तियों के लिए, साधना से तो उसकी प्राप्ति हो ही जाती है)। इसलिए जहाँ उस परमात्मा की ज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती है वह स्थान भी अगम्य और अगोचर है। कबीर जिस ब्रह्म के सम्मुख शिरसा प्रणावनत है, वह पाप-पुण्य और शुभाशुभ सबकी परिधि से परे है अर्थात् सब उसका भजन कर सकते हैं।

हदे छाड़ि बेहदि गया हुवा निरंतर बास।
कवल ज फूल्या फूल बिन को निरषै निज दास ॥४॥

जब मैं इस संसार से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर निस्सीम की साधना में प्रवृत्त हुआ तो मैं उसकी सीमा में ही निरन्तर रहने लगा अर्थात् आत्मा और परमात्मा का मिलन हो गया। वहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि एक कमल बिना मृणाल के भी वहाँ प्रफुल्ल विकास पा रहा है (संसार माया से असम्पृक्त ईश्वर का सौन्दर्य मृणाल के कमल का विकास है जीवात्मा के सन्दर्भ में भी यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इस संसार में माया-जनित आकर्षणों में ही वह आमोद पाता था किन्तु निस्सीम की सीमा में पहुँचकर बिना इस माया से जुड़े भी वह आनन्द पा रहा है)। इसको प्रभु भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं देख सकता।

विशेष— 'फूल्या फूल बिन' में फूल से तात्पर्य उस कमल मृणाल से ही है, जिसके द्वारा वह अपना जीवन रस ग्रहण करता है। यदि 'फूल' का अर्थ 'फूल' ही लगाया जाय तो कमल के खिलने की बात की कोई तुक नहीं बैठती।

कबीर मन मधुकर भया रह्या निरंतर बास।
कवल ज फूल्या जलह बिन को देखै निज दास ॥५॥

कबीर कहते हैं कि मैंने ऐसा कमल (परमात्मा) देखा है जो बिना जल (माया) के भी विकसित हो रहा है (आनन्द उठा रहा है)। ऐसा अनुपम देखने वाला है अन्य कोई नहीं। मेरा मन उस कमल का प्रेमी भ्रमर हो गया एवं उसके सम्पुट में ही निरन्तर निवास करने लगा अर्थात् उसी में लीन हो गया।

अंतरि कवल प्रकासिया ब्रह्म वास तहाँ होइ।
मन भवरा तहाँ लुबधिया जाणैगा जन कोइ ॥६॥

मेरे हृदय के भीतर कमल खिल रहा है अथवा मेरे शरीर के भीतर कमल विकसित हो रहा है। जिसमें ब्रह्म का निवास है। मेरा मन रूपी भ्रमर उस कमल रस के पान करने के लिए लालायित हो गया है, इस रहस्य को

विरले भक्त ही जान सकते हैं (इसका साक्षात्कार कुछ विरलों को ही होता है)।

विशेष—योग-पन्थ में शीश में सहस्रदल कमल की स्थिति मानी गई है, उनकी मान्यता है कि यहीं ब्रह्म का निवास है जहाँ से निरन्तर अमृत स्रवित होता है। किन्तु कभी इस कमल की स्थिति हृदय में भी मानकर सन्तों ने वर्णन किया है। 'अन्तर' का अर्थ हृदय लिया जाय अथवा 'शरीर के भीतर' प्रत्येक दशा में कबीर का तात्पर्य है सहस्रदल कमल से ही।

सायर नाहीं सीप बिन स्वाति बूंद भी नाँहि।
कबीर मोती नीपजै सुन्नि सिषर गढ़ माँहि ॥८॥

कबीर कहते हैं जहाँ सागर सीप एवं स्वाति नक्षत्र की बूंद—मोती की उत्पत्ति का एक भी उपादान नहीं है ऐसे शून्य शिखर (सहस्रदल कमल के पास ही या उसके भीतर शून्य की स्थिति) पर प्रभु दर्शनानन्द के मोती उत्पन्न होते हैं।

घट माँहैं औघट लह्या औघट माँहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया गुरू दिखाई बाट ॥९॥

घट=हृदय। औघट=अत्यन्त विचित्र। औघ=अविहित निषिद्ध पन्थ। घाट=किनारा तट। परचा=मिलन। बाट=मार्ग।

कबीरदास कहते हैं कि सद्गुरु ने जो मार्ग दिखाया उसी के द्वारा अपने हृदय में उस ब्रह्म के दर्शन हो गये गुरु द्वारा प्रदत्त यह पन्थ मोक्ष-पन्थ ही है। इसी के द्वारा जिसे (मूर्ख लोगों द्वारा) कुमार्ग (दुर्गम साधना) कहा जाता है मैंने अपना लक्ष्य (घाट) प्राप्त कर लिया।

सूर समाँणाँ चंद मैं दहूं किया घर एक।
मनका च्यंता तब भया कछू पूरबला लेख ॥१०॥

सूर=पिंगला नाड़ी। चन्द=इड़ा नाड़ी। घर एक=सुषुम्णा। च्यंता=इच्छित। पूरबला लेख=पूर्व जन्म के सत्कर्म।

साधक कबीर कहते हैं कि पिंगला नाड़ी इड़ा में समा गई और दोनों ने सुषुम्णा नाड़ी को ही अपना घर-मार्ग-बना लिया। इन दोनों के एकत्रित होकर सुषुम्णा मार्ग से ही कुण्डलिनी ऊपर ब्रह्माण्ड—सहस्रदल की ओर उन्मुख हुई और सहस्रदल तक पहुँच कर अमृत का पान करने लगी। यह मेरा मन चाहा हुआ जो किसी पूर्वजन्म के सुकृत्य का ही फल है।

विशेष—योग पन्थ की मान्यतानुसार मेरुदण्ड के बायीं ओर इड़ा दाहिनी ओर पिंगला और मध्य में सुषुम्णा नाड़ी होती है। सुषुम्णा नाड़ी के मध्य में

श्वास प्रश्वास के मध्य में त्रिवेणी और त्रिवेणी के मध्य में ब्रह्म नाड़ी होती है। इसी ब्रह्मनाड़ी से होकर कुण्डलिनी सहस्र दल कमल तक पहुँचती है किन्तु यह तभी सम्भव है जब इड़ा और पिंगला एक होकर सुषुम्ना में प्रवेश करे। यह कबीर का मत है।

> हद छाड़ि बेहद गया किया सुन्नि असनान।
> मुनि जन महल न पावई तहाँ किया बिश्राम ॥११॥

हद—सीमा माया जनित भ्रमयुक्त संसार। बेहद=सीमाहीन। सुन्नि असनान=सहस्र दल कमल में अमृत प्राप्ति। महल—अन्तःपुर शून्य या ब्रह्मरन्ध्र।

कबीर कहते हैं कि जब मैं इस मायाजनित भ्रममय ससीम संसार का परित्याग कर निस्सीम ब्रह्म की भावना में प्रवृत्त हुआ तो मैं शून्य प्रदेश में झरते अमृत से नहा गया अर्थात् उस ब्रह्म रस से सराबोर हो गया। बड़े मुनिजन जिस शून्य प्रदेश के निवास के लिए तरसते हैं, उसका मार्ग नहीं पा सकते वहाँ मेरा स्थायी वास हो गया है।

> देखौ कर्म कबीर का कछु पूरब जनम का लेख।
> जाका महल न मुनि लहैं सो दोसत किया अलेख ॥१२॥

दोसत—दोस्त मित्र परिचित।

हे सांसारिक मनुष्यो! कबीर के सुकर्मों एवं पूर्वजन्म के संचित पुण्यों का फल तो देखो कि जिस शून्य महल का मार्ग मुनिजन भी नहीं पाते वहाँ पहुँच कर कबीर ने निराकार (ब्रह्म) से मित्रता स्थापित कर ली है उसी में लय हो गया है (क्योंकि मित्रता का लक्षण है 'दो प्राण एक तन')।

> पिंजर प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनंत।
> संसा छूटा सुख भया मिल्या पियारा कन्त ॥१३॥

पिंजर—पिंजड़ा अथवा पिंजड़ा अर्थात् शरीर जो पाँच तत्वों का पिंजड़ा है। छूटा—समाप्त हुआ।

हृदय में प्रेम के प्रकाशित होने पर आत्मा और परमात्मा का जो शाश्वत सनातन सम्बन्ध है प्रिय और प्रेमी का वह जाग उठा। इस प्रेम भावना के जगने से अज्ञानवश जो भ्रम थे व नष्ट हो गये एवं प्रिय—ब्रह्म—मिलन का अमित सुख प्राप्त हुआ।

> प्यंजर प्रेम प्रकासिया अंतरि भया उजास।
> मुख कसतूरी महमहीं बाणी फूटी बास ॥१४॥

उजास—प्रकाश।

इस शरीर में प्रभु प्रेम के उदित होने पर हृदय उस प्रेम-ज्योति से द्योतित हो उठा एवं साधक का मुख प्रेम की सुगन्ध से परिपूर्ण हो गया जिससे उससे निःसृत वाणी भी प्रभु प्रेम की सुगन्ध से सुगन्धित थी।

मन लागा उन मन्न सौं गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूँणां चांदिणां तहाँ अलख निरंजन राइ ॥१५॥

उन मन्न=उन्मना योग की एक अवस्था जिसमें साधक संसार से विरक्त होकर अन्तर्मुखी वृत्ति वाला हो जाता है। गगन=ब्रह्मांड शून्य। अलख निरंजन=निराकार ब्रह्म।

मायाजनित आकर्षणों से विरक्त मन उन्मनी अवस्था में प्रवृत्त होकर शून्य में जा पहुँचा एवं वहाँ निराकार ब्रह्म के दर्शन किये। उस निराकार का सौन्दर्य अद्भुत कान्ति विकीर्ण कर रहा था। वह ऐसा ही था जैसे चन्द्रमा के बिना मानों चन्द्र-ज्योत्स्ना छिटक रही हो। भाव यह है कि अगोचरी का भी अनुपमेय सौन्दर्य था।

मन लागा उन मन सौं उन मन मनहि बिलग।
लूण बिलगा पाणियां पाणीं लूण बिलग ॥१६॥

साधक कहता है कि मेरा चित्त सांसारिक विषयों से असम्पृक्त होकर उन्मनावस्था में प्रवृत्त हो गया है एवं मेरे मन की उन्मनावस्था पहले से सर्वथा भिन्न है। पहले तो मन माया के आकर्षणों में अनुरक्त था अब वह उनसे सर्वथा उदासीन हो ब्रह्म प्राप्ति में प्रवृत्त हो गया एवं ब्रह्म से वह इस प्रकार एकाकार हो गया जिस प्रकार नमक में पानी या पानी में नमक लय हो जाते हैं।

पाणीं ही तैं हिम भया हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया अब कछू कह्या न जाइ ॥१७॥

पाणि=पानी परम तत्व ब्रह्म। हिम=बर्फ, तत्त्व से निर्मित पदार्थ या वस्तु अर्थात् जीव।

कबीरदास जी आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत स्थापित करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पानी से ही बर्फ बनती है एवं गल कर वह पुनः पानी के रूप में परिवर्तित हो जाती है इसी प्रकार जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है जो मृत्यु को प्राप्त होने पर पुनः उसी परमात्मा में लय हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म या आत्मा अपना असली स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

विशेष—कबीर की अद्वैती विचार धारा के दर्शन होते हैं।

निम्नस्थ पद में भी कबीर ने यही भावना व्यक्त की है

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना इहि तथ कथ्यौ ग्यानी ॥

मसी भई जु भै पड़या गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पांणी भया ढुलि मिलिया उस कूलि ॥१८॥

मसी भई=मच्छा हुमा। भै=भय। ढुलि=ढुलक कर।

यह बड़ा मच्छा हुमा कि सद्गुरु की कृपा से मृत्यु भय से मवकाश करा मुझे सांसारिक—माया जनित—आकर्षणों से सर्वथा विमुख कर दिया (और मैं साधना मार्ग पर अग्रसर हुमा) जिससे हिम गलकर पानी के यथार्थ रूप में या निस्सीम ब्रह्म की सीमा में आ कर मिल गया अर्थात् आत्मा ब्रह्म में लय हो गई।

चौहट च्यंतामणि चढ़ी हाडी मारत हाथि।
मीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि ॥१९॥

चौहट=चौराहे तात्पर्य संसार के बाजार से है। हाडी=माया दलाल। मीरा=धार्मिक आचार्य यहाँ गुरु से तात्पर्य है।

संसार रूपी बाजार के चौराहे पर जीवात्मा रूपी चिन्तामणि विक्रय के लिए रखी गई (विक्रय और क्रय कर्मों का है) माया रूपी दलाल ने उसी उस पर हाथ रखना प्रारम्भ कर दिया अर्थात् मायाजनित आकर्षणों में उलझाना प्रारम्भ कर दिया। हे गुरुवर! अब आप मुझ पर कृपा कर इस माया अब से निकालिए, अब मैं फिर कभी इन प्रपंचों में न पड़ूंगा।

पंषि उडांनीं गगन कूं प्यंड रह्या परदेस।
पांणी पीया चंच बिन भूलि गया यहु देस ॥२०॥

पंषि=पक्षी आत्मा। प्यंड=पिण्ड शरीर। परदेस=संसार, क्योंकि आत्मा तो उस अलौकिक लोक का वासी है। पांणि=सहस्रदल कमल से निस्सृत अमृत। चंच=चोंच।

पक्षी रूपिणी आत्मा शून्य प्रदेश रूपी गगन को उड़ गई एवं साधक का शरीर इसी लोक में रह गया। शून्य प्रदेश में पहुँच कर उस पक्षी ने बिना चोंच (साधन इन्द्रिया) के सहस्रदल कमल से स्रवित अमृत का पान किया। इस अमृतपान के आनन्द के सम्मुख तुच्छ सांसारिक आनन्द विस्मृत हो गये।

पंषि उडांनीं गगन कूं उड़ी चढ़ी असमान।
जिहिं सर मंडल भेदिया सो सर लागा कान ॥२१॥

पंषि=कुण्डलिनी (मूलाधार चक्र के नीचे जहाँ मेरुदण्ड का अन्तिम भाग है वहीं एक त्रिकोणाकृति अग्निचक्र है। इसी अग्निचक्र में स्वयम्भु लिंग से साढ़े तीन हाथ की लम्बाई की लिपटी हुई एक सर्पाकार शक्ति रहती है

उसी को कुण्डलिनी कहते हैं। साधक प्राणायाम द्वारा उसे जागृत करता है। कुण्डलिनी जागृत होने पर सुषुम्णा के भीतर स्थित ब्रह्म नाड़ी द्वारा षट्चक्रों में होते हुए सहस्रार में प्रवेश करती है इस ही पंक्ति का 'गगन-उड़न' कहा गया है। कुण्डलिनी का सहस्रार में प्रवेश ही योग की चरमावस्था है।) गगन-शून्य। ब्रह्माण्ड=ब्रह्माण्ड सहस्रदल कमल के मध्य या उससे ऊपर माना गया है। मण्डल=पवन अर्थात् शून्य एवं मूलाधार चक्र के बीच का स्थान जिसमें षट्चक्रों की स्थिति है।

कुण्डलिनी रूपिणी पक्षी (ब्रह्म नाड़ी में प्रविष्ट हो) शून्य में पहुंच गई। एवं उससे भी आगे बढ़कर वह ब्रह्माण्ड में (जहाँ प्रभु का निवास है) जा पहुँची। जिस उपदेश से प्रभावित हो षट्चक्रों का भेदन किया जाता है वह उपदेश सद्गुरु ने मुझे प्रदान किया है।

विशेष—षट्चक्रों का भेदन ही मण्डल भेदन है षट्चक्र ये हैं—

१ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान ३ मणिपूरक ४ अनाहत ५ विशुद्ध ६ आज्ञाचक्र।

सुरति समांणी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्यंभ दुवार ॥२२॥

२२ सुरत=प्रभु-प्रेम रहा। निरति=संसार से वैराग्य अर्थात् प्रभु का ध्यान लिया। स्यंभद्वार=शम्भु का द्वार शिव का स्थान ब्रह्मरन्ध्र।

साधारण अर्थ—साधक की समाधि में प्रभु के प्रेम का वास हो जाने पर अर्थात् समाधिस्थ अवस्था म प्रभु का ही ध्यान करने से प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। जब प्रभुभक्ति का साधना से सम्बन्ध हो जाता है तो शंभु (प्रभु) के दर्शन हो जाते हैं।

साधनात्मक अर्थ—जब इड़ा पिंगला से मिल जाती है और पिंगला मूलाधार से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखती अर्थात् मूलाधार चक्र का भेदन कर देती है तब ही प्रभु प्राप्ति सम्भव है क्योंकि कुण्डलिनी के लिए ब्रह्म नाड़ी का मार्ग खुल जायगा और वह ब्रह्मरन्ध्र मे पहुंच जायगी जहां शिव—परमात्मा—का वास है। इड़ा पिंगला के इस मिलन म ही ब्रह्म प्राप्ति हो गई।

सुरति समांणी निरति में अजपा मांहै जाप।
लेख समांणां अलख मैं यूं आपा मांहै आप ॥२३॥

२३ अजपा=मौन ध्यान। जाप=प्रभु नाम स्मरण। लेख=साकार ब्रह्म। अलख=निराकार ब्रह्म। आपा=प्रभु ब्रह्म परमात्मा। आप=जीवात्मा से तात्पर्य।

इडा पिंगला मे मिल गई जिससे नामस्मरण की ध्वनि प्राप्त हो मौन ध्यान में परिणत हो गई। इस स्थिति में आकर साकार निराकार में समा गया अर्थात् केवल निराकार ब्रह्म का ही ध्यान रहा। इस प्रकार परमात्मा से आत्मा का मिलन हो गया।

आया था संसार मैं देषण कौं बहु रूप।
कहै कबीरा संत हौ पड़ि गया नजरि अनूप ॥२४॥

इस नानारूपात्मक जगत म विविध सासारिक रूपाकारों को देखने के लिए ही मेरा अवतरण हुआ था किन्तु कबीरदास जी कहते हैं कि मुझे इस ससार में आकर ब्रह्म के दर्शन हो गये।

अंक भरे भरि भेटिया मन मैं नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यू मिलैं जब लग दोइ सरीर ॥२५॥

मैं प्रिय से प्र मविभोर हो कस-कस कर आलिंगनबद्ध हुआ फिर भी मन मे धैर्य नही। वह एक प्राण दो तन चाहता मन तो परमात्मा मे एकाकार होना चाहता है किन्तु कबीरदास जी कहते हैं कि जब तक दो शरीर हैं तब तक एकाकार कैसे हो सकते हैं? यह द्वैत ही आत्मा और परमात्मा के मिलन में बाधक है।

सचु पाया सुख ऊपनां अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये जब साईं मिल्या हजूरि ॥२६॥

सचु पाया = शान्ति प्राप्त हुई। सुख ऊपना = सुख उत्पन्न हुआ। दिल = हृदय। दरिया पूरि = प्र म स आपूर्ण उसी प्रकार जैसे नदी जल से।

कबीरदास कहते हैं कि भगवान प्रभु के मिलते ही हृदय को शान्ति प्राप्त हुई एवं सुख उत्पन्न हुआ एवं हृदय उसी प्रकार प्र म से परिपूर्ण हो गया जिस प्रकार नदी जल से। नदी का जल अपने साथ नाले आदि के गन्दे जल को भी बहाकर स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार इस प्रेम जल में या प्रेम सरिता में मेरे समस्त पाप बह गये।

धरती गगन पवन नहीं होता नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते कहै कबीर बिचारा ॥२७॥

तोया = जल। तारा = अग्नि पु ज से तात्पर्य।

कबीरदास कहते हैं कि इस ससार म सब नश्वर है अनश्वर तो केवल प्रभु और प्रभु भक्त हैं। यदि पृथ्वी आकाश वायु जल अग्नि आदि पचभूतों से निर्मित यह सृष्टि विनष्ट हो जाय तो भी प्रभु और प्रभु-भक्तों की स्थिति रहेगी उनकी महिमा अमर है।

हृदयस्थ मन प्रभु का वास हो गया है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसकी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। जलती हुई तृष्णा भी ज्वाला प्रभु-भक्ति के जल में परिवर्तित हो गई और प्रचंड वासना-अग्नि समाप्त हो गई।

तत पाया तन बीसर्या जब मन धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया जब सुनि किया असनान ॥१२॥

जब मन प्रभु भक्ति में संलग्न हुआ तभी साधक को ब्रह्म की प्राप्ति हुई एवं उसे शरीर की सुधि जाती रही—भक्तिया अक्षतम् की हो गई। साधना के द्वारा शून्य से भवित अमृत में स्नान करने से समस्त ताप नष्ट हो अमित शान्ति प्राप्त हुई।

जिनि पाया तिनि सू गहु गह्या रसनां लागी स्वादि।
रतन निरासा पाईया जगत ढढौल्या बादि ॥१३॥

कबीरदास की ढोंगी साधुओं को व्यर्थ ही 'प्रसव लव' की पुकार लगाते हैं जो लक्ष्य कर कहते हैं कि जो उस ब्रह्म की प्राप्ति कर लेते हैं, वे फिर उसे छोड़ते नहीं उस प्रेममय प्रभु से वे एकाकार हो जाते हैं। उस अलौकिक मिलन का स्वाद ही ऐसा मधुर है कि जिह्वा उस रस को छोड़ना नहीं चाहती। यह जगत् व्यर्थ ही उसकी प्राप्ति के आनन्द का वर्णन करता है उस अनुपम रत्न को तो प्राप्त करके ही जाना जा सकता है। भाव यह है कि ब्रह्म प्राप्ति का आनन्द वाणी का विषय नहीं उसको तो पाकर ही जाना जा सकता है।

कबीर दिल स्याबति भया पाया फल संम्रथ्थ।
सायर मांहि ढढोलतां हीरै पड़ि गया हथ्थ ॥१४॥

कबीरदास कहते हैं कि उस अनुपम फल-ब्रह्म को पाकर हृदय आनंद से परिपूर्ण हो गया। वह अद्भुत रत्न इस भवसागर के मध्य ही अन्य वस्तुओं की खोज में भटकते हुए हाथ पड़ गया।

विशेष—कबीर मानते हैं कि ब्रह्म की प्राप्ति इसी जगत् के बीच सम्भव है।

जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया जब दीपक देख्या मांहि ॥१५॥

कबीर कहते हैं कि जब मुझमें अहं का दर्प था तब प्रभु का निवास मुझमें नहीं था किन्तु अब अहं के नष्ट हो जाने पर वहां प्रभु ही प्रभु है मैं नहीं। जब मैंने ज्ञान दीपक लेकर अपने अन्तःकरण को देखा तो मेरे हृदय का समस्त अन्धकार दूर हो गया।

विशेष—तुलना कीजिए—

"आप यहां होते हैं गोया जब दूसरा नहीं होता।

जा कारणि में ढूंढता सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला लागि न सकौं पाइ ॥१६॥

जिस ब्रह्म की खोज में मैं सर्वत्र भटक रहा था वह सम्मुख आ गया किन्तु मैं उससे तदाकार न हो सका। पाप से मलिन जीवात्मा रूपी पत्नी प्रिय-ब्रह्म के उज्ज्वल स्वरूप से कैसे आत्म-साक्षात्कार करती ? इसी संकोच के कारण वह (आत्मा) पति (ब्रह्म) के चरण भी न छू सकी।

जा कारणि मैं जाइ था सोई पाई ठौर।
सोई फिरि आपण भया जासू कहता और ॥१७॥

जिस ब्रह्म की खोज में मैं अन्यत्र जा रहा था। उसे अपने ही स्थान पर पा गया अर्थात् हृदय में ही पा गया। फिर वही परमात्मा जिसे मैं अपने से भिन्न कोई और स्वरूप समझ हुए था वही मुझे अपना लगने लगा क्योंकि आत्मा और परमात्मा दोनों एकाकार हो गये।

कबीर देख्या एक अंग महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणीं नैनूं रहा समाइ ॥१८॥

कबीर कहते हैं कि मैंने उस ब्रह्म को दत्तचित्त होकर देखा है उस की ऐश्वर्य-महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अमित प्रकाशवान् एवं पारस के समान है जो अन्य को भी अपने प्रभाव से कंचन बना देता है। ऐसा अद्भुत ब्रह्म मेरे नेत्रों में समाया हुआ है।

मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुग अब उड़ि अनत न जाहिं ॥१९॥

हृदय का मानसरोवर भक्ति जल से आपूर्ण है जिसमें हंस—आत्माएं अर्थात् भक्तजन अथवा साधु क्रीड़ाएं कर मुक्ति रूपी मुक्ता चुगती हैं। इनमें उन्हें वहां आनन्द आ रहा है इसीलिए वे उड़कर विमुख होकर अन्य साधनाओं को नहीं जाना चाहतीं (क्योंकि वे हंस मोती चुग कर भूल गए जांय)।

गगन गरजि अमृत चवै कदली कवल प्रकास।
तहां कबीरा बंदिगी कै कोई निज दास ॥२० ॥

शून्य की भावना में अनहदनाद-रूपी बादल गरज कर अमृत की वर्षा करते हैं एवं मेरुदण्ड की कदली के ऊपर (सहस्रदल) कमल विकसित हो रहा है। ऐसे स्थान पर या तो कबीर ही पहुंचा है या कोई अन्य अनन्य भक्त। भाव यह है कि साधना बड़ी दुर्गम है जिसे पार कर विरले ही ब्रह्म से साक्षात्कार कर पाते हैं।

विशेष—गगन गरजि से तात्पर्य अनहदनाद से है कुण्डलिनी जब ब्रह्म दल कमल में जाकर टकराती है तो एक घट-ध्वनि के समान नाद होता है, जो 'अनहदनाद' कहलाता है। इसे ही 'गगन गरजि' कहा गया है।

> नींव बिहूंणा देहुरा देह बिहूंणा देव।
> कबीर तहां बिलंबिया करै अलख की सेव ॥४१॥

देहुरा—देवालय मन्दिर। देह बिहूणां—शरीर रहित निराकार। अलख—ब्रह्म।

वहां बिना आधार के ब्रह्म का मन्दिर है एवं ब्रह्म भी निराकार है, ऐसे शून्य में कबीर की वृत्ति रम गई है। अब वह निरन्तर उस अलख ब्रह्म की सेवा कर रहा है।

> देवल माँहैं देहुरी तिल जेहै बिसतार।
> माँहैं पाती माँहि जल माँहैं पूजणहार ॥४२॥

शून्य के मन्दिर में जो ब्रह्मरन्ध्र रूपी देव प्रतिमा है उसका विस्तार एक तिल के बराबर है। इसकी अर्चना के लिए बाह्य उपादानों की आवश्यकता नहीं शरीर के भीतर ही अर्चना के लिए जल सुमन आदि हैं और वहीं मन रूपी पुजारी है।

> कबीर कवल प्रकासिया ऊग्या निर्मल सूर।
> निस अंधियारी मिटि गई बागे अनहद तूर ॥४३॥

कवल—सहस्रदल कमल। प्रकासिया—विकसित हुआ। ऊग्या—उदित हुआ। सूर—सूर्य—ज्ञान का। निसि अंधियारी—अंधकार पूर्ण रात्रि। बागे—बाजे। अनहद—ब्रह्मरन्ध्र से कुण्डलिनी के विस्फोट समय और बाद का आनन्ददायी शब्द जिसमें रोम रोम में ब्रह्म की सत्ता का आभास होता है।

कबीर कहते हैं कि ज्ञान के निर्मल सूर्योदय से सहस्रदल कमल विकसित हो गया। इससे जीवात्मा की अज्ञान की अंधकारपूर्ण रात्रि नष्ट हो गई एवं ब्रह्म-प्राप्ति पर अनहद का तूर्यनाद होने लगा।

> अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
> आवगति अंतरि प्रगटै लागै प्रेम धियान ॥४४॥

नीझर—निर्झर।

प्रेम सहित प्रभु में ध्यान लगाने से अव्यक्त ब्रह्म हृदय में प्रकट होता है। इस ब्रह्म-ज्ञान के उत्पन्न होने पर अनहद नाद के साथ ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवित होने लगता है (जिसका पान कर साधक अमर हो जाता है)।

(जिसको मैं खोजता था) वैसे ही सुखरूप हो गया जैसे सिद्धार्थ मार्गों में बोध होने पर भी सुखदायी लगता है। भाव यह है कि प्रभु मिलन से ताप भी सुख बन गये।

६ रस कौ अंग

कबीर हरि रस यौं पिया बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुंभार का बहुरि न चढ़ई चाकि ॥१॥

थाकि=थकान क्लेश से तात्पर्य है। पाका=पक्का। कलस=(कलश) घड़ा।

कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु भक्ति के रस का इतना पान किया है कि सांसारिक क्लेश आदि समाप्त हो गये हैं। कुम्भकार का पकाया हुआ घड़ा जिस प्रकार पुनः चाक पर नहीं चढ़ाया जाता उसी प्रकार प्रभुभक्ति में पगे हुए जन पुनः इस संसार चक्र में नहीं पड़ते। आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

राम रसाइन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है मांगै सीस कलाल ॥२॥

रसाइन=रसायन। रसाल=मधुर। कलाल=मदिरा विक्रेता अर्थात् सद्गुरु।

प्रभु-भक्ति का प्रेम रस पीने में बड़ा मधुर है (और वह मधुर से मधुरतर होता जाता है)। कबीर कहते हैं कि इसका पान करना बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि गुरु रूपी कलाल साधना के लिए सर्वस्व त्याग चाहता है।

विशेष—कबीर के प्रेम का सिद्धान्त ही ऐसा है जिसमें साधक को सर्वस्व त्याग शीश-समर्पण की बार-बार चेतावनी है—

"यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारि भुँई धरे तब पैठे घर माहिं ॥"

कबीर भाठी कलाल की बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपै सोई पिवै नहीं तौ पिया न जाइ ॥३॥

भाटी=भट्टी जिससे मदिरा खींची जाती है। बहुतक=बहुत से।

कबीर कहते हैं कि मदिरा विक्रेता गुरुरूपी कलाल के यहां (भट्टी) बहुत से मदिरा (प्रेमरस प्रभुभक्ति) का पान करने के लिये आ बैठे हैं। किन्तु इन मदिरा पान की इच्छा वालों (साधकों) में वही पान कर सकता है जो अपना शीश साधना की वेदी पर चढ़ाता है। भाव यह है कि प्रभु-प्राप्ति के लिए

सर्वस्व त्याग करना पड़ता है, प्रत्येक सम्भव कष्ट के लिये तैयार रहना पड़ता है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

हरि रस पीया जाणिये जे कबहू न जाइ खुमार।
मैंमंता घूमत रहै नाँही तन की सार॥४॥

खुमार=नशा।

ब्रह्मानन्द की मदिरा का पान उसी ने किया समझो जिसका नशा कभी नहीं उतरता। यह रंग ही ऐसा है जिस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता (सूरदास प्रभु कारी कामरी चढ़ै न दूजो रंग)। वह तो मदमस्त हाथी के समान इधर उधर घूमता है। (जिसे केवल प्रभु से प्रयोजन है) तथा उसे अपने शरीर की सुधि नहीं रहती।

विशेष—प्रेम-भक्ति का रस अलौकिक है एवं शरीर पार्थिव उसको पाकर भला पार्थिव का ध्यान कैसे रह सकता है इसीलिए कहा है "नाँही तन की सार।

मैंमंता तिण नां चरै, सालै चिता सनेह।
बारि जु बाँध्या प्रेम कै डारि रह्या सिरि खेह॥५॥

मैंमंता=मदमस्त हाथी। तिण=तृण।

मदमस्त हाथी तृण ग्रहण नहीं करता उसे तो प्रेम की चिंता चबक कर व्यथित करती रहती है। यदि उसे प्रेम के द्वार पर बाँध दिया जाय तो अपने शीश पर धूल डालता रहता है अर्थात् अपने अहं को महत्त्वहीन या अस्तित्व-हीन बनाना चाहता है।

विशेष—हाथी स्नान उपरान्त अपने शरीर पर सूँड से धूल डालकर क्रीड़ा करता है कबीर ने इसी से यह अर्थ लिया कि वह अपने शीश पर धूल डालकर अहं अभिमान को नष्ट कर रहा है। भाव यह है कि प्रेमसाधना में प्रवृत्त होने पर अभिमान या अहं भाव नहीं रहता।

मैंमंता अविगत रता अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहै जीवत मुकति अतीति॥६॥

१ अकलप=निर्भय संकल्प-विकल्परहित। अमलि=नशा प्रभाव।

प्रभु भक्ति रस में मदमस्त साधक बड़ा ही शान्ति में लीन रहता है एवं वह निर्भय भाव से संकल्प रहित हो सांसारिक आशाओं (आकर्षणों) को जीत लेता है। यदि उस पर प्रभु-भक्ति का यह रस (प्रभाव) चढ़ा ही रहे तो वह अवश्य ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

विशेष—जीवन्मुक्त साधक के लक्षण भगवान् कृष्ण ने गीता में बताते हुए इसी संकल्प-विकल्प रहित मन-स्थिति पर बड़ा बल दिया है—

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति स सर्वे शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
२।७० ॥

जिहि सर घड़ा न डूबता अब मैं गल मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सूं पंखि तिसाई जाइ॥०॥

सर—सरोवर, मन-हृदय। मैंगल—मदमत्त हाथी भक्त। देवल—मन्दिर संसार, कलस सूं—चोटी रूप में स्थित कलश तक।

जिस हृदय रूपी सरोवर में प्रभु प्रेम-जल इतना थोड़ा रहता था कि मन रूपी घट भी नहीं डूबता था अर्थात् मन भी वहाँ आनन्द नहीं पाता था वहीं अब प्रभु भक्ति जल के बढ़ जाने से प्रभु प्रेम का मदमस्त साधक वहाँ मलमल कर स्नान करता है अर्थात् उस जल में निमज्जन करने से उन्मत्त है उन्मत्ततर होता जाता है। अब तो वहाँ अथाह जल है जिससे देवालय भी चोटी तक डूब गया है अर्थात् संसार अपने समस्त मायामय आकर्षणों सहित साधक की दृष्टि से तिरोहित हो गया है। किन्तु आत्मारूपी पक्षी अब भी प्रभु-प्रेम जल की और अधिक प्राप्ति के लिए तृषित है।

सबै रसाइण मैं किया हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ॥ ॥११८॥

रसाइण—रसायन या रसास्वादन।

कबीर कहते हैं कि मैंने जितने भी रस (आनन्द) हैं सबका रसास्वादन कर लिया किन्तु प्रभु प्रेमरस के समान और कोई मधुर रस नहीं। यदि इस प्रभु भक्ति रस का तिल—लेश-मात्र भी हृदय घट में संचरित हो जाय तो समस्त शरीर स्वर्ण—अमर—बन जाय। अथवा सम्पूर्ण शरीर पापमुक्त हो कंचन के समान शुद्ध हो जाय।

---

७ लांबि कौ अंग

काया कमंडल भरि लिया उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया प्यास न मिटी सरीर॥१॥

काया—काया शरीर।

शरीर रूपी कमण्डल में मैंने ज्ञान का उज्ज्वल एवं भक्ति का पवित्र जल

हल्का कहूँ तो यह मिथ्या है वह अपने अमित गुणों के कारण हल्का नहीं। सत्य बात तो यह है कि भला मैं उस ब्रह्म को क्या जानूँ नेत्रों ने कभी उसके दर्शन ही नहीं किये।

विशेष—इस प्रकार से प्रभु का स्वरूप निरूपण करने में असमर्थ कबीर उसे 'नेति-नेति' कहने को ही बाध्य होते हैं।

दीठा है तो कस कहूँ कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ तू हरिषि हरषि गुण गाइ ॥२॥

यदि मैंने प्रभु के दर्शन किये भी हैं तो अभिव्यक्ति कैसे करूँ क्योंकि वह तो मूकास्वादनवत् है। यदि उस दर्शन से प्राप्त ब्रह्म का वर्णन करूँ तो विश्वास कौन करेगा क्योंकि वह अत्यन्त अद्भुत है। इसलिए उनके स्वरूप-परिचय का प्रयत्न व्यर्थ है, वे जैसे भी हैं वैसे ही रहें हे मन! तू प्रसन्न हो हो कर उल्लास सहित उनका गुणगान करता रह।

ऐसा अद्भुत जिनि कथै अद्भुत राखि लुकाइ।
बेद कुरानौं गमि नहीं कह्यां न को पतियाइ ॥३॥

हे साधक या मन! तू ऐसे (पूर्वोक्त) वर्णित अद्भुत ब्रह्म के वर्णन का व्यर्थ प्रयास क्यों करता है तू उस अद्भुत को रहस्य ही बना रहने दे। उस तक तो वेद एवं कुरानादि शास्त्रों की भी पहुँच नहीं है, वह उनकी सीमा से भी परे है फिर मेरे कहे का तो विश्वास ही कौन करेगा?

करता की गति अगम है तू चलि अपणैं उनमान।
धीरैं धीरैं पाव दे पहुँचैंगे परवान ॥४॥

ब्रह्म की गति अगम्य है वह निस्सीम ही तो ठहरा किन्तु ओ ससीम साधक! तू अपनी सीमाओं को ध्यान में रखता हुआ धैर्यपूर्वक साधना में प्रवृत्त हो। यह निश्चित है कि इस विधि से हम अपने लक्ष्य-ब्रह्म को अवश्य ही प्राप्त करेंगे।

पहुँचैंगे तब कहैंगे अमड़ैंगे उस ठांइ।
अजहूँ बेरा समंद मैं बोलि बिगूचैं कांइ ॥ ॥१५७॥

अमड़ैंगे=उमड़ते रहेंगे। बिगूचैं=नष्ट करें।

कबीरदास कहते हैं कि उस प्रभु के विषय में अभी क्या कहा जा सकता है, जब हम उस तक पहुँच जायेंगे तो वहाँ भरपूर आनन्द प्राप्त करेंगे और तभी उसके विषय में कुछ कहा जा सकता है। अभी तो अपनी नौका बीच समुद्र में है (साधना-मार्ग में है) तट (ब्रह्म) अभी बहुत दूर है फिर व्यर्थ के प्रलाप में हम समय क्यों नष्ट करें? भाव यह है कि दत्तचित्त हो साधना में प्रवृत्त हों।

— —

९ हैरान कौ अंग

[हैरान=आश्चर्य अगम्य अनुपम-निराकार ब्रह्म के अद्भुत रूप से साधक आश्चर्यचकित हो जाता है। सत्य के साक्षात्कार से सर्वदा ही आश्चर्य होता है।]

पंडित सेती कहि रहे कह्या न मानै कोइ।
ओ अगाध एका कहूँ भारी अचिरज होइ ॥१॥

सेती=से।

मैं पण्डितों से उस ब्रह्म के अद्भुत स्वरूप का वर्णन करता हूँ तो वे उसका विश्वास ही नहीं करते। जब मैं उस ब्रह्म को अथाह एवं एकतत्व अर्थात् परम तत्व कहता हूँ तो इन्हें अत्यन्त आश्चर्य होता है।

बसै अपंडी पंड मैं ता गति लखै न कोइ।
कहै कबीरा संत हौ बड़ा अचम्भा मोहि ॥२॥१७६॥

अपंडी=निराकार। पंड=शरीर।

मनुष्य के शरीर—हृदय—में ही वह निराकार ब्रह्म निवास करता है किन्तु फिर भी कोई उसका दर्शन प्राप्त नहीं कर पाता। कबीर कहते हैं कि सन्तजनो! मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य है (साधना से लोग उसे प्राप्त क्यों नहीं करते?)

---

१० लै कौ अंग

जिहि बन सीह न संचरै पंषि उडै नहीं जाइ।
रैनि दिवस का गमि नहीं तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ ॥१॥

सीह=सिंह। लै=लय लगन। रैनि दिवस=सूर्य चन्द्र।

जिस वन में वनराज सिंह का भी प्रवेश नहीं है और जहाँ पक्षी भी उड़कर नहीं जा सकता न वहाँ सूर्य और चन्द्र की पहुँच है ब्रह्म के ऐसे अगम्य स्थल पर कबीर ने अपनी लगन लगा ली है। भाव यह है कि अगाध प्रभु की प्राप्ति के लिए दत्तचित्त होकर साधना में प्रवृत्त होना वाञ्छनीय है।

सुरति ढीकली लै ल्यौ मन नित ढोलन हार।
कँवल कुवाँ मैं प्रेम रस पीवै बारंबार ॥२॥

ढीकुली=सिंचाई के लिए कुएँ से पानी निकालने का एक उपकरण। लेज=रस्सी इस ढेकुली में रस्सी भी लगन रूपी है साधनारत मन ही

रस्सी है। ल्यौ=लगन। ढोलनहार=ढोल पानी निकालने का एक पात्र। कौंवल कुवाँ=कमल कूआँ सहस्रदल कमल का कूआँ।

सहस्रदल कमल रूपी कुए में प्रेमपूर्ण अमृत रस भरा हुआ है। साधक सुरति—प्रेम-सुषुम्ना—की ढेंकुली और लगन की रस्सी से मन के ढोल अथवा बाल्टी में इस रस को भर कर बारम्बार पान करता है।

विशेष—सावयवक अलंकार।

> गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट।
> तहाँ कबीर मठ रच्या मुनि जन जोवैं बाट ॥१॥१८२॥

गंग=इड़ा। जमुन=यमुना पिंगला। सहज=सहज समाधि। सुं=शून्य।

कबीर कहते है कि प्रभु प्राप्ति के लिए तीर्थ यात्रा की क्या आवश्यकता है समस्त तीर्थ शरीर में ही विद्यमान है। गंगा और यमुना इड़ा और पिंगला नाड़ी के रूप में शरीर (उर) के भीतर ही अवस्थित हैं जिनके सहज एवं शून्य जैसे घाट हैं। ऐसे ही घट पर कबीर की आत्मा ने मठ अथवा निवास स्थान बना लिया है बड़े-बड़े मुनिजन इस स्थान पर अपना निवास बनाने की प्रतीक्षा करते ही रह गये।

विशेष—

'सहज' - सद्‌गुरु के बताये हुए रहस्य से निज रूप में ध्यान लगाने को सहज ध्यान या सहज समाधि कहते है। इस समाधि में किसी प्रकार के बाह्य डम्बर (आसन मुद्रा आदि) की आवश्यकता नहीं पड़ती है, इसीलिए इसे सहज समाधि कहते है।

---

११ निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग

निहकर्मी=निष्कर्म फल रहित अर्थात् फल की कामना न करते हुए 'गीता के कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन के अनुरूप प्रीति व्यवहार।

> कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं बहु गुणियाले कंत।
> जे हँसि बोलौं और सौं तौ नील रँगाऊँ दंत ॥१॥

प्रीतड़ी=प्रेम। गुणियाले=गुणवान्। नील रंगाऊं दंत= (मुहावरा) अपने को कलंकित करू।

हे अनन्त गुणवान् प्रियतम (ब्रह्म) कबीर का प्रेम तो केवल आपसे है। जो मैं अन्य किसी से हँसूँ-बोलूँ अर्थात् अन्य किसी से प्रेम करूँ तो स्वयं को कलंकित करूँ।

नैनां अंतरि आव तू, ज्यूँ हौं नैन झंपेउ।
नाँ हौं देखौं और कूँ, नाँ तुझ देखन देउँ ॥२॥

प्रियतम! तुम मेरे नेत्रों में आकर बस जाओ। जैसे ही आप आओगे मैं एक दम नेत्र मूँद लूँगी। तब मैं तेरे अतिरिक्त अन्य किसी को न देखूँगी और न अन्य की दृष्टि तुझ पर पड़ने दूँगी।

विशेष—प्रिय के प्रति ऐसी अनन्यता दुर्लभ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने श्रद्धा और भक्ति निबन्ध में लिखा है कि भक्त यह चाहता है कि मैं जिसे प्रेम करूँ उसी इष्ट या आराध्य को सब प्रेम करें, भक्ति के विस्तार का यही स्वस्थ लक्षण है। उन्होंने प्रेमी की मनःस्थिति बताते हुए लिखा है कि वह यह चाहता है कि मैं जिसे प्रेम करता हूँ उसे अन्य कोई प्रेम न करे, इससे प्रेम की अधिकाधिक प्रतीति होती है। कबीर ने अपने अगाध प्रेम को इसी गोपन भाव के द्वारा व्यक्त किया है, जहाँ वह प्रिय को नेत्रों के मन्दिर में छिपा कर रखना चाहता है।

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा ॥३॥

हे प्रभु! मुझ में मेरा अपना तो कुछ भी नहीं है जो कुछ भी अस्थि चर्म का शरीर और यह जीवन है वह आपके द्वारा प्रदत्त है। यदि मैं अपने इस जीवन और शरीर को तेरी साधना में अर्पित कर दूँ तो मेरा क्या जायगा जिसकी यह वस्तु है उसी के निमित्त तो हुआ फिर मेरा इसमें क्या बड़प्पन?

कबीर रेख स्यन्दूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ॥४॥

स्यन्दूर—सिन्दूर। नैनूं—नयन में।

कबीरदास जी कहते हैं कि सौभाग्यवती पतिव्रता अपनी माँग में सिन्दूर ही भरती है उसमें कालिख नहीं भरी जा सकती। जहाँ एक वस्तु का उपयुक्त स्थान है वहाँ दूसरी वस्तु नहीं आ सकती। मेरे नयनों में तो (सर्वत्र रमण करने वाला) राम बसा हुआ है फिर भला इसमें किसी अन्य (सांसारिक आकर्षण) के लिए स्थान कैसे हो सकता है?

विशेष—तुलना कीजिये—

"भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिरि जाय।

कबीर सीप समंद की रटै पियास पियास ।
समदहि तिणका बरि गिणै स्वाति बूंद की आस ॥५॥

समंद—समुद्र । समदहि—(समुद्रहि) समुद्र को । तिणका—तृण तुल्य ।

कबीरदास जी कहते हैं कि स्वाति की बूंद की आशा में सीप प्यास ही प्यास रटती रहती है। उस बूंद के सम्मुख वह सम्पूर्ण सागर-जल को तृण तुल्य समझती है। भाव यह है कि एक प्रभु के सम्मुख समस्त सांसारिक आनन्दोल्लास तुच्छ हैं।

विशेष—अन्योक्ति अलंकार है।

कबीर सुख कौं जाइ था आगैं आया दुख ।
जाहि सुख घरि आपणैं हम जाणौं अरु दुख ॥६॥

जाहि सुख घरि आपणे—हे सुख तू मुझ से विदा ले।

कबीर कहते हैं कि मैं संसार-सुख की प्राप्ति के लिए जा रहा था अर्थात् ऐहिक सुख लालसा में भटक रहा था तभी मेरा साक्षात्कार प्रभुवियोगजन्य दुःख से हो गया। भाव यह है कि आत्मा ब्रह्म के वियोग में विरहाकुल हो गई। अब इस विरह में ही मुझे इतना अमित आनन्द प्राप्त होता है कि मेरे लिए संसार-सुख निरर्थक एवं त्याज्य ही है, इसलिए ओ संसार-सुख ! तू मुझ से विदा हो जा।

दो जग तौ हम अंगिया यहु डर नाहीं मुझ ।
भिस्त न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुझ ॥७॥

दो जग—दोजख, नरक। अंगिया—अंगीकार करना स्वीकार करना। भिस्त—बहिश्त, स्वर्ग। बाझ—रहित अतिरिक्त।

कबीर कहते हैं कि मैं यदि नरक-यातना में पडूं और मुझे वहां प्रभु दर्शन हों तो मुझे कोई आपत्ति नहीं अतः मैं नरक से भयभीत नहीं हूं। किन्तु हे प्रभु आपके अभाव में मुझे स्वर्ग-सुख भी त्याज्य है।

विशेष—१ प्रिय अभाव में बसन्त भी दुखदाई है और उसके संसर्ग से पत-झड़ भी ऋतुराज प्रिय के साथ मरुभूमि भी कलित कानन है और कानन भी प्रिय अभाव में झाड़-झंखाड़—प्रेमी मन की इस स्थिति का वर्णन अन्य कवियों ने भी किया है—

कहा करौं बैकुंठ लै कल्पवृक्ष की छांह ।
अहमद ढाक सुहावने जहं प्रियतम गल बांह ॥ —'अहमद'।

(२) "दो जग' का पाठ यदि 'दोजख' कर लिया जाय तो अर्थ करने में

अधिक सुविधा रहेगी 'दो अग का धर्म यदि लोक और परलोक" या संसार और स्वर्ग' अथवा "स्वर्ग और नरक' कर लिया जाय तो प्रथम चरणों में संगति नहीं बैठती।

> जे यो एक जांणियां तौ जांण्या सब जांण।
> जे यो एक न जांणियां तौ सबहीं जांण अजांण ॥८॥

जांण=ज्ञान।

यदि किसी ने बस एक परब्रह्म को जान लिया तो समझिये कि उसे संसार का समस्त ज्ञान हृदयंगम हो गया है और यदि किसी ने उस एक ब्रह्म को नहीं जाना है तो उसका समस्त संचित ज्ञान अज्ञान ही है।

विशेष—सर्वपदगत यमक अलंकार।

> कबीर एक न जांणियां तौ बहु जांण्यां क्या होइ।
> एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥९॥

एक=ब्रह्म। बहु=ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान।

कबीर कहते हैं कि यदि किसी ने एक परब्रह्म प्रभु को न जानकर संसार के विविध ज्ञान प्राप्त कर लिये हैं तो उससे क्या लाभ? क्योंकि सबका मूल जो ब्रह्म है उसको बिना जाने उससे उत्पन्न उपादानों का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? उस एक ब्रह्म से ही सबकी उत्पत्ति होती है। यदि समस्त संसार की वस्तुएं मिलकर भी उस एक ब्रह्म को उत्पन्न करने का प्रयास करें तो असम्भव है।

> जब लग भगति सकामता तब लग निर्फल सेव।
> कहै कबीर व क्यूं मिलै निहकामी निज देव ॥१०॥

सकामता=कामनामयता। निर्फल=निष्फल फल रहित।

जब तक भक्ति कामनामय है तब तक प्रभु की समस्त सेवा व्यर्थ है, उसके द्वारा ब्रह्म दर्शन नहीं हो सकता। कबीरदास जी कहते हैं कि कामनायुक्त भक्ति से वे निष्कामी परमात्मा—स्वामी—किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं?

विशेष—(१) गीता' में भी भगवान् कृष्ण ने इसी कामना रहित भक्ति का प्रतिपादन किया है—

> यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
> वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
> कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
> क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ —२।४२-४३॥
> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ —२।४७।

(२) साधक या भक्त के सम्मुख यह बड़ी कठिनाई है कि उसका मन भक्ति में कामना रहित नहीं हो पाता इस मनःस्थिति का सुन्दर उद्घाटन श्री जयशंकरप्रसाद जी ने अपनी एक कविता में इस प्रकार किया है—

> जब करता हूं कभी प्रार्थना कर संकलित विचार
> तभी कामना के नूपुर की हो जाती झनकार। —'झरना'

फिर भी अभ्यास से भक्त कामनाविरत हो सकता है— इसी का प्रतिपादन कबीर ने किया है।

> आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
> पाँणी माँहैं घर करैं, ते भी मरैं पियास ॥११॥

मनुष्य को केवल एक प्रभु प्राप्ति की ही इच्छा करनी चाहिए क्योंकि समस्त आशाएं उसी से पूर्ण होती हैं। अन्य सांसारिक कामनाएं अन्त में निराशा में ही परिणत होती हैं (क्योंकि वे मृगतृष्णा की भांति मनुष्य को भटकाती हैं और उनका फल कुछ नहीं होता)। जो मनुष्य इस एक रामप्राप्ति के अतिरिक्त अन्य सांसारिक इच्छाएं रखते हैं वे तो ऐसे ही हैं जो जल में रह कर भी प्यासे मरते हैं—भाव यह है कि उन्हें उन सांसारिक आशाओं के प्राप्त होने पर भी शान्ति प्राप्त नहीं होती।

विशेष—अलंकार—दृष्टान्त।

> जे मन लागै एक सूं तौ निरबाल्या जाइ।
> तूरा दुइ मुखि बाजणां न्याइ तमाचे खाइ ॥१२॥

निरबाल्या जाइ=निर्वाह हो जायेगा मुक्ति हो जायेगी। तूरा=तुरही। न्याइ=न्याय समान। बाजणां=बजाने से।

यदि मनुष्य का मन एक परब्रह्म ही पर आसक्त हो जाय तो निर्वाह हो जायेगा और यदि प्रभु और संसार अर्थात् माया-आकर्षण दोनों से प्रेम किया तो जीव को दुःखों के थपेड़े उसी प्रकार सहन करने पड़ेंगे जिस प्रकार तुरही को दो मुखों से बजने के कारण हाथ के प्रहार सहन करने पड़ते हैं।

> कबीर कलिजुग आइ करि, कीये बहुतज मीत।
> जिन दिल बंधी एक सूं ते सुखु सोवै नचींत ॥१३॥

बहुतज=बहुत से। नचीत=निश्चिन्त।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य इस कलि संसार में आकर विविध आकर्षणों के प्रपंच में पड़ता है किन्तु जिसने अपना चित्त उस परब्रह्म की भक्ति में लगा दिया वह निश्चिन्त होकर सुख-निद्रा में सोता है, वह मुक्त हो जाता है।

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नांउ ।
गलै राम की जेवड़ी जित खैंचै तित जाउं ॥१४॥

कूता=कुत्ता । जेवड़ी=रस्सी ।

कबीर कहते हैं कि मैं राम-ब्रह्म-का कुत्ता हूं और मेरा नाम मोती (मुक्त) है एवं मेरे गले में राम-नाम की रस्सी बंधी हुई है भाव यह है कि मैं उसी के द्वारा सचालित होता हू । कुत्ते को उसका स्वामी जिधर चाहता है खींच ले जाता है उसी भांति मेरे स्वामी राम मुझे जिधर घुमाते हैं घूम जाता हू ।

विशेष—(१) इष्ट देव की महानता एवं अपनी क्षुद्रता का जितना अधिक ज्ञान होगा भक्ति की प्रतीति और आनन्द भी उतना ही अधिक होगा। जिस प्रकार तुलसी ने 'तुम सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो' लिखकर अपनी अनन्य भक्ति का परिचय दिया है उसी भांति अपितु उससे भी आगे बढ़कर कबीर ने अपने को राम का कुत्ता तक बना दिया दीनता का इससे बढ़कर उदाहरण मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । दूसरे कबीर राम का कुत्ता बनकर यह भी दिखाना चाहते हैं कि कुत्ते की जो स्वामी भक्ति है वही मेरी है जो दुत्कारने पर भी पास से पास आना चाहता है ।

(२) अलंकार –रूपक ।

तो तो करै त बाहुड़ौं दुरि दुरि कर तो जाउ ।
ज्यू हरि राखौ त्यू रहौं जो देव सो खाउ ॥१५॥

कबीर कुत्ते के रूपक द्वारा ही अपनी भक्ति भावना का परिचय देते कहते हैं कि यदि वह स्वामी-ब्रह्म अपने कुत्ते (भक्त दास) को 'तो—तो' कर के पुचकारते हैं तो वह प्रभु के और भी अधिक निकट आते हैं और यदि स्वामी दुत्कार दें तो दूर चले जायें । जिस प्रकार भी प्रभु रखना चाहेंगे वैसे ही मैं (आत्मा) रह लूंगी एवं वह जो कुछ भी प्रदान कर देते हैं उसे खाकर अपना जीवन-यापन करते हैं ।

मन प्रतीति न प्रेम रस नां इस तन में ढंग ।
क्या जाणौं उस पीव सूं कसैं रहसी रंग ॥१६॥

कबीर कहते हैं कि मन को प्रभु प्रेम पर दृढ़ विश्वास नहीं है तथा न यह शरीर उन उपकरणों से परिचित है जो प्रिय मिलन के लिए उपयुक्त हैं । फिर भला मैं उस प्रियतम से साक्षात्कार के समय कैसे रंग रेलियां करूंगी ? भाव यह है कि मैं प्रभु-मिलन के आचार-व्यवहार तक से परिचित नहीं हू ।

उस सम्रथ का दास हौं कदे न होइ अकाज ।
पतिब्रता नांगी रहै तो उसही पुरिस कौं लाज ॥१७॥

सम्रथ=सामर्थवान् ।

कबीर कहते हैं कि मैं सामर्थ्यवान् प्रभु का भक्त हूं जिससे कभी अमंगल नहीं होगा यदि पतिव्रता नारी (आत्मा) नग्न-तन रहे तो यह परब्रह्म परमेश्वर की लज्जा का प्रश्न है क्योंकि कोई कहेगा कि यह अमुक व्यक्ति (भगवान्) की ही वधू है जो इस प्रकार नग्न है। अतः लज्जा उस प्रभु को ही होनी चाहिए कि उसका भक्त शीलादि गुणों से हीन है नग्न से यहां यही तात्पर्य है।

घरि परमेसुर पांहुणां सुणौं सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि ज्यूं कदे न छाड़ै पास ॥१८॥ २०॥

घरि=घर। परमेसुर=परमेश्वर। पांहुणां=अतिथि।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु प्रेमी भक्तो सुनो। इस हृदय रूपी घर में प्रभु रूपी अतिथि पधारे हैं। जिस प्रकार अतिथि की अभ्यर्थना विविध भोजनादि से की जाती है उसी प्रकार भक्ति रूपी षट्रस व्यंजन प्रभु को परोस कर उनसे प्रेम करना चाहिए जिससे वे कभी भी हमारा साथ न छोड़ दें।

विशेष—(१) रूपक अलंकार। (२) 'षटरसभोजन भगति करि'—में भक्ति को षट्रस व्यंजन बताकर कबीर बताना चाहते हैं कि मनुष्य को सर्वात्मना इन्द्रियों की रुचि को प्रभु प्रेम में ही लगा देना चाहिए। पांचों इन्द्रियों एवं छठे मन को ईश्वर समर्पित करने को ही षट्रस व्यंजन कहा है भोजन के भी छः ही रस माने गये हैं, मधुर, लवण अम्ल कटु कषाय तिक्त।

---

१२ चितावणी कौ अंग

कबीर संसार की क्षणभंगुरता देखकर जीवात्मा को चेतावनी देते हैं कि इस क्षणिक जीवन में कुछ सुकृत्य कर।

कबीर नौबति आपणी दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पटण ए गली बहुरि न देखै आइ ॥१॥

नौबति=नगाड़े की ध्वनि राजा-महाराजाओं एवं समादृत व्यक्तियों के द्वार पर प्रातः सायं या अवसर विशेष पर इसे बजाया जाता था। पुराने महलों या किलों में प्रवेश द्वार के पश्चात् ही नौबतखाना मिलता है।

पुर=नगर। पटण=बाजार।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! इस क्षणभंगुर संसार में अपने ऐश्वर्य और वैभव का प्रदर्शन कुछ दिनों के लिए कर सकते हो। फिर जब काल नगाड़ा बजाकर मृत्यु के मुख में सुला देगा तब न तो यह नगर न यह बाजार और गलियां अर्थात् संसार के दर्शन पुनः नहीं हो सकेंगे। भाव यह है कि जब

इस संसार के माया-आकर्षण नश्वर हैं तो मनुष्य अनश्वर प्रभु का ध्यान क्यों नहीं करता है ?

जिनके नौबति बाजती मैंगल बंधते बारि।
एक हरि के नांव बिन गए जन्म सब हारि ॥२॥

मैंगल=मस्त हाथी। बारि=द्वार।

जो ऐसे ऐश्वर्यशाली थे कि उनके द्वार पर नौबत बजा करती थी एवं मस्त हाथी झूमते थे वे भी एक प्रभु के नाम के अभाव में अपने जीवन को व्यर्थ खो बैठे।

ढोल दमामा दुड़बड़ी सहनाई संगि भेरि।
औसर चल्या बजाइ करि, है कोइ राखै फेरि ॥३॥

दमामा=नगाड़ा। दुड़बड़ी=डुगडुगी। भेरी—एक वाद्य विशेष जो मुँह से बजाया जाता है।

प्रत्येक मनुष्य ढोल नगाड़े डुगडुगी एवं शहनाई के साथ भेरी बजाता हुआ अर्थात् अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार भोग भोगता हुआ काल के आ जाने पर मृत्यु को प्राप्त हो गया। उनका ऐश्वर्य और वैभव मृत्यु को न रोक सका। संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो वैभवशाली मनुष्यों तक को काल के गाल मे बचा सकती।

सातों सबद जु बाजते घरि घरि होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े बैसण लागे काग ॥४॥

सातों सबद=सप्त स्वर, इनके अतिरिक्त और कोई स्वर नहीं होता। यहां कबीर का तात्पर्य सातों वाद्य से भी हो सकता है, सप्त-वाद्य हैं—झांझ, मर्दंग, शंख, शहनाई, बीन, बांसुरी ढोल। बैसण=(वेठण) बैठना।

जहां सप्त स्वरों के गान अथवा सप्त वाद्य वैभव एवं ऐश्वर्य का उद्घोष करते थे अथवा वैभव का प्रत्येक उपकरण जहां उपस्थित था और जहां घर-घर आनन्दोल्लास छाया रहता था वे ही स्थान अब जन-शून्य हो गये और उन पर कौवे बैठने लगे।

विशेष—सुमित्रानन्दन 'पन्त' जी की 'परिवर्तन' कविता में भी यही भाव व्यक्त है—

'यही तो है असार संसार, सृजन सिंचन संहार।
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार, रत्न दीपावली मन्त्रोच्चार।
उलूकों के कल भग्न विहार झिल्लियों की झनकार ॥"

कबीर थोड़ा जीवणां माड़े बहुत मँडाण।
सबही ऊभा मेल्हि गया राव रंक सुलितान ॥५॥

माड़े बहुत मँडाण=आनन्दोल्लास के विविध आयोजन किये। ऊभा=साज-सज्जा। मेल्हि गया=नष्ट हो गया।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य जीवन को क्षणिक जानते हुए भी अपने आनन्दोल्लास के अनेक उपकरण जुटाता है साज-सम्भार बड़े करता है किन्तु कठोर काल के द्वारा यह सब क्षण भर में नष्ट कर दिया जाता है। एवं धनिक राजा भिखारी सब सम्भाल करते ही करते संसार से चले जाते हैं।

विशेष—(१) कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

"पलमें का मनसूबा नाहीं देता पहुरी नींद।"

(२) तुलसी ने अपनी विनयपत्रिका में भी यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया है —

"जागत ही गई बीत निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।"

इक दिन ऐसा होइगा सब सूं पड़ै बिछोह।
राजा राणा छत्रपति सावधान क्यूं न होइ ॥६॥

कबीर कहते हैं कि एक दिन ऐसा आयेगा जब काल संसार के समस्त सम्बन्ध विच्छिन्न कर देगा। इसलिए हे राजा राणा छत्रपति अर्थात् सब मनुष्य! तुम पहले से ही सावधान क्यों नहीं हो जाते? भाव यह है कि इस नश्वर प्रभु की भक्ति करो।

कबीर पटण कारिवां पंच चोर दस द्वार।
जम राणौं गढ भेलिसी सुमिरि ले करतार ॥७॥

पटण=नगर यहाँ शरीर से तात्पर्य। कारिवां=कारवाँ सार्थवाह। पंच चोर=काम क्रोध मद, लोभ मोह। दस द्वार=शरीर से आत्मा के निकलने के दस छिद्र ही दस द्वार माने गये हैं—दो नेत्र दो कर्ण दो नासिका विवर एक मुख एक मल द्वार एक मूत्रछिद्र एक ब्रह्मरन्ध्र। जमराणौं=यमराज। गढ—किला दुर्ग अर्थात् शरीर। भेलिसी=नष्ट करेगा।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर का कारवाँ आत्मारूपी धन को लेकर (इस संसार में) चल रहा है। जिस प्रकार कारवाँ को लूटने के लिए चोर-लुटेरे लगे रहते हैं, उसी भाँति काम क्रोध मद लोभ मोह ये पाँच चोर इसे अपहृत करने के चक्कर में हैं। यदि कारवाँ स्वयं भी सुरक्षित न हो तो स्थिति और भी चिन्तनीय हो जाती है इस शरीर में भी दस द्वार हैं, न जानें कब कहाँ से आत्मा रूपी धन निकल जाय। कारवाँ जिस दुर्ग में अपनी सुरक्षा के

लिए ठहरता है यदि वह ही नष्ट हो जाय तो कारवां का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा इसी भांति जब यमराज आकर मृत्यु के द्वारा इस शरीर रूपी दुर्ग को नष्ट कर देंगे तो सब कुछ समाप्त हो जायेगा। इसलिए हे मनुष्य उस स्वामी—ब्रह्म—का भजन कर ले (जिससे तेरा धन—आत्मा सुरक्षित रह सके)।

विशेष—(१) सांग रूपक अलंकार है।

(२) प्रथम चरण में शरीर को सार्थवाह (कारवाँ) बनाया गया है तो तृतीय चरण में शरीर को दुर्ग भी बना दिया है अतः रूपक में एक ही शरीर पर कारवाँ और किले के दो आरोपण असंगत लगते हैं किन्तु कबीर इसके लिए क्षम्य हैं क्योंकि वे तो अपनी बात को कहना भर चाहते हैं, और प्रस्तुत सत्य को उद्घाटित करने का इससे सुन्दर ढंग दूसरा नहीं हो सकता था।

कबीर कहा गरबियौ इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥८॥

कबीर कहते हैं कि इस क्षणिक जीवन पर अपनी समस्त आशायें अवलम्बित कर गर्व करना व्यर्थ है। यह जीवन तो पलाश वृक्ष की भांति कुछ दिन ही अपनी आभा बिखराता है फिर वह पलाश-विटप ठूंठ (पत्र विहीन —कुसुमों की तो बात ही क्या?) हो जाता है वही स्थिति जीवन की है। कुछ दिन संसार में रहने के पश्चात् यह अस्थि चर्ममय शरीर जिससे जीवन का सार हो जाता है।

विशेष—कबीर ने अन्यत्र भी जीवन की क्षणभंगुरता के विषय में ऐसा ही भाव व्यक्त किया है यथा—

कबीर कहा गरबियौ काल गहै कर केस।
नां जाणौं कहां मारिसी कै घरि कै परदेस ॥

कबीर कहा गरबियौ देहा देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं ज्यूं काँचली भुवंग ॥९॥

देहा=देह शरीर को। सुरंग=सुन्दर रंग को। भवंग= (भुजंग) सर्प।

कबीरदास जी कहते हैं कि शरीर के सौन्दर्य को देखकर गर्व करना अनुचित है। यह तो एक बार कुछ क्षणिक समय के लिए प्राप्त होता है। आत्मा के द्वारा शरीर छोड़ दिये जाने पर उसी भांति पुनः धारण नहीं किया जाता जिस प्रकार सर्प केंचुली का एक बार परित्याग कर उसे पुनः धारण नहीं करता।

कबीर कहा गरबियौ ऊँचे देखि अवास ।
काल्हि पर्यु भ्वैं लेटणां ऊपरि जामैं घास ॥१ ॥

अवास=घर । भ्वैं=भू, पृथ्वी ।

कबीर कहते हैं कि हे मानव तू अपने वैभव और ऐश्वर्यसूचक ऊँचे-ऊँचे महल और अट्टालिकाओं को देखकर व्यर्थ गर्व करता है । तू नहीं जानता कि शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होकर तुझे कब्र में लेटना पड़ेगा अर्थात् मिट्टी में मिल जाना पड़ेगा और उस पर (वह) घास खड़ी हो जायेगी (जिसे तू आज पैरों से कुचलता है) ।

कबीर कहा गरबियौ चाँम पलेटे हड ।
हैवर ऊपरि छत्र सिरि ते भी देबा खड ॥११॥

चाँम=चर्म । पलेटे=लपेटे हुए । हड=अस्थियाँ । हैवर=(हय वर) श्रेष्ठ घोड़ा । देबा=दिये जायेंगे डाले जायेंगे । खड=खड्डा गड्डा कब्र से तात्पर्य ।

कबीर कहते हैं कि इस अस्थिचर्ममय शरीर का गर्व करना व्यर्थ है । जिनका वैभव इतना महान् था कि वे श्रेष्ठ घोड़ों पर बैठ छत्र धारण कर चलते थे उनको भी एक दिन मृत्यु होने पर कब्र में जाना पड़ा अपना अस्तित्व मिट्टी में मिला देना पड़ा ।

कबीर कहा गरबियौ काल गहै कर केस ।
नाँ जाँणौं कहाँ मारिसी कै घरि कै परदेस ॥१२॥

कबीरदास जी कहते हैं कि इस क्षणभंगुर जीवन पर क्या गर्व किया जाय मृत्यु हमेशा ही इसके साथ लगी रहती है, न जाने कब कहाँ देश या विदेश में वह जीवन की समाप्ति कर दे ।

यहु ऐसा संसार है जैसा सैंबल फूल ।
दिन दस के ब्यौहार कौं झूठै रंगि न भूलि ॥१३॥

सैंबल=सेंमल एक कुसुम विशेष ।

यह संसार ऐसा ही सुन्दर है जैसे सेंमल कुसुम बाहर से बड़ा सौन्दर्यशाली होता है किन्तु भीतर उसमें कुछ तत्त्व नहीं होता (तोता उसमें चोंच मारता है कुछ प्राप्ति की आशा से किन्तु अन्तत उसे निराश होना पड़ता है) । इस संसार के क्षणिक समय में इन माया आकर्षणों में मनुष्य को अपनी वास्तविक स्थिति—कि यह संसार आत्मा के लिए परदेश है—विस्मृत नहीं करनी चाहिए ।

जांमण मरण बिचारि करि, कूड़े कांम निवारि ।
जिनि पंथूं तुझ चालणां सोई पंथ सँवारि ॥१४॥

आगमन=जन्म। कूड़ काम=बुरे काम। निवारि=निवारण करना। चालणां=चलना है। सवारि=सँभाल के भाला से।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू जन्म-मरण आवागमन की व्यथा को ध्यान में रखकर वासना प्रेरित कुकर्मों का परित्याग कर दे। जिस मार्ग (प्रभु प्राप्ति का मार्ग) पर तुम्हें अन्ततः चलना है तू उसे अभी से अपना ले।

बिन रखवाले बाहिरा चिड़ियें खाया खेत।
आधा प्रधा उब्बरे, चेति सकै तौ चेति ॥१५॥

रखवाले=रक्षक गुरु। चिड़ियें=वासना या माया के पक्षी। आधा प्रधा=थोड़ा बहुत।

हे मनुष्य! सद्गुरु रूपी रक्षक के प्रभाव में तेरे प्रभु भक्ति के खत को कुछ तो चोर (काम क्रोध मद लोभ मोह ये पंच चोर) उड़ा ले गये और कुछ माया या वासना की सुन्दर चिड़ियों ने खा लिया। अब वह थोड़ी बहुत बची है, यदि मंगल चाहता है तो अब भी सावधान हो प्रभु भक्ति में प्रवृत्त हो।

हाड़ जलै ज्यूं लाकड़ी केस जलैं ज्यूं घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास ॥१६॥

मृत्यु हो जाने पर इस शरीर का कोई उपयोग नहीं। मृतक की हड्डियां लकड़ी के समान एवं सुन्दर केश-राशि घास तुल्य जल जाती है। इस समस्त शरीर को जलता देखकर कबीर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जीवन में कुछ नहीं है, अतः वह इससे विरक्त (प्रभु भक्ति में प्रवृत्त हो) गया है।

कबीर मंदिर ढहि पड़या सैंट भई सैवार।
कोई चेजारा चिणि गया मिल्या न दूजी बार ॥१७॥

सैंट=एक घास जो प्रायः कब्र पर उग आती है। सैवार=सिवार, पानी की एक घास। चेजारा=चिनने वाला राज।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस शरीर रूपी मन्दिर का निर्माता इसे बना कर फिर नहीं मिला जीवन भर उसकी प्रतीक्षा की। यहां तक कि यह शरीर रूपी मन्दिर नष्ट भी हो गया और उस पर सैट और सिवार उग आयी।

विशेष—कबीर ने यहां जल और थल दोनों की घास का उल्लेख इसलिये किया है कि यदि शव का दाह संस्कार कर अस्थि विसर्जन जल में किया गया तो उस पर सिवार नामक घास उग आती है और यदि शव को कब्र में दफना दिया गया तो कब्र पर सैंट नामक घास उग आती है।

कबीर देवल ढहि पड़्या ईंट भई सैंवार।
करि चिजारा सौं प्रीतिड़ी ज्यूं ढहै न दूजी बार ॥१८॥

प्रीतिड़ी=प्रेम।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी देवालय नष्ट हो गया और उसकी अस्थि रूपी ईंटों पर काई भी जम गई। (अन्त में अस्थि विसर्जन के कारण) उसका कोई अस्तित्व न रहा। किन्तु फिर उसका पुनर्निर्माण (पुनर्जन्म) होना सत्य है मनुष्य तू उसके निर्माता प्रभु से प्रेम कर जिससे मन्दिर को दूसरी बार ढहना न पड़े अर्थात् फिर जन्म न लेना पड़े।

कबीर मंदिर लाष का जड़िया हीरैं लालि।
दिवस चारि का पेषणा बिनस जाइगा कालि ॥१९॥

लाष=लाक्षा लाख। बिनस=नष्ट हो जायेगा।

कबीरदास जी कहते हैं कि यह शरीर रूपी मन्दिर लाक्षा से निर्मित है तथा इसकी शोभा भी क्षणिक है यह शीघ्र ही (पाण्डवों के लिए बने) लाक्षागृह के समान जलकर नष्ट हो जायेगा।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह।
दिवस चारि का पेषणा अंति खेह की खेह ॥२०॥

सकेलि=सकेर कर, एकत्रित कर। पुड़ी=पुड़िया। खेह=धूल।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर कुछ नहीं मिट्टी को सकेर कर, एकत्रित कर बनाई गई पुड़िया है। इसकी स्थिति क्षणिक है (फिर जो पुड़िया फट ही जाती है)। फिर यह शरीर रूपी पुड़िया नष्ट हो जाने पर धूल में ही मिल जायेगी।

विशेष—(१) अलंकार-रूपक। (२) तुलना कीजिए—

'शरीर कुछ नहीं पाप का मैल है मिट्टी का खेल है।

कबीर जे धंधै तौ धूलि बिन धंधै धूल नहीं।
ते नर बिनठे मूलि जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं ॥२१॥

धंधै=कर्म। धूलि=धुलना स्वच्छ होना। बिनठे मूलि=जड़ से ही नष्ट हो गये।

कबीर जी कहते हैं कि जो मनुष्य संसार में कर्म करता है उसका मन स्वच्छ हो जाता है, उज्ज्वल हो जाता है। जो मनुष्य कर्म नहीं करते उनका चित्त स्वच्छ-निर्मल नहीं रहता। किन्तु कर्म करते हुए भी ब्रह्म-प्राप्ति-मार्ग में प्रवृत्त हुआ जा सकता है, कर्म करते हुए जिस व्यक्ति ने ब्रह्म का ध्यान नहीं किया उसका तो जड़ से ही विनाश हो गया।

विशेष—इससे सिद्ध है कि कबीर का मत यही है कि प्रभु-प्राप्ति संसार में रहकर ही सम्भव है।

कबीर सुपनैं रमि क ऊपड़ि आये नैंन।
जीव पड़या बहु लूटि मैं जागै तौ लेण न दैण ॥२२॥

कबीर यहाँ स्वप्न का उदाहरण देकर व्यक्ति की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्नावस्था में कोई अत्यधिक धन देखकर शृंगार में लग जाये किन्तु जागने पर उसे कुछ भी प्राप्त न हो उसी प्रकार व्यक्ति माया-भ्रम में पड़ा हुआ आदान-प्रदान में लगा हुआ है किन्तु (गुरु कृपा से) अज्ञान दूर हो जाने पर वह माया-व्यापार से विरक्त हो जाता है।

विशेष—अलंकार—रूपक।

कबीर सुपनैं रैंनि कै पारस जीय मैं छेक।
जे सोऊं तौ दोइ जणां जागू तौ एक ॥२३॥

पारस=पारस स्वरूप परमात्मा जो आत्मा को भी अपने परम तत्व में समाहित कर परमात्मा ही बना देता है। छेक=भेद।

कबीर कहते हैं कि अज्ञानरात्रि में जीव सुप्तावस्था में पड़ा मायाके आकर्षणों के स्वप्नों में तल्लीन है। इसी अज्ञान की सुप्तावस्था के कारण ब्रह्म और जीव में इतनी दूरी हो गयी कि उनका पृथक् अस्तित्व परिलक्षित होता है। यदि मैं इसी अज्ञानावस्था में पड़ा सोता रहता हूँ तो यह द्वैत भावना बनी रहती है और यदि जागकर, ज्ञानयुक्त होकर वास्तविक स्थिति को देखता हूँ तो ज्ञात होता है कि ब्रह्म और जीव एक ही हैं।

कबीर इस संसार मैं घणं मनिष मतिहींण।
राम नाम जांणैं नहीं आए टापा दीन ॥२४॥

घणें=अत्यधिक। टापा=झांसा देना धोखा देना।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में मनुष्य बहुत बड़ी संख्या में मूर्ख हैं। वे राम नाम का महत्व तो जानते नहीं प्रभु प्राप्ति के अन्य बहुत से व्यर्थ उपाय बताकर संसार को धोखा देना चाहते हैं।

कहा कीयौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ।
इत के भए न उत के चाले मूल गँवाइ ॥२५॥

कबीर कहते हैं कि हमने संसार में आकर कौन सा अच्छा कार्य किया? अब जाने उस स्वामी से जिसने हमें इस लोक में भेजा है क्या जाकर कहेंगे? हमने न तो ऐसे कर्म किये जिनसे यहाँ लोक में जीवन सुधरता

(जीवन भर व्यर्थ मृग-जल की भाँति माया-आकर्षणों के पीछे दौड़ते हैं) और न ऐसे सत्कर्म किये कि परलोक का मार्ग ही सुधरता। प्रभु ने जो यह आत्मा हमें निर्मल और स्वच्छ पवित्र रूप में प्रदान की थी उसकी पवित्रता स्वच्छता और निर्मलता सब कुछ यहाँ नष्ट कर जा रहे हैं।

> आया अणआया भया जे बहुरता संसार।
> पड़्या भुलावां गाफिलां गये कुबुधी हारि ॥२६॥

अण आया=न आने के समान। बहुरता=विविध आकर्षणों में आसक्त। गाफिलां=बेहोश, असावधान।

कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति इस संसार में विविध माया-आकर्षणों में पड़ा हुआ है, आसक्त है, उसका जन्म वृथा ही है, इस संसार में न आने के बराबर ही है। वे इस संसार-आकर्षणों के भ्रम में पड़े हुए हैं। इस कुबुद्धि के कारण ही वे अपने जीवन के दाव को हार जाते हैं।

> कबीर हरि की भगति बिन ध्रिग जीमण संसार।
> धूँवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार ॥२७॥

ध्रिग=धिक्कार। धौलहर=महल। जात=नष्ट होते।

कबीर कहते हैं कि प्रभुभक्ति के बिना संसार में जीवन धारण करना धिक्कार है। मनुष्य को प्रभुभक्ति करनी ही चाहिए क्योंकि जीवन का अस्तित्व धुएँ के महल सदृश क्षणिक है।

विशेष—(१) उपमा अलंकार। (२) 'धूवाँ केरा धौलहर' उपमा आकरी वैरागियों के समान कबीर ने दी है तुलसी कवि ने भी इस उपमा का प्रयोग किया है।

> जिहि हरि की चोरी करी गये राम गुण भूलि।
> ते बिधना बागुल रचे रहे अरध मुखि झूलि ॥२८॥

जिन मनुष्यों ने इस संसार में आकर प्रभुभक्ति का कर्तव्य पूर्ण नहीं किया और उनके गुणों को विस्मृत कर बैठे उन्हीं को ब्रह्मा ने बगले का जन्म दिया जो अपना मुख (अन्धकार) नीचे किए लटके रहते हैं।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

> माटी मलणि कुँभार की घणी सहै सिरि लात।
> इहि औसरि चेत्या नहीं चूका अब की घात ॥२९॥

हे मनुष्य! तेरी दशा कुम्भकार की उस मिट्टी के समान है जो सूखे जाने पर बार-बार लातों के आघात सहती है। तूने भी अनेक जन्मों में आवागमन और संसार यातना भोगी है। यदि तू इस जन्म में सावधान नहीं हुआ और ऐसे सुकृत्य न किये जो तुझे इस संसार चक्र से मुक्त कर आवागमन

से छूटा है तो समझ ले कि अवसर चूक गया और तुझे फिर वही यातनाए भोगनी पड़ेंगी।

> इहि औसरि चेत्या नही पसु ज्यू पाली देह।
> राम नाम जाण्या नही अति पड़ी मुख षेह ।।१०।।

षेह=धूल।

हे मनुष्य ! यदि तू इस जन्म में भी सावधान नहीं हुआ एवं पशु के समान केवल अपना शरीर ही पालता रहा अर्थात आहार निद्रा मैथुन आदि पाशविक प्रवृत्तियों में ही लगा रहा और प्रभुभक्ति नहीं कर सका तो अन्त में तुझ नष्ट हो मिट्टी में मिल जाना पड़ेगा।

> राम नाम जाण्यों नही लागी मोटी षोड़ि।
> काया हाँडी काठ की ना ऊँ चढ़ बहोड़ि ।।११।।

११ मोटी=बहुत बड़ा। षाड़ि=दोष। बहोड़ि=(बहोरि) पुनः दूसरी बार।

हे मनुष्य ! तूने राम नाम अर्थात् प्रभुभक्ति को न जानकर बड़ा भारी पाप किया। अब तुझे इसका (प्रभुभक्ति का) अवसर नहीं मिलने का क्योंकि जिस प्रकार काठ की हांडी दूसरी बार नहीं चढ़ती उसी भांति मनुष्य जीवन भी पुनः प्राप्त नहीं होगा।

विशेष—कबीर ने यहां यह कहा है कि मनुष्य जीवन बारम्बार नहीं मिलता और ऊपर वे आवागमन या बार-बार जन्म लेने की यातना से छूटने की बात कह चुके हैं किन्तु दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। वे यह कहना चाहते हैं कि आत्मा विविध योनियों की यातनाए जन्म-मरण के चक्र में पड़कर भोगती रहती है बड़े पुण्यों से तब यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है, यदि इसे भी बिना प्रभुभक्ति के व्यर्थ ही गंवा दिया तो फिर वही विविध योनियों में भटकने का चक्र आरम्भ हो जाता है जहां प्रभुभक्ति के लिए स्थान नहीं।

> राम नाम जाण्यां नही बात बिनठी मूल।
> हरत इहां ही हारिया परति पड़ी मुखि धूलि ।।१२।।

बिनठी=विनष्ट।

हे मनुष्य ! तूने प्रभु भक्ति का महत्व न जानकर बिल्कुल ही अर्थात् जड़ से ही बात बिगाड़ दी। व्यर्थ के सांसारिक कार्यों में तूने अपनी शक्ति नष्ट कर दी और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो (कब्र में जाकर) मुख में धूल ही पड़ेगी।

विशेष—कबीर यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य को अपनी शक्ति संसार के व्यर्थ कार्यों में नष्ट न कर प्रभुभक्ति में ध्यान लगाना चाहिए।

राम नाम जाण्यां नहीं पाल्यो कटक कुटुंब।
धंधा ही में मरि गया बाहर हुई न बंब ॥१३॥

बंब=एक वाद्य विशेष जिसे एक बहुत बड़ा ढोल कहा जा सकता है।

हे मनुष्य तूने प्रभु भक्ति नहीं की। सेना के समान संख्यातीत कुटुम्ब के पालन ही में जूझता रहा। इसीलिए संसार कर्मों में उलझते हुए समस्त जीवन बीत गया मृत्यु आ पहुँची किन्तु तेरा यह ढिंढोरा भी न बजा।

मनिषा जनम दुर्लभ है देह न बारबार।
तरवर थें फल झड़ि पड़या बहुरि न लागै डार ॥१४॥

मनिषा=मानव का। थें=(तें) से।

कबीरदास कहते हैं कि यह मानव जन्म बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, यह शरीर बारम्बार प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार एक बार विटप से फल झड़ जाने पर शाखा पर दूसरी बार नहीं लगाया जा सकता उसी भाँति इस मानव जन्म में शरीर के एक बार नष्ट हो जाने पर यह पुन प्राप्त नहीं हो सकता (अत मानव ! प्रभु भक्ति कर)।

कबीर हरि की भगति करि, तजि बिषिया रस चोज।
बार बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज ॥१५॥

रस चोज=आनन्दोल्लास।

कबीरदास कहते हैं कि मानव जन्म प्राप्ति का सौभाग्य बारम्बार प्राप्त नहीं होता अत विषय-वासना जन्य मायापूर्ण क्षणिक आनन्द और सुखों का परित्याग कर प्रभु की भक्ति में प्रवृत्त हो (वही वास्तविक आनन्द है जिसके सम्मुख सांसारिक आनन्द फीके और तुच्छ हैं)।

कबीर यहु तन जात है सकै तो ठाहर लाइ।
कै सेवा करि साध की कै गुण गोबिंद के गाइ ॥१६॥

ठाहर लाई=ठिकाने से लगा सम्भाल ले।

कबीरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य ! यह मानव-जन्म व्यर्थ ही नष्ट हुआ जा रहा है। अब भी समय है यदि इसे सम्भाल सकता है तो सम्भाल कर उचित पथ पर प्रवृत्त हो जा। या तो तू साधुओं की सेवा कर अथवा फिर प्रभु का गुणगान कर—इन दोनों से ही तेरा अज्ञान दूर हो मुक्ति सम्भव है।

विशेष—समस्त मध्यकालीन भक्त कवियों ने प्रभु भक्ति के लिए साधु संगति को आवश्यक माना क्योंकि अन्ततः वह भी प्रभु प्रेम उपजाती है, यथा—

बिनु सत्संग बिवेक न होई,
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

कबीर यहु तन जात है, सक तौ ठेहु बहोड़ि।
नागे हाथू ते गये जिनके लाख करोड़ि ॥१७॥

बहोड़ि—वापिस। नागे—खाली।

कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य ! यह मानव जन्म यों ही (प्रभु भक्ति बिना) बीता जा रहा है, अब भी यदि चाहते हो तो इसे पुनः अपने सुकर्मों से प्राप्त करने का प्रयत्न कर लो। ऐसे कार्य करो और प्रभु भक्ति करो जिससे यह जन्म पुनः प्राप्त हो सके। व्यर्थ संसार में माया के पीछे बावले बने क्यों फिरते हो ? जिनकी लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति थी वे भी यहां से खाली हाथ ही गये।

यहु तन काचा कुंभ है चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन जदि तदि प्रलै जाइ ॥१८॥

जदि तदि—जब तब।

यह शरीर कच्चे घट के समान है जो चारों ओर से कुम्भकार की थपकी की चोट खाता है। यह शरीर भी सांसारिक यातनाओं के आघात सह रहा है। एक राम नाम के अभाव में ही पुनः पुनः संसार में जन्म लेकर वासना अग्नि में रहना है यदि राम नाम का अवलम्ब ले तो इस आवागमन से मुक्त हो जाय।

यहु तन काचा कुंभ है लियां फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया कछू न आया हाथि ॥१९॥

ढबका—धक्का टक्कर हल्की सी चोट।

यह शरीर उस कच्चे घड़े के समान कोमल और अनिश्चित भविष्य है जिसे साथ लिए फिरते हैं और तनिक सी चोट लगने पर घड़ा फूट जाता है उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और हाथ में कुछ शेष नहीं रह जाता।

विशेष—अलंकार-रूपक।

काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि।
राम कबीरें रुचि भई याही ओषदि साधि ॥२० ॥

काँची—केंचुली शरीर। जिनि—मत। बियाधि—व्याधि।

हे मनुष्य ! तू अपनी इस शरीर रूपी केंचुली को वासना के पंक से काली

मत कर। काल रूपी व्याघ्र तुझे दिन प्रतिदिन अपना लक्ष्य बनाता बढ़ा आ रहा है। कबीर ने तो अपनी रुचि प्रभु भक्ति में लगा दी है, यही सांसारिक तापों की एकमात्र औषधि है।

कबीर अपमें जीवतें ए दोइ बातें धोइ।
लोभ बड़ाई कारनै अछता मूल न खोइ ॥४१॥

जीवतें—मन से।

कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य तू अपने मन से दो बातों को निकाल दे—एक तो लोभ और दूसरी अपनी प्रशंसा से उत्पन्न दर्प। इन दोनों के ही कारण तू व्यर्थ संसार में भटक कर अपने अमूल्य धन—प्रभु भक्ति—को खो रहा है।

खंभा ऐक गइंद दोइ, क्यूं करि बंधिसि बारि।
मानि करें तौ पीव नहीं पीव तौ मानि निवारि ॥४२॥

४२ गइंद—(गयन्द) हाथी। बारि—द्वार।

कबीरदास कहते हैं कि हे मानव! तेरे पास एक ही हृदय रूपी स्तम्भ है उससे दो हाथी—प्रभु-भक्ति और अहं—नहीं बांधे जा सकते। यदि तू अपने अहं की रक्षा करता हृदय में उसे स्थान देना चाहता है तो प्रभु प्राप्ति असम्भव है यदि तू केवल मात्र प्रभु को चाहता है तो अपने अहं का परित्याग कर दे।

दीन गँवाया दुनी सौं दुनी न चाली साथि।
पाँइ कुहाड़ा मारिया गाफिल अपणें हाथि ॥४३॥

दीन—धर्म।

संसार के माया-आकर्षणों में लिप्त रह कर जीव प्रभु को भूल गया किन्तु जिस संसार के पीछे उसने अपना धर्म नष्ट कर दिया वह मरने पर उसके साथ नहीं गया। इस प्रकार जीवात्मा ने स्वयं अपनी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध कर लिया।

यहु तन तौ सब बन भया करम भए कुहाड़ि।
आप आप कूं काटि हैं, कहै कबीर बिचारि ॥४४॥

यह शरीर वन के समान है जिसके नाश के लिये कर्मों की कुल्हाड़ी प्रस्तुत है। कर्मों की कुल्हाड़ी अपने ही शरीर को काट रही है अर्थात् कुकर्म फल भोगने से व्यक्ति का जीवन नष्ट हुआ जा रहा है।

कुल खोयां कुल ऊबरै कुल राख्यां कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै सब कुल रह्या समाइ ॥४५॥

और कहा जायगा। भाव यह है कि माया के बंधन में पड़ने से तेरी मुक्ति नहीं होगी और आवागमन के चक्र में पड़कर संसार यातनायें सहेगा।

> कहत सुनत जग जात है विषे न सूझै काल।
> कबीर प्यालै प्रेम कै भरि भरि पिवै रसाल ॥४६॥

विषे=विषय।

संसार के समस्त मनुष्य मुक्ति प्राप्ति के लिए उपदेश देते हुए भी विषय-वासना के मार्ग पर बढ़ रहे हैं। उन्हें विषय-वासना जनित आनन्द में अपनी मृत्यु—नाश दृष्टिगत नहीं होता। कबीर (साधुजन से तात्पर्य) प्रभु प्रेम रस के प्यालों को भर भर कर पी रहा है जिसमें उसे अमित आनन्द प्राप्त हो रहा है।

> कबीर हद के जीव सूं हित करि मुखां न बोलि।
> जे लागे बेहद सूं तिन सूं अंतर खोलि ॥५०॥

हद के जीव सू=सांसारिक मनुष्य से—जो पूर्णरूपेण संसार में लिप्त है। हितकरि=प्रेम से। बेहद=निस्सीम प्रभु।

कबीर जी कहते हैं कि हे मनुष्य! जो मनुष्य संसार के विषय वासना में लिप्त हैं उनसे प्रेम भाव से वार्तालाप नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर जो निस्सीम प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में प्रवृत्त हैं उनसे अपने हृदय की समस्त बात बता दो अर्थात् पूर्ण प्रेम उन्हीं से रखो।

> कबीर केवल राम की तू जिनि छाड़ै ओट।
> घण अहरणि बिचि लोह ज्यूं घणी सहै सिर चोट ॥५१॥

ओट=आश्रय। घन=भारी हथौड़ा। अहरणि=लोहे की एक चौकिका सी जिस पर रखकर गरम-गरम लोहे पर चोट मारकर उसे वांछित रूप दिया जाता है। इस निहाई कहते हैं।

कबीर जी कहते हैं कि हे जीवात्मा! तू केवल राम का आश्रय मत छोड़। प्रभु के आश्रय के बिना तू संसार में पड़ा उसी प्रकार दुःखों की चोट खाता रहेगा जिस भांति निहाई पर रखे हुए लोहे पर भारी हथौड़े की निरन्तर चोटें पड़ती हैं।

> कबीर केवल राम कहि सुध गरीबी झालि।
> कूड़ बड़ाई बूड़सी भारी पड़सी कालि ॥५२॥

झालि=ग्रहण कर। कूड़=व्यर्थ के मिथ्या।

कबीर जी कहते हैं कि हे मनुष्य! तू केवल राम नाम का स्मरण कर अपनी इस निर्धनता में ही प्रसन्न रह। यह जो मिथ्या सांसारिक वैभव है सं

के लिए मिल जाता है (जीवन) धारा के समाप्त होते ही सब अलग-अलग हो जाते हैं।

अलंकार—उपमा।

> इत प्रघर उत घर, बणजण आये हाट।
> करम किरांणां बेचि करि उठि ज लागे बाट ॥५७॥

प्रघर=पर घर, परदेश।

जीवात्मा कहती है कि यह संसार तो हमारे लिए परदेश है हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्म के पास ही है। इस संसार (परदेश) में तो हम उसी प्रकार कर्म का व्यापार करने आये हैं जैसे कोई सौदागर दूसरे देश में अपना सामान बेच कर लौट जाता है। इसलिए इस कर्म के क्रय-विक्रय व्यापार को शीघ्र समाप्त कर अपने घर के मार्ग में प्रवृत्त क्यों नहीं होते।

> नान्हा कातौ चित दे, महँगे मोलि बिकाइ।
> गाहक राजा राम है, और न नेड़ा आइ ॥५८॥

नान्हा कातौ=बारीक सूत कातने वाली सुन्दर कर्म ही बारीक सूत है।

हे जीवात्मा तू नन्हा बारीक सुन्दर सूत कात अर्थात् शुभ कर्म कर क्योंकि वह अच्छे दामों में बिकता है। शुभ कर्मों का फल अच्छा मिलता है। इस शुभ कर्म रूपी सुन्दर सूत के एकमात्र ग्राहक राजा राम ही हैं अन्य कोई इस शुभ-कर्म-राशि को विक्रय करने के लिए पास भी नहीं आ सकता।

> डागल उपरि दौड़णां, सुख नींदड़ी न सोइ।
> पुन्नै पाये द्यौंहड़े, ओछी ठौर न खोइ ॥५९॥

डागल=ऊबड़-खाबड़ भूमि साधना की विकट वनस्थली। द्यौंहड़े=देवालय पंचभूतों से निर्मित मानव शरीर से तात्पर्य है।

हे मनुष्य! तुझे साधना की विकट वनस्थली पर दौड़ना है जो सुगम नहीं है, इसलिए तू सुख-निद्रा में अचेत मत रह सावधान हो प्रभु भक्ति में प्रवृत्त हो। पुण्यों के बदले में तुझे यह देवालय के समान सुन्दर शरीर (जीवन से तात्पर्य) प्राप्त हुआ है। प्रभु भक्ति बिना इसे व्यर्थ नष्ट मत होने दे।

> मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसी भाजि।
> कब लग राखौं हे सखी, रूई पलेटी आगि ॥६०॥

मैं मैं=अहं। बलाई=बला आफत यहाँ पाप या बीमारी के अर्थ में प्रयोग किया है।

यह एक बहुत बड़ा रोग है जो मनुष्य को नाश की ओर ले जाता है।

इसे दूर किया जा सकता है अतः शीघ्रातिशीघ्र इसका परित्याग कर दो अन्यथा यह नाश करके रहेगा। रुई में लिपटी हुई अग्नि कुछ समय ही तक शान्त रह सकती है अन्ततः तो वह लपटों में परिवर्तित होकर सर्वस्व भस्म सात् कर देगी। इसी प्रकार यह अहं अधिक समय तक अपने विनाशक प्रभाव को नहीं रोक सकता।

> मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
> मेरी पग का पैषड़ा मेरी गल की पास ॥६१॥

बिनास=विनाश।

हे मनुष्य ! मैं-मैं अथवा अहं का दर्प क्यों प्रदर्शित करता है। यह अहं तो विनाश का मूल कारण है। यही अहं पैरों में पड़े हुए कड़े और गले में पड़े हुए फाँसी के फन्द के समान है जो मृत्यु प्रदान करते हैं।

> कबीर नाव जरजरी कूड़े खेवणहार।
> हलके हलके तिरि गये बूड़े तिनि सिर भार ॥६ ॥२६२॥

कूड़=रद्दी बेकार।

कबीर कहते हैं कि यह जीवन नौका बड़ी जर्जर है और इसका मल्लाह (जिसमें यह आत्मा है) भी बेकार है, ऐसी अवस्था में इस संसार सागर से वे ही पार पा सके जो पाप का बोझ न होने के कारण शुद्ध आत्मा थे और जिनकी आत्मा पाप बोझ से लदी थी वे डूब गये।

विशेष—कबीर की यह तुलना बड़ी समीचीन है क्योंकि पानी में हल्की वस्तु तैर जाती है और भारी डूब जाती है।

---

१३ मन कौ अंग

> मन कै मतै न चालिये छाड़ि जीव की बाँणि।
> ताकू केरे सूत ज्यू उलटि अपूठा आँणि ॥१॥

मतै=मन के अनुसार इच्छानुसार। बाँणि=बान आदत टेव। ताकू=तकुआ चरखे में सूत कातने की लोहे की सलाख। अपूठा=उलटा।

कबीरदास जी कहते हैं कि हे जीव तू मन की इच्छानुसार न चल, मन का अनुगामी मत बन क्योंकि वह तो सर्वदा विषय-वासना में लिप्त रहता है। मन की इस माया में लिप्त रहने की यह आदत छुड़ा दे। जिस प्रकार तकुए पर चढ़े कच्चे सूत को खींच कर उसके केन्द्र स्थान या मध्य बिन्दु पर ही चढ़ा दिया जाता है उसी प्रकार प्रभु भक्ति में अनुरक्त कर मन को वश में लगा दो।

चिंता चिंति निवारिये फिरि बूझिये न कोइ।
इंद्री पसर मिटाइये सहजि मिलैगा सोइ ॥२॥

चिन्ता=सांसारिक चिन्ताएं।

सांसारिक चिन्ताओं को मन से निकाल कर तथा इन्द्रियों का विविध विषयों में जो प्रसार है उसे समाप्त कर देने से ही प्रभु भक्ति का मार्ग खुल जायगा। तब किसी से ब्रह्म प्राप्ति का उपाय पूछने की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं ही अनायास ही प्राप्त हो जायेगा।

आसा का ईंधण करूं मनसा करू बिभूति।
जोगी फेरी फिल करौं यौं बिनना वै सूति ॥३॥

ईंधण=जलाने का सामान—लकड़ी आदि।

सांसारिक आशाओं का ईंधन कर मन को जलाकर क्षार में परिवर्तित कर दूं अर्थात् मन को कामना रहित कर दूं। फिर संसार से विरक्त हो योगी के समान प्रभु की खोज में चक्कर काटता रहूं। इस प्रकार इस कर्म सूत्र को कात कर ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

कबीर सेरी सांकड़ी चंचल मनवां चोर।
गुण गावै लैलीन होइ, कछू एक मन में और ॥४॥

सेरी=मार्ग। सांकड़ी=सांकरी कम चौड़ी।

कबीर कहते हैं कि प्रभु प्राप्ति का मार्ग बड़ा संकीर्ण है और यह मन जो साधना का मूलाधार है चंचल और चोर के समान लोभी वृत्ति का है। यह कपटी मन प्रत्यक्ष में तो जपता है कि प्रेममग्न होकर प्रभु गुणगान कर रहा है किन्तु इसके भीतर माया-जनित आकर्षणों को प्राप्त करने की इच्छाएं भर किए हुए है।

कबीर मारू मन कू टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ॥५॥

क्यारी=फसल से तात्पर्य। लुणत=काटते।

कबीर कहते हैं कि इस चंचलवृत्ति मन को इतना मारूंगा कि टुकड़े २ हो जायेगा। पहले तो इसने विषय-वासना के विष की फसल बो दी। अब उसे काटने में पछताता है। अपने कुकर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा।

इस मन कौं बिसमल करौं दीठा करौं अदीठ।
जे सिर राखौं आपणां तो पर सिरिज अगीठ ॥६॥

बिसमिल=घायल सांसारिक विषयों की चेतना से रहित। दीठा करौं अदीठ=उस अदृश्य निराकार ब्रह्म का दर्शन करूं।

विशेष—१ यमक अलंकार। २ नाथपन्थियों के अनुसार शून्य या ब्रह्माण्ड में शिव और शक्ति की अवस्थिति है जिससे अनन्त प्रकाश प्रवाहिनी ज्योति विकीर्ण होती रहती है इसे वे 'निरंजन ज्योति' कहते हैं। 'मगन आकासाँ सोइ' से कबीर का मन्तव्य इसी निरंजन ज्योति से है।

मन गोरख मन गोविंदौ मन हीं औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ ॥१०॥

गोरख=नाथ-पन्थ के नौ नाथों में प्रमुख एक नाथ एवं तान्त्रिक गोरखनाथ। गोविंदौ=प्रभु से तात्पर्य। औघड़=एक प्रकार के साधु।

व्यक्ति का मन स्वयं ही गोरखनाथ अर्थात् महान् सन्त गोविन्द एवं औघड़ साधु है। भाव यह है कि वही इन पदों पर पहुंचाने वाला है। यदि मन को प्रयत्नपूर्वक वश में रखा जाय तो यही इस चराचर का कर्ता निर्मात्मक ब्रह्म बन सकता है।

एक ज दोसत हम किया जिस गलि लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ मरै तौ भी रंग न जाइ ॥११॥

दोसत=मित्र। गलि=कण्ठ में। कबाई=कपड़ा वस्त्र।

कबीर कहते हैं कि हमने मन को ऐसा मित्र बना लिया है कि जिसके गले में प्रभु प्रेम से परिपूर्ण लाल वस्त्र सुशोभित हैं। इस प्रेम पूर्ण वस्त्र का रंग इतना प्रगाढ़ है कि यदि समस्त संसार के धोबी इसे धोने के प्रयत्न में अपना जीवन समाप्त कर दें तो भी उसका प्रेम रंग दूर नहीं हो सकता।

विशेष—'जिस गलि लाल कबाई' में वस्त्र का रंग लाल इसलिए बताया कि यह लाल रंग प्रेम-सूचक है।

पांणी ही तैं पातला धूवाँ ही तैं झीण।
पवनां बेगि उतावला सो दोसत कबीरै कीन्ह ॥१२॥

पांणी=जल। पातला=पतला। पवनां=वायु। उतावला=तीव्र।

कबीर कहते हैं कि जो पानी से भी पतला धुएं से भी अधिक झीना पवन की गति से भी तीव्र जो ऐसा मन है उसे मैंने अपना मित्र बना लिया है। भाव यह है कि अब मन उनके वश में है वश में है।

कबीर तुरी पलांणियां चाबक लीया हाथि।
दिवस थकां सांई मिलौं पीछैं पड़िहै राति ॥१३॥

तुरी=घोड़ा। राति=रात्रि मृत्यु की अचेतनावस्था।

कबीर कहते हैं कि मैंने मन रूपी घोड़े को अपने वश में कर, आगामी

वासनाओं के लिए संयम का कोड़ा हाथ में ले लिया है। अब चाहता हूँ कि जीवन की दिवस के अवसान से पूर्व ही परमात्मा के दर्शन कर लूं, अन्यथा फिर मृत्यु की रात्रि आकर अचेतावस्था में डाल देगी।

> मनवा तो अधर बस्या बहुतक झीणां होइ।
> आलोकत सचु पाइया कबहू न न्यारा सोइ ॥१४॥

अधर=निराधार। सचु=सत्य ब्रह्म।

यह अत्यन्त झीना मन संसार से विलग होकर रह रहा है। ज्ञान के प्रकाश से उसे सत्य स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, अब यह उनसे कभी विलग नहीं हो सकता।

> मन न मार्या मन करि, सके न पंच प्रहारि।
> सील साच सरधा नहीं इंद्री अजहु उघारि ॥१५॥

मन करि=संकल्प सहित। पंच=काम क्रोध मद लोभ मोह।

हे मानव! तूने संकल्पपूर्वक मन को नहीं मारा इसी कारण तू काम क्रोध, मद लोभ मोह को नष्ट नहीं कर सका। इस मन के अधःपतन से ही तेरे अन्दर शील सत्य और श्रद्धा आदि के सद्‌गुणों का लोप हो गया है। इन्द्रियों पर अब भी अधिकार कर ले विषय-प्रसार में इसे प्रवृत्त मत होने दे—तभी कल्याण हो सकता है।

> कबीर मन बिकरै पड़्या गया स्वाद के साथि।
> गलका खाया बरजता अब क्यू आवै हाथि ॥१६॥

बिकरै=विकारों में। बरजना=वर्जित करना।

कबीर कहते हैं कि मन सांसारिक विषय वासनाओं के विकारों में पड़ गया है। वह तो इन्द्रिय जनित आनन्दोल्लास में ही लग गया है। भला अब उसे कैसे वश में किया जा सकता है। जो खाद्य वस्तु गले तक पहुँच चुकी है उसके लिए मना करने से क्या लाभ? वह तो पेट में ही पहुँचती है उसका रोकना सामर्थ्य से बाहर है। इसी प्रकार जो मन विषय-वासना के स्वाद रसों का पान कर चुका है, अब उसे कैसे वर्जित किया जा सकता है? भाव यह है कि मन को विषय-वासनाओं में पहले ही न पड़ने देना चाहिए।

विशेष—अपहार—निदर्शना।

> कबीर मन गाफिल भया सुमरिण लागे नाहि।
> घणी सहैगा सासना जम की दरगह माँहि ॥१७॥

गाफिल=अचेत। घणी=अत्यधिक। सासना=वेदनाएं यातनाएं।

कबीर कहते हैं कि मन सांसारिक विषयोपभोगों के रस में मग्न हो गया है इसीलिए यह प्रभु नाम स्मरण में नहीं लगता। उसे अपने इन पापकर्मों का भोग उस समय भोगना पड़ेगा जब यमलोक में जाकर उसे यातनाएं सहनी पड़ेंगी।

कोटि कर्म पल मैं करै, यहु मन बिषिया स्वादि।
सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि ॥१८॥

सबद—शब्द यहाँ उपदेश से तात्पर्य। बादि—व्यर्थ।

कबीर कहते हैं कि यह मन इन्द्रियों के विषय रस से प्रेरित होकर पल भर में करोड़ों दुष्कृत्य कर सकता है किन्तु दूसरी ओर इसने प्रभु भक्ति में प्रवृत्त करने वाले सतगुरु के उपदेश-वचनों का पालन नहीं किया और जीवन व्यर्थ में नष्ट कर डाला।

मैमंता मन मारि रे, घटही माँहैं घेरि।
जबही चालै पीठि दे, अंकुस दे दे फेरि ॥१९॥

मैमंता—मदमस्त हाथी।

हे साधक! इस मन रूपी मदमस्त हाथी को हृदय के भीतर ही घेरकर मार दे। जब भी यह किंचित् भी साधना-विमुख हो तो बारम्बार संयम का अंकुश लगाकर इसे उचित पथ पर ले आ।

मैमंता मन मारि रे नान्हा करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुंदरी ब्रह्म झलकै सीसि ॥२०॥

सीसि—शीश शून्य अथवा ब्रह्माण्ड। सुन्दरी—आत्मा।

हे साधक! मन रूपी मदमस्त हाथी को मार-मार कर संयम से वश में कर ले तथा इसे कणों के रूप में बारीक अर्थात् सूक्ष्म पीस। इस उपाय के द्वारा ही ब्रह्माण्ड में परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं जिससे आत्मा प्रसन्न हो सुख लाभ करेगी।

कागद केरो नाँव री पाणी केरी गंग।
कहै कबीर कैसे तिरूँ पंच कुसंगी संग ॥२१॥

गंग—सरिता से तात्पर्य 'गंगा' नदी विशेष नहीं।

यह संसार रूपी सरिता माया जाल से परिपूर्ण है जिसके भीतर इस जीर्ण शरीर की नौका के द्वारा कैसे तरा जा सकता है? फिर साथ में पाँच चोर—काम क्रोध मद लोभ मोह—लगे हुए हैं। कबीर कहते हैं कि इस कठिन परिस्थिति में मैं कैसे संसार-सरिता को पार करूँ?

कबीर यहु मन कत गया जो मन होता कालिह ।
डूगरि वूठा मेह ज्यूं गया निवांणां चालि ॥२२॥

डूगरि=टीला ।

कबीर कहते हैं कि मेरा जो निर्मल मन कल था वह न जाने अब कहाँ चला गया है । जिस भाँति टीले पर हुई वर्षा का जल क्षण भर उस पर रुक कर निम्नगामी हो चलता है उसी प्रकार इस मन पर पड़े गुरु के वचनों का प्रभाव केवल क्षण भर के लिए हुआ फिर वह पतनोन्मुख हो चला ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

मृतक कू धी जौं नहीं मेरा मन बी है ।
बाजै बाव बिकार की भी मूवा जीवै ॥२३॥

बाव=हवा ।

साधक ने अपना मन संयम द्वारा सांसारिक विषयों से मृतक तुल्य उपराम कर लिया है, उसे निश्चल अवस्था में यह भी पता नहीं कि मेरा मन भी है । भाव यह है कि वह अपने मन के अस्तित्व के विषय में भी शंकालु हो जाता है । किन्तु यदि सांसारिक विषयों से उपराम इस चित्त के पास राग रंग की तनिक भी आहट पहुँच जाय तो वह पुनः जीवित हो जाता है फिर पूर्ववत् पाप कर्म करने लगता है ।

काटी कूटी मछली छींकै धरी चहोड़ि ।
कोइ एक अषिर मन बस्या दह मैं पड़ी बहोड़ि ॥२४॥

मछली=मन । छींकै=ब्रह्मरन्ध्र । चहोड़ि=सहेज कर । दह=तालाब संसार पंक ।

साधक ने मन रूपी मछली को काटकूट कर (संयमित कर) ब्रह्म रन्ध्र या शून्य रूपी छींके में सम्भाल कर रख दिया था किन्तु संसार की वासनाओं का एक अक्षर भी कान में पड़ते ही वह मन रूपी मछली छींके पर से गिर कर पुनः संसार रूपी तालाब के पंक में आ पड़ी ।

विशेष—नाथपन्थी साधना में कुछ नामों के अनुसार मस्तिष्क में ब्रह्म रन्ध्र की स्थिति है और उससे भी ऊपर चौथा में अमर लोक या सर्वोच्च धाम की । ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचे मनुष्य का मन तो साधना भ्रष्ट हो पुनः संसार अग्नि में गिर सकता है किन्तु सर्वोच्च लोक अमर-लोक में पहुँचा साधक साधना भ्रष्ट नहीं हो सकता । यहाँ कबीर यही कहना चाहते हैं ।

कबीर मन पंषी भया बहुतक चढ़या अकास ।
उहाँ ही तैं गिरि पड़या मन माया के पास ॥२५॥

कबीर कहते हैं कि मेरा मन पक्षी होकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग शून्य प्रदेश में बहुत दूर तक चढ़ चुका था। फिर उसी उच्च स्थान (ब्रह्मरन्ध्र) के पास से जो गिरा तो माया के पास ही प्राकर रम गया। साधनापरक अर्थ वैसा ही है जैसा कि उपर्युक्त 'साखी' में दर्शाया गया है।

> भगति दुवारा संकड़ा राई दसवैं भाइ।
> मन तो मैंगल ह्वै रह्यो क्यूं करि सके समाइ ॥२६॥

दुवारा=द्वार। संकड़ा=संकीर्ण।

कबीर कहते हैं कि भक्ति का द्वार अत्यन्त संकीर्ण है। वह राई के दस भाग के बराबर है (राई स्वयं ही बहुत छोटी होती है उसके भी दशम भाग के बराबर)। मेरा मन मदमस्त हाथी के समान चंचल है फिर भला उसमें कैसे प्रवेश कर सकता है?

विशेष—'भगति दुवारा संकड़ा' में प्रतीत होता है कि भगति से कबीर का तात्पर्य ब्रह्म से है क्योंकि योग-साधना में यह मान्यता है कि ब्रह्मरन्ध्र में एक *बहुत सूक्ष्म राई बराबर बिन्दु होता है इसी बिन्दु से अमृत का स्रवण* माना जाता है। वैसे 'भगति' का अर्थ भक्ति लेने से भी अर्थ हो जाता है।

> करता था तो क्यूं रह्या अब करि क्यूं पछताय।
> बोवै पेड़ बंबूल का अंब कहां तैं खाय ॥२७॥

हे मनुष्य! जिस समय तूने ये कुकर्म किये थे उस समय तुझे यह ध्यान क्यों नहीं हुआ कि मुझे ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए। अब उन कर्मों के फलस्वरूप दुख उठाने पर क्यों पछताता है? तूने अपने कुकर्मों से बबूल वृक्ष बोये थे तो उनका फल शूल ही प्राप्त हो सकते हैं मधुर रसाल (आम वृक्ष) कहाँ से आ सकता है?

विशेष—अलंकार—निदर्शना?

> काया देवल मन धजा विषै लहरि फहराइ।
> मन चाल्यां देवल चलै ताका सर्बस जाइ ॥२८॥

देवल=देवालय मन्दिर। धजा=ध्वजा।

इस शरीर रूपी मन्दिर पर मन की ध्वजा फहरा रही है जो विषयरूपी वायु के संस्पर्श से लहराती है चालित होती है। जिसका शरीर मन के अनुसार विषयों में प्रवृत्त होने लगे उनका सर्वनाश ही समझिए। भाव यह है कि जिस प्रकार मन्दिर के ऊपर सर्वोच्च सत्ता ध्वजा की होती है उसी भाँति शरीर पर मन का अधिकार है। यह मन विषय वासनाओं में शरीर को लगाकर सर्वस्व नाश कर देता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

मनहु मनोरथ छाड़ि दे तेरा किया न होइ।
पाँणी मैं घीव नीकसै तौ रूखा खाइ न कोइ ॥२४॥

मनोरथ=मनोरथ यहाँ महत्वाकांक्षाए ।

हे मन ! तू अपनी महत्वाकांक्षाए छोड़ दे क्योंकि जो कुछ तू चाहता है वह सब सम्भव नहीं । यदि कोई पानी को बिलोकर घी निकालने में सफल हो जाय फिर तो रूखी रोटियाँ कोई न खाय सब घी का ही सेवन करें ।

विशेष— पाणी में घीव नीकसै के समान तुलसी ने भी 'बारि बिलोयें' की उपमा दी है ।

काया कसूं कमांण ज्यूं पंचतत्त करि बांण ।
मारौं तौ मन मृग कौं नहीं तौ मिथ्या जांण ॥१ ॥२८१॥

पंचतत=पंचतत्व 'क्षिति जल पावक गगन समीर।

मैं पाँचों तत्व के बाण बनाकर इस शरीर रूपी धनुष को कस लू गा । फिर इसके द्वारा यदि मैं मन रूपी चंचल मृग का वध कर दू तब तो ठीक है अन्यथा मेरे (समस्त) उपदेश को मिथ्या समझना ।

---

१४ सूषिम मारग कौ अंग

'सूषिम मारग' से कबीर का तात्पर्य सूक्ष्म मार्ग से है, साधना का पंथ अत्यन्त सूक्ष्म है—उसी का वर्णन यहा किया गया है ।

कौंण देस कहाँ आइया कहु क्यू जांण्यां जाइ ।
उहु मार्ग पावै नहीं भूलि पड़े इस मांहि ॥१॥

उहु=वह ।

आत्मा मूल रूप से सूक्ष्म प्रदेश की निवासी है किन्तु वह यहां संसार में आ गयी है इसी का सत्य कर कबीर कहते हैं कि न जाने किस देश का निवासी यहाँ (संसार म) आ गया है भला फिर उस को किस प्रकार जाना जा सकता है ? इस आत्मा को साधना का उपयुक्त मार्ग तो मिल नहीं पा रहा है अतः यह पथ-विभ्रष्ट हो इस संसार में भटक रही है ।

उतीथ कोइ न आवई जाकूं बूझौं धाइ ।
इतथैं सबै पठाइये भार लदाइ लदाइ ॥२॥

उतीथ=उधर से । इतथैं=इधर से ।

कबीर कहते हैं कि यह साधना का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है किसी से भी

इसका पता नहीं चल पाता क्योंकि जो इस पार कर लेते हैं वे तो इधर मृत्यु लोक में लौटते नहीं शून्य-स्वर्ग-में रम रहते हैं फिर भला मैं किससे लौटकर वहाँ का समाचार पूछूं ? मार्ग के ज्ञान के बिना ही सब इधर से व्यर्थ के सम्भार लाद-लाद कर साधना पथ में चले जाते हैं।

सबकू बूझत मैं फिरौं रहण कहै नहीं कोइ।
प्रीति न जोड़ी राम सू रहण कहां थैं होइ ॥३॥

मैं सबसे यह पूछता फिरता हूं कि साधना में व्यवहार कैसा है किन्तु कोई भी उस व्यवहार की स्थिति को नहीं बता पाता। इन सांसारिक मनुष्यों ने प्रभु से प्रेम तो कभी किया नहीं फिर भला ये कैसे इस संसार में रह सकते हैं शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

चलौं चलौं सबको कहै, मोहि अंदेसा और।
साहिब सू पर्चा नहीं ए जांहिगें किस ठौर ॥४॥

कबीर कहते हैं कि समस्त साधक उस अगम्य मार्ग की ओर जाने का संकल्प करते हैं किन्तु मुझे इनकी सफलता में आशंका है। किसी का भी प्रभु से तो परिचय है नहीं पता नहीं न जाने किस स्थान पर जाकर ये रुकेंगे अर्थात् व्यर्थ इधर उधर भटकते रहेंगे।

जाइबे की जामा नहीं रहिबे कौं नहीं ठौर।
कहै कबीरा संत हौ अबिगति की गति और ॥५॥

जामा नहीं—ज्ञान वेश नहीं छोले।

कबीर कहते हैं कि प्रभु के पास जाने के लिए तो मैंने अपने ज्ञान वेश विवेक तक छोले ही नहीं और इस संसार के विषय-वासना पंक में रहने के लिए स्थान नहीं है। कबीर कहते हैं कि हे साधुजनो ! ब्रह्म उससे भिन्न है अथवा ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग उससे भिन्न है जो सामान्य रूप से संसार ने समझ रखा है। भाव यह है कि साधना-मार्ग में बाह्याडम्बरों की आवश्यकता नहीं।

कबीर मारिग कठिन है, कोई न सकई जाय।
गए ते बहुड़े नहीं कुसल कहै को आइ ॥६॥

बहुड़े—लौटे।

कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु तक जाने का मार्ग अत्यन्त कठिन है। कोई वहां पहुंच नहीं सकता और जो वहां पहुंच जाते हैं, वे वहां से लौटते नहीं फिर उस पथ का विवरण कौन दे ? अतः साधना मार्ग की अगम्यता अगम्यता ही बनी रहती है।

विशेष—मलिक मुहम्मद जायसी ने भी 'पद्मावत' के पद्मावती नागमती-विलाप खण्ड' में सिंहली का वर्णन करते हुए प्रभु प्राप्ति के मार्ग के विषय में ऐसा ही कहा है—

"सो सिंहली घस निठुर देसू। कोई न बहुरा कहै सन्देसू॥
जो गवन सो तहाँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥

घर कबीर का सिखर पर, बाट सलैली सैल।
पाव न टिकै पपीलका, लोगनि लादे बैल॥७॥

घर=वास स्थान। सिखर=शून्य शिखर, ब्रह्मरन्ध्र। सलैली सैल=फिसलने आदि से दुर्गम पर्वतीय मार्ग।

भक्त कबीर का वास्तविक घर तो शून्य शिखर पर स्थित ब्रह्मरन्ध्र है, वहाँ तक पहुँचने का मार्ग बड़ा ही दुर्गम बाधाओं के पंक से भरा हुआ है। वहाँ तो चींटी (जीवनमुक्त साधकों) के भी पैर नहीं टिक सकते और यहाँ से लोग चार कर्मों के बोझ से बैल के समान लद कर साधना पथ पर चलना चाहते हैं।

विशेष—योग-साधना में साधक सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में स्थित ब्रह्मनाड़ी के द्वारा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी कर शून्य शिखर पर पहुँचने का प्रयास करता है, इसे 'पिपीलिका गति' कहते हैं जो इस गति को साधता है उसे कबीर ने यहाँ 'चींटी' बताया है।

जहाँ न चींटी चढ़ि सकै राई ना ठहराइ।
मन पवन का गमि नहीं तहाँ पहुँचे जाइ॥८॥

कबीर कहते हैं कि जिस शून्य स्थल पर चींटी चढ़ नहीं सकती एवं राई भी वहाँ नहीं ठहर सकती सर्वगामी और तीव्रगामी पवन तथा मन की भी वहाँ गति नहीं है वहाँ मैं पहुँच चुका हूँ।

कबीर मारग अगम है सब मुनिजन बैठे थाकि।
तहाँ कबीरा चलि गया गहि सतगुर की साखि॥९॥

साखि=सीख उपदेश।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म प्राप्ति का जो मार्ग है वह अगम्य है, जिसकी दुर्गमता से मुनिजन भी थककर बैठ गये वहाँ कबीर सद्गुरु के उपदेश को ग्रहण कर पहुँच गया है।

सुर नर थाके मुनि जना जहाँ न कोई जाइ।
मोटे भाग कबीर के तहाँ रहे घर छाइ॥१०॥

मोटे भाग=बड़े भाग्य।

जिस प्रभु के पास तक पहुचने में देवता मुनिगण और मनुष्य थककर हो बैठ रहे जहाँ कोई भी न जा सका वहाँ कबीर का स्वामी वास हो गया है—यह उसके लिए बहुत बड़े भाग्य की बात है।

— —

१५ सूषिम जनम कौ अंग

कबीर सूषिम सुरति का जीव न जांणैं जास।
कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि काम ॥१॥

१ सूषिम—सूक्ष्म। जास—रहस्य।

कबीर कहते है कि जीवात्मा सहजावस्था के सूक्ष्म मार्ग का रहस्य नहीं जानती। कबीर कहते हैं कि हे जीव! अपनी आत्मा का यह अज्ञान दूर कर जिसके कारण तू इस संसार को ही सत्य समझ बैठा है। तभी तुझे उस मार्ग का ज्ञान हो सकता है।

विशेष—यहाँ 'सुरति' का तात्पर्य 'सहजावस्था' से ही है भाग्री विशेष है नहीं। कबीर के समय तक बहुत से साधनापरक शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो चुके थे अतः उन्होंने कहीं किसी शब्द को किसी अर्थ में तो कहीं दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया है। विशेष विवरण के लिए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के 'कबीर' में 'कुछ पन्थ शब्दों के भाग्य-विपर्यय' को देखिए।

प्रांण पंड कौं तजि चलै मूवा कहै सब कोइ।
जीव छतां जांमैं मरैं, सूषिम लखै न कोइ॥२॥१ ४४॥

पंड—पिंड शरीर। मूवा—मर गया। छतां—जीवित रहते हुए भी। सूषिम—सूक्ष्म ब्रह्म।

प्राण जब शरीर का परित्याग कर देते है तो सब उसे मृतक कहने लगते है। जीवात्मा जीवित रहते हुए भी अनेक बार जन्म-मरण में पड़ती है अर्थात् साधक जीवित रहते हुए भी संसार से निर्लेप रह जीवनमुक्त हो जाता है। ब्रह्म को कोई नहीं देख पाता।

विशेष—अन्तिम चरण मे ब्रह्म को अप्राप्य बताकर कबीर कोई विरोधा भास उपस्थित नहीं कर रहे हैं अपितु केवल ब्रह्म प्राप्ति की कठिनता प्रदर्शित करना चाहते हैं।

— —

१६ माया कौ अंग

जग हटवाड़ा स्वाद ठग माया वेसाँ लाइ।
रामचरन नीकाँ गही जिनि जाइ जनम ठगाइ ॥१॥

हटवाड़ा=हाट, बाजार। वेसाँ=वेश्या।

कबीरदास कहते हैं कि संसार एक बाजार है जिसमें इन्द्रियों के स्वाद रूप अनेक विषय-वासनाओं के ठग एवं माया रूपी वेश्या जीव को ठगने का, अपने जाल में फंसाने का उपक्रम करते हैं। हे मानव ! यदि तुम निष्ठा-पूर्वक राम-चरण ग्रहण करोगे प्रभु भक्ति में प्रवृत्त होगे तो तुम्हारा कल्याण हो सकता तब ये ठग और माया रूपी वेश्या तुम्हारे जीवन धन को ठगने में असमर्थ होंगे।

अलंकार—रूपक।

कबीर माया पापणी फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तो फंधै पड़्या गया कबीरा काटि ॥२॥

पापणी=पापिनी व्यभिचार आदि पाप कर्मों में प्रवृत्त होने वाली वेश्या से तात्पर्य है। फंध=जाल पाश। फंधै=पाश में। काटि=तोड़ने का अर्थ।

कबीर कहते हैं कि माया पापिनी वेश्या है जो इस संसार के बाजार में सबको घेर आकृष्ट करने का पाश लिए हुए है। समस्त संसार इस माया पाश में आबद्ध हो गया किन्तु कबीर (भावुकजन से तात्पर्य) उसे काट चुका है, क्योंकि प्रभु-भक्ति में ही उसकी रुचि है, माया के विषयों में नहीं।

विशेष—रूपक अलंकार।

कबीर माया पापणी लालै लाया लोग।
पूरी किनहूँ न भोगई इनका इहै बियोग ॥३॥

लालै लाया=धन आकर्षण पाने की लालसा जगाना। इहै=यही।

कबीर कहते हैं कि माया पापिनी वेश्या है जो अपने आकर्षण के द्वारा जीव में विषय वासनाओं की लालसा जगाती है। जिस प्रकार वेश्या पर (वाटिका के समान) किसी का अधिकार नहीं होता और न वह किसी एक की होकर रह पाती है इसलिए उसका कोई पूर्ण उपभोग नहीं कर पाता उसी प्रकार माया के विविध आकर्षणों पर एक व्यक्ति विशेष का पूर्ण अधिकार नहीं रहा, यदि रहता भी है तो कुछ समय के लिए। माया के विविध विषयों की वंचना से ही संसार दुख (वियोग) भोगता है।

विशेष—रूपक एवं सम्भावना अलंकार।

कबीर माया पापणी हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की कहण न देई राम ॥४॥

हराम=विमुख से तात्पर्य। कड़ियाली=कड़ी भूंखला।

कबीरदास जी कहते हैं कि यह माया ऐसी पापिन है कि जीव को प्रभु-विमुख कर देती है। यह जीव के मुख से कड़वी वचनावली का निरन्तर उच्चारण कराकर राम-नाम कहने का अवसर नहीं देती। भाव यह है कि माया प्रभु-भक्ति में बाधक है।

जाणौं जे हरि कौं भजौं मो मनि मोटी आस।
हरि बिचि घालै अंतरा माया बड़ी बिसास ॥५॥

मोटी आस=विषय-वासनाओं की तृष्णा। घालै=डालना। बिसास=विश्वासघातिनी।

प्रत्यक्षतः ऐसा लगता है कि मैं (ढोंगी साधक) प्रभु भक्ति में तल्लीन हूँ किन्तु मेरे मन में माया ने विषय-वासनाओं की प्रबल तृष्णा बसा रखी है। यह माया बड़ी विश्वासघातिनी है जो इन विषय-वासनाओं के द्वारा प्रभु और जीव के बीच अंतर डाल देती है।

विशेष—कबीर ने माया को विश्वासघातिनी इसलिए बताया कि यह अपने जनक-प्रभु से जीव को विमुख करती है।

कबीर माया मोहनी मोहे जांण सुजांण।
भागां ही छूटै नहीं भरि भरि मारै बांण ॥६॥

जांण=ज्ञानी। सुजांण=सुजान चतुर।

कबीर कहते हैं कि माया ऐसी आकर्षक है कि सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या बड़े-बड़े ज्ञानी एवं चतुर भी इसके आकर्षण में सम्मोहित हो गये हैं। यदि कोई जंजाल से भागकर विमुक्त होना चाहे तो असम्भव है क्योंकि यह तान-तान कर मोहक बाणों की वर्षा कर व्यक्ति को अपने जाल में फंसा लेता है।

कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खांड।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तौ करती भांड ॥७॥

भांड—एक जाति विशेष जिसका सामाजिक स्थान अत्यन्त निकृष्ट, यहां नष्ट होने से अर्थ।

कबीर कहते हैं कि माया बड़ी सम्मोहक एवं खांड के समान मीठी है। सद्गुरु ने कृपा कर मुझे इसके जाल से विमुक्त कर दिया अन्यथा यह तो मुझे नष्ट करके ही छोड़ती।

विशेष—उपमा अलंकार।

कबीर माया मोहनी सब जग घाल्या घाणि।
कोई एक जन ऊबरै जिनि तोड़ी कुल की काणि ॥८॥

घाल्या=अपने वश में लपेट लिया। घाणि=घानी तेली जिस गड्ढे के पास में सरसों आदि डालकर तेल निकालता है उसे घानी कहते हैं यह काठ की बनी होती है। कुल की काणि=कुल मर्यादा अर्थात् लोक परम्परा।

कबीर कहते हैं कि यह माया बड़ी सम्मोहक है जिसने अपनी घानी में समस्त संसार को डाल रखा है। कोई एकाध व्यक्ति ही जिसने संसार की स्वाभाविक परम्परा का परित्याग किया हो इसके पाश से बच पाता है।

विशेष—१ रूपक अलंकार।

२ 'जिन तोड़ी कुल की काणि' पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने से पुष्टि मार्गीय वल्लभ मत से इसका अद्भुत साम्य मिलता है वहाँ भी प्रभु प्राप्ति के लिए 'कुलकानि' परित्याग अत्यावश्यक है। यद्यपि यहाँ यह कहने का तात्पर्य कदापि नहीं कि दोनों स्थानों पर यह मान्यता एक दूसरे के प्रभाव से आयी है, किन्तु यहाँ यह दिखाने का प्रयोजन यही है कि सन्तों और वल्लभ में निराकार और साकार इष्ट का अन्तर होते हुए भी यह साम्य है। 'अष्टछाप' के अनेक कवि—सूरदास कुम्भनदास परमानन्द दास आदि—ने कुलकानि' त्याग का वर्णन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि में भी इस लोकमर्यादा परित्याग का वर्णन मिलता है।

कबीर माया मोहनी माँगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि तब लागी डोलै साथि ॥९॥

मनह=मन से।

कबीर कहते हैं कि यह मोहिनी माया माँगने पर, प्रयत्न करने पर प्राप्त नहीं होती क्योंकि मायाजन्य आकर्षणों का कितना ही भोग क्यों न किया जाय फिर भी इन्द्रियाँ अतृप्त रहती हैं। किन्तु जब इसे मिथ्या भ्रम-जाल समझकर मन को इसके आकर्षण से पृथक कर दिया जाय तो यह पीछे-पीछे फिरती है। भाव यह है कि माया का परित्याग करने से ही अधिक आनन्द एवं मंगल है।

माया दासी सन्त की ऊभी देइ असीस।
विलसी अरु लातौं छड़ी सुमरि सुमरि जगदीस ॥१०॥

ऊभी=खड़ी-खड़ी आज्ञा मानने दासी से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि माया संतों की दासी है जो खड़ी-खड़ी ही उनकी आज्ञा

का पालन करती है। वे इसका उपयोग प्रभु को भजते हुए करते हैं और इस पर भी इसे मुँह नहीं लगाते लातों और छड़ियों की मार से इसकी खबर लेते हैं।

माया मुई न मन मुवा मरि मरि गया शरीर।
आसा त्रिष्णा ना मुई यौं कहि गया कबीर॥११॥

कबीर कहते हैं कि आवागमन के चक्र में पड़कर शरीर बारम्बार नष्ट हुआ किन्तु किसी भी जन्म में माया का आकर्षण एवं मन की विषयों के पीछे दौड़ समाप्त न हुई। न कभी सांसारिक कामनाओं एवं तृष्णा का अन्त हुआ।

आसा जीवै जग मरै लोग मरे मरि जाइ।
सोइ मूवे धन संचते सो उबरे जे खाइ॥१२॥

आशा—तृष्णा।

संसार का समस्त वैभव आदि समाप्त हो जाता है किन्तु यह तृष्णा फिर भी जीवित रहती है। मनुष्य आवागमन के चक्र में पड़-पड़ कर बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं किन्तु फिर भी सांसारिक तृष्णा का अन्त नहीं होता। जिन्होंने इस तृष्णा से परिचालित हो धन का संचय किया वे ही इस संसार में नष्ट हुए अथवा आवागमन के चक्र में पड़े। जिन व्यक्तियों ने धन का पूर्ण उपयोग किया वे मुक्त हो गये।

विशेष—कबीर यहाँ धन संचय का विरोध इसीलिए करते हैं कि धन के पीछे व्यक्ति बावला बना फिरता है, न जाने क्या-क्या कुकृत्य करने को प्रस्तुत हो जाता है, और तृष्णा अधिकाधिक बढ़ती जाती है। वैसे धन के सम्बन्ध में उनकी मान्यता यही है कि—

'खाये खरचे जो बचै तो जोरिय करोरि''

कबीर सो धन संचिये जो आगैं कूं होइ।
सीस चढ़ायें पोटली ले जात न देख्या कोइ॥१३॥

संसार की स्थिति यह है कि मनुष्य अपनी सामान्य आवश्यक आवश्यकताओं जिनके अभाव में उसके जीवन का पूर्ण विकास सम्भव नहीं को काट कर धन संचय कर अभावों के संसार में जीवन व्यतीत करता है। इसी को लक्ष्य कर कबीर कहते हैं कि धन-संचय उसी स्थिति में उपादेय है जबकि आगामी समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह उपयोगी हो। व्यर्थ में काट कर धन-एकत्रित कर उसे सर्वदा अपने साथ लगाये तो फिर सकते हो किन्तु मृत्यूपरान्त कोई भी इसे ले जाता नहीं देखा गया है।

विशेष—इस साखी का एक दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! सांसारिक धन-संग्रह में क्या लगा हुआ है ऐसे धन का संचय कर, ऐसे सुकृत्य कर जो परलोक में भी तेरे काम आ सकें—जिनके बल पर तू मुक्त हो जाय। इस सांसारिक धन की गठरी को मृत्यु के पश्चात् अपने साथ ले जाता कोई नहीं देखा सब यहीं का यहीं रह जाता है।

त्रीया त्रिष्णाँ पापणी तासूं प्रीति न जोड़ि।
पैंडी चढ़ि पाछाँ पड़ै लागै मोटी खोड़ि ॥१४॥

त्रिया=स्त्री। पापणी=पापिनी वेश्या से तात्पर्य। खोड़ि=गम्भीर पाप।

तृष्णा एक व्यभिचारिणी स्त्री है जो मन को विभिन्न विषयों में भटकाती रहती है या विविध विषयों में मन का गमन कराती रहती है। हे जीव ! तू इससे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित मत कर, तू इसके पाश में मत फँस। यह तो धीरे-धीरे जीव को आकर्षित कर लेती है किन्तु इसके संसर्ग से फिर अनेक पापों का भागी बनना पड़ता है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

त्रिष्णाँ सींची नाँ बुझै, दिन दिन बधती जाइ।
जवासा के रूष ज्यूं घण मेहां कुमिलाइ ॥१५॥

बधती=बढ़ती।

कबीर कहते हैं कि इस सांसारिक तृष्णा रूपी लता को पल्लवित करने से नष्ट नहीं किया जा सकता उसमें तो यह दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इसका नाश तो प्रेम भक्ति की प्रबल वर्षा से ही सम्भव है जिस प्रकार जवासा जितनी अधिक वर्षा होती जाती है उतना ही सूखता जाता है।

विशेष—(१) विभावना अलंकार। (२) आक और जवास ग्रीष्म में तो हरे रहते हैं किन्तु वर्षा प्रारम्भ होते ही ये सूखने लगते हैं। अन्य कवियों ने भी इसी अनुभूति को आक जवास के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

कबीर जग की को कहै, भौ जलि बूडै दास।
पारब्रह्म पति छाड़ि करि करैं मानि की आस ॥१६॥

भौ जलि=भव जल संसार सागर।

कबीर कहते हैं कि सामान्य सांसारिक प्राणियों की कौन कहे इस संसार सागर में भक्त जन भी डूब रहे हैं किन्तु भक्त तभी डूबते हैं जब वे पारब्रह्म परमेश्वर स्वामी को भूल कर सांसारिक मान के इच्छुक हो जाते हैं, उनमें पड़ जाते हैं।

माया तजी तौ का भया मानि तजी नहीं जाइ।
मानि बड़े मुनियर मिले मानि सबनि कौं खाइ ॥१७॥

मुनियर=मनिवर, श्रेष्ठ मुनिगण। मिले=मिट्टी में मिले, नष्ट हो गये।

हे साधक! यदि तू माया से असम्पृक्त हो गया तो कोई विशेष महत्व की बात नहीं। तूने अपने मान अहं, का तो परित्याग नहीं किया। इसी अहं ने सब नष्ट कर दिया।

रांमहि थोड़ा जांणि करि, दुनियां आगैं दीन।
जीवां कौं राजा कहै माया के आधीन ॥१८॥

थोड़ा=हीन।

हे मनुष्य! तूने प्रभु को तुच्छ समझ कर संसार को अधिक महत्व दिया संसार में ही उलझा रहा। तू उस जीव को ही वास्तविक राजा स्वामी समझ बैठा जो मायाधीन होकर वैभवपूर्ण ढंग से रहता है।

रज बीरज की कली तापरि साज्या रूप।
रांम नांम बिन बूडिहै कनक कामणी कूप ॥१९॥

साज्या=बनाया। बूडि है=डूबेगा नष्ट हो जायेगा।

हे मनुष्य! तू अपने ऊपर गर्व क्या करता है तू है ही क्या पुरुष के वीर्य और स्त्री की रज जैसी वस्तुओं से निर्मित एक कली है जिस पर तैने यह साज-सज्जा का आडम्बर कर रखा है। तू प्रभु-भक्ति बिना स्वर्ण अर्थात् धन और कामिनी रूपी कुएं में गिरकर नष्ट हो जायेगा।

माया तरवर त्रिविध का साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं फल फीको तनि ताप ॥२०॥

त्रिविध=त्रिगुणात्मक दैहिक दैविक भौतिक सन्तापों से युक्त।

कबीरदास जी कहते हैं कि माया दैहिक दैविक भौतिक संतापों से युक्त त्रिगुणात्मक वृक्ष है, दुख और सन्ताप ही इसकी शाखाएं हैं। सामान्य वृक्ष की छाया शीतल एवं फल मधुर होता है किन्तु इस माया-वृक्ष के आश्रय में शीतलता-सुख स्वप्न में भी प्राप्त नहीं और इसका फल फीका है, ये सब अर्थात् छाया और फल शरीर को दुख ही प्रदान करते हैं।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

कबीर माया डाकणी सब किसही कौं खाइ।
दांत उपाड़ौं पापणी जे सन्तौं नेड़ी जाइ ॥२१॥

डाकणी=पिशाचिनी। उपाड़ौं=उखाड़। नेड़ी=पास।

कबीर कहते हैं कि यह माया पिशाचिनी है जो संसार के सब ही मनुष्यों को खाती है। यदि यह साधु-जनों के पास भी फटकी तो मैं इस पापिनी के दांत उखाड़ दूँगा इसे नष्ट कर दूँगा।

> कमनी सायर घर किया दौं लागी बहुतेणि।
> जलही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि ॥२२॥

सायर=सागर माया। दौं=अग्नि विभिन्न यातनाएं एवं भवताप।

कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार कमलिनी जल में रहती है, उसी भांति आत्मा ने इस संसार (की माया) को अपना निवास-स्थान बना लिया है, किन्तु वहाँ बहुत से दुःख एवं संसार ताप उसे दग्ध करने लगे। इस प्रकार यह आत्मा इस संसार रूपी जल में ही रहते हुए जल मरी नष्ट हो गई। यह आश्चर्यजनक परिणाम उसके पूर्वजन्म के दुष्कर्मों का ही था।

विशेष—अलंकार—यमक विरोधाभास एवं रूपकातिशयोक्ति।

> कबीर गुण की बादली तीतरबानी छाँहि।
> बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मन्दिर माँहि ॥२३॥

गुण=गुण रज तम—त्रिगुण। तीतरबानी=तीतरवर्णी=तीतर की पंखों के समान छितरी-छितरी सी किन्तु रंग तीतर के पंखों जैसा नहीं होता उसके रंग के छितराये होने के ही कारण उसे 'तीतरबानी' कहा जाता है।

कबीर कहते हैं कि यह त्रिगुणात्मक माया की तीतरवर्णी घटा बिना बरसे बिना अपना प्रभाव दिखाये नहीं रहती। जो इस घटा की छाया से बाहर रहे मायाविमुख रहे वे मुक्त हो गये माया उन पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकी किन्तु जो शरीर रूपी आवास के अन्दर रहे अर्थात माया आवर्तनों में ही शरीर का लगा दिया वे भीग गये माया ने उन पर अपना पूर्ण प्रभाव कर दिखाया।

विशेष—(१) अलंकार—रूपक विरोधाभास। (२) तीतरवर्णी बदली के लिए ऐसा कहा जाता है कि यह वर्षा अवश्य करती है निम्नस्थ लोकोक्ति से इसकी पुष्टि होती है—

> "तीतर बानी बादली विधवा काजर रेख।
> वह बरसे वह घर करे, यामें मीन न मेख॥
> कबीर माया मोह की भई अंधारी लोइ।
> जे सूते ते मुसि लिए, रहे बसत कूँ रोइ ॥२४॥

लोई=(लोचन) नेत्र। सूते=सुषुप्त अज्ञान-निद्रा में। मुसि=ठग लिए। बसत=वस्तु सारतत्व ब्रह्म।

कबीर कहते हैं कि इस माया-मोह के अज्ञान-अन्धकार ने नेत्र बन्द कर दिये हैं, उनसे उचित पथ नहीं सूझता। जो व्यक्ति इस अज्ञानांधकार की अवस्था में अचेत हो अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाते हैं। अन्ततः उन्हें सार-तत्व—ब्रह्म—की प्राप्ति के लिए पछताना पड़ता है कि काश! हम भी प्रभु को प्राप्त कर पाते।

संकल ही तै सब लहै माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटै बापुड़े बांधे सिरजनहार ॥२४॥

संकल=कुण्डी जिससे द्वार बन्द होता है, शृंखला।

समस्त संसार माया की शृंखलाओं में बंधा हुआ है, ये बेचारे जीव किस प्रकार माया-बन्धन से विमुक्त हो सकते हैं जो संसारकर्ता ब्रह्म को भी माया-संलिप्त बताते हैं।

बाड़ि चढ़ंती बेलि ज्यूं उलझी आसा फंध।
तूटै पणि छूटै नहीं भई ज बाचा बंध ॥२५॥

बाड़ि=बाड़, किसी बेल के चढ़ाने के लिए ग्रामों में प्रायः कांटों की एक बाड़ सी लगा देते हैं यह प्रायः बबूल वृक्ष की शाखाओं को काट कर बनायी जाती है। फंध=फंदा। तूटै=टूट। बाचाबन्ध=वचन-बद्ध।

यह माया इस संसार रूपी बाड़ के ऊपर चढ़ाई गई एक बेल है जो विविध आशाओं लालसाओं के फन्द में उलझी हुई है अर्थात् जीव को माया तृष्णा के फन्द में उलझा लेती है। यदि जीव इससे अपना सम्बन्ध समाप्त कर दे तो भी यह संसार से नहीं छूट सकती जैसे कोई वचनबद्ध व्यक्ति हानि होने पर भी अपने वचनों का परित्याग नहीं करता।

विशेष—अलंकार—उपमा रूपक।

सब आसण आसा तणां निबर्ति कै को नाहि।
निवरति कै निबहै नहीं परवति परपंच माहि ॥२६॥

आसण=स्थिति। तणा=नीचे। निबर्ति=निवृत्ति। परवति=प्रवृत्ति।

संसार के समस्त प्राणियों पर माया—लालसा—का प्रभुत्व है, कोई भी इस संसार से निवृत्त नहीं। अतः जो व्यक्ति प्रवृत्ति मार्ग के दम्भों में फंसा हुआ है वह निवृत्ति मार्ग का निर्वाह कैसे कर सकता है? भाव यह है कि संसार से तटस्थ होकर, प्रवृत्ति मार्ग का परित्याग कर के ही निवृत्ति—वैराग्य(संसार से राग)—उत्पन्न हो सकती है।

कबीर इस संसार का झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता बधावणा तिहि घरि तिता अँदोह ॥२८॥

बधावणा=आनन्दोल्लास। तिता=उतना ही। अंदोह=दुख।

कबीर कहते हैं कि संसार का माया-आकर्षण मिथ्या है यहाँ तो सर्वत्र दुख ही दुख है। जहाँ बहुत अधिक आनन्दोल्लास है अथवा जहाँ जितना अधिक आनन्द-मंगल दिखाई देता है वहाँ दुख भी उतना ही अधिक है।

माया हमसौं यों कह्या तू मति दे रे पूठि।
और हमारा हम बलू गया कबीरा रूठि ॥२९॥

दे रे पूठि=पीठ देना विमुख होना। हम बलू=अपना बल आत्मबल।

कबीर कहते हैं कि माया ने मुझ से यह कहा कि तू मुझसे विमुख मत हो—इसीलिए माया ने विविध आकर्षण प्रस्तुत किये किन्तु यह मेरा आत्मबल है कि मैं माया से अप्रसन्न हो गया उससे सम्बन्ध विच्छेद कर दिया।

बुगली नीर बटालिया सायर चढ्या कलंक।
और पँखेरू पी गये हंस न बोवै चंच ॥३०॥

बगली=बगुला माया से तात्पर्य है। बटालिया=समाप्त कर दिया। सायर=सागर। पंखेरू=पक्षी सामान्य सांसारिक जीव। हंस=मुक्तात्मा।

माया रूपी बगुली ने आत्मा के जल को समाप्त कर दिया उसका तेज समाप्त कर दिया। इससे यह शरीर रूपी सागर कलंकित हो गया—बहुत से पापों-दोषों का भागी हो गया। अन्य सांसारिक जीव तो इस गन्दे जल को पी गये अर्थात् माया में संलिप्त हो गये किन्तु जो मुक्तात्मा (हंस) हैं उन्होंने इस माया जल को छुआ तक नहीं।

विशेष—(१) अलंकार=सांगरूपक रूपकातिशयोक्ति। (२) मुक्तात्माओं को इस संसार में स्थिति पद्मपत्रमिवाम्भसि तुल्य मानते हैं।

कबीर माया जिनि मिलै सौ बरियां दे बांह।
नारद से मुनियर गिलै किसौ भरोसौ त्यांह ॥३१॥

गिले=नष्ट कर दिये।

यदि माया अपने सब धन आकर्षणों से मुझे अपने फन्दे में फँसाना चाहे तो भी कबीर तू उसके चक्कर में मत आ। इस माया का क्या भरोसा कि कहाँ किसको किस गर्त में डाल दे। ऋषिश्रेष्ठ नारद तक को भी इसने भ्रष्ट कर दिया।

विशेष—नारद—"यह ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते हैं। यह भगवान् के भी बड़े भक्त थे। एक समय इनकी तपस्या से डर कर इन्द्र ने उसे भंग करने के लिए कामदेव आदि को भेजा। परन्तु यह नहीं डिगे। कामदेव को जीतने का इनको बड़ा अहंकार हो गया। इसकी चर्चा यह सभी स्थानों पर करने लगे तब महादेव जी ने इनको समझाया कि विष्णु से कभी इसकी चर्चा न करना लेकिन इनसे नहीं रहा गया। इन्होंने उनसे भी अपनी विजय का गर्व से वर्णन किया। इस पर भगवान् उनकी परीक्षा के लिए उनके लौटने के मार्ग में एक माया की राजा तथा उसकी कन्या का निर्माण कर उसका स्वयंवर निश्चित कर दिया। नारद जी उस कन्या के रूप और गुणों पर मोहित हो गये तथा उससे ब्याह करने की अभिलाषा से विष्णु के पास उनका रूप मांगने गये। भगवान् ने उनको माया के प्रभाव में आया हुआ जान कर उनका शरीर तो बहुत सुन्दर बनाया किन्तु मुह बन्दर का बना दिया। इस रहस्य को नारद नहीं जान सके और अभिमान के साथ स्वयंवर में आ बठे। परन्तु उनकी आशा पूरी नहीं हुई, उस कन्या को स्वयं विष्णु एक दूसरा रूप धारण कर ब्याह ले गये। स्वयंवर में उपस्थित शिवजी के दो गण उनके रूप को देख कर हंसने लगे तब उन्होंने अपने मुख के प्रतिबिम्ब को जल में देखा और क्रोध से शिव-गणों को तथा भगवान् तक को शाप दे डाला। एक और कथा नारद के विषय में महाभारत में प्रचलित है वह इस प्रकार है। नारद एक समय राजा धृन्जय के यहाँ रहते थे। उन्होंने अपनी कन्या को उनकी सेवा करने के लिए नियुक्त किया। परन्तु नारद जी कामवश हो कर उसकी ओर आकर्षित हो गये और उससे ब्याह कर लिया (— 'कबीर—बीजक')। यहाँ कबीर का इंगित प्रस्तुत कथाओं की ओर ही है।

> माया की झल जग जल्या कनक कांमिणीं लागि।
> कहु धौं किहिं विधि राखिये रुई पलेटी आगि ॥१२॥१४९॥

झल—अग्नि। पलेटी—लपटी हुई।

स्वर्ग—जग—और कामिनी की माया—अग्नि मे जलकर समस्त जगत् भस्म हो गया नष्ट हो गया। जिस प्रकार रुई मे लपेटी हुई अग्नि अधिक समय तक अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रह सकती उसी भांति कनक और कामिनी के संसर्ग मे पड़ा मनुष्य अधिक समय तक नहीं टिक सकता उसका विनाश निश्चित है।

विशेष—निदर्शना अलंकार।

---

१७ चाणक कौ अंग

जीव बिलम्ब्या जीव सौं, अलख न लखिया जाइ।
गोबिंद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ॥१॥

बिलंब्या=सहारा लिया, आश्रय लिया। अलख=निराकार ब्रह्म। झल=अग्नि, संसार ताप।

मनुष्य मनुष्य का व्यर्थ सहारा लेता है जिसका कोई फल नहीं निकलता। कोई भी उस निराकार ब्रह्म की खोज में तत्पर नहीं होता जिससे शान्ति लाभ की आशा है। जब तक प्रभु-मिलन नहीं होगा तब तक सांसारिक तापों का शमन भी असम्भव है—यह बात बारम्बार (कबीर द्वारा) समझाकर कही गई है।

इही उदर कै कारणै, जग जाच्यो निस जाम।
स्वामीं-पणौ जु सिर चढ्यो, सर्यो न एकौ काम॥२॥

स्वामी-पणौ=स्वामित्व अहंभाव। सर्यो=सिद्ध हुआ।

इस पेट के ही कारण मैंने अहर्निश—सर्वदा सांसारिक प्राणियों से भिक्षा माँगी। इस दीनता की स्थिति में भी मैं अपने को सांसारिक वस्तुओं का स्वामी मान बैठा मुझमें अहंभाव जागृत हो गया जिसके कारण मेरा पतन हुआ। एक भी कार्य सिद्ध न हो सका न तो लोक में सुखी जीवन व्यतीत किया और न परलोक में सुखी-जीवन प्राप्त हो सकेगा क्योंकि प्रभु-भक्ति तो की ही नहीं।

स्वामीं हूणां सोहरा, दोद्धा हूणां दास।
गाडर आंणी ऊन कूं, बांधी चरै कपास॥३॥

हूणा=होना। सोहरा=सहज आसान। दोद्धा=दुर्लभ कठिन। दास=भक्त। गाडर=भेड़।

मनुष्य स्वयं स्वामी होने का दम्भ सरलता से भर सकता है किन्तु भक्त बनना जिसमें सर्वस्व समर्पण की आवश्यकता है कठिन है। यदि प्रभु भक्ति के अन्तर्गत यह भावना बनी रही तो सब व्यर्थ हो जाता है भक्ति ही नहीं रहती ठीक उसी प्रकार जैसे किसी भेड़ को लाया तो ऊन प्राप्ति के लिए जाय किन्तु वह बंधी हुई ही घर में रखी कपास भी खा जाय।

विशेष—निदर्शना अलंकार।

स्वांमीं हूवा सीतका, पैका कार पचास।
राम नांम कांठै रह्या, करै सिषां की आस॥४॥

छीतका=क्षणभर,थोड़ी सी सम्पत्ति। पैका कार=पैरवीकार, मनुचर। कांठे=कण्ठ में। सिषों=शिष्य।

हे मनुष्य ! तू क्षण भर सम्पत्ति का स्वामी होकर ही दम्भ में भर गया। इसी धन-वैभव के प्रभाव से तूने बहुतों—बहुत से—सेवक रख रखे हैं। हे बूढ़े ! कभी तूने हृदय से राम नाम नहीं लिया केवल मुह से एकाध बार प्रभु का नामोच्चारण किया उसी से अपने को भक्ति का अधिकारी मान यह कामना करता है कि लोग मेरा शिष्यत्व ग्रहण करें ? कैसा मिथ्या दम्भ है।

> कबीर तष्टा टोकणीं लीए फिरै सुभाइ।
> राम नांम चीन्हैं नहीं पीतलि ही कै चाइ॥५॥

तष्टा=तसला। टोकणी=टोकनी—पात्र विशेष। सुभाई=स्वभाव। चाई=चाव इच्छा।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू अपनी स्वाभाविक वृत्तियों—भूख की परितृप्ति के लिए यह तसला और टोकनी आदि पात्र अन्न के उपादान उसमें उठाये फिरता है। इस पीतल की (दोनों पात्र प्रायः पीतल के ही होते हैं) को तू लिये फिरता है किन्तु राम नाम के बहुमूल्य रत्न को नहीं पहचानता। भाव यह है कि सांसारिक तृष्णाओं की प्राप्ति में तो अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहा है प्रभु भक्ति नहीं करता।

> कलि का स्वांमी लोभिया पीतलि धरी षटाइ।
> राज दुबारां यौं फिरै, ज्यूं हुरिहाई गाइ॥६॥

लोभिया=लोभी। हुरिहाई=हरियाली के लोभ से दूसरे के खेतों में घुसने वाली गाय जो हटाने पर भी नहीं हटती।

कबीर कहते हैं कि इस कलियुग में स्वामी और संन्यासी लोभी है। उन की बाह्य विरक्तता उसी प्रकार प्रभावक्षणिक है जैसे पीतल खटाई से चमका देने पर क्षणिक समय के लिए चमकीला हो जाता है। भीतर से उनका हृदय लोभासक्त है। वे लोभ से वशीभूत हो वैभवशाली द्वारों पर इसी प्रकार टूटते हैं या बार-बार आते हैं जैसे हरियाली के लोभ में पड़ी हुई गाय दूसरे के खेत में बार-बार हटाने पर भी आ जाती है।

विशेष—उपमा अलंकार।

> कलि का स्वांमीं लोभिया मनसा धरी बधाइ।
> दैंहि पईसा ब्याज कौं लेखां करतां जाइ॥७॥

मनसा=इच्छाएं अभिलाषाएं।

कलियुग का सन्यासी बड़ा लोभी है जिसने अपनी इच्छाओं का अत्यधिक

विस्तार कर रखा है। उनकी स्थिति यहाँ तक गिरी हुई है कि रुपया पैसा ब्याज पर देकर पोथियों में उसके ब्याज का लेखा-जोखा करते रहते हैं फिर भला संन्यास कैसा ?

कबीर कलि खोटी भई मुनियर मिल न कोइ।
लालच लोभी मसकरा तिनकूं आदर होइ ॥ ॥

मुनियर=मुनिवर।

कबीर कहते हैं कि आज कलिकाल में कैसा बुरा समय आ गया है कि श्रेष्ठ मुनिजन त्यागी सन्यासी मिलते ही नहीं। आज समाज में धन के लोभी विविध तृष्णाओं के लालच में पड़े हुए एवं अपनी हाव भाव-क्रीड़ा से दूसरों को रिझाने वाले साधुओं का ही सम्मान रह गया है।

कबीर ने प्रस्तुत साखी के माध्यम से अपने समय के ढोंगी साधुओं पर करारा व्यंग्य किया है।

चारिउँ बेद पढ़ाइ करि हरि सूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया पंडित ढूढ़ै खेत ॥१०॥

बालि=बाल गेहूं जौ आदि के ऊपर आने वाली दानों की मंजरी।

हे साधु ! तू चारों वेद पढ़कर भी प्रभु से प्रेम न कर सका। इस संसार का सार तत्व प्रभु-भजन जो किसी खेत में बाल के समान था तो कबीर ले गया अब तत्ववर्ती पौराणिक तो प्रभु रूपी उस अमूल्य बाल के लिए संसार (खेत) में भटक रहा है।

विशेष—कबीर ने सर्वत्र पुराणपन्थियों की निन्दा की है। तुलना कीजिए—

पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ पण्डित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय ॥"
बांह्मण गुरु जगत का साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या चारिउँ बेदौं माहिं ॥११ ॥

कबीर कहते हैं कि तत्ववर्ती पौराणिक ब्राह्मण चाहे समस्त संसार का गुरु हो, वह साधु का गुरु नहीं हो सकता क्योंकि उसे प्रेम दृष्टि प्राप्त है। यह बेचारा ब्राह्मण तो चारों वेदों की भूलभुलैया में ही भटक कर अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहा है।

साषित सण का जेवड़ा भीगां सूं कठ्ठाइ।
दोइ अषिर गुर बाहिरा बांध्या जमपुरि जाइ ॥१२॥

साषित=शाक्त। जेवड़ा=रस्सी। कठ्ठाइ=कड़ी होना।

कबीर कहते हैं कि शाक्त तो सन की रस्सी के समान है जो इस संसार के विषय-भोगों में लिप्त होकर माया बन्धनों में अधिकाधिक जकड़ा जाता है। वह प्रभु के नाम और गुरु कृपा के बिना यमपुरी को बाँध कर ले जाया जाता है।

कबीर शाक्तों के कट्टर विरोधी हैं, इसकी पुष्टि प्रस्तुत साखी से भली-भाँति हो रही है।

पाड़ोसी सू रूसणां तिल तिल सुख की हाणि।
पंडित भये सरावगी पाणी पीवैं छाणि ॥१२॥

पड़ोसी=पड़ौसी। रूसणा=रूठना। सरावगी=जैन साधु।

कबीर कहते हैं कि इन बाह्याचारी साधुओं के ढकोसले तो देखो कि जैन-सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर जीव हित के विचार से पानी तक भी छान कर पीते हैं और दूसरी ओर अपने पड़ोसी तक से लड़कर अपना जीवन कटुमय बना लेते हैं जिससे प्रतिक्षण सुख की समाप्ति होती चली जाती है।

पंडित सेती कहि रह्या भीतरि भेद्या नांहि।
औरूं कौं परमोधतां गया मुहरकां मांहि ॥१३॥

सेती=सेती श्वेत वस्त्रधारी। भेद्या=भेदन करना प्रविष्ट होना। परमोधता=प्रबोध देते हुए। मुहरकां=यम स्थान।

श्वेत वस्त्रधारी पण्डित पोथी-पत्रों के ज्ञान का कथन ही कर रहा है, उस ज्ञान ने उसके अन्तस्तल में प्रवेश नहीं किया जिससे वह स्वयं-कथित मार्ग का भी अनुसरण कर सकता। यह ढोंगी बाह्य-ज्ञान से लदा पण्डित दूसरों को तो पाप से बचने का उपदेश देता रहा किन्तु स्वयं ने घोर पाप किये (गया मुहरकां मांहि।)

चतुराई सूवै पढ़ी सोई पंजर मांहि।
फिरि प्रमोधै आन कौं आपण समझै नांहि ॥१४॥

कबीर बाह्य थोथे ज्ञान की निस्सारता पर व्यंग्य करते कहते हैं कि हे पण्डित! यदि तू पोथियों का ज्ञान बटोर कर उसका कथन करता फिरता है और उस पर आचरण नहीं करता तो इसमें कौन सी बड़ी बात है? ऐसा ज्ञान तो लौह-पिंजर में बन्द तोते को भी होता है जो दूसरों को बारम्बार राम नाम सुनाता है किन्तु स्वयं भक्ति का राम नाम का मर्म नहीं समझता।

रासि पराई राषतां खाया घर का खेत।
औरौं कौं प्रमोधतां मुख मैं पड़िया रेत ॥१५॥

पौराणिक पण्डित पर जो दूसरों को उपदेश देता फिरता है और स्वयं

उपेक्षित मार्ग पर नहीं चलता। व्यंग्य करते हुए कबीर कहते हैं कि उसकी दशा ऐसे कृषक के समान है जो अपना खेत लापरवाही से पशुओं से उजड़वा देता है और फिर दूसरे की अन्न राशि की रखवाली करके ही कुछ अन्न प्राप्त करना चाहता है। वह दूसरों को ही शिक्षा देता हुआ अपना जीवन नष्ट कर देता है।

तारा मंडल बैसि करि, चन्द बड़ाई खाइ।
उदै भया जब सूर का स्यूं तारां छिपि जाइ ॥१६॥

ढोंगी पाखण्डी पण्डित अज्ञानान्धकार में पड़े हुए मनुष्यों के सम्मुख ही अपनी ज्ञान-गठरी खोलकर सम्मान प्राप्त करता है किन्तु जब कोई ज्ञानी मनुष्य सम्मुख आ जाता है तो छिप जाता है उसके सम्मुख वह बोल भी नहीं सकता। इसकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे चन्द्रमा नक्षत्र-मण्डल में अपनी प्रभा विकीर्ण कर प्रशंसा प्राप्त करता है किन्तु जब प्रातःकाल में तेजपुञ्ज सूर्य—वास्तविक प्रकाश—का उदय होता है तो वह नक्षत्र सहित छिप जाता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

देषण के सबको भले जिसे सीत के कोट।
रवि के उदै न दीसहीं बंधै न जल की पोट ॥१७॥

देषण=देखने में। सीत=शीत यहाँ बर्फ से तात्पर्य है। उदै=उदित होने पर। दीसहीं=दृष्टिपात होना। पोट=गठरी।

ये ढोंगी बाह्याडम्बरी पण्डित देखने में तो बड़े भले लगते हैं क्योंकि अज्ञानान्धकार में पड़े व्यक्ति के लिए ये वास्तविक ज्ञानी हैं किन्तु जब व्यक्ति में ज्ञान का सूर्य उदय होता है तब इनका अस्तित्व नहीं ठहर सकता तब तो इनकी स्थिति वैसी ही होती है जैसी शीत ऋतु में हिम (कुहरे) के बने किले बड़े मनोरम प्रतीत होते हैं किन्तु सूर्य के उदित होने पर उनका अस्तित्व नष्ट हो जाता है बर्फ पिघलकर पानी बन जाती है किलों की आकृतियाँ समाप्त हो जाती हैं।'

तीरथ करि करि जग मुवा डूंघै पांणी न्हाइ।
रांमहि राम जपंतडां काल घसीट्यां जाइ ॥१८॥

डूंघ—उपमा गहरे से तात्पर्य।

कबीर कहते हैं कि तीर्थों के गहरे पानी में स्नान करते-करते सम्पूर्ण संसार नष्ट हो गया। बाहर मुँह से राम-नाम का उच्चारण करते हुए भी उन्हें मृत्यु-पाश-घसीट कर ले गया। भाव यह है कि उपासना के बाह्याडम्बरों से मुक्ति सम्भव नहीं उसके लिए हृदय से प्रभु भक्ति वाञ्छनीय है।

काशी काठें घर करें पीवें निर्मल नीर।
मुकति नहीं हरि नांव बिन यों कहै दास कबीर ॥१९॥

काशी काठें—काशी में निवास करते हुए।

भक्त कबीर कहते हैं कि चाहे कोई शिवनगरी काशी में निरन्तर वास करे, उसे अपना घर ही बना ले और कलि-मलहरणी पाप-नाशिनी गंगा का पवित्र जल पीये तो भी प्रभु-भक्ति के बिना उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है।

कबीर इस संसार कौं समझाऊं कै बार।
पूंछ जु पकड़ै भेद की उतरया चाहै पार ॥२०॥

भेद=द्वैत यह भावना कि प्रभु और भक्त जीव पृथक हैं माया का अर्थ भी लिया जा सकता है।

कबीर कहते हैं कि मैं इस अबोध संसार को कितना समझाऊं ? यह तो प्रभु और आत्मा का अन्तर मानकर इस भव-सागर के पार जाना चाहते हैं, जो असम्भव है। अथवा संसार माया के आश्रय में रहकर भव-सागर पार करना चाहता है यह कैसे सम्भव है ?

कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूं मैं ध्रम।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या चेत न देखै भ्रम ॥२१॥

ध्रम=धर्म। क्रम=कर्म। चेत=सावधान होकर, ज्ञानसम्पन्न होकर। भ्रम=भ्रम माया-भ्रम।

कबीर कहते हैं कि व्यक्ति व्यर्थ ही फूला-फूला फिरता है, वह गर्व करता है कि मैं धर्माचरण करता हूं किन्तु वह ज्ञानयुक्त हो माया भ्रम दूर कर यह नहीं देखता कि वह कितने कोटि कुकर्मों का भार अपने सिर पर ले इस संसार से जाता है।

मोर तोर की जेवड़ी बलि बंध्या संसार।
कां सिकडूं बासुत कलित दाझण बारंबार ॥२२॥१९८॥

मोर-तोर=ममत्व-परत्व। कांसि=कास सुई की नोक के समान एक घास विशेष। क डूंबा=यह भी एक घातक घास ही होती है जिसे कण्डुआ या कन्डवा कहते हैं। दाझण=जलना।

जिस प्रकार बलि पर चढ़ाया जाने वाला बकरा बन्धन में बंधा पड़ा रहता है उसी प्रकार संसार ममत्व-परत्व के माया बन्धन में जकड़ा पड़ा है। पुत्र एवं स्त्री अर्थात् परिवार रूपी कांस एवं कण्डुवे के कारण जीवात्मा को बारम्बार आवागमन चक्र में पड़ कर संसार तापों में दग्ध होना पड़ता है।

१८ करणीं बिना कथणीं कौ अंग

कथणीं कथी तौ क्या भया जे करणीं नां ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूं देषतहीं ढहि जाइ ॥१॥

कथणी=कथन ज्ञानोपदेश से तात्पर्य। करणी=कर्म। कालबूत=कलाबत्, मेहराब के कंगूरे बनाने के लिए एक कच्चा आधार, जब असली कंगूरा बन जाता है तो इसे हटा देते हैं कच्ची मिट्टी का होने के कारण यह बड़ा नाजुक होता है छूते ही यह टूट जाता है। इसी नाजुकपन की अभिव्यक्ति कबीर ने "देषतहीं ढहि जाइ" द्वारा की है।

कबीर कहते हैं कि जिसने केवल उपदेश ही बघारा और उस उपदेश का स्वयं आचरण न किया वह मनुष्य ज्ञानियों के मध्य अथवा सत्य की कसौटी पर टिक नहीं पाता। जिस प्रकार कालबूत के बने कंगूरे तनिक सी ठसक में ही ढह जाते हैं उसी भांति वे मनुष्य तनिक सी सत्य की परीक्षा पर डांवाडोल हो जाते हैं।

जैसी मुख तैं नीकसै तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै पल मैं करै निहाल ॥२॥

नेड़ा=समीप। निहाल=प्रसन्नचित्त आनन्दित।

हे मनुष्य! जैसा सुन्दर उपदेश तू दूसरों को देता है यदि स्वयं उसका आचरण करे तो प्रभु सर्वदा तेरे समीप रहें और तुझे क्षण भर में मुक्त कर प्रसन्न कर देंगे।

जैसी मुष तैं नीकसै तैसी चालै नाहिं।
मानिष नहीं ते स्वान गति बांध्या जमपुर जांहिं ॥३॥

स्वानगति=स्वानगति।

जो दूसरों को सुन्दर उपदेश देते हैं और स्वयं उसका पालन नहीं करते वे मनुष्य नहीं हैं अपितु स्वान हैं जो अपने पापों के कारण मृत्यु के मुख में चले जाते हैं।

पद गोएं मन हरषियां साषी कह्यां अनंद।
सो तत नांव न जांणियां गल मैं पड़िया फंद ॥४॥

तत=तत्व का उच्चार। फन्द=फन्दा मृत्यु का।

जो मनुष्य प्रभु भक्ति के पद गा-गा कर और साखियों में उपदेश देकर ही अपने को प्रभु-भक्त समझ बैठे उन्होंने उस पूर्णतत्व ब्रह्म के रहस्य को नहीं समझा। अन्त समय तक वे काम-वासना में पड़े रहे मुक्त नहीं हो सके।

करता दीसै कीरतन ऊँचा करि करि तूंड ।
जानैं बूझै कुछ नहीं यौंही आंधां रूंड ।।५।।१७१।।

तूंड=हाथी की सूंड किन्तु यहाँ व्यंग्यार्थ से मुख अर्थ लिया जायगा ।

जो मनुष्य राम-नाम को समझे बिना हृदय के योग से रहित मुंह उठा कर उच्चस्वर से कीर्तन करता है वह रणक्षेत्र में लड़ते हुए धड़ के समान है जिसे कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता—चाहे कोई भी उसकी तलवार से मरे, उसे तो मारने से काम ।

---

१६. कथणीं बिना करणीं कौ अंग

मैं जान्यूं पढ़िबौ भलौ पढ़िबा थैं भलौ जोग ।
राम नाम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ।।१।।

पढ़िबौ=पुस्तकों का पठन । थैं=(तें) से । जोग=योग । भल-भल=भले ही ।

कबीर कहते हैं कि यह मैं जानता हूं कि शास्त्रादि का पढ़ना बड़ा अच्छा है किन्तु उससे भी कहीं अच्छा योग-साधना करना है (जिसके द्वारा प्रभु में चित्त लगाया जाता है) । इसलिए हे साधक तू प्रेम-भक्ति में प्रवृत्त हो यही काम्य है चाहे अन्य मनुष्य तेरी कितनी ही निन्दा क्यों न करें ।

कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ ।
बावन आषिर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ ।।२।।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! तू पढ़ना छोड़कर इस शास्त्रादि के ढेर को जल में बहा दे क्योंकि उससे श्रेष्ठ प्रभु भक्ति है । इसलिए तू इन समस्त ग्रन्थों का सार केवल दो अक्षर 'रा' और 'म' समझ कर प्रभु भक्ति में ही अपना हृदय लगा ।

कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ़्या संसार ।
पीड़ न उपजी प्रीति सूं तौ क्यूं करि करै पुकार ।।३।।

आथि=(अस्ति) अन्त । पीड़=पीड़ा ।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! तू शास्त्रादि का पाठ छोड़ दे क्योंकि इनसे मुक्ति सम्भव नहीं इनके पाठ के पश्चात् भी संसार का अन्त होता है । यदि हृदय में प्रभु प्रेम की पीड़ा उत्पन्न नहीं हुई तो पोथी पढ़-पढ़कर राम नामोच्चारण से क्या लाभ ?

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोइ।
एक अषिर पीव का पढ़ै सु पंडित होइ ॥४॥१७०॥

कबीर कहते हैं कि समस्त संसार धर्मग्रन्थों के ढेर को पढ़ते-पढ़ते ही नष्ट हो गया किन्तु कोई पूर्ण ज्ञानी न हो सका। यदि कोई प्रभु नाम का केवल एक शब्द 'राम' जान जाय तो उन धर्मग्रन्थों को पढ़े बिना भी वह पूर्ण पण्डित हो जाता है।

---

२० कामी नर कौ अंग

कांमणि काली नागणीं तीन्यूं लोक मँझारि।
रांम सनेही ऊबरे बिषई खाये झारि ॥१॥

कांमणि=कामिनि नारी। नागणीं=नागिन। मंझारि=मध्य में।

नारी तीनों लोकों में—सर्वत्र—नागिन के समान विषपूर्ण है। इसने विषय-वासना में लिप्त जीवों को डस लिया है, केवल प्रभु भक्त ही इसके प्रभाव से बच सके हैं।

विशेष—तीन लोक—स्वर्ग मर्त्य पाताल।

कांमणि मीनीं पाणि की जे छेड़ौं तौ खाइ।
जे हरि चरणां राचियां तिनके निकटि न जाइ ॥२॥

मीनी=मक्खी। पाणि=खांड मधुरता के साधर्म्य से मधु अर्थ। राचियां=अनुरक्त।

कामिनी नारी मधुमक्खी के सदृश है जो इसके पास जाओगे तो यह तुम्हें काट कर खा जायेगी दूर रहोगे तो तुम्हारे पास भी नहीं फटक सकती। जो प्रभु भक्ति में अनुरक्त हैं यह उनके पास नहीं जाती उन्हें अपने विनाशक प्रभाव से प्रभावित नहीं कर सकती।

पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहिं।
दिवस चारि सरसा रहै मूंलि समूला जांहिं ॥३॥

राता=अनुरक्त। बिढ़ता=वृद्धि पाया हुआ समृद्ध। सरसा=प्रफुल्लित होना। समूला=मूल सहित।

कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य परस्त्री में अनुरक्ति रखता है एवं चोरी के धन-बल पर समृद्ध होता है वह कुछ समय के लिए भले ही धन-धान्य से पूर्ण रहे, अन्त में उसे समूल नष्ट होना पड़ता है (क्योंकि इन कार्यों से लोक एवं परलोक दोनों बिगड़ते हैं)।

पर-नारी पर-सुन्दरी बिरला बचै कोइ।
खाता मीठी खाँड सी अंति कालि विष होइ ॥४॥

दूसरे की पत्नी तथा दूसरे की सुन्दर नारी के आकर्षक प्रभाव से कोई विरला ही मुक्त होता। परस्त्री संसर्ग-सुख खांड के समान मधुर है, किन्तु जिस प्रकार खांड बाद में पेट को हानि पहुँचाती है इसी प्रकार यह परस्त्री प्रेम अन्ततः विषदायक सिद्ध होता है।

विशेष—(१) उपमा अलंकार। (२) खांड जब खाते है तो मधुर लगती ही है किन्तु उससे पेट खराब हो जाता है जिससे और रोग उत्पन्न होने की आशंका रहती है।

पर-नारी के राचणै औगुण है गुण नांहि।
खार समंद मैं मंछला केता बहि बहि जांहि ॥५॥

राचणै—प्रेम में।

दूसरे की स्त्री के प्रेम में दोष ही दोष है गुण या लाभ कुछ भी नहीं। वासना के इस आकर्षण रूपी समुद्र में न जाने कितनी जीवरूपी मछलियाँ बह जाती हैं। भाव यह है कि संसार प्रवाह में जीव वासना का परित्याग नहीं कर पाता और परस्त्रीगामी हो जाता है जबकि इससे हानि ही हानि है।

पर नारी को राचणौ जिसी ल्हसण की षांनि।
खूणैं बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि ॥६॥

राचणौ—प्रेम अनुरक्ति। ल्हसण—लहसुन। षांनि—खाना। खूणै—(कूण) कोने में। रषाइए—रखवाली कीजिए।

परस्त्री प्रेम लहसुन खाने के समान हो है जो किसी प्रकार से भी दूसरों से नहीं छिप सकता। चाहे आप कोने में बैठकर अत्यन्त सतर्कतापूर्वक यह प्रयत्न करें कि यह प्रकट न हो तो भी यह प्रकट होकर ही रहता है किसी के रोके नहीं रुकता

नर नारी सब नरक है जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते रांम के जे सुमिरै निहकाम ॥७॥

सकाम—वासनामय।

कबीर कहते हैं कि जब तक शरीर विषय-वासनाओं से संलिप्त है तब तक नर-नारी सभी नरक में पड़े हुए हैं। वास्तविक प्रभु भक्त वे ही हैं जो राम को विषय-वासनाओं की कामना से रहित होकर भजते हैं।

नारी सेती नेह बुधि बबेक सबहीं हरै।
कांइ गमावै देह कारिज कोई नां सरै ॥८॥

कोइ=क्यों ?

स्त्री का प्रेम बुद्धि और सदासद् विवेक सबका ही हरण कर लेता है। हे जीव! तू इस स्त्री प्रम में अपनी शक्तियों का ह्रास क्यों कर रहा है? इससे कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता।

> नाना भोजन स्वाद सुख नारी सेती रंग।
> बेगि छाड़ि पछिताइगा ह्वै है मूरति भंग ॥१॥

मूरति=शरीर।

विविध प्रकार के सुस्वादु भोजनों का सुख एवं स्त्री के प्रेम का सुख हे मनुष्य! तू इन दोनों का परित्याग कर दे अन्यथा जब इन्हीं इन्द्रिय-सुखों में रत रहने पर शरीर नष्ट हो जायेगा तो तू पछतायेगा।

> नारि नसावें तीनि सुख जा नर पास होइ।
> भगति मुकति निज ग्यान मैं पैसि न सकई कोइ ॥१०॥

नसावें=नष्ट करती है।

नारी का संसर्ग मनुष्य को तीन सुखों से वंचित कर देता है। वे हैं भक्ति मुक्ति एवं आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान)। नारी के संसर्ग में रहकर इन तीनों की प्राप्ति असम्भव है।

> एक कनक अरु कामनी विष फल कीएउ पाइ।
> देखै ही थें विष चढ़ै खायें सू मरि जाइ ॥११॥

एक तो स्वर्ण अर्थात् धन और दूसरे नारी ये दोनों विषाक्त फलों के समान हैं। एक को (स्त्री को) देखने से ही विष चढ़ जाता है और दूसरे (धन) को भोगने से विष चढ़ता है।

> एक कनक अरु कामनी दोऊ अगनि की झाल।
> देखें ही तन प्रजलै परस्यां ह्वै पैमाल ॥१२॥

झाल=लपट। पैमाल=नष्ट होना।

स्त्री और स्वर्ण (धन) दोनों ही अग्नि की प्रज्वलित लपटों के समान हैं इनको देखने मात्र से शरीर जलने लगता है एवं स्पर्श करते ही मनुष्य नष्ट हो जाता है।

> कबीर भग की प्रीतड़ी केते गए गडंत।
> केते अजहूँ जाइसी नरकि हसत हसंत ॥१३॥

कबीर कहते हैं कि स्त्री-सम्भोग के सुख में लिप्त होकर न जाने कितने लोग नरक में पड़ गये नष्ट हो गये। किन्तु फिर भी संसार इससे सावधान

नहीं होता और आज भी कितने ही मनुष्य (अधिकांश) हंसते-हंसते पतन मार्ग को अपनाते हैं।

जोरू जूठणि जगत की भले बुरे का बीच।
उत्यम ते अलगे रहैं निकटि रहैं तें नीच ॥१४॥

जोरू=पत्नी किन्तु यहाँ नारी सामान्य जातिवाचक से तात्पर्य है। उत्यम=उत्तम श्रेष्ठ।

स्त्री समस्त सांसारिक विषयों की जूठन है। यही व्यक्ति के भले-बुरे का भेद बताती है। जो इससे दूर रहते हैं वे ही श्रेष्ठ हैं और जो इसके संसर्ग में रहते हैं वे नीच हैं।

नारी कुंड नरक का बिरला थंभै बाग।
कोइ साधू जन ऊबरै, सब जग मूवा लाग ॥१५॥

थंभै=थामना पकड़ना रोकना। बाग=लगाम।

नारी-संसर्ग नरक के कुण्ड के समान यातनामय एवं दुःखास्पद है। कोई बिरला मनुष्य ही अपने मन रूपी अश्व की लगाम को उधर जाने से रोक पाता है। ऐसी मन-साधना कोई-कोई साधु ही कर पाता है अन्यथा समस्त जगत् इसके सम्पर्क से नष्ट हो मृत्यु को प्राप्त हो रहा है।

सुंदरि थैं सूली भली बिरला बंचै कोइ।
लोह निहाला अगनि मैं जलि बलि कोइला होइ ॥१६॥

निहाला=डालना।

कबीर कहते हैं कि नारी से तो सूली (मृत्यु) अच्छी है। इसके घातक प्रभाव से तो कोई बिरला ही बच पाता है। जिस प्रकार लोहे जैसे कठोर पदार्थ को भी अग्नि जलाकर कोयला बना देती है, उसी भाँति चाहे कोई कितना दृढ़ चरित्र व्यक्ति क्यों न हो नारी उसको भ्रष्ट कर देती है।

अंधा नर चेतै नहीं कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि बकससी कांमीं डाल न मूल ॥१७॥

अन्धा=अज्ञानान्ध। संसय=संशय। गुनह=गुनाह दोष पाप। डाल न मूल=न तो उसकी शाखा रहती है और न जड़ अर्थात् पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाता है।

अज्ञानान्ध व्यक्ति संसार का नाश होता देख भी सावधान नहीं होता (वह विषय-वासना में ही फंसा रहता है) इसीलिए उसका क्लेश एवं दुःख विनष्ट नहीं होता। संसार कहता है कि प्रभु नामस्मरण से सब दुःख क्षमा कर देता है किन्तु प्रभु सब दोष एवं पाप अवश्य नष्टकर देते हैं लेकिन केवल कामी पुरुष को वे नहीं छोड़ते उसका तो सर्वस्व नष्ट कर देते हैं।

भगति बिगाड़ी कामियां इंद्री केरैं स्वादि ।
हीरा खोया हाथ थैं जनम गँवाया बादि ॥१८॥

कामियां=कामीजनों ने । केर=के । बादि=व्यर्थ ।

कामी पुरुषों ने इन्द्रिय रसों के स्वाद में पड़कर भक्ति मार्ग का नाश कर दिया अर्थात् वे भक्ति से विचलित हो गये । उन्होंने प्रभु-भक्ति रूपी अमूल्य हीरा अपने हाथ से खो विषय-वासना के फेर में पड़कर अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर दिया ।

विशेष—(१) रूपक अलंकार । (२) कबीर ने मानव-जन्म का एकमात्र उद्देश्य प्रभु भक्ति को ही माना है ।]

कामी अमी न भावई, विषई कौं ले सोधि ।
कुबधि न जाई जीव की भावै स्यंभ रहौ प्रमोधि ॥१९॥

अमी=अमृत । स्यंभ=शम्भु ईश्वर से तात्पर्य ।

कामी पुरुष को भक्तिरूपी अमृत रुचिकर नहीं लगता वह तो इन्द्रियों के विषयों की ही खोज में रहता है (या विषयों का ही खोज लेता है) चाहे स्वयं प्रभु आकर कामान्ध जीव को समझावें किन्तु उसकी कुमति नहीं जा सकती ।

विष बिलम्बी आत्मा ताका मजकण खाया सोधि ।
ग्यान अंकुर न ऊगई भावै निज प्रमोध ॥२ ॥

बिलम्बी=संलिप्त । मजकण=मज्जा (हड्डी के भीतर एक तत्व) या कण सारतत्व से तात्पर्य । प्रमोध=प्रबोध ।

विषय-संलिप्त आत्मा के सारतत्त्व को विषय प्रवृत्ति इस प्रकार खा जाती है जैसे अन्नकण में घुन (एक कीड़ा विशेष) उसका सार-सार खा जाता है, फिर वह दाना बोने पर अंकुर के रूप में नहीं फूटता उसी प्रकार विषयी पुरुष के खोखले मस्तिष्क में ज्ञान का अंकुर नहीं उगता—सामान्य गुरु की तो बात ही क्या चाहे स्वयं प्रभु उसे समझावें ।

विषै कर्म की कंचुली पहरि हुआ नर नाग ।
सिर फोड़ै सूझै नहीं को आगिला अभाग ॥२१॥

सिर फोड़ै=अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी ।

विषय-वासना से परिचालित कर्मों की केंचुली को धारण कर मनुष्य उसी प्रकार अंधा हो गया है जिस भांति सर्प केंचुली धारण करने पर अंधा हो जाता है । सिर पटक-पटक कर प्रयास करने पर भी सर्प निर्मोक से ढका होने पर आत्म-स्वरूप को नहीं देख पाता इसी भांति विषयान्ध अत्यन्त प्रयत्न

करने पर भी आत्मस्वरूप—प्रभु—को नहीं जान पाता। न जाने यह उसका कौन सा पूर्वकृत अभाग्य है ?

कामीं कदे न हरि भजै जपै न केसौ जाप।
रांम कह्यां थैं जलि मरै, को पूरिबला पाप ॥२२॥

कदे—कभी। केसौ—केशव प्रभु।

कामी पुरुष कभी भी प्रभु का भजन नहीं करता वह हरि नाम लेता ही नहीं है। न जाने यह उसके पूर्वजन्म के कौन से पापों का फल है कि वह राम कहते ही जल मरता है अर्थात् जब वह दूसरों से प्रभु-नाम सुनता है तो क्रुद्ध हो जाता है।

कांमीं लज्या नां करै मन मांहै अहिलाद।
नींद न मांगै सांथरा भूष न मांगै स्वाद ॥२३॥

अहिलाद—आह्लाद। सांथरा—शय्या। भूष—भूख।

कामी मनुष्य अपने कुकृत्यों पर लज्जित नहीं होता अपितु इन्द्रिय रस से तृप्ति हो जाने पर वह मन ही मन आह्लादित होता है। जिस प्रकार निद्राभिभूत व्यक्ति शैया नहीं चाहता कहीं भी पड़कर सो जाता है जिस प्रकार भूखा व्यक्ति स्वाद नहीं देखता जो मिल जाता है खा लेता है उसी भांति कामी सदसद् विवेक का परित्याग किये रहता है।

विशेष (१) उदाहरणमाला अलंकार।

नारि पराई आपणी भुगत्या नरकहिं जाइ।
आगि आगि सबरो कहै तामैं हाथ न बाहि ॥२४॥

भुगत्या—भोग करने पर। बाहि—डाल।

दूसरे की स्त्री का अपनी पत्नी के समान भोग करने से मनुष्य नरकगामी होता है। हे मनुष्य! जिस नारी को समस्त (श्रेष्ठ) संसार ने अग्नि-अग्नि कहकर घातक बताया है तू उसी अग्नि में अपना हाथ मत जला।

कबीर कहता जात हौं चेतै नहीं गँवार।
बैरागी गिरही कहा कामी वार न पार ॥२५॥

कबीर कहते हैं कि मैं संसार हित के लिए निरन्तर नारी के अवगुणों की चर्चा करता आ रहा हूं किन्तु फिर भी मूर्ख लोग सावधान नहीं होते। क्या बैरागी और क्या गृहस्थ दोनों में कामीजनों का अभाव नहीं है।

ग्यांनी तौ नीडर भया मांनैं नांहीं संक।
इन्द्री केरे बसि पड़्या भूँचै बिषै निसंक ॥२६॥

संक—शंका।

जिसे यत्किंचित् ज्ञान है वह तो अपने को ज्ञानी समझ कर अपने आचरण के विषय में पूर्ण निरंकुश हो गया। अथवा वह ज्ञानी जैसा जो इन्द्रियों के वश में पड़कर बुरी तरह से विषयों का भोग कर रहा है। भाव यह है कि ज्ञान के लिए विषय-वासना-परित्याग आवश्यक है।

ग्यानी मूल गँवाइया आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला मन मैं रहै डरता ॥ ७॥४ ७॥

ज्ञानी व्यक्ति ने अपने को जगत् का कर्ता समझ कर अपनी मूल सम्पत्ति अर्थात् सामान्य बुद्धि भी गँवा दी। उससे तो श्रेष्ठ सामान्य सांसारिक व्यक्ति है जो मन में प्रभु से डरता हुआ अपने आचरण के प्रति सचेत रहता है।

— —

२१ सहज कौ अंग

कबीर के समय तक नाथों आदि में सिद्धों की 'सहज-साधना' की दुहाई दी जाती थी किन्तु अब यह सहज-साधना विकृत होकर पंच-मकारों के सेवन एवं उन्मुक्त विलास में ही सीमित रह गई थी। साधक केवल 'सहज साधना' का नाम लेते थे किन्तु पालन नहीं करते थे। कबीर इस बाह्याडम्बर एवं मिथ्याचरण को कैसे सहन कर सकते थे? वे यहाँ 'सहज-साधना' का वास्तविक स्वरूप बताते हैं।

'कबीर-बीजक' में 'सहजध्यान' का अर्थ इस प्रकार दिया है—

सद्गुरु के बताये हुए रहस्य से निज अक्षय में ध्यान लगाने को सहज ध्यान या सहज-समाधि कहते हैं। इस ध्यान में किसी प्रकार के बाह्याडम्बर (आसन मुद्रा आदि) की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं विषिया तजी सहज कहीजै सोइ ॥१॥

कबीरदास कहते हैं कि सब व्यक्ति 'सहज-सहज' की दुहाई देते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि सहज को कोई नहीं जानता। जिसने अपने स्वभाव से विषय-वासनाओं का परित्याग कर दिया अथवा जिसने सुगमतापूर्वक विषय वासना का परित्याग कर दिया उसी को 'सहज-साधक' कहा जा सकता है।

सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्हैं कोइ।
पाँचू राखै परसती सहज कहीजै सोइ ॥२॥

सब व्यक्ति 'सहज' की सहज-साधना की पुकार लगाते हैं किन्तु उसे वास्तविक अर्थों में पहचानता कोई नहीं। कबीर के दृष्टिकोण से जो व्यक्ति

पाँचों इन्द्रियों को अपने आधीन अपने नियन्त्रण में रखे उसे ही 'सहज-साधक' कहा जा सकता है।

सहजैं सहजैं सब गए, सुत बित कांमणि कांम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या दासि कबीरा रांम ॥३॥

सहज-सहजैं=धीरे धीरे। बित=वित्त।

कबीर कहते हैं कि संसार में धीरे-धीरे सम्पत्ति पुत्र पत्नी सब कुछ विनष्ट हो जाता है। भक्त कबीर (अपनी भक्ति के कारण ही) अब प्रभु से मिलकर एकाकार हो गया।

सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै सहज कहीजै सोइ ॥४॥४८॥

संसार में सब सहज-सहज पुकारते हैं किन्तु वास्तविक 'सहज' (प्रभु) को कोई नहीं पहचान सका। जिस व्यक्ति को सुगमता से प्रभु मिल जावें वही सहज-साधक' है।

—•—

२२ साच को अंग

कबीर पूंजी साह की तू जिनि खोवै ख्वार।
खरी बिगूचनि होइगी लेखा देती बार ॥१॥

साह=साहू धन देने वाला महाजन। ख्वार=बेकार व्यर्थ। खरी=खड़ी उपस्थित। बिगूचनि=आपत्ति। लेखा=हिसाब।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू इस ईश्वर रूपी महाजन का दिया हुआ जीवन धन व्यर्थ नष्ट मत कर। अन्यथा जिस दिन वह इसके कर्मों का हिसाब लेगा तब बड़ी आफत खड़ी हो जायगी।

विशेष—जब कोई व्यक्ति पूंजीपति से पूंजी उधार लेता है किन्तु उसका समय पर भुगतान नहीं कर पाता क्योंकि उसने ठीक प्रकार से धन को व्यय नहीं किया जिससे मूल और ब्याज तो उसकी बड़ी दुर्दशा होती है। पूंजीपति की धमकियाँ और न जाने क्या-क्या उससे सुननी पड़ती हैं। इसी का रूपक कबीर ने जीवन धन और प्रभु से किया है।

लेखा देणां सोहरा जे दिल सांचा होइ।
उस चंगे दीवान मैं पला न पकड़ै कोइ ॥२॥

लेखा=हिसाब। सोहरा=अच्छा भला। चंगे=अच्छे। दीवान=दरबार। पला=पल्ला दामन वस्त्र का छोर।

यदि तुम्हारा मन सच्चा है और सत्य भावना से प्रेरित होकर ही समस्त कर्म किये हैं तो प्रभु को कर्मों का हिसाब देने में आनन्द आयेगा प्रसन्नता होगी। उस सत्यता के कारण ही प्रभु के उस श्रेष्ठ दरबार में तुम्हारा कोई दामन नहीं पकड़ सकता कोई तुममें कुछ कमी नहीं निकाल सकता।

कबीर चित चमंकिया किया पयाना दूरि।
काइथि कागद काढ़िया तब दरिगह लेखा पूरि ॥३॥

चमंकिया=चमत्कृत हुआ आनन्दित हुआ। पयाना=प्रयाण। दूरि=अदृश्य लोक को। काइथि=कायस्थ चित्रगुप्त से तात्पर्य। दरिगह=दरबार।

कबीर कहते हैं कि जब मेरे दरबार में ईश्वर के लेखा-नियामक चित्रगुप्त ने मेरे कर्मों का हिसाब निकाला तो वह पूर्ण निकला। मेरी आत्मा इससे प्रसन्न हो गयी एवं उसने दूर देश के लिए प्रयाण किया। भाव यह है कि कबीर अपने सत्कर्मों के कारण ही जीवनमुक्त हो गया।

काइथि कागद काढ़िया तब लेखै वार न पार।
जब लग सांस सरीर में तब लग रांम संभार ॥४॥

जब जीवनोपरान्त चित्रगुप्त तेरे कर्मों का हिसाब निकालकर देखेगा तो तेरे कुकर्मों पापों का कोई वार-पार नहीं होगा वे असीम होंगे। अतः तू शरीर में जब तक प्राण हैं राम-नाम जप जिससे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

यहु सब झूठी बंदिगी बरियां पंच निवाज।
सांचै मारै झूठ पढ़ि काजी करै अकाज ॥५॥

बंदिगी=प्रार्थना पूजा।

हे काजी! तू दिन में पांच-पांच बार नमाज पढ़ता है यह पूजा तो मिथ्या है क्योंकि तू सर्वदा सत्य को नष्ट कर झूठी प्रार्थना को महत्व देता है तू ऐसा निकृष्ट कर्म क्यों करता है? भाव यह है कि काजी! तेरी पूजा प्रार्थना सत्याश्रित होनी चाहिए, तू नमाज के उन आदर्शों का पालन करे तभी पूजा सच्ची है

कबीर काजी स्वादि बसि ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै दरि क्यूं साचा होइ ॥६॥

हतै=मारता है, वध करता है। मसीति=मस्जिद। एकै=खुदा एक ही है खुदा एक ही है। दरि=दरबार प्रभु का दरबार।

कबीर कहते हैं कि काजी का ढोंग तो देखो कि जब वह रसना के स्वाद वश हो जीव की हत्या करता है तब सोचता है कि यह जीव (बकरा गौ आदि)

और बहरा न हैं किन्तु मस्जिद में अजान लगाते समय यही कहता है कि खुदा एक है। भला ईश्वर के दरबार में वह किस प्रकार सच्चा कहला सकता है?

विशेष—मस्जिद में अजान लगाते समय 'या अल्लाह लिल्लाह' अ अ अ' की जो ध्वनि की जाती है उसका अर्थ यही है कि खुदा एक है (जो सर्वव्यापक है)।

काजी मुलां भ्रमियां चल्या दुनीं कै साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया करद लई जब हाथि ॥७॥

भ्रमियां=भ्रमग्रस्त। दुनीं=दुनिया संसार की स्वाभाविक गति जो विषय-वासना में ही पड़ा हुआ है। दीन=धर्म। बिसारिया=विस्मृत कर दिया। करद=कटार।

कबीर कहते हैं कि यह काजी और मुल्ला दोनों ही माया-भ्रम में अज्ञान में पड़े हुए हैं। यह अपने धर्म (कि ईश्वर एक है) को हृदय से पूर्णरूपेण विस्मृत कर देते हैं जब जीव-वध के लिये कटार हाथ में लेते हैं।

जोरी करि जिबहै करैं, कहते हैं ज हलाल।
जब दफ्तर देखैगा दई तब ह्वैगा कौंण हवाल ॥ ॥

जोरी करि=बलपूर्वक। जिबहै=वध। दफ्तर=हिसाब से तात्पर्य। दई=प्रभु। हवाल=रक्षक।

मुसलमानों पर व्यंग्य करते हुए कबीर कहते हैं कि ये बलपूर्वक जीव का प्राण ले लेते हैं और उसे बड़े गौरव से 'हलाल' कहते हैं। किन्तु इनको उस पता चल जायेगा जब ईश्वर इनके कर्मों का हिसाब देखकर कुकर्मों का दण्ड देगा तब कौन रक्षा करेगा?

विशेष—मुसलमान 'मांस' के दो प्रकार बताते हैं—एक हराम दूसरा हलाल। 'हराम' उस मांस को कहते हैं जो स्वयं मरे हुए जीव का होता है, 'हलाल' का मांस वह होता है जिसमें वह जीव को स्वयं अपने हाथ से बलपूर्वक मार देते हैं इसी का खाना अच्छा माना जाता है।

जोरी कीयां जुलम है मांगै न्याव खुदाइ।
खालिक दरि खूनी खड़ा मार मुहे मुहिं खाइ ॥६॥

खालिक=ईश्वर। दरि=द्वार।

जीव-वध में इस प्रकार बल प्रयोग करना भारी अपराध है। ईश्वर तो तुमसे सब जीवों के प्रति न्याय-क्षमा चाहता है। जब ईश्वर के द्वार पर यह खूनी खड़ा होगा तो इसके मुख पर ताबड़-तोड़ प्रहार किए जायेंगे इसे भी वैसी ही यातना दी जायेगी जैसी यह निरीह जीव को देता है।

साँई सेती चोरियाँ चोरों सेती गुझ।
जाँणेगा रे जीवड़ा मार पड़ैगी तुझ ॥१०॥

साँई=प्रभु। सेती=से। गुझ=मित्रता। जीवड़ा=जीवात्मा।

प्रभु से तू चोरी करता है और जो काम क्रोध मद लोभ मोह आदि विषयों के चोर हैं उनसे तू मित्रता रखता है। तेरे इस विपरीत आचरण के कारण जब तुझे प्रभु दण्ड देंगे तभी तेरी बुद्धि ठिकाने आयेगी।

सेष सबूरी बाहिरा क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं तिनकौं कहाँ खुदाइ ॥११॥

सेष=शेख। सबूरी=सब्र सन्तोष। हज=मक्का मदीना की तीर्थ यात्रा को मुसलमान हज कहते हैं। काबै=काबा मक्का में एक पत्थर जिसमें मुसलमान बड़ी श्रद्धा रखते हैं। स्याबति=पूरा पक्का सच्चा

है शेख ! तू सन्तोष से तो बहुत दूर है फिर भला तुझे हज और काबा दर्शन से शांति कैसे मिल सकती है? जिनका हृदय सच्चा नहीं है उन्हें ईश्वर कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता।

सूम खाँड है खीचड़ी माँहि पड़ टुक लूण।
पेड़ा रोटी खाइ करि गला कटावे कौंण ॥१२॥

खाँड=खाँड के समान मधुर। टुक=थोड़ा सा। लूण=नमक।

खिचड़ी जैसे साधारण भोजन में थोड़ा सा नमक पड़ा हो वही खाँड के समान मधुर भोजन है। पेड़ा और रोटी खाकर बाद में मृत्योपरान्त अपना गला कौन कटावे।

विशेष—पेड़ा और रोटी खाकर गला कटाने की बात कबीर ने इसलिए कही कि ऐश्वर्यमय जीवन बिताने के लिये अनुचित साधन अपनाकर धनोपार्जन करना पड़ता है। इस पाप के लिये उसे मृत्यु के पश्चात् दण्ड भोगना पड़ता है। अतः इस दण्ड से बचने के लिए सारा जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर बताया है।

पापी पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ।
तिनकी दष्या मुकति नहीं कोटि नरक फल होइ ॥१३॥

बैसि करि=बैठकर। मद=मदिरा या मादक द्रव्य। दष्या=दशा। मुकति=मुक्ति मोक्ष।

पापी लोग पूजा के नाम पर आनन्दपूर्वक बैठकर मांस और मदिरा का सेवन करते हैं। ऐसे पापियों की मुक्ति सम्भव नहीं उन्हें करोड़ों नरकों की यातनायें भोगनी पड़ती हैं।

विशेष—कबीर का इंगित यहाँ शाक्तों की ओर है जो मंदिर में बकरे आदि की बलि चढ़ाकर मदिरा का सेवन करते हैं।

सकल बरण इकत्र ह्वै सकति पूजि मिलि खाहिं।
हरि दासनि की भ्रांति करि केवल जमपुरि जाहिं ॥१४॥

सकति=शक्ति।

शाक्त शक्ति की पूजा बलि देकर करते हैं और फिर समस्त वर्णों के सदस्य उसे प्रसाद रूप में ग्रहण कर जाते हैं। लोग व्यर्थ भ्रमवश अपने को प्रभु भक्त समझते हुए नरक में जाने का मार्ग अपनाते हैं।

कबीर लज्या लोक की सुमिरै नांहीं साच।
जानि बूझि कंचन तजै काठा पकड़ै काच ॥१५॥

लज्या=लाज।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य लोकलाजवश कुरीतियों का पालन करता है एवं सत्य को विस्मृत कर देता है। इस प्रकार जान-बूझ कर वह स्वर्ण-सी प्रभु भक्ति का परित्याग कर काँच मिथ्या आचरणों को अपनाता है।

कबीर जिनि जिनि जाँणियां करता केवल सार।
सो प्राणी काहे चलै झूठे जग की लार ॥१६॥

जिनि-जिनि=जिन्होंने। करता=कर्ता ब्रह्म। लार=पंक्ति।

कबीर कहते हैं कि जिन-जिन लोगों ने यह जान लिया कि इस सृष्टि में ब्रह्म ही सब कुछ है वे मोह में पड़कर इस मिथ्या संसार के अनुकूल आचरण नहीं करते।

झूठे कौं झूठा मिलै दूणां बधै सनेह।
झूठ कूं साचा मिलै तब ही तूटै नेह ॥१७॥४२५॥

यदि मिथ्याचारी को मिथ्याचारी ही मिल जाय तो दोनों में दुगुना प्रेम बढ़ जाता है किन्तु यदि झूठे शिष्य को सच्चा सद्गुरु मिल जाय तो उसका संसार से प्रेम सम्बन्ध टूट जाता है और माया-मोह दूर हो जाता है।

—×—

२३ भ्रम बिधौंसण कौ अंग

पाँहण केरा पूतला करि पूजैं करतार।
इही भरोसै जे रहे ते बूड़े कासी धार ॥१॥

पाँहण=पाहन पत्थर। पूतला=मूर्ति। कासी=काल की मृत्यु का।

कैसा भ्रम है कि संसार पत्थर की मूर्ति को ईश्वर मानकर पूजते हैं। जो

मनुष्य भी इस मूर्ति को प्रभु मानते रहे व विनाश की काली धारा में डूब गये।

कागद केरा कोठरी मसि के कर्म कपाट।
पाँहनि बोई पृथमी पंडित पाड़ी बाट ॥२॥

पृथमी=पृथ्वी। पाड़ी=निकाली। बाट=राह मार्ग।

पंडितों ने अपने ढोंग से समस्त पृथ्वी पर पत्थरों की मूर्तियों को प्रस्थापित कर दिया इस पर भी वे कहते हैं कि हमने मुक्ति का मार्ग ढूंढ निकाला है। एक पाप कर यह धोखा देना ऐसा ही है जैसे कागज की कोठरी म काले कर्मों—कुकर्मों—की किवाड़ लगा देना।

पाहन कू का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आंधा नर आसामुखी योंही खोवै आब ॥३॥

जाब=जवाब उत्तर। आंधा=अज्ञानी। आब=पानी सम्मान।

कबीरदास कहते हैं कि भला पत्थर को पूजने से क्या लाभ जो जीवन पर्यन्त (चाहे कितनी भी पूजा क्यों न की जाय) कोई उत्तर नहीं देता। अज्ञानी मनुष्य विभिन्न महत्वाकांक्षाओं के वशीभूत हो पत्थर पूजकर व्यर्थ अपना आत्मसम्मान नष्ट करता है क्योंकि वह मनुष्य होकर पत्थर के सम्मुख झुकता है। अथवा वह व्यर्थ ही पत्थर पूजने म जल नष्ट करता है (किन्तु पहला अर्थ ही अधिक समीचीन है।)

हम भी पाहन पूजते होते रन के रोझ।
सतगुर की कृपा भई डारया सिर थैं बोझ ॥४॥

रोझ=जंगली, गदहे के समान ही भारवाही पशु जो गधे से कुछ बड़ा एवं अधिक पुष्ट होता है।

कबीरदास कहते हैं कि जिस भांति समस्त संसार मूर्ति-पूजा कर रहा है वैसे ही हम करते और रणस्थल में रहने वाले जानवरों के समान ही बोझभार ढोते हुए होते किन्तु यह तो सद्गुरु की कृपा हो गई कि उन्होंने (ज्ञानचक्षु प्रदान कर) मूर्तियों का भार सिर से उतार दिया। भाव यह है कि सद्गुरु के उपदेश ने मुझे मूर्तिपूजा के अंधविश्वास से बचा लिया।

जेती देखौं आतमा तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव हैं नहीं पाथर सू काम ॥५॥

प्रतषि=प्रत्यक्ष।

संसार में जितने मनुष्य हैं उतनी ही शालिग्राम की मूर्तियां (बहुदेवोपासना पर व्यंग्य)। हे मूर्खों! साधु ही साक्षात् देवता है पत्थर को पूजा न कर उनकी भक्ति करो।

सेवैं सालिगराम कूं मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपिनैं नहीं दिन दिन अधकी लाइ ॥६॥

भ्रांति—संशय दुःख क्लेश। अधकी—अधिक।

शालिग्राम (मूर्ति) पूजा से मन का सन्ताप दूर नहीं हो सकता। इस पत्थर पूजा से शान्ति तो स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होती किन्तु प्रतिदिन हृदय का दाह बढ़ता जाता है क्योंकि मनोकामना पत्थर-पूजा से पूर्ण नहीं होती, असफल होने पर वेदना ही हाथ आती है।

सेवैं सालिगराम कूं माया सेती हेत।
बोढ़ैं काला कापड़ा नांव धरावैं सेत ॥७॥

हेत—प्रेम। बोढ़ैं—ओढ़ें। सेत—श्वेत।

हे मनुष्य! तू प्रभु मूर्ति की तो पूजा करता है एवं माया आकर्षणों में संलिप्त रहता है। तू कर्मों का काला वस्त्र ओढ़कर भी धर्माचारी (श्वेत सेत) कहलाने की कामना करता है?

जप तप दीसैं थोथरा तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैंबल सेविया यौं जग चल्या निरास ॥८॥

थोथरा—थोथा निस्सार व्यर्थ। सूवै—सुआ एक तोता। सैंबल—सेंबल एक वृक्ष विशेष जिसका फल बड़ा आकर्षक होता है तोता अपनी चोंच मारकर जब उसे फोड़ता है तो वह खोखला निकलता है बेचारा तोता निराश हो जाता है।

कबीरदास कहते हैं कि जप-तप तीर्थ व्रत एवं विभिन्न देवताओं में विश्वास सब निस्सार दृष्टिगत होता है। इनके ऊपर आश्रित व्यक्ति अंत में उसी प्रकार निराश होता है जैसे तोता सेंबल के फल के ऊपर आश्रित रहकर निराश होता है।

विशेष—अलंकार-उपमा।

तीरथ त सब बेलड़ी सब जग मेल्या छाइ।
कबीर मूल निकंदिया कौंण हलाहल खाइ ॥९॥

बेलड़ी—जंगली बेल से तात्पर्य जो अन्य वनस्पति को आच्छादन कर जकड़ सा लेती है।

तीर्थ व्रत आदि बाह्याचार सब जंगली बेल के समान हैं जो समस्त संसार पर छाकर उसे अपने प्रभाव में किये हुए हैं। कबीर ने इस मिथ्या बाह्याचार रूपी लता को समूल ही नष्ट कर दिया अतः उसके विषाक्त फलों को कौन खाता? भाव यह है कि बाह्याचार से उत्पन्न दुःखों को कौन भोगे।

मन मथुरा दिल द्वारिका काया कासी जाणि।
दसवाँ द्वारा देहुरा तामैं जोति पिछांणि ॥१ ॥

दसवां द्वारा=दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र।

कबीरदास कहते हैं कि व्यर्थ इधर-उधर तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का मन ही मथुरा है हृदय द्वारकापुरी एवं समस्त शरीर को ही काशी जानो जिसमें ब्रह्मरन्ध्र ही मन्दिर का द्वार है, वहां अपनी शक्तियां केन्द्रित कर निरंजन पुरुष की ज्योति से साक्षात्कार करना ही श्रेय है।

विशेष—१ (अ) मथुरा=भगवान् कृष्ण की जन्म भूमि जहाँ उन्होंने कंस का संहार किया हिन्दुओं का तीर्थ स्थल।

(ब) द्वारिका—भगवान् कृष्ण का मथुरा के पश्चात् निवास स्थान। कबीर बीजक में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

द्वारावती—"यहां भी कृष्णचन्द्र जरासंध के उत्पातों के कारण मथुरा छोड़ कर आ बसे थे। यही उस समय यादवों की राजधानी थी। पुराणों में लिखा है कि कृष्ण के देह-त्याग के पीछे द्वारावती समुद्र में मग्न हो गई। पोरबन्दर से १२ कोस दक्षिण समुद्र में इस पुरी का स्थान लोग अब तक बताते हैं। द्वारावती का एक नाम द्वारिका है।

(स) काशी=काशी हिन्दुओं का प्राचीन तीर्थ स्थल। हठयोगी साधकों का विशेष रूप से गढ़ रहा है।

(२) जोति पिछांणि=हठयोगी साधक मानते हैं कि ब्रह्म द्वार के भीतर परम पुरुष की ज्योति प्रकाशित होती रहती है साधक को उसी से साक्षात्कार करना चाहिए। इसे 'निरञ्जन ज्योति' भी कहा जाता है जिसका अर्थ निरंजन पुरुष की ज्योति है।

कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि बसै तू ताही सौं ल्यौ लाइ ॥११॥४११॥

देहुरे=मंदिर।

कबीर कहते हैं कि साधक संसार मन्दिर में जाकर पूजा करने का व्यर्थ उपक्रम करता है। प्रभु तो हृदय के भीतर निवास करते तू उसी में अपनी वृत्तियों को केन्द्रित कर प्रभु प्राप्ति का प्रयत्न कर।

— —

२४ भेष कौ अंग

कर सेती माला जपै हिरदै बहै डंडूल ।
पग तौ पाला में गिल्या भाजण लागी सूल ॥१॥

डंडूल=आंधी या बवंडर । पाला=हिम । गिल्या=गल जाना । सूल=शूल वेदना ।

हे ढोंगी ! तू हाथ से तो माला फेरता है अर्थात् बाह्य प्रदर्शन द्वारा भक्तात्मा होने का स्वांग भरता है जैसे तेरे हृदय में विषय वासनाओं का बवंडर उठा रहता है । अब इस विषय-वासना में पड़े रहकर अपना पैर गला यदि तू यह समझे कि इससे वेदना दूर हो जायेगी तो यह मूर्खता होगी ।

कर पकरै अंगुरी गिनैं मन धावै चहुँ ओर ।
जाहि फिरांयां हरि मिलै सो भया काठ की ठौर ॥२॥

गिनैं=गिनना गणना करना । ओर=ओर । फिरांयां=वृत्ति दूसरी ओर करने से । काठ की ठौर=काष्ठवत् जड़ जिस पर उपदेश आदि का कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता ।

हे ढोंगी ! तू हाथ मे माला ले कर अंगुलियों से उसकी मनकाओं को गिनता रहता है और तेरा मन चंचल भटकता रहता है । जिस मन को संसार से विमुख कर प्रभु भक्ति मे लगाने से प्रभु मिलते वह मन तो वासनाओं एवं विषय-वासनाओं में पड़कर काष्ठवत् जड़ हो गया है अब प्रभु-भक्ति किसके द्वारा की जाय ।

माला पहरे मनमुखी ताथैं कछू न होइ ।
मन माला कौं फेरतां जुग उजियारा सोइ ॥३॥

मनमुखी=एक प्रकार की माला का नाम ।

हे साधक ! तू इस (काष्ठ की) माला को व्यर्थ घुमा रहा है इससे कुछ काम नहीं होने का । यदि तू मन रूपी माला को फर दे मन को माया-जन्य आकर्षणों एवं विषय-वासना से परिपूर्ण संसार से हटा कर प्रभु भक्ति में लगा दे तो इहलोक और परलोक दोनो प्रकाशित हो जाएँगे ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

माला पहरे मनमुषी बहुतैं फिरैं अचेत ।
गांगी रोलै बहि गया हरि सूं नाहीं हेत ॥४॥

अचेत=असावधान अज्ञानी । गांगी=गंगा के । रोलै=धारा प्रवाह ।
हेत=प्रेम भक्ति ।

इस संसार में मनमुखी माला धारण कर घूमने वाले प्रज्ञानी बहुत से हैं। जिन्होंने प्रभु से प्रेम नहीं किया वे तो ऐसे ही हैं जैसे कोई गंगा के पास स्नान के लिए आकर उसके प्रवाह में बह जाय।

कबीर माला काठ की कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणां कहा फिरावै मोहि ॥५॥

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! यह काष्ठ की जड़ माला तुम्हें समझाती है कि मुझे फिराने से क्या लाभ अपना मन संसार की ओर से फिरा कर प्रभु भक्ति की ओर क्यों नहीं करता। भाव यह है कि साधक ! माला फिराना सच्ची साधना नहीं संसार से चित्तवृत्तियों को हटा प्रभु में केन्द्रित करना ही सच्ची भक्ति है।

कबीर माला मन की और संसारी भेष।
माला पहर्यां हरि मिलै तौ अरहट के गलि देष ॥६॥

भेष=दिखावा प्रदर्शन मात्र। अरहट=रहट पानी निकालने वाला कूए में लगा हुआ सिंचाई का एक यन्त्र विशेष जिसमें बाल्टियों की माला होती है।

कबीर कहते हैं कि वास्तविक माला तो मन की ही है जिसे संसार से फिराकर प्रभु-भक्ति में लगाना है और सब मालाएं (मनमुखी चन्दनादि की) तो सांसारिक बाह्य प्रदर्शनमात्र हैं। यदि माला के धारण करने से ही प्रभु प्राप्ति हो जाती हो तो रहट को भी प्रभु-प्राप्ति हो जाती।

माला पहर्यां कुछ नहीं रुल्य मूवा इहि भारि।
बाहरि ढोल्या हींगलू भीतरि भरी भँगारि ॥७॥

रुल्य=दबा कर। मूवा=मरना। ढोल्या=ढोने मार ढोने से तात्पर्य। हींगलू=मनका न हुए ढोने जिन्हें साधु धारण करते हैं। भंगारि=विषय वासनाओं की गन्दगी।

माला धारण करने से प्रभु भक्ति सिद्ध नहीं होती व्यर्थ शरीर ही इसके भार से दबकर मरता है। हे साधक ! इस बाह्य वेष भूषा के आडम्बर से साधु बनने से क्या लाभ तेरे मन में तो विषय-विकारों की गन्दगी भरी हुई है।

माला पहर्यां कुछ नहीं गाती मन के साथि।
जब लग हरि प्रगटै नहीं तब लग पड़ता हाथि ॥८॥

गाती=माया-प्रपंचों की कमरती कपट-प्रीत।

जब तक मन विषय-वासना के क्षेत्र में कपटप्रीत करता रहेगा तब तक

माला पहन प्रभु भक्ति का आडम्बर करने से क्या लाभ। माला को मनकाओं पर तो हाथ तभी तक पड़ता है जब तक प्रभु दिखायी नहीं देते क्योंकि उसके प्रेममय स्वरूप के सम्मुख इन बाह्य-मिथ्याचारों का अस्तित्व कहां ?

माला पहर्यां कछू नहीं गाँठि हिरदा की खोइ।
हरि चरनूं चित राखिये तौ अमरापुर होइ ॥१॥

गाँठि—माया जनित द्वैत भावना। अमरापुर—अमरपुरी स्वर्ग कबीर का तात्पर्य मुक्तात्माओं के लोक से है।

साधक! माला धारण करने से क्या लाभ तू अपने हृदय के मायाजनित द्वैत को दूर कर दे। यदि तू प्रभुचर णों मे अपना चित्त लगाये रखेगा तो निश्चय ही मुक्तात्माओं के लोक में पहुंच जायगा।

माला पहर्यां कुछ नहीं भगति न आई हाथि।
माथौ मूंछ मुंडाइ करि, चल्या जगत के साथि ॥१ ॥

माला धारण करने से कोई लाभ नहीं उससे भक्ति की प्राप्ति भी सम्भव नहीं। हे साधक! तू शीश और मूंछ मुंडवा कर दोंगी संसार के समान साधु होने का स्वांग कर रहा है मला—

'मूंड मुड़ाये हरि मिलें तो सब कोइ लेय मुंडाय'
सांईं सेती सांच चलि औरां सूं सुध भाइ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ ॥११॥

सांच चलि—सच्चा आचरण कर। सुध भाई—सुविधिपूर्वक सरल और निष्कपट व्यवहार। भावै—इच्छित हो।

हे मनुष्य प्रभु के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर एवं अन्य सांसारिक प्राणियों से भी सरल और निष्कपट व्यवहार रख साधु होने के लिए यही पर्याप्त एवं वांछनीय है। इतना करने के पश्चात् फिर चाहे तो लम्बे-लम्बे केश धारण कर जटा बनाओ या सिर मुंडा कर रहो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ते।

केसों कहा बिगाड़िया जे मूंडै सौ बार।
मन कौ काहे न मूंडिए, जामैं बिषै बिकार ॥१२॥

कबीरदास कहते हैं कि भला इन बालों ने क्या अहित किया जो इनको बारम्बार मुंडा देते हैं। तू अपने मन को विषय विकारों के प्रभाव से हटाकर स्वच्छ क्यों नहीं करता? यह मन ही तो विषय वासनाओं का केन्द्र है।

मन मैवासी मंडि ले केसौं मूंडै कांइ।
जो कछु किया सु मन किया केसों कीया नांहि ॥१३॥

मैवासी—मदमस्त या डाकू।

हे साधु! तू बारम्बार शीश क्यों मुंडाता है मन रूपी डाकू को क्यों नहीं मूंडता स्वच्छ करता। जो कुछ भी पाप कर्म किये हैं व मन ने किये हैं, केशों ने नहीं।

> मूँड मुँडावत दिन गए, अजहूँ न मिलिया राम।
> राम नाम कहु क्या करै जे मन के और काम ॥१४॥

दिन गए—आयु का समय व्यतीत हो गया।

शीश मुंडाते-मुंडाते आयु व्यतीत हो गई किन्तु आज तक प्रभु दर्शन नहीं हुए। भाव यह है कि राम-नाम से भी शान्ति प्राप्त न हुई भला बताइये कि राम-नाम के जिह्वा से उच्चारण मात्र से क्या हो सकता है मन तो अन्य कार्यों में उलझा रहता है।

> स्वांग पहरि सोरहा भया खाया पीया खूँदि।
> जिहि सेरी साधू नीकले सो तौ मेल्ही मूँदि ॥१५॥

स्वांग पहरि—चमक-दमकयुक्त बाह्य वेश भूषा। सोरहा—सुन्दर।

खूँदि—कूद कूद कर, आनन्दपूर्वक। सेरी—गली मार्ग। मेल्ही मूँदि—बन्द कर दी।

हे मनुष्य! चमक दमक युक्त बाह्य वेश-भूषा धारण कर आनन्दपूर्वक खाने पीने में ही मदमस्त बना रहा। हे मूर्ख! अपने इस व्यवहार से तूने अपने लिए उस मार्ग को बन्द कर लिया जिस पर साधुजन सञ्चरण करते हैं।

> बैसनौं भया तौ का भया बूझा नहीं बबेक।
> छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥१६॥

बैसनौं—वैष्णव। बूझा—प्राप्त किया। बबेक—ज्ञान। दगध्या—जल गए हैं, दुखित हो गया है।

छापा-तिलक आदि लगाकर यदि तूने वैष्णव रूप धारण कर लिया तो उससे क्या लाभ? इस बाह्याडम्बर को धारण कर (हृदय में प्रभु प्रेम न होने पर) संसार से मुक्त नहीं हुआ वह सांसारिक तापों से दग्ध होता रहा। भाव यह है कि बाह्याचार वेषभूषा प्रधान नहीं है, वैष्णव का सच्चा गुण प्रभु भक्ति सात्त्विक प्रेम ही है।

> तन कौं जोगी सब करैं, मन कौं बिरला कोइ।
> सब बिधि सहजैं पाइए जे मन जोगी होइ ॥१७॥

कबीरदास कहते हैं कि बाह्याडम्बर में शरीर को तो सब योगी बना लेते हैं किन्तु मन को संसार से विरक्त कर योगी बनाना विरलों के लिए

ही सम्भव है। जिसका मन योगी होता है उसे सब सिद्धियां स्वयं प्राप्त हो जाती हैं।

विशेष—मन को संसार से विरक्त कर समस्त सिद्धियां प्राप्त करने की बात कबीरदास जी ने इसलिये कही है कि संसार से तटस्थ निर्लिप्त मन प्रभु भक्ति में लगेगा, और प्रभु भक्ति समस्त सिद्धि की दाता है ही अतः भक्ति ही कबीर का प्रमुख सम्बल है।

कबीर ब्रह्म तौ एक है पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबही मांहि अलेख ॥१८॥

कबीरदास जी कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा एक है, माया-आवरण के कारण ही संसार में जीव और ब्रह्म की सत्ता पृथक पृथक प्रतिभासित होती है। द्वैत का मुख्य एकमात्र कारण माया-आवरण ही है। हे जीवात्मा! तू संसार-संशय एवं उससे परिचालित कर्मों का परित्याग कर दे तो तुझे सर्वत्र वह निराकार प्रभु ही दृष्टिगत होगा।

भरम न भागा जीव का अनंतहि धरिया भेष।
सतगुर परचे बाहिरा अंतरि रह्या अलेष ॥१९॥

भरम=भ्रम संशय। जीव=हृदय। भेष=शरीर, जो उसने विभिन्न जन्म-जन्मान्तरों में ग्रहण किये थे।

हे जीवात्मा! तू असंख्यातीत योनियों में भटक रहा है फिर भी तेरा संशय दूर नहीं होता। जिसे मनुष्य विभिन्न योनियों में भटक कर न पा सका, उसी अलख ब्रह्म को सद्गुरु ने बाह्य परिचय मात्र से ही पहचान लिया।

जगत जहंदम राचिया झूठी कुल की लाज।
तन बिनसैं कुल बिनसि है गह्यौ न रांम जिहाज ॥२० ॥

जहंदम=जहन्नुम नरक। राचिया=सृजा बनाया है। तन=शरीर, यहां जन्म से तात्पर्य।

संसार में झूठे कुल-गौरव की प्रतिष्ठा के लिए नरक की सृष्टि हो रही है। इस शरीर जन्म के नष्ट होते ही समस्त कुल-गौरव नष्ट हो जायेगा। इसीलिए हे मूर्ख! तू संसार-सागर से पार जाने के लिए राम-नाम रूपी नौका का सम्बल क्यों नहीं पकड़ता?

विशेष—रूपक अलंकार।

पष ले बूडी पृथमी झूठी कुल की लार।
अलष बिसार्यो भेष मैं बूडे काली धार ॥२१॥

पष=पक्ष। पृथमी=पृथ्वी संसार।

समस्त संसार कुल-गौरव की धाक में मिथ्या अहं का प्रदर्शन कर व्यर्थ नष्ट हो गया। बाह्य-वेषभूषा के आडम्बर में पूर्ण ब्रह्म को विस्मृत कर ढोंगी लोग काल-प्रवाह में नष्ट हो गये।

चतुराई हरि नां मिलै ए बातां की बात।
एक निसप्रेही निरधार का गाहक गोपीनाथ ॥२२॥

ए बातां की बात=सौ बातों की बात सार तत्व वास्तविकता। निसप्रेही=निस्पृह, निष्काम।

वास्तविक बात यह है कि प्रभु की प्राप्ति चतुराई (ज्ञान) से नहीं हो सकती। निस्पृह निष्काम एवं निराश्रय भक्त को ही प्रभु अपनाते हैं।

नवसत साजे कांमनी तन मन रही सँजोइ।
पीव कै मनि भाव नहीं पटम कीयें क्या होइ ॥२३॥

नवसत=नौ+सात=सोलह। साजे=शृंगार। पटम=शृंगार-सज्जा मंडन आदि।

कामिनी यदि सोलह शृंगारों से सुशोभित हो तन मन को सुसज्जित करके प्रिय के सम्मुख जाय और तो भी प्रिय को सुन्दर न लगे तो फिर भला ऐसे शृंगार मण्डन से क्या लाभ? भाव यह है कि बाह्य-वेषभूषा का आडम्बर प्रभु को प्रसन्न नहीं कर सकता उसके लिए तो अमित प्रेम-परिपूर्ण स्वच्छ हृदय की भक्ति की ही आवश्यकता है।

विशेष—सोलह शृंगार—(१) शौच (२) उबटन (३) स्नान (४) केश बन्धन (५) अंगराग (६) अञ्जन (७) जावक (महावर) (८) दन्त-रञ्जन (९) ताम्बूल (१०) वसन (११) भूषण (१२) सुगन्ध (१३) पुष्पहार (१४) कंकण (१५) भाल तिलक (१६) चिबुक-बिन्दु।

अब लग पीव परचा नहीं कन्यां कँवारी जांणि।
हथ लेवा हूँस लिया मुसकल पड़ी पिछांणि ॥२४॥

परचा=परिचय साक्षात्कार से तात्पर्य।

जिस भांति जब तक कुमारिका का प्रियतम से साक्षात्कार नहीं होता (चाहे विवाह हो जाय) तब तक वह कुमारी ही कहलाती है उसी प्रकार जब तक आत्मा का प्रभु से साक्षात्कार नहीं होता तो वह कुमारी ही कहलाती है चाहे प्रभु-प्राप्ति के (भक्ति) मार्ग पर वह चल पड़े। जिस प्रकार वर कन्या का पाणिग्रहण तो बड़े उत्साहपूर्वक करता है किन्तु तदनन्तर जीवन की विषम परिस्थितियां अनेक कठिनाइयां उपस्थित कर देती हैं उसी भांति आत्मा प्रभु भक्ति मार्ग पर अग्रसर तो बड़ी प्रसन्नता से हुई किन्तु बाद में साधना की विरलता उसे विचलित करती है।

कबीर हरि की भगति का मन मैं परा उल्हास ।
मैंवासा भाजै नहीं हूंण मतै निज दास ॥२४॥

परा=बहुत । उल्हास=उल्लास आनन्द । मैंवासा=चोर मई का दर्प ।

कबीर कहते हैं कि साधक के मन में प्रभु-भक्ति का बड़ा उल्लास है। किन्तु महंदर्प रूप चोर हृदय से नहीं भागता और वह अपना प्रभाव भक्त पर डालकर उसे पथ-विचलित करना चाहता है।

मैंवासा मोई किया दुरिजन काढ़े दूरि ।
राज पियारे रांम का नगर बस्या भरिपूरि ॥२१॥४६ ॥

साधक कहता है कि मैंने महं रूपी चोर को मार दिया है एवं काम, क्रोध मद लोभ मोह रूपी दुर्जनों को दूर कर दिया है। अब मेरे अन्तर बाह्य में प्रभु का ही राज्य रहता है उसी की भक्ति से परिचालित होकर समस्त कार्य होते हैं।

२५ कुसंगति कौ अंग

निरमल बूंद अकास की पड़ि गई भोमि बिकार ।
मूल बिनठा मांनवी बिन संगति भठछार ॥१॥

भोमि=भूमि पृथ्वी । बिनठा=विनष्ट । मांनवी=मनुष्य । भठछार=भट्ठी की राख ।

जिस प्रकार वर्षा की निर्मल बूंद आकाश से पृथ्वी पर गिरकर विकृत हो जाती है। (गन्दले पानी के रूप में बहती है) उसी प्रकार मनुष्य भी सत्संगी के अभाव मे समग्र नष्ट हो भट्ठी की राख के समान व्यर्थ हो जाता है।

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ ।
कदली सीप भवंग मुषी एक बूंद तिहूं भाइ ॥२॥

मूरिष=मूर्ख । भवंग=भुजंग सर्प ।

कबीर कहते हैं कि कभी भी मूर्खों का साथ नहीं करना चाहिए, जिस प्रकार लोहा जल पर नहीं तैर सकता उसी भांति ये पढ़ अज्ञानी भी सद्विचारों को नहीं अपना सकते। यह संगति का ही प्रभाव है कि एक स्वाति बूंद विभिन्न संगतियों में पड़कर विभिन्न रूप धारण करती है यदि वह केले में पड़ती है तो कपूर बनती है सीप में पड़कर मोती बन जाती है और वही सर्प के मुख म पड़कर विष बन जाती है।

हरिजन सेती रूसणां संसारी सूं हेत।
ते नर कदे न नीपजै ज्यूं कालर का खेत ॥३॥

सेती=से। रूसणां=अप्रसन्न होना। हेत=प्रेम। नीपजै=पल्लवित होने के अर्थ में समृद्धि से तात्पर्य। कालर=कल्लर एक प्रकार की अनउपजाऊ कठोर भूमि जिसे कल्लर भी कहते हैं।

जो लोग प्रभु भक्तों से अप्रसन्न रहते हैं और संसार-बद्ध लोगों से प्रेम करते हैं वे उसी प्रकार कभी समृद्ध नहीं होते जिस प्रकार कल्लर भूमि में कुछ नहीं उपजता। अथवा ऐसे लोगों में कभी भी भक्ति का आविर्भाव नहीं होता जिस प्रकार कल्लर खेत में कुछ नहीं उपजता

विशेष—उपमा अलंकार।

मारी मरूं कुसंग की केला कांठै बेरि।
वो हालै वो चीरिये साषित संग न बेरि ॥४॥

कांठै=पास समीप। बेरि=एक पेड़ विशेष जिसमें कांटे होते हैं। हालै=हिलना। चीरिये=फाड़ना। साषित=शाक्त। नबेरि=निवारण।

आत्मा प्रभु से कहती है कि मैं कुसंगति से उसी प्रकार दुखी हूं जिस प्रकार केला पास में खड़ी बेरी के वृक्ष से। बेरी-वृक्ष जब पूर्ण स्वच्छन्दता से हिलता है तो उसके कांटे केले के पत्तों को चीर देते हैं उसी भांति मैं भी यहां शाक्तों की कुसंगति में पड़ कर दुखित हूं अतः इन्हें दूर करो। (समाप्त कर दो)।

मेर मीसांणी मीच की कुसंगति ही काल।
कबीर कहै रे प्राणियां बांणी ब्रह्म संभाल ॥५॥

मेर=यह। प्राणियां=प्राणी।

कबीर कहते हैं कि यह ही मृत्यु का चिह्न है अतः कुसंगति तो मृत्यु ही है। इसलिए हे प्राणी! तू वाणी द्वारा प्रभु भजन कर।

माषी गुड़ मैं गड़ि रही पंष रही लपटाइ।
ताली पीटै सिरि धुनैं मीठै बोई माइ ॥६॥

माषी=मक्खी। ताली पीटै=पंख फड़फड़ाती है। बोई=उत्पन्न होने के अर्थ में। माइ=माया।

कबीर कहते हैं कि आत्मा रूपी मक्खी माया रूपी गुड़ में चिपक गई है जिस प्रकार मक्खी के पंख भी गुड़ में सट जाने पर वह उड़ने में असमर्थ होती है उसी भांति आत्मा भी माया में पूर्ण मलिन हो भवबन्धन से नहीं छूट पाती। चाहे मक्खी रूपी आत्मा कितना भी प्रयत्न करे किन्तु वह उससे

जहाँ छूट सकती माया की मधुरता में ऐसा ही आकर्षण है जहाँ माया होगी वहाँ कभी न छोड़ने वाला आकर्षण अवश्य होगा।

ऊँच कुल क्या जनमियाँ जे करणीं ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरै भर्या साधू निंद्या सोइ ॥७॥४१॥

सोवन=स्वर्ण। सुरै=मदिरा।

ब्राह्मण आदि सवर्ण हिन्दुओं पर व्यंग्य करते हुए कबीर कहते हैं कि यदि व्यक्ति के कर्म उच्च नहीं हैं तो उच्च कुल में जन्म होने का क्या गौरव ? स्वर्ण कलश भी यदि मदिरा से परिपूर्ण है तो साधुजन तो उसकी निन्दा ही करेंगे।

—×—

२६ संगति कौ अंग

देखा देखी पाकड़ै जाइ अपरचै छूटि।
बिरला कोई ठाहरै, सतगुर सांमीं मूठि ॥१॥

पाकड़ै=ग्रहण करता है। अपरचै=अपरिचय परिचय के बिना। सांमीं=सम्मुख। मूठि=मुट्ठी पूरी शक्ति के साथ साथ प्रहार करने के अर्थ में।

दूसरे के अनुकरण पर ही प्रभु-भक्ति का मार्ग ग्रहण करना अधिक समय तक नहीं चल पाता भक्ति-मार्ग (प्रेम-रहस्य) से पूर्ण परिचय न होने के कारण वह छूट जाता है। सद्गुरु के उपदेश रूपी पूर्ण शक्ति से छोड़े गये बाण के सम्मुख प्रभु-भक्ति मार्ग से अनभिज्ञ साधक ठहर नहीं पाता।

देखा देखी भगति है कदे न चढ़ई रंग।
बिपति पड़्या यूं छाड़सी ज्यूं कंचुली भवंग ॥२॥

कदे=कभी भी।

देखा देखी अनुकरण मात्र से ही (हृदय में प्रेम न होने पर) कभी भी सच्ची भक्ति नहीं हो सकती। साधना मार्ग में जब विकट स्थिति आती है तो ऐसे कच्चे साधक भक्ति को क्षण भर में ऐसे ही त्याग देते हैं जैसे सर्प केंचुली को। भाव यह है कि उनके लिए भक्ति बाहर से लादा हुआ एक निर्जीव भार होती है, हृदय के सहज प्रेम में अंकुरित नहीं।

करिए तौ करि, जांणिये सारीषा सूं संग।
लीर लीर लोई थई तऊ न छाड़ै रंग ॥३॥

सारीषा=अपने समान। लीर-लीर=टुकड़े-टुकड़े। लोई=एक प्रकार का वस्त्र-विशेष। थई=हो गई।

जिससे प्रेम करना है उसे बिलकुल अपने समान ही बना लो जिससे दोनों मिलकर एकमएक हो जायें। लोई को देखो उसने रंग को अपने में कसे मिला लिया है कि चीर चीर होकर फट जाने पर भी वह अपना रंग नहीं छोड़ती।

यहु मन दीजै तास कौं सुठि सेवग भल सोइ।
सिर ऊपरि आरास है, तऊ न दूजा होइ ॥४॥

तास कौं=उसको। सेवग=सेवक। आरास=बढ़ई के पास लकड़ी चीरने का एक औजार, यहां विपत्तियों से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि आप अपना मन अर्थात् प्रेम उसी को प्रदान कीजिए जो प्रभु का सच्चा भक्त हो। वह प्रेम में इतना दृढ़ हो गया हो कि चाहे आपत्ति रूपी आरा उसे चीर ही क्यों न दे नष्ट ही क्यों न कर दे किन्तु वह अपने पंथ से विचलित न हो।

पांहण टांकि न तौलिए, हाडि न कीजै वेह।
माया राता मांनवी तिन सूं किसा सनेह ॥५॥

पांहण=पत्थर। हाडि=हड्डी। वेह=विदीर्ण करना। राता=अनुरक्त। मानवी=मनुष्य।

जिस प्रकार पत्थर में टांकी लगाकर तोलना एवं हड्डी को तोड़कर पपीता लेना कठिन है उसी प्रकार मायासंलिप्त व्यक्ति से भी प्रेम करना कठिन है। भाव यह है कि मायानुरक्त व्यक्ति प्रेम का पात्र नहीं।

कबीर तासूं प्रीति करि, जो निरबाहै ओड़ि।
बनिता बिबधि न राचिये देषत लागै षोड़ि ॥६॥

निरबाहै=निबाहे। ओड़ि=अन्त तक। बिबधि=समृद्धि व सम्पत्ति के अर्थ में।

कबीर कहते हैं कि जिससे जीवन पर्यन्त प्रेम-निर्वाह हो उसी से प्रेम करना चाहिए (ऐसा एकमात्र पात्र प्रभु ही है) कामिनी और सम्पत्ति में अनुरक्त नहीं होना चाहिए इनके तो दर्शन मात्र से पाप लगता है।

कबीर तन पंषी भया जहां मन तहां उड़ि जाइ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥७॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिए पक्षी बन गया है जहां इच्छा होती है वहीं उड़ जाता है। यह बुरी संगत का ही परिणाम है जैसी संगति की है वैसे परिणाम भोगने पड़ेंगे।

काजल केरी कोठड़ी तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की पैसि र निकसणहार ॥८॥४७७॥

जिस प्रकार काजल की कोठरी में जाकर कोई बेदाग निष्कलंक नहीं लौटता वैसा ही यह संसार है जिसमें रह कर विषय-वासनाओं की कालिख थोड़ी बहुत अवश्य लग जाती है। कबीर कहते हैं कि मैं उस भक्त की बलिहारी जाता हूं जो इसमें प्रवेश करके इसके प्रभावों से अछूता ही निकल आता है।

—×—

२७ असाध कौ अंग

कबीर भेष अतीत का करतूति करै अपराध।
बाहरि दीसै साध गति माहैं महा असाध ॥१॥

अतीत=बैरागी।

कबीर कहते हैं कि वेश तो वैरागी के समान धारण किया हुआ है और कर्म पाप-परिपूर्ण हैं, जो इस प्रकार बाह्याचरण से साधु सुसज्जित होते हैं, वे भीतर हृदय में अनेक कलुषताओं से भरे रहते हैं।

उज्जल देखि न धीजिये बग ज्यूं माँडै ध्यान।
धौरैं बैठि चपेटसी यूं लै बूड़ै ग्यान ॥२॥

धीजिए=विश्वास कर बैठिए। बग=बक बगुला। माँडै=मछली। धौरैं=पास।

किसी की उज्ज्वल वेश भूषा देखकर उसके उज्ज्वलमना होने का विश्वास मत कर बैठिए। हो सकता है कि वह मछली की खोज में एक टांग से चुपचाप खड़े बगुले के समान हो। जिस भांति मछली के पास घात पर बगुला उसको चट कर जाता है उसी भांति वह तुमको अपने पूर्ण सम्पर्क में लाकर अपने ज्ञान के साथ ही समाप्त न कर दे।

विशेष—सहोक्ति अलंकार क्योंकि ज्ञान एवं प्राण का साथ ही साथ अन्त बताया गया है।

जेता मीठा बोलणा तेता साध न जाणि।
पहली थाह दिखाइ करि ऊंडै देसी आणि ॥३॥२४॥

थाह—पार पाने योग्य उथला पानी। ऊंडै—गहरे पानी में।

कबीर कहते हैं कि जितने भी मृदु भाषी हैं उन सबको ही साधु मत समझो। वे लोग ऐसा ही करते हैं कि पहले उथला जल दिखाकर फिर गहरे पानी में ले जाकर डुबो देते हैं।

—×—

२८ साध कौ अंग

कबीर संगति साध की कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना नींब न कहसी कोइ ॥१॥

निरफल=निष्फल। बांवना=श्रेष्ठ। नींब=नीम।

कबीर कहते हैं कि साधु-संगति कभी भी व्यर्थ नहीं जाती। साधु-संगति से तुम नीम जैसे कड़वे से सुशीतल सुगन्धवाही चन्दन बन जाओगे फिर तुम्हें कोई नीम—कड़वा बुरा—न कह सकेगा।

विशेष—गोस्वामी तुलसीदास जी भी 'रामचरित मानस' में सत्संग महिमा का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"बिनु सतसंग बिवेक न होई।
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सतसंगत मुद मंगल मूला।
सोई फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।
पारस परस कुधात सुहाई॥
बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं।
फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥
बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी।
कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मो सन कहि जात न कैसे।
साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥

कबीर संगति साध की बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी देसी सुमति बताइ ॥२॥

दुरमति=दुर्बुद्धि।

कबीरदास कहते हैं कि साधु जनों की संगति शीघ्रातिशीघ्र करो। उससे दुर्बुद्धि का नाश एवं सद्बुद्धि की प्राप्ति होती है।

मथुरा जावै द्वारिका भावै जाव जगनाथ।
साध संगति हरिभगति बिन कछू न आवै हाथ ॥३॥

कबीर कहते हैं कि मथुरा, द्वारिका, जगन्नाथ या अन्य तीर्थस्थान चाहे जहाँ चले जाओ किन्तु साधसंगति और प्रभु भक्ति के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।

मेरे संगी दोइ जणां एक वैष्णों एक राम ।
वो है दाता मुकति का वो सुमिरावै नांम ॥४॥

कबीर कहते हैं कि मेरे साथी दो ही हैं—एक तो वैष्णव एवं दूसरे प्रभु। प्रभु तो मुक्ति को देने वाले हैं ही वैष्णव भी प्रभु का नाम स्मरण कर ईश्वर भक्ति में प्रवृत्त करता है।

कबीर बन बन में फिरा कारणि अपणें रांम ।
रांम सरीखे जन मिले तिन सारे सब कांम ॥५॥

सारे=पूर्ण किये।

कबीर कहते हैं कि अपने प्रभु की खोज में मैं वन-वन भटकता फिरा। मुझे प्रभु के समान ही प्रभु भक्त मिल गये जिन्होंने मेरा उद्देश्य सिद्ध कर दिया मुझे प्रभु से मिला दिया।

कबीर सोई दिन भला जा दिन संत मिलांहि ।
अंक भरे भरि भेटिया पाप सरीरौं जांहि ॥६॥

सरीरौं=शरीर का।

कबीर कहते हैं कि वही दिवस श्रेष्ठ है, जिस दिन संत-दर्शन हो जाय। उनको प्रेमपूर्वक आलिंगन कर भेंट करने से शरीर के समस्त पाप दूर हो जाते हैं।

विशेष—संगति की महिमा का ऐसा ही वर्णन महाकवि कालीदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में प्राप्त होता है—

"मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ।
पंकच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः ॥" (२-७)

विद्वान् के संसर्ग से मन्दबुद्धि मनुष्य भी बुद्धिमान् हो जाता है। जैसे गन्दा जल मैल को काटने वाली निर्मली के फल के सम्पर्क से शुद्ध हो जाता है।

कबीर चंदन का बिड़ा बैठ्या आक पलास ।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास ॥७॥

बिड़ा=वृक्ष।

कबीर कहते हैं कि चन्दन का वृक्ष आक और पलाश के बीच उग आया किन्तु उसने उन वृक्षों को भी अपने समान सुगन्धिदायक बना दिया। इसी प्रकार साधुजन भी संसर्ग से दुष्टों को सच्चरित्र बना देते हैं।

विशेष—(१) अलंकार—अन्योक्ति एवं तद्गुण।

(२) कबीर ने आक के साथ पलाश जैसे सुन्दर और सुवासित

पुष्प वाले पेड़ को भी सम्मिलित कर लिया इसके साथ मथुरा कहा जाता तो सुन्दर था किन्तु कबीर इसके दोषी नहीं । उन्होंने अपने शब्दों को सुधारा तो पता नहीं न इसकी उन्हें आवश्यकता थी क्योंकि उनका एकमात्र प्रयोजन अपने भाव हृदय में उमड़ते हुए सत्य को बताना था यह इससे स्पष्ट हो जाता है ।

कबीर खाई कोट की, पांणीं पिवै न कोइ ।
जाइ मिलै जब गंग में तब सब गंगोदिक होइ ॥८॥

कोट—किला ।

कबीर कहते हैं कि किले से निकलने वाली गन्दी खाई, नाले का पानी कोई नहीं पीता है किन्तु जब वही नाला गंगाजी में जाकर मिल जाता है तो पवित्र गंगा जल हो जाता है जिसका सब श्रद्धापूर्वक पान करते हैं ।

विशेष—तुलसी से तुलना कीजिए—

"गगन चढ़हि रज पवन प्रसंगा ॥"

जांनि बूझि साचहि तजैं करैं झूठ सूं नेह ।
ताकी संगति राम जी सुपिनैं ही जिनि देहु ॥६॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! जो जान-बूझकर सज्जनों को परित्याग कर मिथ्याचारियों से सम्बन्ध रखते हैं उनकी संगति मुझे स्वप्न में भी मत दो ।

कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तू बसै ।
नहीं तर बेगि उठाइ नित का गंजन को सहै ॥१ ॥

तास—उससे । हियाली—हृदय । गंजन—दुख ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! या तू मेरी भेंट उससे करा दे जिसके हृदय में तेरा निवास है अन्यथा फिर मेरा जीवन ले ले नित्य प्रति कुसंगति का दुख कौन सहन करता रहे ?

केती लहरि समंद की कत उपजै कत जाइ ।
बलिहारी ता दास की उलटी मांहि समाइ ॥११॥

कबीर कहते हैं कि इस भवसागर में कितनी लहरें उठती और गिरती हैं कितने मनुष्य आवागमन चक्र में पड़ जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं । मैं उस दास की बलिहारी जाता हूं जो जन्म धारण कर प्रभु भक्ति के माध्यम से उसी में लीन हो जाता है ।

काजल केरी कोठड़ी काजल ही का कोट ।
बलिहारी ता दास की जे रहै रांम की ओट ॥१२॥

यह संसार काजल की कोठरी के समान है जिसकी दीवारें विषय

वासनाओं की कालिमाओं से ही मुक्त है। कबीर कहते हैं कि मैं उस इस भक्त की बलिहारी जाता हूं जो संसार में रहकर भी इसकी वासना-कालिमा से दूर रहता है।

भगति हजारी कपड़ा तामैं मल न समाइ।
साषित काली कांवली भावै तहां बिछाइ ॥११॥४९१॥

हजारी कपड़ा=वह वस्त्र जिसका मूल्य एक सहस्र रुपये हो बहुमूल्य से तात्पर्य। साषित=शाक्त यहां शाक्त सम्प्रदाय या साधना से तात्पर्य।

भक्ति उस बहुमूल्य वस्त्र के समान है जिसमें तनिक सा भी पाप की मैल छिप नहीं सकता। दूसरी ओर शाक्त-साधना काले कम्बल के समान है जिसे चाहो बिछा दो। भाव यह है कि शाक्त साधना भक्ति-सम्प्रदाय की तुलना में निकृष्ट है।

— —

२९. साध साषीभूत कौ अंग

निरबैरी निहकामता सांई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै संतनि का अंग एह ॥१॥

निहकामता=निष्कामता कामना-विरत होना। विषिया=विषय-वासनाएं। अंग=लक्षण गुण।

कबीरदास कहते हैं कि किसी से वैरभाव न रखना निष्कामता प्रभु भक्ति विषयों से दूर रहना यही सन्तों के लक्षण हैं।

संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत।
चंदन भुवंगा बैठिया तउ सीतलता न तजंत ॥२॥

सन्त करोड़ों असन्तों के बीच में रहकर भी अपनी वृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता।। चन्दन के वृक्ष पर सर्प लिपटे रहते हैं तो भी वह अपनी शीतलता नहीं त्यागता।

विशेष—(१) अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

(२) तुलना कीजिए—

जो रहीम ऊंची संगति का करि सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापै नहीं लपटे रहत भुजंग॥

कबीर हरि का भावता दूर थैं दीसंत।
तन षीणा मन उनमनां जग रूठड़ा फिरंत ॥१॥

भावता=चाहने वाला भक्त। दीसंत=दृष्टिगत होता है। षीणा=क्षीण।

कबीरदास कहते हैं कि प्रभु-भक्त दूर से ही दिखाई दे जाता है। उसका शरीर क्षीण मन उन्मनी अवस्था में अर्थात् भीतर ही केन्द्रित एवं वह संसार से असम्पृक्त रहता है।

कबीर हरि का भांवता झीणां पंजर तास।
रैणि न आवै नींदड़ी अंगि न चढ़ई मास ॥४॥

झीणां=क्षीण।

कबीरदास कहते हैं कि जो प्रभु भक्त होता है उसका शरीर बड़ा क्षीण होता है क्योंकि वह अन्य सांसारिकों के समान निरंकुश नहीं होता। प्रभु की भक्ति में अनुरक्त रहने के कारण उसे रात को नींद नहीं आती और न वह शरीर से पुष्ट होता है।

अणरता सुख सोवणां राते नींद न आइ।
ज्यूं जल टूटै मछली यूं बेलत बिहाइ ॥५॥

अणरता=जो अनुरक्त नहीं है। राते=जो अनुरक्त हैं। टूटै=समाप्त होने पर। बेलत=तड़प-तड़प कर।

जो प्रभु में अनुरक्त नहीं हैं वे सुख की नींद सोते हैं तथा जिनकी वृत्ति प्रभु में रमी हुई है वे सुख-निद्रा में सो नहीं पाते। उनकी अवस्था उस मछली के समान होती है जो जल समाप्त होने पर तड़पती है। वे भी प्रभु-वियोग में तड़पते हैं।

जिन्य कुछ जांण्यां नहीं तिन्ह सुख नींदड़ी बिहाइ।
मैर अबूझी बूझिया पूरी पड़ी बलाइ ॥६॥

कबीरदास कहते हैं कि जिन्होंने ज्ञानार्जन का कुछ प्रयत्न नहीं किया उन्होंने सम्पूर्ण आयु सुख-निद्रा में व्यतीत कर दी। मैं अज्ञानी जब उस ब्रह्म को जानने के लिये साधना में प्रवृत्त हुआ तो प्रभु-वियोग की यह विपत्ति मेरे गले पड़ गई।

जांण भगत का नित मरण अण जांण का राज।
सर अपसर समझै नहीं पेट भरण यू काज ॥७॥

जांण=ज्ञानी। अण जांणें=अज्ञानियों। राज=आनन्द से तात्पर्य। सर अपसर=अवसर-अनवसर। पेट-भरण=जीवन की पाशविक वृत्तियों के लिए।

ज्ञानी का तो नित्य मरण है क्योंकि उसे प्रभु-वियोग में क्षण-क्षण मृत्यु की वेदना को सहन करना पड़ता है। आनन्द तो केवल अज्ञानियों को प्राप्त है

जिन्हें प्रभु-भक्ति से कोई प्रयोजन नहीं केवल जीवन की पाशविक वृत्तियों को ही सन्तुष्ट करने में उनके कर्तव्य की इति-श्री हो जाती है ।

जिहि घटि जांण बिनाण है, तिहिं घटि आवटणा घणा ।
बिन षंडै संग्रांम है नित उठि मन सौं भूझणा ॥८॥

जांण-बिनाण=ज्ञान-विज्ञान । आवटणा=आत्मा संतप्त होने के अर्थ में । घणा=अत्यधिक । षंडै=तलवार । भूझणा=युद्ध करना ।

कबीरदास कहते हैं कि जिसके हृदय में ज्ञान-विज्ञान है अर्थात् जो विवेकी है उसके हृदय में विरह-अग्नि प्रज्वलित रहती है । उसे नित्य प्रति उठकर अपने मन से युद्ध करना पड़ता है कि वह असत् मार्ग की ओर प्रवृत्त न हो । इस प्रकार बिना तलवार के वहां नित्यप्रति युद्ध होता रहता है ।

विशेष—विभावना अलंकार ।

रांम बियोगी तन बिकल ताहि न चीन्हैं कोइ ।
तंबोली के पांन ज्यूं दिन दिन पीला होइ ॥९॥

जो प्रभु-वियोगी होता है उसकी वेदना को कोई नहीं जान पाता । वह तो तमोली की दूकान पर रखे पान के समान दिन प्रतिदिन पीला होता जाता है ।

पीसक दीठी सांइयां लोग कहै पिंड रोग ।
छांनै लंघण नित करैं रांम पियारे जोग ॥१०॥

पीसक=पीलापन । सांइयां=प्रभु । पिंड=पीलिया एक रोग-विशेष जिसमें व्यक्ति दिन-प्रतिदिन पीला पड़ता जाता है । छानै=छीन । लंघण=व्रत ।

हे प्रभु ! तुम्हारे वियोग में पीड़ित होकर मेरा शरीर दिन प्रतिदिन पीला पड़ता जाता है अब यह कहते हैं कि इसे पीलिया हो गया है । राम के वियोग में मैं न कुछ खा सकता हूं न पी सकता हूं इससे मैं और भी क्षीण होता जाता हूं जिससे प्रियतम से मिलन हो सके ।

काम मिलावै रांम कूं जे कोई जांणै राषि ।
कबीर बिचारा क्या कहै जाकी सुखदेव बोलै साषि ॥११॥

यदि कर्मों को उचित रीति से सम्पन्न किया जाय तो कर्म ही प्रभु से मिला देते हैं । ऐसा कहकर मैं कोई मिथ्या तत्त्व प्रतिपादित नहीं कर रहा हूं मेरे कथन की साक्षी तो शुकदेव जी ने भी दी है ।

विशेष—(१) कबीर ने अपने वचनों की मान्यता सार्थकता घोषित करने के लिये स्थान-स्थान पर वैष्णवों के पूज्य ऋषियों एवं देवताओं द्वारा अपनी वाणी का समर्थन कराया है ।

(२) शुकदेव— पुराण में कथा है कि व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी माता के डर से १२ वर्ष तक माता के गर्भ में रहे थे। व्यास जी के बहुत समझाने पर बाहर आए पर जन्मते ही वन को चल दिये व्यास जी पुत्र मोह में विरह कातर होकर पीछे-पीछे चले। मार्ग में कुछ ब्रह्मचारी श्रीकृष्ण सम्बन्धी आधा श्लोक पढ़ रहे थे उसे सुनकर शुकदेव जी को पूरा श्लोक जानने की इच्छा हुई। व्यास जी ने कहा मैंने अठारह हजार श्लोक बनाए हैं। भगवान् व्यास ने पुत्र को सम्पूर्ण पढ़ाया और कहा बिना गुरु के ज्ञान अधूरा रहता है। तुम महाराज जनक से अध्यात्म विद्या प्राप्त कर लो। शुकदेव जी ने पिता की यह आज्ञा स्वीकार कर ली और राजा जनक के पास जाकर ब्रह्म-विद्या प्राप्त की। इन्होंने राजा परीक्षित को भागवत की कथा सुनाई थी।

—'कबीर बीजक'।

कामणि अंग विरकत भया रत भया हरि नांइ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं अमर भये कलि मांहि ॥१२॥

कामणि=कामिनी। रत=अनुरक्त।

कामिनी से विरक्त होना एवं प्रभु के नाम में अनुरक्त होना ही श्रेय है। इसके साक्षी गुरु गोरखनाथ हैं जिन्होंने कलियुग में भी इस आचरण से अमरता प्राप्त कर ली।

विशेष—

गोरखनाथ— ये एक प्रसिद्ध योगी तथा महात्मा थे ये नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। ये तन्त्र विद्या के आचार्य भी थे इनके बनाये हुए संस्कृत में ग्रन्थ भी हैं। नौ नाथ तथा चौरासी सिद्धों में इनकी गणना है गोरखपुर में इनके नाम का मन्दिर भी है। —कबीर बीजक

जदि विषै पियारी प्रीति सूं तब अंतरि हरि नांहि।
जब अंतर हरि जी बसै तब विषिया सूं चित नांहि ॥१३॥

विषै=विषय-वासनाएं।

जब तक विषय-वासनाएं प्रभु-भक्ति से अधिक प्रिय हैं तब तक हृदय में प्रभु का निवास नहीं हो सकता। जब हृदय में प्रभु का वास हो जायगा तब मन विषयों में नहीं लगेगा।

विशेष—तुलना कीजिए—

"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहए।"
(विनय पत्रिका)

जिहि घट मैं संसौ बसै तिहि घटि रांम न जोइ।
रांम सनेही दास बिचि तिणां न संचर होइ ॥१४॥

बिचि=मध्य में। तिणां=तृण।

जिस हृदय में मायाजनित द्वैत भावना है उसमें प्रभु का वास नहीं हो सकता। प्रभु एवं प्रेमी भक्त में तो इतनी सी भी दूरी नहीं होनी चाहिए जो उनके बीच तृण का भी संचार हो सके।

स्वारथ कौ सबको सगा जग सगलाही जाणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि ॥१५॥

सगा=निकट सम्बन्धी। सगला=सम्पूर्ण।

कबीरदास कहते हैं कि समस्त संसार स्वार्थ सिद्धि के ही कारण सबको अपना सम्बन्धी बनाता है। यदि कोई बिना स्वार्थ ही के अपना आदर करे तो समझिए कि उसमें प्रभु-भक्ति अवस्थित है।

जिहि हिरदै हरि आइया सो क्यूं छांनां होइ।
जतन जतन करि दाबिये तऊ उजाला सोइ ॥१६॥

छांनां=छिपाना।

जिस हृदय के भीतर प्रभु का पदार्पण हो गया वह कैसे छिपाया जा सकता है उसकी निर्मल ज्योति सर्वदा भासमान रहती है। चाहे ब्रह्म की उस निरंजन ज्योति को दबा-दबा कर मनुष्य कितना भी छिपाने का उपक्रम क्यों न करे तो भी उसका प्रकाश प्रकाशित ही होता रहेगा।

फाटै दीदै मैं फिरौं नजरि न आवै कोइ।
जिहि घटि मेरा सांइयां सो क्यूं छांनां होइ ॥१७॥

फाटै=खोलकर। दीदै=नेत्र।

मैं नेत्र फाड़ फाड़ कर देख रहा हूं किन्तु फिर भी यहां कोई प्रभु-भक्त दृष्टिगत नहीं हो रहा है। जिस हृदय में मेरे स्वामी ब्रह्म का निवास है वह छिपाया नहीं जा सकता। भाव यह है कि महात्मा आनन से ही दीख जाते हैं।

सब घटि मेरा सांइयां सूनी सेज न कोइ।
भाग तिन्हौं का हे सखी जिहि घटि परगट होइ ॥१ ॥

सर्वत्र सब प्राणियों में प्रभु बसे हुए हैं, कोई भी हृदय-शय्या उनसे शून्य नहीं है। हे सखी! जिसके हृदय में भी वे उत्पन्न हो गए यह उस जीवात्मा का भाग्य है।

पावक रूपी राम है घटि घटि रह्या समाइ ।
चित चकमक लागै नहीं ताथ धूवां ह्वै ह्वै जाइ ॥१६॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु उस अग्नि के समान हैं जो भस्मावृत रह प्रत्येक के हृदय में समायी रहती है। किन्तु उस चित्त मन रूपी चकमक पत्थर का स्पर्श नहीं हो पाता जिससे प्रभु रूपी अग्नि के दर्शन नहीं होते इसलिए केवल धुआँ ही धुआँ (विषय-वासनाओं की कालिमा) ही दृष्टिगत होती है। भाव यह है कि चित्तवृत्तियाँ प्रभु में केन्द्रित होने पर ही उसका दर्शन सम्भव है।

कबीर तालिब जागिया और न जागै कोइ ।
कै जागै विषई विष भर्या कै दास बंदगी होइ ॥२०॥

तालिब=प्रभु।

कबीर कहते हैं कि केवल प्रभु ही जागता है और कोई नहीं। या जागता है तो विषयी व्यक्ति जागता है जो नाना भोगों में संलिप्त रहता है या फिर वह प्रभु-भक्त ही जागता है जो भक्ति में निमग्न रहता है।

कबीर चाल्या जाइ था आगै मिल्या खुदाइ ।
मीरां मुझ सौं यौं कह्या किनि फुरमाई गाइ ॥२१॥२१४॥

२१ फुरमाई=फरमाना। मीरा=प्रभु कुछ स्थानों पर भी आज भी मीरां-नामक देवता की पूजा होती है।

कबीर कहते हैं कि मैं यों ही अपनी धुन में मस्त चला जा रहा था कि आगे प्रभु मिल गये। उन्होंने मुझ से कहा कि तू अपने विचारों को गा कर प्रस्तुत क्यों नहीं करता ? इसीलिए मैं अपने विचारों को गा-गा कर प्रस्तुत कर रहा हूं।

—×—

३० साध महिमा को अंग

च न की कुटकी भली ना बंबूर की अबराउ ।
बैस्नों की छपरी भली ना साषत का बड गाउ ॥१॥

कुटकी=छोटी सी लकड़ी से तात्पर्य। बंबूर=बबूल। अबराउ=जंगल। बड=बड़ा।

कबीर कहते हैं कि अच्छी वस्तु का थोड़ी मात्रा में प्राप्त होना ही अच्छा है यद्यपि बुरी वस्तु की बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्ति भी व्यर्थ है। चन्दन की लकड़ी का एक छोटा सा टुकड़ा ही बबूल वृक्ष के वन जिसमें लकड़ी ही

सकती होती है, से श्रेष्ठ है। वैष्णवों की एक कुटिया ही शाक्तों के बड़े गाँवों से श्रेष्ठ है।

विशेष—चमत्कार—अर्थान्तरन्यास।

पुरपाटण सूबस बस आनद ठायें ठाइ।
राम सनेही बाहिरा ऊजँड़ मेरे भाइ ॥१॥

सूबस=सुरीति से। बसे=बसा हुआ। ठायें ठांइ=अत्यधिक। बाहिरा=बिना। ऊजँड़=उजाड़ शून्य।

कोई कितने ही सुन्दर ढंग से बसा हुआ नगर हो और उसमें आनन्दोल्लास का बार-पार न हो किन्तु यदि वह प्रभु भक्त से शून्य हो तो निश्चय ही वह उजाड़ शून्य प्रदेश तुल्य है।

जिहि घरि साध न पूजिये हरि की सेवा नाँहि।
ते घर मड़हट सारषे भूत बसै तिन माँहि ॥२॥

मड़हट=मरघट श्मशान।

जिस घर मे साधु की सेवा एवं प्रभु-भक्ति नहीं है वह घर श्मशान तुल्य शून्य तथा भयानक है। उसके अन्दर तो सांसारिक क्लेशों के भूत घर किये रहते हैं।

है गै गवर सघन घन छत्र धजा फहराइ।
ता सुख थैं भिष्या भली हरि सुमिरत दिन जाइ ॥४॥

है=हय अश्व। गै=गयंद हाथी। सघन घन=घनीभूत अनसंख्या। भिष्या=भिक्षा।

यदि किसी के पास हाथी घोड़े अत्यधिक संख्या में पूरित धाम चीज पर छत्र एवं महल-अट्टालिकाओं पर फहराती ध्वजा आदि समस्त ऐश्वर्य हो केवल प्रभु-भक्ति न हो तो सब व्यर्थ है। दूसरी ओर यदि प्रभु-भक्ति मे समस्त दिन व्यतीत हो जाता है और भिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है तो यह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

है गै गैवर सघन धन, छत्रपती की नारि।
तास पटंतर नाँ तुलै हरिजन की पनिहारि ॥५॥

पटंतर=बराबर समान।

हाथी घोड़े एवं अमित ऐश्वर्यशाली राजा रानी भी प्रभु-भक्ति की पनिहारिन की तुलना मे ही रखी जा सकती है वह उससे हेय है।

क्यू नृप नारी नींदिये क्यू पनिहारी कौं मांन।
वा मांग सवारै पीव कौं वा नित उठि सुमिरै राम ॥६॥

मान=सम्मान।

राजा की ऐश्वर्ययुक्त रानी की निम्नता एवं प्रभु-भक्त की पनिहारिन की श्रेष्ठता किस कारण बतायी गयी है? एक (रानी) तो अपने लौकिक प्रियतम के लिए शृंगार-मण्डन करती है और दूसरी (पनिहारिन) अपने स्वामी प्रभु का नित्य प्रति भजन करती है। इसी अन्तर के कारण द्वितीय प्रथम से महान् है।

कबीर धनि ते सुंदरी जिनि जाया बैसनौं पूत।
राम सुमरि निरभै हुवा सब जग गया अऊत ॥७॥

अऊत—निपूत।

कबीर कहते हैं कि वह स्त्री धन्य है जिसने वैष्णव पुत्र-रत्न प्रसूत किया क्योंकि वह प्रभु का स्मरण कर निर्भय हो जाता है और शेष संसार तो निपूत निस्सन्तान ही रह गया।

कबीर कुल तो सो भला जिहि कुल उपजै दास।
जिहि कुल दास न ऊपजै सो कुल आक पलास ॥८॥

कबीर कहते हैं कि वही कुल श्रेष्ठ है जिसमें प्रभु-भक्त जन्म ले। जिस परिवार में प्रभु-भक्त जन्म न ले वह आक और पलास के समान निष्प्रयोजन है।

विशेष—पलास—यहाँ कबीर फिर 'धतूरे' के स्थान पर 'पलास' का प्रयोग कर जाते हैं।

साषत बाम्हण मति मिलै बैसनौं मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेटिये मानौं मिले गोपाल ॥९॥

कबीर कहते हैं कि साकत ब्राह्मणों से न मिलना ही अच्छा है। उनसे अच्छा तो वैष्णव चाण्डाल से मिलना है। उस चाण्डाल से तो प्रेमपूर्वक आलिंगनबद्ध होकर ऐसे मिलना चाहिए मानो प्रभु से ही मिलन हो रहा है।

राम जपत दालिद भला टूटी घर की छानि।
ऊँचे मन्दिर जालि दे जहाँ भगति न सारंगपानि ॥१०॥

छानि=छप्पर। सारंगपानि=विष्णु, जिनके सारंग धनुष हाथ में है।

कबीर कहते हैं कि राम भजन करते हुए दरिद्रता भी अच्छी है, चाहे घर की छाजनरूपी छप्पर तक क्यों न टूट जाय अर्थात् दरिद्र व दरिद्रतम अवस्था भी प्रभु भक्ति करते हुए अच्छी है। ऐसे ऊँचे ऊँचे प्रासादों को जहाँ प्रभु की भक्ति नहीं है जला देना चाहिए।

कबीर भया है केतकी भवर भये सब दास।
जहाँ जहाँ भगति कबीर की तहाँ तहाँ राम निवास ॥११॥१२२॥

११ केतकी—एक पुष्प विशेष जिसके चारों ओर भ्रमर-प्रेमी मंडराया करती है।

कबीर केतकी-सुमन सदृश आकर्षण का केन्द्र हो गया है जिसके चारों ओर धन्य भक्त भ्रमरों सी लगी रहती है। जहाँ-जहाँ कबीर की भक्ति है वहाँ प्रभु का निवास ही जानो।

—×—

३१ मधि कौ अंग

कबीर मधि अंग जेको रहै तौ तिरत न लागै बार।
दुइ दुइ अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार ॥१॥

मधि—मध्यम मार्ग समन्वयी मार्ग। यह प्रवृत्ति दो विरोधी विचार धाराओं वस्तुओं एवं वातावरण में सामंजस्य कर एक बीच का मार्ग निकालने की पक्षपाती है। कबीर से पूर्व बुद्ध ने 'मध्यमा प्रतिपदा' नाम से इसी मध्यम मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। तिरत—तरने में पार जाने में।

कबीर कहते हैं कि जो जीवन में मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है उसे इस संसार-सागर के पार करने में देर नहीं लगती। जो अति-विरोधी मतों के आश्रित होकर ही संसार संघर्ष में पड़कर नष्ट होता है।

विशेष—तुलना कीजिए—

"छोड़ कर जीवन के अतिवाद
मध्य पथ से लो सुगति सुधार। —जयशंकर प्रसाद

× × ×

मध्यममयम्' (मध्यम मार्ग के अवलम्बन में कोई भय नहीं होता)।
—शतपथ ब्राह्मण।

कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल वहु तपति है दोऊ कहिये आगि ॥२॥

दुविधा—संशय।

कबीर कहते हैं कि दोनों अतिवादी मतों का अनुसरण भयंकर है अतः इस संशय को दूर कर कि दोनों मतों में से किसको अपनाऊं तू केवल मध्यम मार्ग का अनुसरण कर। यह मत शान्तिदायक एवं दूसरा परिताप-मय है—ऐसा कहना भी व्यर्थ है इससे भी क्लेश उत्पन्न होता है।

मनम मकासों घर किया मधि निरन्तर वास।
वसुधा व्योम विरकत रहै विनठा हर विसवास ॥१॥

मकासां=आकाश अथवा ब्रह्मरन्ध्र। विरकत=विरक्त।

कुण्डलिनी ने ब्रह्मरन्ध्र में जहाँ निरञ्जन ज्योति प्रकाशित रहती है वास कर लिया है इस प्रकार अब वह मूलाधार एवं सहस्रदल कमल के बीच स्थित है। अब आत्मा पृथ्वी (मूलाधार) और आकाश (सहस्रदल कमल) सबसे असम्पृक्त हो गई है उन्मनी अवस्था में उसका प्रत्येक मिथ्या विश्वास समाप्त हो गया है। इस मध्य मार्ग में पहुँचकर ही उसे आनन्द की प्राप्ति हो पायी।

वासुरि गमि न रैणि गमि ना सुपनैं तरगंम।
कबीर तहां बिलंबिया जहां छांहड़ी न घंम ॥४॥

वासुरि=दिन। छांहड़ी=छांह शीतलता। घंम=घाम धूपताप।

कबीर ने अपना निवास ऐसे स्थान को बना लिया है जहाँ प्रत्येक प्रवृत्ति का सामञ्जस्य है, वहाँ मध्यमभाग का पूर्ण आनन्द है। वहाँ न तो अधिक शीतलता है और न अधिक ताप एवं न दिन को न रात को और न स्वप्न में कभी भी चिन्ता ही नहीं है।

जहि पैंडे पंडित गए, दुनियां परी बहीर।
औघट घाटी गुर कही तिहि चढ़ि रहा कबीर ॥५॥

पैंडे=पगडण्डी मार्ग। औघट=सकीर्ण एवं कठिन।

जिस मार्ग पर पण्डित गया उसी पर और जनता चल पड़ी किन्तु कोई भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सका। सद्गुरु ने कबीर को ऐसी संकीर्ण घाटी का कठिन मार्ग बताया उस पर कबीर ने चढ़कर अपने लक्ष्य (ब्रह्म) को प्राप्त किया।

विशेष—औघट घाटी—औघट घाटी से तात्पर्य साधना की विकट-पगडंडी से है। कबीर ने अन्यत्र भी इस दुर्गमता का बोध पिपीलिका आदि से कराया है।

अगनृकमें हूँ रह्या सतगुर के प्रसादि।
चरन कवंल की मौज में रहिस्यूं अन्तिर आदि ॥६॥

अग=स्वर्ग। नृग=नरक। प्रसादि=कृपा अनुकम्पा। चरन कवल=प्रभु के चरण-कमल।

मैं सद्गुरु की कृपा से स्वर्ग और नरक के प्रपंच में न पड़ा। मैं तो प्रभु भक्ति के आनन्द में अनवरत आनन्द-मग्न हूँ।

हिंदू मूये रांम कहि मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता दुहु में कदे न जाइ ॥७॥

हिन्दू राम नाम रट कर अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में मर मिटे तो मुसलमान खुदा को श्रेष्ठ बताने के चक्कर में नष्ट हो गये। कबीर कहते हैं कि जीवित तो वही है जो दोनों नामों को एक ही ब्रह्म के लिए मानकर इस झगड़े में नहीं पड़ते कि कौन श्रेष्ठ है।

दुखिया मूवा दुख कौं सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी रांम के जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ॥८॥

झूरि—जूझता रहा।

संसार में दुखी व्यक्ति सर्वदा अपने दुख को रोता रहा और जो सुखी है वह और भी सुख प्राप्ति की आशा में जूझता रहा। जो रामभक्त सर्वदा आनन्दमग्न रहे जो सुख और दुख को समान समझ उनसे तटस्थ हो गये।

कबीर हरदी पीयरी चूना ऊजल भाइ।
रांम सनेही यूं मिले दून्यूं बरन गंवाइ ॥९॥

कबीर कहते हैं कि हल्दी पीले रंग की होती है और चूना श्वेत जिस प्रकार ये दोनों मिलकर अपने वास्तविक रंग को त्याग सुन्दर मधुरानुकूल लाल रंग में परिवर्तित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रभु-भक्त विविध विरोधी विचार धाराओं को भक्ति के सुन्दर कलेवर में छुपा कर सुन्दर रूप प्रदान करते हैं।

काबा फिर कासी भया रांम भया रहीम।
मोट चून मैदा भया बैठि कबीरा जीम ॥१०॥

कबीर कहते हैं कि समन्वयी मध्यमार्गी प्रवृत्ति से मुसलमानों के तीर्थ-स्थल काबा एवं हिन्दुओं के तीर्थ स्थल काशी में कोई अन्तर नहीं रह जाता दोनों के आराध्य राम और रहीम एक हो जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न विरोधी धाराएं जो पहले मोटे आटे के समान नहीं लगती थी मध्यम मार्ग के अनुसरण से सुन्दर मैदा के रूप में परिवर्तित हो गई इससे प्राप्त आनन्द का कबीर उपभोग कर रहा है।

धरती अरु असमान बिचि दोइ तू बड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड़्या अरु चौरासी सिध ॥११॥१२१॥

पृथ्वी और आकाश दो असम्बद्ध तूंबों के समान हैं इन दोनों के मध्य मार्ग की खोज नहीं की जा सकी। षट्-दर्शन एवं चौरासी सिद्ध भी इस मध्यम मार्ग की खोज म असफल रहे। (किन्तु यही कबीर ने खोज लिया जो मूलाधार (पृथ्वी) और शून्य (आकाश, के मध्य उन्मनी अवस्था में अपनी आत्मा को स्थित किए हुए हैं।)

विशेष—(१) षट्-दर्शन—सांख्य योग न्याय वैशेषिक मीमांसा वेदान्त ।

(२) चौरासी सिद्धि—चौरासी सिद्ध ये हैं—

लूहिपा लीलापा विरूपा डोम्भिपा शबरीपा सरहपा कंकालीपा मीनपा गोरक्षपा चोरंगिपा वीणापा शान्तिपा तंतिपा चमरिपा खड्गपा नागार्जुन, कण्हपा कर्णरिपा थगनपा नारोपा शालिपा तिलोपा छत्रपा भद्रपा दोखंधिपा अजोगिपा कालपा धोम्भिपा कंकणपा कमरिपा डेंगिपा भदेपा तन्धेपा कुकुरिपा कुचूसिपा धर्मपा महीपा अचिन्तिपा भलहपा नलिनपा भुसुकुपा इन्द्रभूतिपा मेकोपा कुठालिपा कमरिपा जालन्धरपा राहुलपा धर्वरिपा धोकरिपा मेदिनीपा पंकजपा घण्टापा जोगीपा चेलुकपा गुण्डरिपा लुचिकपा निर्गुणपा जयानन्तपा चर्पटिपा चम्पकपा भिखनपा भलिपा कुमरिपा चवरिपा मणिभद्रपा मेखलापा कनखलापा कलकलपा कन्तलिपा धहुलिपा उधलिपा कपालपा किलपा सागरपा सर्वभक्षपा नागबोधिपा दारिकपा पुतुलिपा पनहपा कोकलिपा अनंगपा लक्ष्मीकरापा समुद्रपा एवं भलिपा ।

—×—

२२ सारग्राही कौ अंग

> पीर रूप हरि नांव है नीर आन ब्यौहार ।
> हंस रूप कोइ साध है तत का जांणण-हार ॥१॥

पीर=क्षीर, दुग्ध । नांव=नाम । साध=साधु । तत=सार तत्त्व प्रभु ।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में दूध के रूप में प्रभु का नाम है और संसार के अन्य मिथ्या व्यवहार जल के समान हैं—ये दोनों साथ ही साथ तो मिले हुए हैं । कोई हंसात्मा तत्त्वविद् साधु ही सार तत्त्व ब्रह्म (दुग्ध) को माया जल से पृथक कर ग्रहण कर पाता है ।

विशेष—यह सिद्ध है कि हंस दुग्ध मिश्रित जल में से दूध और जल को पृथक्-पृथक् कर दुग्ध का ग्रहण कर लेता है. इसी प्रकार हंसात्मा (मुक्तात्मा) साधु संसार में माया-जल को ग्रहण नहीं करता अपितु अमृत रूप दुग्ध प्रभु नाम का ही ग्रहण करता है ।

> कबीर साषत को नहीं सबै बैस्नौं जांणि ।
> जा मुखि रांम न ऊचरै, ताही तन की हांणि ॥२॥

उचरै=उच्चरै, उच्चारित होना।

कबीर कहते हैं कि शाक्त तो कोई नहीं है समस्त प्राणी वैष्णव ही हैं। जिस मुख से प्रभु-नाम-उच्चरित नहीं होता वही वैष्णव नहीं है उसी का नाश होता है।

> कबीर औगुंण नां गहै गुण ही को ले बीनि।
> घट घट महु के मधुप ज्यूं पर आत्म ले चीन्हि ॥३॥

कबीर कहते हैं कि दूसरों के अवगुणों पर दृष्टिपात मत करो केवल उनके गुणों को ही ग्रहण कर लो। जिस प्रकार मधुमक्खिका विविध सुमनों का सार तत्व मधु संचित कर उसे का निर्माण करती है उसी प्रकार तुम दूसरों के चरित्र के सद्गुणों को परमात्मा का अंश जानकर अपना लो।

विशेष—उपमा अलंकार।

> बसुधा बन बहु भाँति है फूल्यौ फल्यौ अगाध।
> मिष्ट सुबास कबीर गहि बिषम कहै किहि साध ॥४॥१४॥

यह पृथ्वी विविध भांति के अच्छे-बुरे फल-फूलों से सुसज्जित है। कबीर कहते हैं कि हमें यहां से मीठे फलों को ही ग्रहण करना चाहिए, कटु फलों को ग्रहण करने से क्या लाभ ? भाव यह है कि संसार में अच्छे बुरे सब प्रकार के मनुष्य और सद्सद् सब प्रकार के तत्व विद्यमान हैं, हमें उनमें से सद् ही सद् को ग्रहण करना चाहिए।

—×—

३३ बिचार कौ अंग

> राँम नाँम सब को कहै कहिबे बहुत बिचार।
> सोई राँम सती कहै सोई कौतिग-हार ॥१॥

सती=पतिव्रता।

प्रभु नाम का उच्चारण तो सभी करते हैं किन्तु इसके पीछे विभिन्न विचारधाराएं होती हैं। उसी राम नाम का उच्चारण भक्त सती-भाव से करता है और उसी राम-नाम का उच्चारण एक ढोंगी प्रदर्शन बनाकर करता है। भावना भेद से ही भक्ति और फल में अन्तर आ जाता है।

> आगि कह्याँ दाझै नहीं जे नहीं चंपै पाइ।
> जब लग भेद न जाँणिये राँम कह्या तौ कोइ ॥२॥

आगि=आग अग्नि। दाझै=दग्ध होना। चंपै=रखना।

कबीर कहते हैं कि केवल आग-आग चिल्लाने से ही आग पर पैर रखे बिना पैर नहीं जल सकता। इसी प्रकार जब तक माया और ब्रह्म का अन्तर ज्ञात न हो जाय तब तक भजन से कोई लाभ नहीं।

कबीर सोचि बिचारिया दूजा कोई नाँहि।
आपा पर जब चीन्हियाँ तब उलटि समाना माँहि ॥३॥

दूजा=अन्य संसार।

कबीर कहते हैं कि मैंने भली प्रकार चिन्तन-मनन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि संसार में प्रभु के अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं। इस प्रकार जब संसार में मुझे परम तत्त्व के दर्शन हो गए तब मेरी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो प्रभु भक्ति में प्रवृत्त हो गईं।

कबीर पाँणी केरा पूतला राख्या पवन सँवारि।
नानां बाँणी बोलिया जोति धरी करतारि ॥४॥

सँवारि=सम्भाल कर। नानां=विविध। जोति=ज्योति प्रकाश।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य पानी के बुलबुले के समान है जिसको प्राण रूप की वायु ने सुरक्षित रखा हुआ है अन्यथा यह कब का फूट जाता। इस बुलबुले में ब्रह्म ने अपनी ज्योति प्रकाश भर दिया है उसी के कारण यह विविध रूपों में अपना कार्य-कलाप करता है।

नौ मण सूत अलूझिया कबीर घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़ जिनि जाणीं भगति मुरारि ॥५॥

मण=मन तौल का एक माप। अलूझिया=उलझ गया। बापुड़=बिचारे।

कबीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के मायाविक प्रपंच रूपी उलझे मन को सुलझाने में लगा हुआ है किन्तु इसको वही सुलझा सके हैं जिन्होंने प्रभु भक्ति के मर्म को पहचाना है अर्थात् प्रभु-भक्त ही इस भव-जाल से मुक्ति पा सके हैं।

विशेष—नौ मण सूत—नौ मन सूत कबीर ने सांसारिक जाल के लिए प्रयुक्त किया है। इसमें पाँच विषय (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) तीन गुण (सत रज तम) एवं मन को ही समस्त सांसारिक क्लेश और परितापों का उत्पादक माना है।

साषी सापी सिरि कटै, जेर बिचारी जाइ।
मनि परतीति न ऊपजै तौ राति दिवस मिलि गाइ ॥६॥

कबीर कहते हैं कि यदि कोई आस्था एवं विश्वासपूर्वक मेरी साखी सापी का भी पाठ करेगा तो उसकी मुक्ति हो जायगी। किन्तु यदि मन में श्रद्धा और प्रेम नहीं है तो चाहे इन साखियों का गान अहर्निश करो कोई लाभ नहीं।

सोई आखिर सोई बैयन जन जू जू वाचवंत।
कोई एक मेलै लवणि अमी रसांइण हुंत ॥७॥

आखिर=अक्षर। बैयन=वचन। जन=जन सामान्य। वाचवंत=वांचते हैं पाठ करते हैं। लवणि=नमक सौन्दर्य। अमी=अमृत। रसांइण=रसमय।

कबीर कहते हैं कि उन्हीं सामान्य अक्षरों और वचनों में जिनका जन-सामान्य नित्य प्रयोग करते हैं कवि अपने कौशल से ऐसा लावण्य ला देता है कि अमृत भरी रसयुक्त वाणी काव्य हो जाती है।

हरि मोत्यां की माल है पोई काचै तागि।
जतन करी झंटा घणां टूटैगी कहूं लागि ॥८॥

मोत्यां=मोतियों की। तागि=धागे में। झंटा=झटका। घणां=अत्यधिक।

कबीर कहते हैं कि प्रभु मोतियों की उस माला के समान है जो कच्चे धागे में पिरोयी गई है। यदि इसे शास्त्रादि के चक्कर में पड़कर सुरक्षित रखने की सोचोगे तो यह उलझ कर गुत्थी बन जायेगी और सम्भव है कि टूट भी जाय। भाव यह है कि प्रभु भक्ति से प्राप्य एवं तर्क से अप्राप्य है हो सकता है तर्क आपकी ईश्वर सम्बन्धी आस्था को ही निर्मूल कर आपको नास्तिक रूप में परिवर्तित कर दे।

मन नहीं छाड़ै बिषै बिषै न छाड़ै मन कौं।
इनकौं इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन कौं ॥

कबीर कहते हैं कि मन विषय-वासनाओं में इतना उलझ गया है कि उन्हें छोड़ता ही नहीं और विषय-वासनाएं भी मन में इतनी घर कर गई हैं कि वे वहां से नहीं हटतीं। मन और विषय-विकारों का ऐसा दूसरे से चिपटे रहने का स्वभाव है ये व्यक्ति को आक्रान्त रखते हैं।

खंडित मूल बिनास कहौ किम बिगतह कीजै।
ज्यूं जल मैं प्रतिब्यंब त्यूं सकल रांमहि जांणीजै ॥१ ॥

संसार के प्रत्येक पदार्थ में तत्व में उस प्रभु का प्रतिबिम्ब है (यह दृश्यमान जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशित है)। यदि कोई अनात्मवादी प्रभु में अविश्वास करता है तो वह संसार के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता भला बिना बिम्ब के प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है? जब प्रतिबिम्ब—संसार—सम्मुख है तो बिम्ब—प्रभु—अवश्य ही होगा।

सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभवन-पति कहूँ कस ।
कहै कबीर ब्यंदहु नरा ज्यूं जल पूर्या सकल रस ॥८॥५४६॥

कबीर कहते हैं कि भगवान को जिसे संसार प्रभु मानकर पूजता है,मैं उस त्रिभुवन-पति कहा कैसे कहूं ? क्योंकि मनुष्य के समान ही वह भी तन-मन धारी है। इसलिए हे मनुष्यो ! उस निराकार प्रभु की वन्दना करो जो उसी प्रकार समस्त संसार में समाया हुआ है जिस प्रकार रसों में जल ।

—×—

३९ उपदेश कौ अंग

हरि जी यहै बिचारिया साषी कहौ कबीर ।
भौसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर ॥१॥

बिचारिया=विचार किया यहाँ निश्चय किया के अर्थ में । भौसागर=भव-सागर संसार-समुद्र ।

कबीर कहते हैं कि प्रभु ने यही निश्चय कर कहा कि कबीर तुम अनुभव संचित ज्ञान को साखियों के रूप में संसार के सम्मुख प्रस्तुत करो कहा। इस संसार-समुद्र में बहुत से जीव तरने की आशा में पड़े हैं कदाचित् कोई इन साखियों का सम्बल पाकर ही इस भवसागर से पार हो जाय ।

विशेष—निश्चय ही साखियों में वह ज्ञानामृत जीवन-सिद्धान्तों का सार तत्त्व एवं पथ-विभ्रान्त लोगों के लिए ऐसा दिव्य प्रकाश है कि उससे प्राणी जीवनमुक्त हो सकता है। कबीर की इस घोषणा में मिथ्या गौरव अथवा अहं भाव किंचित् मात्र भी नहीं। यह उनका दृढ़ विश्वास है कि वे उस कंचन को प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे प्रत्येक जौहरी कंचन कहेगा अन्यथा नहीं।

कली काल ततकाल है बुरा करो जिनि कोइ ।
अन बावैं लोहा दाहिणैं बाहै सु लुणतां होइ ॥२॥

अन=अन्न अन्न के पौधों से तात्पर्य है। बावै=बायां बायां हाथ। लोहा=हंसिया या दाँती। दाहिणैं=दक्षिण हाथ।

कबीर कहते हैं कि कलियुग में कर्मफल तत्काल प्राप्त होता है अतः बुरे कर्म मत करो। जिस प्रकार कृषक बायें हाथ में अन्न के पौधे पकड़कर एवं दाहिने हाथ में उनको काटने वाली हंसिया लेकर जो बोता है वही काटता है। उसी भांति जैसे कर्म करोगे उसका वैसा ही फल तत्काल भोगना पड़ेगा।

कबीर संसा जीव में कोइ न कहै समझाइ ।
बिधि बिधि बांणी बोलता सो कत गया बिलाइ ॥३॥

संसा=संशय शंका से तात्पर्य । बिधि बिधि=विविध प्रकार की । बिलाई=नष्ट हो गया ।

कबीर कहते हैं कि मुझे जीव के अस्तित्व के विषय में विभिन्न शंकाएं हैं । जो जीवात्मा अभी-अभी भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें कर रहा था वह न जाने किधर विमुप्त हो गया जीव की कैसी क्षणिक स्थिति है ?

कबीर ससा दूरि करि, आंमण मरण भरम ।
पचतत तत्तहि मिले सुरति समाना मंन ॥४॥

आंमण-मरण=जन्म-मरण ।

इससे पहली साखी में जो शंका उपस्थित की गई थी उसी का समाधान करते हुए कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू शंका को दूर कर दे क्योंकि यह जन्म-मरण तो भ्रम-मात्र है । इस शंका को दूर करने से जीवन्मुक्त हो जायेगा और जिन पंचतत्वों ('क्षिति जल पावक गगन समीरा') से यह शरीर निर्मित हुआ है वे अपने तत्वों में मिल जायेंगे और तब मन सुरति अवस्था में पहुँच ईश्वर का साक्षात्कार करेगा ।

ग्रिही तौ च्यंता घणीं बैरागी तौ भी ।
दुहु कारणी बिचि जीव है दौ हूनैं संतौ सीप ॥५॥

च्यंता=चिंता । घणी=अधिक । भीष=भिक्षा । दुहु कारणी=चक्की के दो फलकों का मध्य । हून=नष्ट करे ।

कबीर कहते हैं कि गृही तो बहुत सी चिन्ताओं से ग्रस्त हैं और संन्यासी भी भिक्षा की चिन्ता से मुक्त नहीं । इस प्रकार गृहस्थ और संन्यास दोनों अवस्थाओं में जीव उसी प्रकार नष्ट होता है जैसे चक्की के फलकों के बीच कोई वस्तु आदि । इन दोनों अवस्थाओं से साधु-शिक्षा ही चिन्ताओं को नष्ट कर सकती है ।

विशेष—तुलना कीजिए—

"प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते ॥

—जैनाचार्य शुभचन्द्राचार्य कृत 'ज्ञानार्णव' से

('सत्पुरुषों की उत्तम वाणी दूसरों को जगाने के लिये सत्यासत्य के विवेक के लिये लोक-कल्याण के लिए, जगत् में शान्ति के लिए और जीवन में वास्तविक तत्व के उपदेश के लिये प्रवृत्त हुआ करती है ।)

बैरागी बिरकत भला गिरहीं चित्त उदार ।
दुहु चूकां रीता पड़ै ताकूं वार न पार ॥६॥

विरकत=विरक्त।

कबीर कहते हैं कि सन्यासी को विरक्त एवं गृहस्थ को उदार-चित्त होना चाहिए। यदि ये दोनों अपने इन प्रकृत गुणों को परित्यक्त कर देंगे तो इतना अनर्थ होगा कि उसकी कोई सीमा नहीं रहेगी।

जसी उपजै पेड सू तसी निबहै ओरि।
पैका पैका जोड़ताँ जुड़िसी लाष करोड़ि ॥७॥

निबहै ओरि=अन्त तक सुरक्षित रख सके। पैका-पैका=पसा-पैसा। जुड़िसी=जुड़ जाता संग्रह हो जाता।

कबीर कहते हैं कि जैसा सुन्दर एवं मधुर फल (आम आदि) पेड़ से मिलते समय होता है यदि उसे अन्त तक उसी रूप में सुरक्षित रखा जाय तो वह बहुत ही स्तुत्य प्रमाण होगा उसी भाँति आत्मा जिस निर्दोष और निष्कलंक रूप में उस परम तत्व से पृथक होते समय प्राप्त हुई थी यदि वैसी ही निर्मल रहे तो बहुत अच्छा रहेगा। अब दूसरा भाव व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं कि जीवात्मा ! तूने समस्त जीवन-रत्न व्यर्थ गंवा दिया प्रभु भक्ति न की। यदि तूने थोड़ा-थोड़ा भी प्रभु-भजन किया होता तो तू इस महान् सुकृत्य से जीवन मुक्त हो जाता। क्योंकि पैसा-पैसा जोड़कर तो लाख और करोड़ो की सम्पत्ति संगृहीत की जा सकती है।

कबीर हरि के नाव सू प्रीति रहै इकतार।
तो मुख तैं मोती भड़ै हीरे अंत न पार ॥८॥

कबीर कहते हैं कि यदि साधक का प्रभु-नाम से निरन्तर और दृढ़ प्रेम बना रहे तो उसके मुख से अनमोल वचनों के मुक्ता भड़ने लगें और उस वचनावली में सारतत्व रूपी अनमोल हीरों का अनन्त भण्डार होगा।

ऐसी बांणी बोलिये मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥६॥

कबीर कहते हैं कि मन के अहं दर्प को नष्ट कर ऐसी वाणी बोलिए कि स्वयं का शरीर भी प्रफुल्लित हो और श्रोता भी उससे आह्लादित हों।

विशेष—अनुस्मृति म मधुर वाणी की विविध प्रकार म प्रशंसा की गई है कुछ उद्धरण द्रष्टव्य है—

"वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।

(जो धर्म-मार्ग का अनुसरण करना चाहता है उसे मधुर और स्निग्ध वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए।)

'ममास्योद्विजते वाचा मा लोक्या तामुदीरयेत् ।
(जिससे दूसरों को व्यथा हो ऐसी लोक-परलोक दोनों को बिगाड़ने वाली वाणी को न बोलना चाहिए ।)

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ (४।१३८)

(मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य बोले प्रिय बोले अप्रिय सत्य को न बोले असत्य प्रिय को भी न बोले यह सनातन धर्म है ।)

कोइ एक राखै सावधान चेतनि पहर जागि ।
बरतन बासन सूँ खिसै चोर न सकई लागि ॥१॥२२१॥

कबीर कहते हैं कि साधक को सद्‌उपदेशों के द्वारा इतना सजग रहना चाहिए उसे चेतना को इस प्रकार जागृत रखना चाहिए कि (काम क्रोध मद लोभ मोह रूपी) पंच चोरों में से कोई भी भीतर न आ सके । यदि बरतन या बरतन के खिसकने की भी ध्वनि हो तो उसे जाग जाना चाहिए जिससे चोर पास भी न फटक सके । भाव यह है कि मन में कोई विकार आते ही साधक को उसे दूर कर देना चाहिए ।

—×—

३५. बेसास को अंग

जिनि नर हरि जठराँह उदिकँथँ पंड प्रगट कियौ ।
सिरजे श्रवण कर चरन जीव जीभ मुख तास दीयौ ॥
उरध पाव अरध सीस बीस पषां इम रषियौ ।
अंन पान जहां जरै तहाँ तैं अनल न चषियौ ॥
इहि भांति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छछरै ।
कृसन कृपाल कबीर कहि इम प्रतिपालन क्यों करै ॥१॥

जठराँह=पेट में भी । उदिकथ=रज और वीर्य से । पंड=पिंड शरीर । तास=उसमें तात्पर्य मुख में । उरध पाव अरध सीस=ऊपर को पाँव और नीचे को शीश मातृगर्भ में शिशु की स्थिति उल्टी होती है । बीस पषां=बीस पख अर्थात् दस मास । अन=अन्न खाद्य पदार्थ । पान=पय दूध और जल आदि । चषियौ छुआ नहीं । उद्र=उदर । छछरै=खाली रहा । कृसन=प्रभु ।

कबीर जीव के जन्म की स्थिति बताते हुए प्रभु-अनुकम्पा की महिमा का वर्णन करते कहते हैं कि जिस प्रभु ने माता के गर्भ में रज और वीर्य से मनुष्य शरीर निर्मित कर कान हाथ पैर, प्राण एवं मुख तथा मुख में जीभ का

(२) कबीर का लोक-ज्ञान अपरिमित था, सत्य तो यह है कि इन्होंने जीवन और जगत् रूपी ग्रंथों के ही पन्ने पलट कर अपनी अमृतवाणी जनता को दी थी। 'मंति कासि सूका पड़ै' के द्वारा जुलाहे कबीर का कृषि ज्ञान देखते ही बनता है। रूपक गर्भिता से बात विशेष रूप से इसलिए होता है कि बीज गहरा जा कर पड़ता है जहाँ अधिक नमी होती है अतः यदि कुछ दिन तक यदि वर्षा न भी हो तो वह बीज जमकर जड़ बनाये रहता है। भक्ति-क्षेत्र में कबीर इसके माध्यम से बताना चाहते हैं कि यदि शीघ्र प्रभु अनुकम्पा न भी हो अन्त में उसे प्रभु भक्ति का फल—जीवन्मुक्ति—अवश्य प्राप्त होगा।

(४) सांगरूपक अलंकार।

च्यंतामणि मन मैं बसै, सोई चित मैं आंणि।
बिन च्यंता च्यंता करै इहै प्रभू की बांणि ॥५॥

च्यंतामणि=एक मणिविशेष का नाम जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि उससे जो मांगते हैं वही प्राप्त होता है। आंणि=प्रवृत्त कर दे। बांणि=प्रकृति आदत स्वभाव।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू चिंतामणि के लिए अन्यत्र क्यों भटकता है, वह बहुमूल्य चिंतामणि तो चित्त में ही है, उसमें ही समस्त वृत्तियों को लगा दो। हे मनुष्य! तुझे चिन्ता की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह परम कृपालु ईश्वर चिन्तामुक्त होता हुआ भी सबकी चिन्ता रखता है यही उसका दयालु स्वभाव है।

कबीर का तू चितवै का तेरा च्यंता होइ।
अण च्यंता हरिजी करै जो तोहि च्यंत न होइ ॥६॥

अण-च्यंता=बिना सोचा हुआ अप्रत्याशित।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू क्यों व्यर्थ चिन्ता करता है, तेरे चिन्ता करने से हो भी तो कुछ नहीं सकता क्योंकि—

मेरे मन कछु और है धाई के कुछ और।

यदि तू ईश्वर में विश्वास रख निश्चिन्त हो जाये तो वे अप्रत्याशित (काम) कर डालते हैं।

करम करीमां लिखि रह्या अब कछू न लिख्या जाइ।
मासा घट न तिल बधै जौ कोटिक करै उपाइ ॥७॥

करीमा=प्रभु।

कबीर कहते हैं कि जो कुछ प्रभु को तुम्हारे भाग्य में लिखना था वह लिख दिया अब इसके अतिरिक्त कुछ नहीं लिखा जा सकता। उस भाग्य विधान में किंचित् भी घट-बढ़ नहीं हो सकती चाहे मनुष्य कोटिश प्रयत्न क्यों न करे।

जाको जेता निरमया ताकों तेता होइ।
रती घटै न तिल बधै जौ सिर कूटै कोइ ॥८॥

निरमया=निर्धारित किया है।

कबीरदास कहते हैं कि चाहे कोई अधिक प्राप्ति की आशा में कितना ही प्रयत्न क्यों न करे किन्तु जितना जिसके लिए निर्धारित है उसको उतना ही प्राप्त हो सकेगा न तो उसमें तिलभर घट सकता है न तिलभर बढ़ सकता है।

च्यता न करि अच्यत रहु साँई है संम्रथ।
पसु पंखेरू जीव जंत तिनकी गाडि किसा ग्रंथ ॥९॥

संम्रथ=समर्थ शक्तिमान्। गाडि=गणना।

कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य! तू चिन्ता मत कर क्योंकि प्रभु सब कुछ करने में समर्थ है (प्रभु के समर्थ होते हुए मनुष्य का उसके विधान में दखल देना शोभा नहीं देता)। मनुष्य की तो बात ही क्या वह प्रभु तो इन सब सख्यातीत पशु-पक्षी तथा जीव जन्तुओं का भी ध्यान रखता है जिनकी गणना कोई भी ग्रंथ नहीं कर सका।

संत न बाँधै गांठड़ा पेट समाता लेइ।
साँई सूं सनमुष रहै जहां मांगै तहां देइ ॥१०॥

गांठड़ी=गठिया पोटली।

कबीरदास कहते हैं कि सन्त जन अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही सामग्री लेते हैं केवल संचय के लिए गठड़ी नहीं बांधते। यदि मनुष्य प्रभु-भक्ति में अनुरक्त रहता है वह उसे जब भी जहाँ मांगता है दे देता है।

राम नांम सूं दिल मिली जन हम पड़ी बिराइ।
मोहि भरोसा इष्ट का बंदा नरकि न जाइ ॥११॥

बिराई=विराग।

कबीरदास कहते हैं कि मेरा मन प्रभु में अनुरक्त हो गया है और लोग संसार से मुझे विरक्ति हो गई है। मुझे अपने इष्टदेव की अनुकम्पा का विश्वास है कि मुझे नरक की प्राप्ति नहीं होगी।

कबीर तू काहे डरै सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये कूकर भुसैं जु लाष ॥१२॥

कूकर=कुत्ता। भुसै=भौंके।

कबीरदास कहते हैं कि मन तू डरता क्यों है तेरे ऊपर तो प्रभु-अनुग्रह का वरद हस्त है। देख चाहे कितने ही श्वान क्यों न भौंके किन्तु हाथी पर चढ़ हुए का आसन नहीं डोल सकता अर्थात् वह अपदस्थ नहीं हो सकता, उसी भाँति कबीर तू साधना मार्ग में उस उच्च स्थान पर पहुँच चुका है जहाँ विषय-वासना के श्वान चाहे कितना ही भौंकें किन्तु तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

> मीठा खांण मधूकरी भांति भांति कौ नाज।
> दावा किसही का नहीं बिन बिलाइति बड राज ॥१३॥

दावा=अधिकार।

कबीरदास कहते हैं कि भिक्षा में भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न-मिश्रित खाद्य प्राप्त होते हैं जो खांड के समान मीठे लगते हैं। इस प्रकार सन्यासी बिना किसी भूप्रदेश के ही राजा के रूप में अपने हृदय साम्राज्य का उपभोग करता है उस पर किसी का कुछ अधिकार नहीं होता। भाव यह है कि साधु स्वतन्त्र एवं आत्मभोगी होता है।

> मांनि महातम प्रेम रस गरवा तण गुण नेह।
> ए सबहीं अहला गया जबही कह्या कुछ देह ॥१४॥

कबीरदास कहते हैं कि व्यक्ति का मान महानता प्रभावान्वित गौरव गुण एवं स्नेह ये सब उसी क्षण समाप्त हो जाते हैं जब हम किसी से कुछ देने के लिए कहते हैं।

> मांगण मरण समान है बिरला बंचै कोइ।
> कहै कबीर रघुनाथ सूं मतिर मंगावै मोहि ॥१५॥

कबीरदास कहते हैं कि किसी से भी कुछ मांगना मरण तुल्य है कोई विरला ही इससे बच पाता है। मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि तू मुझसे किसी के सम्मुख याचना मत करा।

> पांडल पंजर मन भंवर अरथ अनूपम बास।
> राम नाम सींच्या अमी फल लागा बेसास ॥१ ॥

पांडल=एक पुष्प विशेष जिसका रंग बहुत तेज लाल होता है भ्रमर इस पर बहुत मंडराता है।

कबीरदास कहते हैं कि यह शरीर पाडुर-पुष्प के समान है जिस पर मन रूपी भ्रमर का वास है। इस पुष्प में वह मनरूपी भ्रमर अनुपम अर्थपुष्प अर्थात् सद्भाव रूपी गंध पाता है। इस सुमन का सिंचन राम नाम रूपी अमृत से होता है जिस पर प्रभु विश्वास का सुन्दर फल लगता है।

बिसास—विश्वास।

मेर मिटी मुक्ता भया पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेर दूजा को नहीं एक तुम्हारी आस ॥१७॥

मुक्ता=मुक्त मोती के समान उज्ज्वल।

कबीरदास कहते हैं कि मेरा 'ममत्व' निकल जाने से मैं मुक्त हो गया या मैं मोती के समान निर्मल और उज्ज्वल हो गया जिससे मेरा प्रभु में विश्वास हो गया है। हे प्रभु ! आपके अतिरिक्त अब मेरा और कोई नहीं केवल तुम्हारे ही अपनाने की आशा है।

जाकी दिल में हरि बस सो नर कलपै कांइ।
एकै लहरि समद की दुख दलिद्र सब जाइ॥ ८॥

कलपै—दुखित होना।

कबीरदास कहते हैं कि जिस मनुष्य के हृदय में प्रभु का वास है वह व्यर्थ क्यों दुखित होता है। समुद्र की एक लहर ही मुक्ताओं का ढेर लगा कर दुख दरिद्र मिटा देती है उसी भाँति प्रभु-अनुकम्पा की एक लहर ही तेरे कष्टों को विनष्ट कर देगी।

पद गाये लैलीन ह्वै कटी न संसै पास।
सबै पिछोड़े थोथरे एक बिनां बेसास ॥१९॥

थोथर=खाली।

कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य ! तूने प्रभु भक्ति के पद तो आत्मलीन होकर गाये किन्तु फिर भी तेरे भ्रम का निवारण न हो सका क्योंकि एक प्रभु विश्वास का अभाव था। बिना विश्वास के तो प्रभु-भक्ति के समस्त साधन व्यर्थ हो गये।

गावण ही में राज है रोवण ही में राग।
इक बैरागी ग्रिह में इक गृही में बैराग॥ ॥

जिस भाँति गायन में ही रुदन है और रुदन में ही राग उसी भाँति प्रभु विश्वास के होते हुए वैराग्य में भी गृहस्थ रहा जा सकता है और गृहस्थी में भी वैराग्य-साधना हो सकती है—आवश्यकता तो केवल प्रभु-विश्वास की है।

गाया तिनि पाया नहीं अण-गायां थै दूरि।
जिनि गाया बिसवास सूं तिन रांम रह्या भरपूरि॥ ११॥ ॥

जिन लोगों ने मात्र मिथ्या गर्व किया कि उन्होंने प्रभु-भक्ति की है उन्हें प्रभु न मिल सका और उन्होंने उसका गुणगान ही नहीं किया उनसे तो वह बहुत दूर हो गया किन्तु जिन्होंने विश्वासपूर्वक प्रभु-स्मरण किया उनमें प्रभु पूर्णरूपेण समा गया अर्थात् उनका प्रभु से साक्षात्कार हो गया।

३६ पीव पिछाणन कौ अंग

संपटि माँहि समाइया सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड में रमि रह्या साहिब कहिए सोइ ॥१॥

संपटि=सम्पुट मंदिर में। साहिब=प्रभु। मांड=ब्रह्माण्ड संसार। सोइ=उसी का।

कबीरदास कहते हैं कि जो पत्थर का देवता मंदिर में बन्द है वह परब्रह्म नहीं हो सकता। जो समस्त संसार में सर्वत्र रम रहा है उसी को ब्रह्म मानना उचित है

रहै निराला मांड थैं सकल मांड ता माँहि।
कबीर सेवै तास कूं दूजा कोई नाँहि ॥२॥

मांड=ब्रह्माण्ड संसार। निराला=अलग।

समस्त संसार उस प्रभु में समाया हुआ है तो भी वह सांसारिक माया-मोह से सर्वथा निर्लेप रहता है। कबीर ऐसे ही अनुपम प्रभु की भक्ति करता है, वही उसके एकमात्र आश्रय हैं।

भोलै भूली खसम कै बहुत किया बिभचार।
सतगुर गुरु बताइया पूरिबला भरतार ॥३॥

भोलै=भोली आत्मा। बिभचार=व्यभिचार, इन्द्रियों के नाना विषयों मे भ्रमण करना ही व्यभिचार है। गुरु=मन्त्र। पूरिबला=पहले का। भरतार=भर्ता पति।

कबीर कहते हैं कि आत्मा संसार मोह में पड़कर अपने वास्तविक स्वामी को विस्मृत कर बैठी और संसार की विषय-वासनाओं में भ्रमण कर व्यभिचार किया। जब सद्गुरु ने भक्ति का मन्त्र दिया तो आत्मा ने पूर्व-पति को प्राप्त कर लिया।

जाकै मुंह माथा नहीं नहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतला ऐसा तत अनूप ॥४॥५८४॥

कबीर उस परब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि न तो जिसके मुख है न भाल और न जिसका कोई सौंदर्य और आकार है जो सुमन-सुगन्ध से भी पतला है वह ऐसा अनुपम तत्व है।

—×—

३७ बिर्कताई को अंग

मेरे मन मैं पड़ि गई ऐसी एक दरार।
फाटा फटक पषांण ज्यूं मिल्या न दूजी बार ॥१॥

दरार=सम्बन्ध-विच्छेद की प्रतीक। फटक=स्फटिक एक पत्थर विशेष।

कबीर कहते हैं कि अब मेरा संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। जिस प्रकार स्फटिक पत्थर में पड़ी दरार को पुनः नहीं जोड़ा जा सकता उसी भांति अब मेरा मन संसार में नहीं रम सकता।

विशेष—उपमा अलंकार।

मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक।
जौ परि दूध तिवास का उलटि हुवा आक ॥२॥

बाइक बुरै=बुरी बातों से। सगाई=सम्बन्ध। साक=साख विश्वास। तिवास=तीन दिवस का। उलटि=फट कर।

कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार तीन दिन का रखा बासी दूध जो आक के पौधे के समान विषाक्त हो जाता है, फट जाता है उसी भाँति संसार की बुरी बातें देखकर मेरा मन उससे फट गया है, विरक्त हो गया है जिससे सांसारिक सम्बन्ध एवं विश्वास टूट गये हैं।

चदन भागां गुण करै जैसैं चोली पंन।
दोइ जन भागां नां मिलैं मुकताहल अरु मंन ॥३॥

चन्दन के टुकड़े-टुकड़े करने पर भी वह अपनी सुगन्ध नहीं त्यागता जिस प्रकार चोली पहनी जाती है उसी भाँति वक्षस्थल पर उसका शीतल लेप किया जा सकता है किन्तु दो वस्तुएं भग्न होने पर, टूट जाने पर पुनः नहीं मिल पातीं—एक तो मन और दूसरा मोती।

पासि बिनंठा कपड़ा कदे सुरांग न होइ।
कबीर त्याग्या ग्यान करि, कनक कामनी दोइ ॥४॥

बिनंठा=विनष्ट हुआ फटा-पुराना। सुरांग=अच्छा रंग।

जिस प्रकार फटे-पुराने जीर्ण वस्त्र पर रंग भली प्रकार नहीं चढ़ सकता उसी प्रकार संसार से विरक्त मेरे मन पर सांसारिक भावनाओं का रंग नहीं चढ़ सकता। कबीर ने ज्ञान पाकर स्वर्ण (धन) और कामिनी का परित्याग कर दिया है।

देते हैं उन्हें किसी चोर आदि की शंका ही नहीं रहती। जो मनुष्य स्वामित्व की भावना का त्याग कर जीवन व्यतीत करेगा वह इतना महान् होगा कि बड़े से बड़े राजा को भी भिखारी समझेगा।

कबीर सब जग हंढिया मन्दिल कंधि चढाइ।
हरि बिन अपना को नहीं देखे ठोकि बजाइ ॥१ ॥२६४॥

हंढिया=घूम लिया।

कबीरदास कहते हैं कि मैंने समस्त संसार में शरीर-भार को लाद हुए घूम कर देख लिया है और सुनिश्चित चिंतन और निरीक्षण के आधार पर देख लिया है कि प्रभु के अतिरिक्त अपना कोई और नहीं है।

विशेष—तुलना कीजिए—

मैंने सीखी है जीवन की
कुछ और तरह परिभाषा।
अपना कहलाने वालों से
तम रहता एक न आशा।
थकित न होना पथिक
तम मन कर जग की मिलन-मिस।
राम तुम्हें किमन परदेशी
दूर तुम्हारी मंजिल ॥

—•—

३८ समरथाई कौ अंग

ना कुछ किया न करि सक्या ना करणें जोग सरीर।
जे कछु किया सु हरि किया ताथै भया कबीर कबीर ॥१॥

कबीरदास कहते हैं कि न तो मैंने कुछ सत्कर्म किया है और न मैं उस करने में समर्थ हूँ न मेरा शरीर इतना शक्तिशाली है कि मैं कुछ पुरुषार्थ कर सकूँ। जो कुछ भी मैंने (परोपकार) किया है वह सब प्रभु ने ही किया है उसी की कृपा से मैं इतना महान् हो गया हूँ कि सब मेरा सम्मान करते हैं।

कबीर किया कछू न होत है अनकीया सब होइ।
जे किया कछु होत है तो करता और कोइ ॥ ॥

कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य के करने से कुछ भी नहीं हो सकता जो हम करना नहीं चाहते हैं प्रभु-विधान से वह हो जाता है। यदि मनुष्य के प्रयत्न करने से कोई कार्य सम्पन्न भी हो जाता है तो उसका श्रेय और किसी को प्रभु को ही है।

जिसहि न कोई तिसहि तू जिस तू तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी सांईयां नांम हरू मन होई ॥३॥

जिसका संसार में कोई नहीं है उसके सहायक हे प्रभु! आप हैं और जिसके साथ आप हैं समस्त संसार उसका है। हे प्रभु! तेरे सम्मुख जाकर मन केवल तेरे नाम का ही स्मरण करता है।

एक खड़े ही लहैं और खड़ा बिललाइ।
साईं मेरा सुलपनां सूतां देइ जगाइ ॥४॥

सुलपनां = सुलक्षणयुक्त।

कबीर कहते हैं कि एक भक्त तो प्रभु का दर्शन खड़े होकर ही कर लेता है अर्थात् थोड़े से ही प्रयत्न से और दूसरा जिसका प्रभु में सच्चा अनुराग नहीं खड़ा-खड़ा प्रभु के लिये रोता पीटता है। मेरे प्रभु बड़े दयालु हैं कि उन्होंने मुझे संसार की माया-मोह-निद्रा से जगा कर चेतनायुक्त ज्ञानयुक्त कर दिया।

सात समंद की मसि करौं लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ ॥५॥

कबीर कहते हैं कि सातों समुद्र की यदि स्याही बनाकर समस्त वनों की लेखनी से समस्त पृथ्वी रूप कागज पर यदि प्रभु के गुण लिखने बैठूं तो उनकी संख्या इतनी है कि यह सामग्री थोड़ी पड़ जायेगी और प्रभु के गुण समाप्त नहीं होंगे।

अबरन कौं का बरनिये मोपैं लख्या न जाइ।
अपना बाना बाहिया कहि कहि थाके माइ ॥६॥

अबरन = अवर्ण निराकार प्रभु, ब्रह्म।

कबीर कहते हैं कि निराकार प्रभु का क्या स्वरूप वर्णन किया जाए मैं तो उसे देखने में असमर्थ हूं। इसीलिए प्रत्येक साधक ने उसे अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप देखकर जितना वर्णन कर सके किया है।

झल बांवें झल दाहिनें झलहि मांहि ब्यौहार।
आगैं पीछैं झलमई राखैं सिरजनहार ॥७॥

झल = अग्नि। बावें = बायें वाम पार्श्व। दाहिनें = दक्षिण पार्श्व। ब्यौहार = क्रिया-कलाप।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में जीवात्मा के वाम एवं दक्षिण पार्श्व में सांसारिक तापों की अग्नि जल रही है तथा जितना भी मनुष्य का कार्य-व्यवहार है सर्वत्र अग्नि ही अग्नि—दुःख ही दुःख—है। यहां तक कि आगे और पीछे मनुष्य का मार्ग इसी से अवरुद्ध है। केवल एक प्रभु ही इस संसार अग्नि से जीव की रक्षा कर सकते हैं।

सोई मेरा बाणियां सहजि करै ब्यौपार।
बिन डांडी बिन पालड़ै तोलै सब संसार ॥८॥

बाणियां=बनिया वणिक्।

कबीर कहते हैं कि मेरा स्वामी प्रभु (प्रेम का) व्यापार करने वाला सच्चा व्यापारी है। तराजू के बिना ही समस्त संसार से इस व्यापार को तौल कर रहा है।

विशेष—भाव यह है कि जिस प्रकार सच्चा व्यापारी धन के बदले उतनी ही मूल्य की वस्तु देता है उसी प्रकार प्रभु से जो जितना अधिक प्रेम करता है, उस पर वह उतनी ही कृपा दृष्टि रखता है।

कबीर वार्या नांव परि कीया राई लूण।
जिसहि चलावै पंथ तूं तिसहिं भुलावै कौण ॥९॥

नांव—नाम प्रभु नाम।

कबीर कहते हैं कि मैं तो प्रभु नाम की बलिहारी जाता हूं इस नाम स्मरण से ही मेरा प्रभु से ऐसा अभिन्न साक्षात्कार हो गया कि मैं प्रभु से राई और नमक के समान एकमएक हो गया। हे प्रभु! जिसे आप भक्ति के सन्मार्ग पर चलाते हैं उसे सांसारिक विषय-वासना कैसे पथ भ्रष्ट कर सकती है?

कबीर करणीं क्या करै, जे राम न करै सहाइ।
जिहिं जिहिं डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ ॥१०॥

कबीर कहते हैं कि यदि प्रभु सहायता न करे तो मनुष्य कुछ भी कर्म नहीं कर सकता। प्रभु की अनुकम्पा के अभाव में तो मनुष्य जिस-जिस शाखा को लक्ष्य तक पहुंचने का अवलम्ब बनाता है वही झुक जाती है। भाव यह है कि प्रभु सहायता बिना साधन व्यर्थ हो जाते हैं।

जदि का माइ जनमियां कहूँ न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौं पातौं पातौं दुख ॥११॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु जब से मैंने जीवन धारण किया है कभी भी सुख प्राप्त नहीं किया। सुख प्राप्ति के लिए मैंने जितना अधिक प्रयत्न किया दुख ने उतना ही मुझे व्यथित किया।

विशेष—'डाल डाल में पात पात' लोकोक्ति को कबीर ने बड़ा प्रयुक्त कर बड़े सुन्दर ढंग में दुख की महत्ता दिखाई है।

सांई सूं सब होत है बंदे थैं कछु नांहि।
राई थैं परबत करै परबत राई मांहि ॥१२॥१९१॥

नर=मनुष्य ।

प्रभु सब कुछ करने में समर्थ है किन्तु मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। वे शक्तिसम्पन्न प्रभु राई जैसे तुच्छ कण को पर्वताकार दे सकते हैं और पर्वत को राई के समान छोटा बना सकते हैं। असम्भवतम कार्य उनके लिए सम्भव है।

—×—

३६ कुसबद कौ अंग

अणी सुहेली सेल की पड़ताँ लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की तास गुरू मैं दास ॥१॥

अणी=अनी नोक। सुहेली=सहने योग्य। सेल=बरछी। पड़ताँ=घायल होकर गिरने पर भी।

बरछी की नोक की मार तो सही भी जा सकती है क्योंकि इसके लगने पर व्यक्ति गिर कर भी साँस लेता रहता है किन्तु कुशब्द रूपी बाणी से तो व्यक्ति तत्काल मर जाता है। कबीर कहते हैं कि जो कुशब्द की चोट के आघात को चुपचाप सहन कर लेगा वह मेरा गुरु है और मैं उसका शिष्य।

विशेष—(१) तुलना कीजिये—

'अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम्।'

—'चाणक्य-सूत्र'

(वाणी की कठोरता अग्नि के दाह से भी अधिक कष्ट देती है।)

कुछ विद्वान् द्वितीय पंक्ति का अर्थ इस प्रकार भी करते हैं कि "सद्गुरु के शब्द की चोट जो झेल जाये वह गुरु है और मैं उसका दास" किन्तु यह अर्थ भ्रामक है क्योंकि यहाँ शब्द कबीर पंथी गीत के अर्थ में नहीं आया यहाँ तो (जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है) इसका अर्थ बुरे वचन (कुशब्द) से है।

खूँदन तौ धरती सहै बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै दूजै सह्या न जाइ ॥२॥

खूँदन=पैरों की रगड़। बनराइ=वनराजि वन-पंक्ति।

कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार पैरों के नीचे रौंदने के कष्ट को पृथ्वी ही सहन कर सकती है और बाढ़ को रोकने में वन-पंक्ति ही समर्थ है, उसी भाँति केवल प्रभु-भक्त साधु ही बुरे वचनों को चुपचाप सह सकता है।

विशेष तुलना कीजिए—

'बूंद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के वचन संत सहैं जैसे ॥

सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ ॥३॥

सिकलीगर—सान रखने वाला कारीगर। मसकला—पत्थर का एक गोल घेरा सा जो सिकलीगर की साइकिल-सी में लगा रहता है, पैर से पैडल को घुमाकर ही इस पत्थर द्वारा सान बनायी जाती है। द्रपन—दर्पण निर्मल, सिकलीगर जंग लगे चाकू आदि को भी शीशे के समान चमका देता है।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु को सिकलीगर के समान होना चाहिए जो शब्द रूपी पत्थर को घुमाकर उसके द्वारा साधक के शरीर को शीशे के समान चमका कर शुद्ध बना दे।

सतगुर साचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया पड़या कलेजै छेक ॥४॥

साँचा—वास्तविक। बाह्या—मारा छोड़ा यहाँ 'कहने' के अर्थ में किन्तु तीर के समान मर्मान्तक प्रभाव रखने के कारण ही इसे 'बाह्या' कहा है। मैं—भूमि। छेक—छिद्र दरार, विभेद यहाँ संसार से सम्बन्ध-विच्छेद अर्थ होगा।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ही सच्चा शूरवीर है। उसने केवल अपना एक शब्द रूपी बाण साधक के ऊपर छोड़ा जिसके लगते ही वह पृथ्वी पर गिर गया अर्थात् समाधिस्थ हो गया और मेरा संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। भाव यह है कि गुरु कृपा से ही सब कृत्य सफल होते हैं।

हरि-सर जे जन बेधिया सतगुण सौं गणि नांहि।
लागी चोट सरीर मैं करक कलेजे मांहि ॥५॥

हरि-सर—प्रभु-बाण।

कबीर कहते हैं कि जो प्रभु-प्रेम पाश में एक बार फँस गया उस पर सातों गुणों युक्त सौगनियों से भी किये गये बाण का कुछ प्रहार नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द रूपी बाण की चोट तो साधक के शरीर में लगी है और उसकी वेदना हृदय प्रदेश में हो रही है।

अलंकार—असंगति।

ज्यू ज्यू हरि गुण सांभलू त्यू त्यू लागै तीर।
सांठी सांठी झड़ि पड़ी झलका रह्या सरीर ॥६॥

सांभलू—सम्भलता हूँ स्मरण करता हूँ। सांठी-सांठी—लकड़ी-लकड़ी।

कबीर कहते हैं कि जितना ही अधिक मैं प्रभु-नाम का स्मरण करता हूँ उतना ही अधिक प्रभु प्रेम का तीर मेरे हृदय में उसी प्रकार बैठता जाता है

जैसे धनुष की प्रत्यंचा (गुण) को कोई जितना अधिक खींचेगा उतना ही अधिक तीर गहरा लगेगा। मेरे मुख से कही गई वाणी में जो सारतत्व था वह भाले की अनी के समान हृदय में प्रविष्ट हो गया और शेष निरर्थक बातें भाले की लकड़ी के समान बाहर ही टूट कर गिर गईं।

ज्यूं ज्यूं हरि गुण सांभलौं त्यूं त्यूं लागै तीर।
सागैं थैं भागा नहीं साहणहार कबीर ॥७॥

ज्यों-ज्यों अधिकाधिक मैं प्रभु गुणों का स्मरण करता हूं उनकी प्रेम भक्ति का तीर मेरे हृदय में गहरे से गहरा पैठता है। उस प्रेम-वेदना से विचलित हो साधक प्रेम-मार्ग से भागने लगा और जो उस ईश विरह-वेदना को वहन कर जाता है, वही कबीरदास के समान भक्त बन जाता है।

सारा बहुत पुकारिया पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की रह्या कबीरा ठौर ॥ ॥६१८॥

ढोंगी साधु ईश्वर प्रेम-वेदना का मिथ्याडम्बर कर बहुत प्रदर्शन करता है और जो उस ईश्वरीय पीड़ा से पीड़ित होते हैं उनकी वेदना कुछ और ही होती है। सद्गुरु के शब्द रूपी बाण की चोट लगकर कबीर तो एक स्थान पर स्थित हो गया है। भाव यह है कि सद्गुरु के उपदेश-बाण से वृत्तियां केन्द्रित हो प्रभु-भक्ति में लग जाती हैं।

—×—

४१ जीवन मृतक कौ अंग

जीवत मृतक ह्वै रहै तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपण करै मति दुख पावै दास ॥१॥

जीवत=जीवित। दास=भक्त।

जो मनुष्य जीवित रहते हुए भी सांसारिक माया-जन्य भावनाओं में उस मरे हुए जीवन्मुक्त हो सांसारिक माया-अभिलाषाओं का परित्याग कर देते हैं उन्हें प्रभु स्वयं सेवा में कर (अनुकम्पापूर्वक) उनका दुख दूर कर देते हैं।

कबीर मन मृतक भया दुरबल भया सरीर।
तब पइ लागा हरि फिरै कहत कबीर कबीर ॥२॥

कबीर-कबीर—भक्त के लिए सम्बोधन से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि यदि मन मर जाय सांसारिक भावनाओं में निश्चेष्ट हो जाय और शरीर प्रभु-भक्ति में दुर्बल हो जाय तब भक्त के पीछे भगवान् लग पुकारते-फिरते हैं अर्थात् भक्ति साधना में स्वयमेव भगवत् प्राप्ति हो जाती है।

कबीर मरि मड़हट रह्या तब कोइ न बूझै सार।
हरि आदर आगैं लिया ज्यूं गउ बछ की लार ॥१॥

मड़हट=श्मशान संसार।

कबीर जीवन्मुक्त हो जीवित अवस्था में भी मरकर इस संसार रूपी श्मशान में उपेक्षित पड़ा रहा समस्त संसार ने उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। केवल प्रभु ने ही मुझे उस अवस्था मात्र से ग्रहण किया जिस भाँति गाय अपने बछड़े को अर्थात् ममता और स्नेहपूर्वक।

घर जालौं घर ऊबरैं घर राखौं घर जाइ।
एक अचंभा देखिया मड़ा काल कौं खाइ ॥२॥

यदि मैं इस सांसारिक घर-बार को जला देता हूँ इसके ममता-बन्धन में नहीं पड़ता हूँ तो यह वास्तविक घर—प्रभु-साक्षात्कार से प्राप्त घर—बचता है और यदि इस सांसारिक गृह-रक्षा में पड़ माया बन्धन में पड़ता हूँ तो यह वास्तविक घर—उद्देश्य—मोक्ष नष्ट हो जाता है। कबीर कहते हैं कि मैंने एक बहुत बड़ा आश्चर्य देखा है कि मृतक शव काल को समाप्त कर रहा है (जबकि साधारण अवस्था में काल मृतक को खाता है) अर्थात् जीवन्मुक्त मनुष्य काल की सीमा और शक्ति को समाप्त कर अमर हो रहा है।

मरतां मरतां जग मुवा औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा ज्यूं बहुरि न मरनां होइ ॥४॥

मुवा=समाप्त हो गया। औसर=अवसर।

मृत्यु को प्राप्त होता-होता ही संसार विनष्ट हो गया किन्तु अवसर रहते हुए मरना जीवन्मुक्त होना किसी ने नहीं जाना। कबीर अपने जीवन-काल में ही इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हो गया कि संसार के आकर्षणों एवं विषयों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया अर्थात् जीवन्मुक्त हो गया कि अब उसे आवागमन के इस संसार चक्र में पड़ना नहीं पड़ेगा।

बैद मुवा रोगी मुवा मुवा सकल संसार।
एक कबीरा ना मुवा जिनि कै राम अधार ॥६॥

कबीर कहते हैं कि वैद्य अर्थात् संसार-ताप में पिंड छुड़ाने का प्रयत्न करने वाला भी समाप्त हो गया और समस्त संसार भी उसके उपचार से ठीक न होकर नष्ट हो गया केवल वही बच रहे जिनके एक मात्र आधार प्रभु थे।

मन मार्‌या ममिता मुई अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया आसणि रही बिभूति ॥७॥

ममता='मेरे पराये' की भावना।

सांसारिक विषयों में मन की गति अवरुद्ध होने पर ममत्व का मोह एवं अहं का दर्प सब समाप्त हो गया। ऐसी अवस्था आने पर साधक प्रभु में रम गया और जिस आसन पर वह समाधिस्थ था वहाँ तो केवल शरीर—शव—मात्र रह गया।

जीवन थैं मरिबौ भलौ जौ मरि जानैं कोइ।
मरनैं पहली जे मरैं, तौ कलि अजरावर होइ ॥८॥

अजरावर=अजर अमर।

जीवन जिसमें संसार-विषयों में ही मनुष्य उलझा रहता है, से तो मृत्यु ही अच्छी है यदि कोई जीवनावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाय अर्थात् संसार से पूर्ण तटस्थ हो जीवन्मुक्त हो जाय।

खरा कसौटी राम की खोटा टिकै न कोइ।
राम कसौटी सो टिकै जो जीवत मृतक होइ ॥९॥

प्रभु भक्ति ही श्रेष्ठता की वास्तविक कसौटी है जिस पर कोई कुप्रवृत्ति मनुष्य खरा नहीं उतर सकता। प्रभु भक्ति की कसौटी पर तो वही खरा उतर सकता है जो जीवित अवस्था में ही संसार से मृतक के समान असम्बद्ध रहे—यही जीवन्मुक्त अवस्था है।

आपा मेट्याँ हरि मिलै हरि मेट्याँ सब जाइ।
अकथ कहाँणी प्रेम की कह्याँ न को पत्याइ ॥१०॥

पत्याइ=विश्वास करे।

मनुष्य यदि अपने अहं-दर्प को समाप्त कर दे तो प्रभु प्राप्ति सम्भव है किन्तु जब संसार के आकर्षणों के सम्मुख ईश्वर का विस्मरण कर दिया जाता है तो सबकुछ नष्ट हो जाता है। प्रभु प्रेम की यह विलक्षण गति अवर्णनीय है। यदि इसका वर्णन किया जाय तो कोई विश्वास नहीं कर सकता।

निगुसाँवाँ बहि जाइगा जाकै थाघी नहीं कोइ।
दीन गरीबी बन्दिगी करताँ होइ सु होइ ॥११॥

निगुसाँवाँ=स्वामीहीन। थाघी=नाव की पतवार।

इस संसार में प्रभु-विश्वास के अवलम्ब बिना नष्ट हो जायगा क्योंकि संसार रूपी सागर में जिसकी नौका का सुदृढ़ पतवार नहीं वह बह जायगा समाप्त हो जायगा। विनम्रता और श्रद्धा सहित दीनावस्था में भी प्रभु भक्ति का कर्म सब कार्य करता रहे।

संसारी साषत भला कंवारी के भाइ।
दुराचारी वैस्नौं बुरा हरिजन तहाँ न जाइ ॥२॥

कबीर शाक्तों के विरोधी एवं वैष्णवों के प्रशंसक हैं किन्तु मिथ्याचारी वैष्णव के वे शत्रु हैं—उससे तो अच्छा वे भूषित शाक्त को ही बताते हैं। वे कहते हैं संसार लिप्त शाक्त संन्यासी किन्तु दुराचारी वैष्णव से अच्छा है। वह संसारी शाक्त तो मन से कुमारी कन्या के समान निर्मल है और वह वैष्णव अनुचित भावनाओं से परिपूर्ण प्रभु भक्त को ऐसे वैष्णव के पास नहीं जाना चाहिए।

निरमल हरि का नाव सौं के निरमल सुध भाइ।
कै ले दूणी कालिमा भाव सौ मण साबण लाइ ॥१॥११२॥

कै=अथवा। सुध भाइ=शुद्ध भाव। दूणी=दुगुनी। सौ मण=सौ मन परिमित।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में दो ही प्रकार के आचरण हो सकते हैं—प्रथम तो प्रभु का प्रेम-पूर्वक स्मरण और प्रत्येक व्यवहार में मन की पवित्रता रखना अथवा दूसरा मार्ग यह है कि मनुष्य कुकर्मों में अधिकाधिक मग्न रहे फिर उस मनुष्य को चाहे तो भी सौ मन साबुन लगाकर भी समाप्त नहीं कर सकता है। भाव यह है कि एक मात्र प्रभु भक्ति ही संसार में काम्य है।

—×—

४३ गुरुसिष हेरा कौ अंग

ऐसा कोई नां मिलै हम कौं दे उपदेस।
भौसागर मैं डूबता कर गहि काढ़ै केस ॥१॥

भौसागर=भव-सागर संसार-समुद्र।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में कोई ऐसा ज्ञानी मनुष्य (गुरु) नहीं मिला जो हमें उपदेश दे सके जो इस संसार-समुद्र में मुझ डूबते हुए का हाथ और केश पकड़ कर निकाल ले।

ऐसा कोई नां मिलै हम कौं लेइ पिछानि।
अपना करि किरपा करै ले उतारै मैदानि ॥२॥

पिछानि=पहचान।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं मिला जो मेरे गुणों का पहचान कर मुझे शिष्य बना लेता और कृपापूर्वक अपना कर इस संसार-सागर के पार उतार देता।

ऐसा कोई नां मिलै रांम भगति का मीत ।
तन मन सौंपि मृग ज्यूं सुनैं बधिक का गीत ॥१॥

प्रभु भक्ति से परिपूर्ण कोई गुरु हम न मिल सका जिसके उपदेश-गीत पर हम अपना तन-मन सर्वस्व उसी प्रकार अर्पित कर देते जैसे मृग व्याधेय का सम्मोहक सुन कर विमोहित हो रुक जाता है—फिर उसे यह भी चिंता नहीं रहती कि मेरे शरीर पर अनवरत बाण-वर्षा हो रही है ।

ऐसा कोई नां मिलै अपना घर देइ जराइ ।
पंचू लरिका पटकि करि रहै रांम ल्यौ लाइ ॥२॥

हमें किसी ऐसे पूर्ण विरक्त के दर्शन नहीं हुए जो अपना समस्त घर द्वार भस्म कर देता और अपने काम क्रोध मद लोभ मोह रूपी पाँचों पुत्रों अथवा पाँचों इन्द्रियों रूपी लड़कियों से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर प्रभु से सच्चा प्रेम करता हो ।

ऐसा कोई नां मिलै जासौं रहिये लागि ।
सब जग जलता देखिये आपहीं अपणी आगि ॥३॥

कबीर कहते हैं कि मुझे कोई ऐसा सिद्ध नहीं मिला जिसका अनुसरण किया जाता । मैंने समस्त संसार को अपनी-अपनी धुन में व्यस्त और सर्व अपनी चिन्ता-वासनाओं में भस्म होते देखा है ।

ऐसा कोई नां मिलै जासूं कहूं निसंक ।
जासूं हिरदै की कहूं सो फिरि मांडै कंक ॥४॥

मांडै=पूछना । कंक=कंकाल शरीर ।

कबीर कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति संसारमें कोई नहीं मिला जिससे निःसंकोच होकर अपने मन की बात कह सकूं । जिससे मैं अपने हृदय का समस्त दुःख प्रकट कर देता हूं वही उन स्थितियों से अवगत हो मेरे शरीर को उसी प्रकार व्यथित करता है जैसे घाटे को धूं धू-धू कर धूं से मार-मार कर, बदनाम की जाती है ।

ऐसा कोई नां मिलै सब बिधि देइ बताइ ।
सुंनि मंडल मैं पुरिष एक ताहि रहै ल्यौ लाइ ॥५॥

ऐसा कोई सद्गुरु नहीं मिला जो योगसाधना के समस्त रहस्यों से मुझे अवगत कराता और शून्य मण्डल में स्थित उस परम-पुरुष की अनन्त ज्योति से मेरा साक्षात्कार करा देता ।

हम देखत जग जात है जग देखत हम जांह ।
ऐसा कोई नां मिलै पकड़ि छुड़ावै बांह ॥ ॥

हमारे देखते ही देखते सम्पूर्ण संसार विनष्ट हुआ जा रहा है और समस्त जगत् के सम्मुख मेरा भी विनाश हुआ जा रहा है। कोई ऐसा हली (गुरु) नहीं मिला जो इस कालचक्र से मेरी भुजा पकड़ कर निकाल लेता।

तीनि सनेही बहु मिलैं चौथ मिलै न कोइ।
सबै पियारे राम के बैठे परबसि होइ ॥१॥

इस संसार में 'तीन' के तो प्रेमी बहुत हैं किन्तु एक उस परम प्रभु का प्रेमी कोई नहीं। यद्यपि सब प्रभु से कुछ न कुछ अनुराग रखते हैं किन्तु फिर भी वे मायाग्रस्त हो संसार में लिप्त हैं।

विशेष—"तीन सनेही बहु मिलैं" में तीन के विभिन्न अर्थ लिए जा सकते हैं—प्रत्येक सन्दर्भ में 'चौथे' का अर्थ कुछ बदल जायगा यथा—

(१) (i) जाग्रत (ii) स्वप्न (iii) सुषुप्ति (iv) तुरीय—यही काम्य है।

(२) (i) धर्म (ii) अर्थ (iii) काम (iv) मोक्ष—यही काम्य है।

(३) (i) लोकैषणा (ii) वित्तैषणा (iii) पुत्रैषणा (iv) प्रभु प्राप्ति की इच्छा—यही काम्य है।

इनमें २ व ३ में मैं पर्याप्त समानता है।

माया मिलै महोबती कूड़ आखै बैन।
कोई घायल बेध्या नां मिलै साईं हुआ सैण ॥१० ॥

महोबती=मोहयुक्त। कूड़=बुरे। आखै=कहती है। बेध्या=बेधा हुआ। साईं=प्रभु। सैण=कटाक्ष।

इस संसार में सर्वत्र मोहमयी माया का साम्राज्य है जो कवचन कहती है, मिथ्या चार कराती है। प्रभु की प्रेम-भक्ति के कटाक्ष का घायल उसमें जिसका हृदय बिंध गया है, ऐसा कोई नहीं मिलता।

सारा सूरा बहु मिलै घायल मिलै न कोइ।
घाइल ही घाइल मिलै तब राम भगति दिढ़ होइ ॥११॥

सारा सूरा=समस्त योद्धा वीर।

संसार में मिले योद्धा तो अनेक मिले जो प्रेम-भक्ति से घायल नहीं थे किन्तु घायल कोई नहीं मिला। जब प्रभुभक्ति से घायल भक्त को अपने समान ही घायल मिल जाता है तो प्रभु-भक्ति परिपक्व होती है।

प्रेमी ढूंढ़त मैं फिरौं प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौं प्रेमी मिलै तब सब विष अमृत होइ ॥१२॥

मैं प्रभु के प्रेमी को खोज रहा हूं किन्तु कोई प्रभु-प्रेमी नहीं मिल रहा है। जब एक भक्त को दूसरा भक्त मिल जाय तो संसार की विषय-वासनाओं का विष समाप्त हो जाता है।

हम घर जाल्या आपणां लिया मुराड़ा हाथि ।
अब घर जालौं तास का जे चलै हमारे साथि ॥११॥१४८॥

मैंने अपना घर जला दिया है और ज्ञान-मशाल की मशाल लेकर साधना पथ में बढ़ रहा हूं। अब मैं उसका इस संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर घर फूंक दूंगा जो मेरे साथ चलने के लिए प्रस्तुत हो—साधना के इसी मार्ग को अपनाने के लिए काशी का घर फुंकवाना आवश्यक है।

---

४४ हेत प्रीति सनेह कौ अंग

कमोदनीं जलहरि बसै चंदा बसै अकासि ।
जो जाही का भावता सो ताही कै पास ॥१॥

कमुदनी—एक पुष्प विशेष जो जल में होता है और चन्द्र दर्शन से विकसित होता है।

कुमुदिनी का वास जल में है और चन्द्रमा उससे बहुत दूर आकाश में स्थित है किन्तु फिर भी उनका प्रेम प्रसिद्ध है। वस्तुतः जो जिसका वास्तविक प्रेमी है वह दूर रहकर भी उसके बहुत सन्निकट है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

कबीर गुर बसै बनारसी सिष समदां तीर ।
बिसार्या नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर ॥२॥

कबीर कहते हैं कि साधक का गुरु तो काशी में रहता है और शिष्य समुद्र तट पर बैठा तपस्या करता है किन्तु जो साधक गुणवान् है तो गुरु उसे दूर रहने पर भी नहीं भूल सकता।

जो है जाका भावता जदि तदि मिलसी आइ ।
जाकौं तन मन सौंपिया सो कबहूं छांड़ि न जाइ ॥३॥

जदि-तदि—यदा-कदा।

जो जिसका प्रिय है वह उसे यदा कदा मिल ही जाता है। जिसको तन-मन सर्वस्व अर्पण किया जा चुका है वह कभी भी प्रिय से सम्बन्ध विच्छेद नहीं करेगा।

स्वामी सेवक एक मत मन ही मैं मिलि जाइ ।
चतुराई रीझै नहीं रीझै मन कै भाइ ॥४॥१५२॥

स्वामी और सेवक—प्रभु और भक्त—दोनों मन में ही मिलकर एक-मत हो जाते हैं हृदयस्थ प्रेरणा उन्हें एक मेक कर देती है। प्रभु किसी के ज्ञान पर नहीं अपितु मन के प्रेम भाव पर ही रीझते हैं।

---

४५ सूरा तन कौ अंग

काइर हुवां न छूटिये कछु सूरा तन साहि।
भरम भलका दूरि करि सुमिरण सेल सबाहि ॥१॥

काइर=कायर। सूरा=शूरता। साहि=सुशोभित कर, सराह। भरम भलका=भ्रम रूपी भाला। सुमिरण=प्रभु स्मरण। सेल=बरछी एक अस्त्र विशेष।

कबीर कहते हैं कि कायर रहने से तो संसार (के युद्ध क्षेत्र) से मुक्त नहीं हो सकता। माया-मोह काम क्रोध आदि से मुक्त करने में कुछ वीरता दिखा। इस संसार के भ्रम-रूपी भाले को दूर फेंक दे और प्रभु-स्मरणकी बरछी से असद् के संग्राम को जीत।

षूणै पड़या न छूटियो सुणि रे जीव अबूझ।
कबीर मरि मैदान मैं करि इंद्र्यां सूं झूझ ॥२॥

षूणैं=कोने में एकान्त में। अबूझ=अज्ञानी। मैदान=युद्ध क्षेत्र संसार। झूझ=युद्ध।

कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख जीवात्मा एकान्त में तपस्या करने से तेरी मुक्ति नहीं होगी। मुक्ति के लिए संसार के रणक्षेत्र में इन्द्रियों से युद्ध करना आवश्यक है। भाव यह है कि इन्द्रिय-जयी ही मुक्तात्मा है।

कबीर सोई सूरिवां मन सूं मांडै झूझ।
पंच पयादा पाड़ि ले दूरि करै सब दूज ॥३॥

सूरिवां=मरदानां-सूरमा सूरवीर। पंच पयादा=काम क्रोध मद लोभ मोह—पांच पदाति प्राचीन समय में चार प्रकार की सेनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है—गजसेना रथसेना अश्वसेना एवं पदाति सेना। कबीर यहां पदाति के सैनिकों का उल्लेख करते हैं। दूज=द्वैत भावना।

कबीर कहते हैं कि शूरवीर वही है जो मन रूपी शत्रु से युद्ध करे और उसके काम क्रोध मद लोभ मोह रूपी पांचों पदाति सैनिकों को भगा दे तथा द्वैत भावना को भी रणक्षेत्र में न रहने दे।

सूरा झूझै गिरद सूं इक दिसि सूर न होइ।
कबीर यौं बिन सूरिवां भला न कहिसी कोइ ॥४॥

गिरद=इर्द-गिर्द चारों ओर।

पूर्वपक्ष—वस्तुतः शूरवीर वही है जो चारों ओर घूमकर युद्ध करे—एक ही दिशा के शत्रुओं का नाश करने वाला सच्चा शूर नहीं। जो इस प्रकार युद्ध नहीं करता उसे कोई अच्छा योद्धा नहीं कह सकता।

साधनापक्ष—साधक को अपने चारों ओर छाये माया-आकर्षणों एवं अन्य असत् तत्त्वों से युद्ध करना चाहिए, जो केवल एकाध असत् तत्त्व से जूझता है वह सच्चा साधक नहीं रहता। सच्चे साधक के लिए समस्त असत् तत्त्वों से संग्राम आवश्यक है।

कबीर आरणि पैसि करि, पीछें रहै सु सूर।
सांइ सूं साचा भया रहसी सदा हजूर ॥५॥

आरणि=अरण्य वन। पैसि करि=प्रवेश कर। साचा भया=कर्तव्य के प्रति सच्चा। हजूर=कृपा प्राप्त।

कबीर कहते हैं कि इस संसार रूपी वन में प्रविष्ट हो जो पीछे रह गया—इसके विषय-वासना जंजाल में न फंसा वही सच्चा शूरवीर है। ऐसा करके वह प्रभु के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर सर्वदा उसका कृपा-पात्र रहता है।

गगन दमामां बाजिया पड़्या निसानैं घाव ॥
खेत बुहार्‌या सूरिवै मुझ मरणे का चाव ॥६॥

गगन=शून्य ब्रह्माण्ड सहस्रदल कमल। दमामां=नगाड़ा। निसान=ध्वनि से। घाव=चोट। बुहार्‌या=साफ किया।

शून्य प्रदेश में कुण्डलिनी के विस्फोट से अनहद नाद हो रहा है, उसकी ध्वनि सुनकर तन-मन उसी नाद से पूर्ण हो गया। साधक ने काम क्रोध मद लोभ मोह आदि विषयों का कालुष्य दूर कर मन-क्षेत्र को स्वच्छ किया क्योंकि उसे जीवन्मुक्त होने की लालसा थी।

कबीर मेरे संसा को नहीं हरि सूं लागा हेत।
काम क्रोध सूं झूझणां चौड़े मांड्या खेत ॥७॥

संसा=शंका। हेत=प्रीति। झूझणा=युद्ध करना। चौड़े मांड्या=विस्तृत क्षेत्र में संसार-क्षेत्र में।

कबीर कहते हैं कि अब मैं प्रभु से प्रेम करके पूर्ण निशंक हो गया हूं। अब तो इस संसार क्षेत्र में काम क्रोधादि से युद्ध कर उन्हें समाप्त करता है।

सूरै सार सँबाहिया पहर्‌या सहज संजोग।
अब कै ग्यान गयंद चढ़ि, खेत पड़न का जोग ॥८॥

सूरे=शूर ने। सार=लौह, लौह-निर्मित अस्त्र से तात्पर्य। संबाहिया=संधान किया। सहज संजोग=सहजावस्था का कवच धारण कर। जोग=अवसर।

साधक शूर मनोयोग रूपी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित एवं सहजावस्था

का कवच धारण कर कुप्रवृत्तियों से युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गया है। अब की बार इस संसार-क्षेत्र से मुक्त होने का अवसर अवश्य ही आ गया है क्योंकि उपर्युक्त साधनों के साथ-साथ वह ज्ञान-हस्ती पर चढ़कर युद्ध करेगा। भाव यह है कि अब बार-बार साधक को संसार में इस युद्ध के लिए नहीं आना पड़ेगा वह जीवन्मुक्त हो जावेगा।

> सूरा तबही परषिये लड़ै धणी के हेत।
> पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै तऊ न छाड़ै खेत ॥१०॥

परषिये=जानिए। धणी=स्वामी। पुरिजा-पुरिजा=टुकड़े-टुकड़े।

सच्चे शूरवीर की परीक्षा यही है कि वह अपने स्वामी के लिए रणक्षेत्र में लड़कर टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो जाय पर हार मान कर पीछे न हटे उसी भाँति साधक को सांसारिक विषय-वासनाओं से युद्ध करना चाहिए।

> खेत न छाड़ै सूरिवाँ झूझै द्वै दल माँहि।
> आसा जीवन मरण की मन में आणै नाँहि ॥११॥

सच्चा शूर के मन में जीवन-मरण—जय-पराजय—का कोई भाव नहीं होता वह तो युद्ध क्षेत्र में बिना मुँह मोड़े दोनों पक्षों के मध्य जूझता रहता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

> अब तौ झूझ्याँ ही बणै मुड़ि चाल्या घर दूरि।
> सिर साहिब कौ सौंपता सोच न कीजै सूरि ॥१२॥

बणै=सम्भव है। मुड़ि=मुड़ना लौटना घर=संसार।

कबीर कहते हैं कि भक्त अब प्रभु-भक्ति के मार्ग पर पर्याप्त आगे बढ़ चुका हो और फिर यह सोचे कि वह लौट कर संसार-विषयों का पुनः रसास्वादन करे तो असम्भव है क्योंकि वह सांसारिक विषयों को बहुत दूर छोड़ चुका है। हे साधक! प्रभु-भक्ति में मरना ही श्रेयस्कर है अतः उसके लिए सर्वस्व समर्पित करने में आगा-पीछा सोचना वृथा है।

> अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी मनका रुचित कीन्ह।
> मरनें कहा डराइये हाथि स्यंधौरा लीन्ह ॥१३॥

ह्वै पड़ी=अवसर आ पहुँचा। मन का रुचित=जैसा मन को रुचिकर था। हाथि=हाथ में। स्यंधौरा=सिंदूर रखने की डिब्बी।

कबीर कहते हैं कि अब तो साधना मार्ग में ऐसी स्थिति आ गई है कि मन प्रभु भक्ति में ही प्रवृत्त हो गया है अतः अब प्रभु-मिलन निश्चित है। अतः हे संसार के कायर मनुष्यो! अब मुझे प्रभु भक्ति मार्ग से विचलित क्यों किया

चाहते हो भला जब सती होने वाली स्त्री ने सिंदूर पान सम्मान लिया हो तो उसे मृत्यु भय दिखाने का क्या लाभ वह तो सती होगी ही। उसी भाँति यह कबीर तो प्रभु को प्राप्त करके ही रहेगा।

विशेष—सती होने वाली स्त्री चिता पर जाने से पूर्व सोलह शृंगारों से विभूषित होती थी—अन्य लोग उसे मृत्यु का भय दिखाकर चिता पर जाने से रोकते थे कुछ तो रुक जाती थी किन्तु जिसने सौभाग्य-सिंदूर की डिब्बी हाथ भरने के लिए उठा ली फिर तो उसके दृढ़ निश्चय की पुष्टि ही हो जाती थी। दृढ़ निश्चय के लिए कबीर का यह प्रयोग सर्वथा नवीन है।

> जिस मरनैं थै जग डरै, सो मेरे आनन्द।
> कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरन परमानंद ॥१३॥

जिस मृत्यु से संसार डरता है वह मरण मेरे लिए आनन्ददायी होगा। मैं मृत्यु की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि कब मर कर पूर्ण ब्रह्म से साक्षात्कार करूँ।

विशेष—तुलना कीजिए—

> तोड़ दो बंधन क्षितिज के देख लूँ उस ओर क्या है।
> जा रहे जिस पथ से युग कल्प उसका छोर क्या है।
> फिर भला प्राचीर बनकर क्यों आज मेरे प्राण घेरें।
> फिर विकल हैं प्राण मेरे। —महादेवी

> कायर बहुत पमांवहीं बहकि न बोलै सूर।
> काम पड्यां ही जाणिये किसके मुख परि नूर ॥१४॥

पमांवहीं=बढ़-चढ़कर बातें करना। नूर=तेज विजयोल्लास।

कायर व्यक्ति ही बहुत बढ़-चढ़कर बातें करते हैं सच्चे शूर कभी भी बढ़ बात नहीं करते वे तो काम को करके ही दिखाते हैं। कार्य (युद्ध) पड़ने पर ही जाना जा सकता है कि शूरवीर अथवा कायर किसके मुँह पर विजयोल्लास झलकता है। भाव यह है कि शूर ही विजय प्राप्त करते हैं बक-बक करने वाले कायर नहीं।

विशेष—तुलना कीजिए—

"Barking dog seldom bites"

> जाइ पूछौ उस घाइलैं दिवस पीड़ निस जाग।
> बाहणहारा जाणिहै कै जाणैं जिस लाग ॥१५॥

बाहणहारा=बाणों वाला मार करने वाला। जिस लाग=जिसके लगती है, जिसके चोट पड़ती है।

उस घायल व्यक्ति से उसकी पीड़ा की दशा पूछो जो अपनी पीड़ा से दिन में व्यथित होता है और रात को जागता है। उस पीड़ा का अनुभव केवल उसी को होता है अथवा उसका किंचित् अनुमान उसका हो सकता है जो (बाणों की) चोट करता है। भाव यह है कि प्रभु के प्रेम की पीर का अनुमान गुरु को हो सकता है और अनुभव केवल साधक को।

घाइल घूमैं गहि भर्या राख्या रहै न ओट।
जतन कियां जीवै नहीं बणीं मरम की चोट ॥१६॥

प्रेम प्रेम की पीर से आहत गुरु के उपदेश रूपी बाणों की चोट से भरा हुआ घूमता है यदि कोई उसे छिपाना चाहे तो छिपा नहीं सकता। उसके मर्म स्थल पर गुरु के उपदेश की ऐसी गहन-चोट लगी है कि प्रयत्न करने पर भी —माया के बंधन में उलझने पर भी—संसार में नहीं रह सकता अर्थात् वह तो जीवन्मुक्त होकर रहेगा।

ऊंचा बिरष अकासि फल पंषी मूए झूरि।
बहुत सयाने पचि रहे फल निरमल परि दूरि ॥१७॥

उस अलख ज्योति के फल का वास शून्य में है जहाँ तक साधना का दुर्गम पथ है। इस विकट साधना-पथ में बहुत से जीवात्मा रूपी पक्षी हार कर निष्फल बैठ गये। अनेक चतुर लोग विविध प्रयत्न करने पर भी उस निर्मल फल को प्राप्त न कर सके। भाव यह है कि विरले ही साधना की विकट-यात्रा को पूर्ण कर उस अलख ज्योति रूपी निर्मल फल को प्राप्त कर सके।

दूरि भया तो का भया सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपै नहीं कारिज सिधि न होइ ॥१ ॥

कबीरदास कहते हैं कि वह अलख ब्रह्म निरंजन रूपी निर्मल फल यदि इतनी दूरी पर है तो चिन्ता की क्या बात है वह शीश दान देने से अर्थात् साधना मार्ग में सर्वस्व त्याग करने से निश्चय ही प्राप्त हो जाता है। जब तक सर्वस्व त्याग नहीं किया जायगा तब तक प्रभु प्राप्ति असम्भव है।

कबीर यहु घर प्रेम का खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै हाथि करि सो पैसे घर माँहि ॥१८॥

कबीरदास कहते हैं कि प्रभु भक्ति का मार्ग मौसी का घर नहीं जहाँ विविध प्रकार की सुख-सुविधाओं से पूर्ण आतिथ्य प्राप्त होता है यह तो प्रेम-रूपी है। इसमें वही प्रवेश हो सकता है जो शीश हाथ में लेकर अर्थात् सर्वस्व त्याग के लिए आतुर हो स्वर साधना करे।

विशेष—

'अति तीक्षण प्रेम को पंथ महा
तलवार की धार पै धावनो है।' —'बोधा'

कबीर निज घर प्रेम का मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥२॥

कबीरदास कहते हैं कि हमारे प्रेम-निकेतन का मार्ग अत्यन्त अगम्य और अगाध है। उस प्रेम का आनन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब शीश उतार कर पैरों के नीचे रख दिया जाय—अर्थात् जब सर्वस्व-बलिदान की तैयारी हो तभी उस प्रेम का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

विशेष—घनानन्द के प्रेमादर्श से तुलना कीजिए—दोनों में पर्याप्त अंतर होते हुए भी बलिदान की भावना एक सी ही है—

'पूरन प्रेम को मंत्र महापन
जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि
यौं पचि कै रचि राखि बिसेख्यौ॥
ऐसो हियो-हित पत्र पवित्र जु
आन कथा न कहूं अवरेख्यौ।
सो घन आनन्द जान अजान लौं
टूक कियो पर बांचि न देख्यौ॥

प्रेम न खेतौं नींपजै प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै सिर दे सो ले जाइ ॥२१॥

नींपजै=उत्पन्न होता है।

प्रभु का प्रेम न तो किसी खेत में उत्पन्न होता है न किसी बाजार में बिकता है। इसे तो राजा-प्रजा सभी निर्मम जो चाहे वह शीशदान देकर ले जा सकता है।

विशेष—महाकवि भवभूति ने भी अपने 'उत्तर रामचरित' में यही प्रतिपादित किया है कि प्रेम बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं होता—

'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥ (६।१२)

(कोई अज्ञात आंतरिक कारण पदार्थों को सम्बद्ध कर देता है, प्रीति बाह्य कारण पर आश्रित नहीं होती। सूर्य के उदय होने पर कमल खिल जाता है और चन्द्रमा के निकलने पर चन्द्रकान्त मणि पसीजने लगती है।)

सीस काटि पासंग दिया जीव सरभरि लीन्ह।
जाहि भावै सो आइ ल्यौ प्रेम आट हम कीन्ह ॥२२॥

कबीरदास कहते हैं कि हमने प्रेम का बाजार लगाया है जो चाहे इसमें से प्रेम क्रय कर सकता है किन्तु उसे तराजू के पासंग को निकालने के लिए अपना शीश चढ़ा कर प्राणों के मूल्य में यह प्रेम प्राप्त हो सकेगा।

सूरै सीस उतारिया छाड़ी तन की आस।
आगैं थैं हरि मुलकिया आवत देख्या दास ॥२३॥

शूरवीर साधक ने शरीर का मोह छोड़ प्रभु-भक्ति के लिए अपना शीश दान दे दिया। अपने भक्त को आता देखकर स्वयं प्रभु ने साधना मार्ग के बीच में ही बढ़कर उसका स्वागत किया।

भगति दुहेली राम की नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हाथि करि सो लेसी हरि नांम ॥२४॥

प्रभु-भक्ति बड़ी कठिन है यह कायर के लिए नहीं है। जो शीश उतार कर हाथ में ले ले वही प्रभु का नाम ले सकता है।

भगति दुहेली राम की जैसि खांडे की धार।
जे डोलै तौ कटि पड़ै नहीं तौ उतरै पार ॥२५॥

प्रभु भक्ति अत्यन्त कठिन है जिस प्रकार 'तलवारि की धार पर धावनो है।' यदि तनिक भी विचलित हुए तो सर्वनाश अन्यथा दृढ़ रहने पर संसार सागर के पार हो ही जाते हैं।

भगति दुहेली राम की जसि अगनि की झाल।
डाकि पड़ै ते ऊबरे दाधे कौतिगहार ॥२६॥

राम की भक्ति बड़ी कठिन है जैसे धधकती हुई अग्नि का समूह। जो इसमें कूद पड़े वे तो पार हो गये उनके दग्ध नहीं हुए और जो केवल कौतूहलवश इसे देखते ही रहे वे भस्म हो गये।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

कबीर घोड़ा प्रेम का चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान खड़ग गहि काल सिरि भली मचाई मार ॥२७॥

कबीर कहते हैं कि हे साधक तू प्रेम रूपी घोड़े पर सावधानीपूर्वक चढ़

था। मृत्यु को शीश पर मंडराती हुई समझकर ज्ञान-कृपाण हाथ में लेकर संसार की विषय-वासनाओं से युद्ध कर।

> कबीर हीरा वणजिया महँगे मोल अपार।
> हाड़ गला माटी गली सिर साटैं ब्यौहार ॥२८॥

साटैं—तय किया। ब्यौहार—व्यापार।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेम का अमूल्य हीरा बड़ा महँगा प्राप्त हुआ है। शरीर के अस्थि चर्म को नष्ट कर और शीश को बलि देकर यह व्यापार तय किया है।

> जेते तारे रैणि के तेते बैरी मुझ।
> धड़ सूली सिर कंगुरै तऊ न बिसारौं तुझ ॥२९॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में विषय-वासना रूपी मेरे उतने ही शत्रु हैं जितने असंख्य अगणित रात्रि के नक्षत्र। यदि मेरा शीश काटकर किसी महल के कंगूरों पर और धड़ सूली पर लटका दिया जाय तो भी हे प्रभु! मैं तुम्हें विस्मृत नहीं कर सकता।

> जे हार्‌या तौ हरि सवाँ जे जीत्या तो डाव।
> पारब्रह्म कूँ सेवतां जे सिर जाइ त जाव ॥१॥

परब्रह्म की सेवा में यदि शीश व्यर्थ जाता है तो जाने दो क्योंकि यदि तू साधना पथ में हारेगा तो प्रभु जैसे प्रतिद्वन्द्वी के सम्मुख और यदि विजय प्राप्ति हुई तब तो तेरी मनोवांछा—प्रभु-प्राप्ति—पूर्ण ही हो जायेगी अतः दोनों प्रकार से तेरा मंगल है।

विशेष—शूरवीर का ऐसा ही उच्च आदर्श तो होता है—

"जीयते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगना'
चन्दबरदायी'—पृथ्वीराज रासो।

> सिर साटैं हरि सेविये छाड़ि जीव की बाणि।
> जे सिर दीयाँ हरि मिलै तब लग हाँणि न जाणि ॥११॥

जीव की मायाजन्य आकर्षणों में स्वाभाविक रुचि को त्याग कर शीश दान दे प्रभु भक्ति कीजिए। जो शीश-दान देकर प्रभु प्राप्ति हो जाय तो यह सौदा बुरा नहीं है।

> टूटी बरत अकास थैं कोइ न सकै झड़ झेल।
> साध सती अरु सूर का अणीं ऊपिला खेल ॥१२॥

बरत—एक मोटी रस्सी का ग्राम्य नाम। झड़—झटका। अणी—नोक। ऊपिला—ऊपर।

जिस प्रकार नट की आकाश में बंधी नारी रस्सी की मटक को टूटने पर कोई नहीं सम्भाल सकता नट की मृत्यु निश्चित ही है उसी भांति साधना भ्रष्ट साधक का सर्वनाश निश्चित है। साधक (योगी) सती एवं शूरवीर का कार्य तो तलवार की नोक पर चलने जैसा ही है।

सती पुकार सलि चढ़ा सुनि रे मींत मसांन।
लाग बटाऊ चलि गये हम तुम रहे निदांन ॥१३॥

कबीर कहते हैं कि जीवात्मा रूपी सती साधना की चिता पर चढ़कर कहती है कि हे श्मशान रूपी साधना स्थल ! सुन अब मैं और तुम ही रह गये अन्य जो साथी (साधना क्षेत्र में युद्ध) यहाँ तक आये थे चले गये। भाव यह है कि साधना में किसी का सम्बन्ध रहना वृथा है, केवल साधक और साधना-स्थली ही तो यहाँ है।

सती बिचारी सत किया काठौं सेज बिछाइ।
ले सूती पिव आपणां चहु दिसि अगनि लगाइ ॥१४॥

सती नारी ने काष्ठ-लकड़ियों की चिता चुनकर यथार्थ आचरण किया और उस चिता की चारों ओर से धधकती दहकती अग्नि में अपने पति को लेकर भस्म हो गई। साधक को भी इसी भांति अपनी आत्मा के साथ साधना क्षेत्र में प्रभु से तादात्म्य कर लेना चाहिए।

सती सूरा तन साहि करि, तन मन कीया घांण।
दिया महौला पीव कूं तब मड़हट करै बषांण ॥१५॥

महौला=महत्त्व।

सती एवं शूरवीर ने शरीर का दमन कर शरीर और मन दोनों को पूर्णतया नष्ट कर दिया। उन दोनों ने प्रिय को (शूर का स्वामी—राजा—ही उसका प्रिय है) इतना महत्त्व दिया तभी श्मशान उनकी प्रशंसा करता है, अर्थात् उनकी वीरगति के गीत गाये जाते हैं।

सती जलन कूं नीकसी पीव का सुमरि सनेह।
सबद सुनत जीव निकल्या भूलि गई सब देह ॥१६॥

प्रभु का स्मरण कर जीवात्मा रूपी सती साधना आग में भस्म होने के लिए निकली। सद्गुरु के उपदेश को सुनते ही वह जीवन्मुक्त हो गई और उसने समस्त पार्थिव सम्बन्धों को विस्मृत कर दिया।

सती जलन कूं नीकसी चित धरि एकबमेक।
तन मन सौंप्या पीव कूं तब अंतरि रह्या न रेख ॥१७॥

जीवात्मा रूपी सती प्रभु मिलन के लिए साधना पथ पर अग्रसर हुई

उसके मन में केवल मात्र प्रभु का ही ध्यान था। जब उसने तन-मन सर्वस्व प्रभु को समर्पित कर दिया तो दोनों में कोई अन्तर न रहा।

हौं तोहि पूछौं हे सखी जीवत क्यूं न मराइ।
मूवा पीछैं सत करै, जीवन क्यूं न कराइ ॥१८॥

मुक्तात्मा सांसारिक आत्मा से प्रश्न करती है कि हे सखी! तू जीवन्मुक्त क्यों नहीं हो जाती। यदि मृत्यु—मोक्ष—को प्राप्त हो जाने पर तूने सदाचरण—साधना मार्ग को अपनाना—किया तो उससे क्या लाभ? जीते ही जीते क्यों न प्रभु प्राप्ति का उपाय करती।

कबीर प्रगट राम कहि छानैं राम न गाइ।
फूस क जौड़ा दूरि करि ज्यूं बहुरि न लागै लाइ ॥१६॥

छानै=छिपकर। फूस क जौड़ा=फूस का छप्पर या फूस की टट्टी। लाई=अग्नि।

कबीर कहते हैं कि सबके सम्मुख प्रभु का नाम लो। छिपकर उसका जप करने से क्या लाभ? माया-भ्रम रूपी इस फूस के टट्टर को अपने से दूर कर दे जिससे सांसारिक तापों की अग्नि तुझे न व्यापे।

कबीर हरि सबकू भजै हरि कू भजै न कोइ।
जब लग आस सरीर की तब लग दास न होइ ॥४॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु सबका ध्यान रखते हैं क्योंकि समस्त जीवों का स्मरण कोई नहीं करता (विरले ही करते हैं)। जब तक जीव को शरीर का मोह है तब तक वह भक्त नहीं हो सकता।

आप सवारथ मेदनी भगत सवारथ दास।
कबीरा राम सवारथी जिनि छाडी तन की आस ॥४१॥११॥

कबीर कहते हैं कि संसार अपने स्वार्थ से परिपूर्ण है भक्त भी भक्ति का स्वार्थ तो रखे हुए है ही किन्तु कबीर का केवल प्रभु के ही स्वार्थी हैं अर्थात् केवल प्रभु ही उन्हें मिल जावे यही सब कुछ है। इसी के लिए कबीर ने शरीर का मोह भी छोड़ दिया है।

—×—

४६ काल कौ अंग

झूठे सुख कौं सुख कहैं मानत हैं मन मोद।
खलक चबीणां काल का कुछ मुख में कुछ गोद ॥१॥

खलक=संसार।

कबीर कहते हैं कि संसार माया-जनित आकर्षणों से प्राप्त मिथ्यानन्द को सुख समझ कर मन में प्रसन्नता का अनुभव करता है। वास्तविकता यह है कि समस्त संसार काल का भोजन है जो कुछ तो उसके मुख में है और कुछ गोद में। कुछ तो विनाश को प्राप्त हो रहा है और कुछ विनाश को प्राप्त होने वाला है।

विशेष—'पंत' ने अपनी 'परिवर्तन' नामक प्रसिद्ध कविता में परिवर्तन—काल—का ऐसा ही चित्रण किया है—"अहे निष्ठुर परिवर्तन।

तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन
निखिल उत्थान पतन।

आजकालि कै निस हमैं मारगि माल्हंतां।
काल सिचांणां नर चिड़ा औझड़ औच्यंतां ॥२॥

नर रूपी पक्षी के लिए काल बाज के समान है जो आज या कल की रात—शीघ्र ही—एक दम झपट कर हमें नष्ट कर देगा।

काल सिहांणैं यौं खड़ा जागि पियारे म्यंत।
राम सनेही बाहिरा तूं क्यूं सोवै नच्यंत ॥३॥

सिहाणे=सिरहाने ऊपर।

हे प्रिय मित्र! जाग सावधान हो काल तेरे ऊपर खड़ा हुआ है। इसके अधिकार क्षेत्र से केवल प्रभु-भक्त ही बाहर हैं अतः तू प्रभु भक्ति कर अज्ञान में मत पड़ा रह।

सब जग सूता नींद भरि संत न आवै नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरैं ज्यूं तोरणि आया बींद ॥४॥

समस्त संसार घोर-निद्रा में सोता है किन्तु साधु को नींद नहीं आती क्योंकि वह प्रभु भक्ति में सदा रमता है। उसे पता है कि समय कम है काल सिर के ऊपर खड़ा है जिस प्रकार दूल्हा द्वार पर पहुँच कर भीतर ही आता है उसी भाँति काल नष्ट करके ही रहता है।

आज कहै हरि कालिह भजौंगा कालिह कहै फिरि कालिह।
आज ही कालिह करतड़ा औसर जासी चालि ॥५॥

हे मनुष्य ! तू आज यह कहता है कि कल प्रभु का भजन करूंगा और कल के आने पर फिर अगली कल के लिए सोचता है। इस प्रकार कल ही कल में आयु व्यतीत हो जाती है और प्रभु-भक्ति नहीं हो पाती।

कबीर पल की सुधि नहीं कर काल्हि का साज।
काल अच्यंता झड़पसी ज्यूं तीतर को बाज ॥६॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तुझे यह तो एक पल का भी ज्ञान नहीं कि इसमें क्या होगा—विनाश अथवा सृजन और तू सब कार्यक्रम कल—भविष्य—के लिए स्थगित कर रहा है। काल अचानक तुझे इस प्रकार पकड़ लेगा जैसे तीतर को बाज अचानक झपट कर ले जाता है।

कबीर टग टग चोघतां पल पल गई बिहाइ।
जीव जंजाल न छाड़ई जम दिया दमामां आइ ॥७॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! क्षण-क्षण कर तेरी समस्त आयु व्यतीत हो गई और तूने उदरपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ न किया। जीव इस संसार के बंधन से मुक्त नहीं हुआ और इतने में मृत्यु ने आकर अपना स्वर-घोष कर दिया।

मैं अकेला ए दोइ जणां छेती नांही कांइ।
जे जम आगैं ऊबरौं तो जुरा पहूंती आइ ॥ ॥

छेती—कम। कांइ—कोई भी। जुरा—जरा वृद्धावस्था।

कबीर कहते हैं कि मैं तो अकेला हूं और ये मेरे विनाशक दो—जरावस्था तथा मृत्यु। इन दोनों में कम कोई नहीं है। यदि मैं मृत्यु से बच भी जाऊं तो फिर यह वृद्धावस्था नहीं छोड़ती। मृत्यु और जरा ये दोनों मेरे विनाशक हैं।

बारी बारी आपणी चले पियारे म्यंत।
तेरी बारी रे जिया नेड़ी आवै निंत ॥९॥

हे मनुष्य ! तेरे प्रियजन अपनी अपनी बारी पर इस संसार से विदा ले गये। अब दिन-प्रतिदिन तेरा मृत्यु अवसर भी निकट आ रहा है।

दौं की दाधी लाकड़ी ठाढ़ी करे पुकार।
मति वसि पड़ौं लुहार कै जाली दूजी बार ॥१०॥

अग्नि से जली कोयले के रूप में लकड़ी पुकार कर कहती है कि मैं लुहार के अधिकार में न चली जाऊं अन्यथा मुझे दुबारा जलना पड़ेगा (लुहार कोयला जलाकर अपनी भट्टी गरम करता है)। भाव यह है कि संसार-तापों से दग्ध जीवात्मा कालाग्नि से भयभीत है।

जो ऊग्या सो आंथवै फूल्या सो कुमिलाइ ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै जो आया सो जाइ ॥११॥

ऊग्या=उदित हुआ । आंथवै=अस्त होता है । जो चिणियां=जिसका निर्माण हुआ ।

कबीर कहते हैं कि इस नश्वर संसार में जो उदित होता है उसका अस्त निश्चय है । जो कुसुम विकसित होता है वह अवश्य ही मुरझाएगा । जिसका निर्माण हुआ है उसका विध्वंस निश्चित है । जो जन्म लेकर इस संसार में आया है वह मृत्यु को प्राप्त होकर निश्चय ही यहां से जायगा ।

जो पहर्या सो फाटिसी नाव धर्या सो जाइ ।
कबीर सोई तत्त गहि जौ गुरि दिया बताइ ॥१२॥

जिस नवीन वस्त्र को धारण किया जाता है वह कभी न कभी अवश्य ही फटता है । जिसने जन्म लिया है वह मरण को अवश्य प्राप्त होगा । अतः हे कबीर ! तू उस प्रेम-भक्ति के तत्त्व को ग्रहण कर जिसे तुझे सद्गुरु ने प्रदान किया है ।

निधड़क बैठा राम बिन चेतनि करै पुकार ।
यहु तन जल का बुदबुदा बिनसत नाहीं बार ॥१३॥

साखी स्पष्ट रूप में घोषणा करता है कि प्रभु भक्ति बिना तू निधड़क क्यों बैठा है ? यह शरीर तो पानी के बुद्बुद के सदृश है जिसे फूटने में देर नहीं लगती । अतः प्रभु भक्ति कर ।

पाणी केरा बुदबुदा इसी हमारी जाति ।
एक दिनां छिप जांहिगे तारे ज्यूं परभाति ॥१४॥

कबीर कहते हैं कि हम सांसारिकों की जाति पानी के बुद्बुद जैसी है जिसका अत्यन्त क्षणिक अस्तित्व है । एक दिन हम इसी प्रकार अचानक लुप्त हो जायेंगे जिस प्रकार प्रभात समय में नक्षत्रगण ।

कबीर यहु जग कुछ नहीं खिन खारा खिन मीठ ।
काल्हि जु बैठा माड़ियां आज मसाणां दीठ ॥१५॥

माड़िया=प्रसन्न हो रहा था ।

कबीर कहते हैं कि यह जग बड़ा अनिश्चित है । क्षण भर में यहां प्रसन्नता होती है तो क्षण भर में ही कटु । कल तक जो व्यक्ति प्रसन्न हो रहा था वही आज श्मशान में जल रहा था ।

विशेष—पन्त से तुलना कीजिए—

"यही तो है असार संसार
सृजन सिंचन संहार !

आज सर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि मन्त्रोच्चार
उलूकों के कल भग्नविहार
झिल्लियों की झनकार।
× × ×
"अभी उत्सव औ हास हुलास
अभी अवसाद अश्रु उच्छ्वास।
अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास।

कबीर मंदिर आपणैं नित उठि करती आलि।
मड़हट देख्याँ डरपती चौड़ैं दीन्हीं जालि ॥१६॥

कबीर कहते हैं कि वह अल्पायु नारी जो नित्य अपने भवन में उत्सव करती थी और श्मशान को देख कर डरा करती थी वही आज श्मशान के निर्जन व रोक-टोक स्थान में जला दी गई। संसार कैसा नश्वर है?

मंदिर माँहि झबूकती दीवा कैसी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया काढ़ौ घर की छोति ॥१७॥

झबूकती=प्रकाशित करती जगमगाती।

जो सुन्दर नारी कल तक अपने भवन को दीप-शिखा की भाँति अपने सौंदर्य से प्रकाशित रखती थी। उसकी अनन्त पथ की यात्री आत्मा के निकल जाने पर निष्प्राण अवस्था में सब कहने लगे कि यह मिट्टी है इसे शीघ्र श्मशान ले चलो।

ऊँचा मंदिर धौलहर माटी चित्री पौलि।
एक राम के नाँव बिन जम पड़ैगा रौलि ॥१८॥

पौलि=द्वार।

मिट्टी के रंगों से चित्रित सुन्दर-सुन्दर द्वार एवं ऊँचे-ऊँचे भवन तथा अट्टालिकाएं सब प्रभु भक्ति के बिना नष्ट हो जायगा जब काल इन्हें विनष्ट कर देगा तो रोना ही पड़ेगा।

कबीर कहा गरबियौ काल गहै कर केस।
ना जाँणैं कहाँ मारिसी कै घर कै परदेस ॥१९॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में गर्व किस बात का? सर्वदा तो मृत्यु मनुष्य के बाल पकड़े हुए है वह न जाने कहाँ देश अथवा विदेश कहाँ उसे पकड़ के समाप्त कर दे।

कबीर जंत्र न बाजई टूटि गए सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावणहार ॥२ ॥

कबीर कहते हैं कि पंच तत्वों से निर्मित यह वाद्य-यन्त्र शरीर बजाने वाले आत्मा के अभाव में बजता नहीं उसके समस्त तार टूट जाते हैं—

प्रेम कुछ नहीं दो दिलों की मेल है,
शरीर कुछ नहीं पाँच का मेल है
दुनिया कुछ नहीं बच्चों का खेल है।

धमणि धवती रहि गई बुझि गए अंगार।
अहरणि रह्या ठमूकड़ा जब उठि चले लुहार ॥२१॥

धमणि=भट्टी। धवती=दहकती। अहरणि=अहरन निहाई। ठमूकड़ा=हथौड़ा। लुहार=आत्मा से तात्पर्य।

आत्मा रूपी लुहार के चले जाने पर शरीर की कान्ति निस्तेज हो जाती है और ताप अथ युक्त सांसारिक भट्टी दहकती रह जाती है। निहाई और हथौड़े रूपी मनुष्य के साज-सामान यहीं व्यर्थ पड़े रह जाते हैं। इन सबका प्रयोजन कर्ता आत्मा के शरीर में रहने तक ही था।

पंथी ऊभा पंथ सिरि बुगचा बांध्या पूठि।
मरणां मुह आगे खड़ा जीवण का सब झूठ ॥२२॥

ऊभा=प्रस्तुत। बुगचा=गठरी। पूठि=पीठ पर।

कबीर कहते हैं कि आत्मा रूपी अनन्त मार्ग का पथिक अपनी कर्म गठरी पीठ पर बाँध कर इस अनन्त पथ के लिए प्रस्तुत खड़ा है। जब मरण बिल्कुल सम्मुख ही है तो संसार में सब कुछ मिथ्या है।

यहु जिव आया दूर थैं अजौं भी जासी दूरि।
बिच के बासै रसि रह्या काल रह्या सर पूरि ॥२३॥

यह जीवात्मा रूपी अनन्त का पथिक बड़ी दूर से इस संसार में आया था और अभी इसे जाना भी बहुत दूर है। इस विश्राम स्थल—संसार—पर यह न जाने क्या मोहित रुक गया है अज्ञान में अचेत पड़ा है यह भी नहीं देखता कि मृत्यु सिर पर खड़ी है।

राम कह्या तिनि कहि लिया जुरा पहूँती आइ।
मंदिर लागै द्वार थैं तब कुछ काढ्या न जाइ ॥२४॥

जिन्होंने अपने मुख से प्रभु नाम कहना था वे कह चुके अब तो वृद्धावस्था आ पहुँची। जब मन्दिर के द्वार लग जाते हैं तब उसके भीतर से कुछ निकाला

नहीं आ सकता इसी भांति जब इस शरीर-सदन का द्वार—मुख—बन्द हो जायेगा तब इससे प्रभु-नाम नहीं निकाला जा सकता।

बरियां बीती बल गया बरन पलट्या और।
बिगड़ी बात न बाहुड़ै कर छिटक्यां कत ठौर ॥२४॥

बरियां=आयु। बरन=वर्ण।

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तेरी आयु व्यतीत हो चुकी है, समस्त शक्ति नष्ट हो गई है। वृद्धावस्था के आगमन से तेरा वर्ण भी कुछ और ही हो गया है। यदि अब बात बिगड़ गई तो फिर नहीं बन सकती तुम्हें पश्चाताप करने का भी अवसर प्राप्त नहीं होगा—अतः इस अल्प समय में प्रभु-स्मरण कर ले।

बरियां बीती बल गया अरू बुरा कमाया।
हरि जिन छाड़ै हाथ थैं दिन नेड़ा आया ॥२५॥

हे मनुष्य! तेरी आयु व्यतीत हो चुकी है अब तक तूने बुरे ही बुरे कर्म किये हैं। अब प्रभु को अपने हाथ से मत जाने दे तेरी मृत्यु निकट आ पहुंची है।

कबीर हरि सूं हेत करि कूड़ै चित्त न लाव।
बांध्या बार पटीक के तापसु किती एक आव ॥२६॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू प्रभु से प्रेम कर और बुरी भावनाओं को अपने चित्त में न आने दे। वधिक के द्वार पर बंधे पशु की आयु का क्या भरोसा अर्थात् काल न जाने कब तुझे काट कर जाय।

विष के वन मैं घर किया सरप रहे लपटाइ।
ताथैं जियरै डर गह्या जागत रैणि बिहाइ ॥२ ॥

कबीर कहते हैं कि मेरा इस संसार में ऐसा ही वास है जैसे विष-वन में मैंने घर बना लिया हो जिसमें दुर्वासनाओं के सर्प चारों ओर लिपटे रहते हैं। मैं इनसे भयभीत हूं इसलिए दिन रात जागता ही रहता हूं।

कबीर सब सुख राम है और दुखां की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब पड़े काल की पासि ॥२८॥

कबीर कहते हैं कि समस्त सुखों की राशि राम ही हैं शेष उपलब्धियों में तो दुख ही दुख है। देवता मनुष्य मुनिवर राक्षस सब काल के बन्धन में बंधे हुए हैं—कोई इससे मुक्त नहीं। अतः हे मनुष्यो! राम का भजन करो।

काची काया मन अथिर थिर थिर कांम करंत।
ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरैं त्यूं त्यूं काल हसंत ॥१०॥

यह नश्वर शरीर और चंचल मन है फिर भी मनुष्य अपने कार्यों को गहरी नींव देता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य निडर होकर निश्चिन्तता से घूमता है मृत्यु उसकी मूर्खता पर हंसती है कि इस अल्प समय में यह प्रभु भजन क्यों नहीं करता ?

रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार ॥११॥

कबीर कहते हैं कि शव के लिए रोने वाले भी मृत्यु को प्राप्त हुए और जिन्होंने शव-दाह किया था वे भी मरे। जो प्रियजन धाड़-धाड़ मार कर रोये थे वे भी मरे। जब सभी मरणशील हैं तो सहायता की पुकार किस से की जाय। केवल एकमात्र वही प्रभु अनश्वर है अतः मनुष्य ! उन्हीं की भक्ति कर।

जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालणहार।
जे हम को आगैं मिले तिन भी बंध्या भार ॥१२॥३२१॥

जिन माता-पिता ने हमें जन्म दिया वे भी मृत्यु को प्राप्त हो गये और अब हम भी उस अनन्त यात्रा के लिए प्रस्तुत हैं। यही तो जगत् का शाश्वत क्रम रहा है। जो हम से आगे पथ पर—मृत्यु पथ—पर आगे मिले वे भी अपने कर्मों की पोटली बांधे हुए थे जिनके आधार पर उन्हें पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ना था।

---

४७ सजीवनि कौ अंग

जहां जुरा मरण व्यापै नहीं मुवा न सुणिये कोइ।
चलि कबीर तिहि देसड़ै जहां बैद बिधाता होइ ॥१॥

जहां जरा-मरण का भय ही नहीं और न किसी की मृत्यु सुनी है हे कबीर ! तू उस देश को चल। यदि वहां कोई अधिक व्याधि हो भी तो स्वयं प्रभु वहां वैद्य है।

कबीर जोगी बनि बस्या खणि खाये कंद मूल।
ना जाणौं किस जड़ी थैं अमर भये असथूल ॥२॥

असथूल = स्थूल।

कबीर कहते हैं कि जीवात्मा रूपी योगी इस संसार रूपी वन में ही रह रहा था और सांसारिक विषयों से अपनी इन्द्रिय तृप्ति करता था। ऐसा नहीं

जिस जड़ी-बूटी से (भक्ति की अनुपम बूटी से) वह इस स्थूल शरीर के रहते हुए भी अमर हो गया—जीवन्मुक्त हो गया।

कबीर हरि चरणौं चल्या माया मोह थैं टूटि।
गगन मँडल आसण किया काल गया सिर कूटि ॥३॥

कबीर ने प्रभु चरणों को अपना लिया है, उसका संसार से मोह-बन्धन समाप्त हो गया है अब उसने शून्य में अपना निवास बना लिया वहाँ वह अमर हो गया है।

यहु मन पटकि पछाड़ि लै सब आपा मिटि जाइ।
पंगुल ह्वै पिव पिव करै पीछैं काल न खाइ ॥४॥

पछाड़ि लै=धो ले।

मन के कालुष्य को पटक-पटक धो देने पर मन का समस्त अहं नष्ट हो जाता है। मन जब विषय-वासनाओं की ओर नहीं दौड़ता तो प्रभु-नाम स्मरण करता है। इस अवस्था के आने पर मृत्यु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

कबीर मन तीखा किया बिरह लाइ खरसाँण।
चित चरणूँ मैं चुभि रह्या तहाँ नहीं काल का पाँण ॥५॥

खर=प्रखर तीक्ष्ण। साँण=सान एक पत्थर विशेष जिस पर धार रखी जाती है। चरण=चरणों। पाँणि=पाणि हाथ अधिकार।

कबीर कहते हैं कि मैंने मन विरह की तीक्ष्ण सान पर रखकर मन को प्रभु-भक्ति के लिए प्रस्तुत किया है। अब मेरा मन प्रभु के चरणों में अनुरक्त रहता है। वहाँ मैं निश्चिन्त हूँ क्योंकि काल की गति वहाँ नहीं है।

तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत।
सीतल छाया गहर फल पंषी केलि करंत ॥६॥

तास=उस।

कबीर कहते हैं कि हे साधक तुम उस शून्य रूपी वृक्ष पर अपना वास बना लो जो बारह-मास फलों की वर्षा करता है। जिसकी छाया अत्यन्त शीतल है—जहाँ ताप भय नहीं व्यापते और फल भी भरपूर है तथा जीवन्मुक्त साधक रूपी स्वच्छन्द पक्षी वहाँ क्रीड़ा करते हैं।

दाता तरवर दया फल उपगारी जीवंत।
पंषी चले दिसावराँ बिरषा सुफल फलंत ॥७॥१२॥

दिसावरा=विदेश। बिरषा=वृक्ष।

स्वयं स्वामी जो समस्त फलों के देने वाला है, वृक्ष है, एवं वह दया का फल प्रदान करता है जिससे समस्त जीवों का हित होता है। ऐसा सुन्दर वृक्ष

कबीर यहु जग अंधला जैसी अंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया ऊभी चाम चटाइ ॥३॥६७॥

कबीर कहते हैं कि यह अज्ञानांध संसार मोहांध गाय कि भाँति है जो अपने वास्तविक बछड़े (प्रभु) के बिछुड़ जाने पर भी उसकी चाम (माया—जो प्रभु से ही उत्पन्न है) को चाटे जाती है।

विशेष—गाय का बछड़ा मर जाने पर उससे दूध लेने के लिए मरे बछड़े की खाल में भुस भरवाकर खड़ा कर देते हैं। गाय उसे वास्तविक बछड़ा समझ दुलार करती है और दूध देती है। यही रूपक कबीर ने अपनाया है।

---

४६. पारिष कौ अंग

जब गुण कूं गाहक मिलै तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौं गाहक नहीं तब कौड़ी बदलै जाइ ॥१॥

जब श्रेष्ठ वस्तु को उसका पारखी ग्राहक मिल जाता है तो वह लाखों रुपये के मूल्य पर बिक जाती है। जब गुणवान् वस्तु को पारखी ग्राहक नहीं मिलता है तो वह नगण्य मूल्य में बिक जाती है।

कबीर लहरि समंद की मोती बिखरे आइ।
बगुला मंझ न जाणई हंस चुणे चुणि खाइ ॥२॥

मंझन=मज्जन स्नान। चुणे चुणि=चुन चुन कर।

कबीर कहते हैं कि भक्ति के सागर की लहर ने उपदेश या प्रभु प्रेम के मौक्तिक बिखेर दिये। संसार-लिप्त पुरुष बगुले के समान उस लहर का उपयोग केवल नहाने भर के लिए कर सके और मुक्तात्मा रूपी हंसों ने प्रभु प्रेम के मौक्तिकों को चुन चुन कर ग्रहण कर लिया।

हरि हीरा जन जौहरी ले ले मांडिय हाटि।
जबर मिलैगा पारिषू तब हीरां की साटि ॥३॥७४॥

जन=भक्त। जौहरी=पारखी जौहरी। जबर=जब भी।

प्रभु रूपी हीरे को भक्तरूपी जौहरी संसार के बाजार में सजाकर बैठा है जब इस प्रभु-भक्ति रूपी हीरे का पारखी मिलता तभी हमारा सौदा तय हो सकेगा।

---

५० उपजणि कौ अंग

नांव न जांणौं गाव का मारगि लागा जांउं।
काल्हि जु कांटा भाजिसी पहिली क्यूं न खड़ाउं ॥१॥

कबीर कहते हैं कि मुझे जिस स्थान पर पहुँचना है वह मुझे अज्ञात है फिर भी मैं मार्ग पर बढ़ा ही जा रहा हूं। अब मैं सोचता हूं कि इस मार्ग पर कल ही विषय-वासना का कांटा चुभा था फिर भी मैंने उससे बचाव के लिए खड़ाऊ नहीं पहनी अर्थात् संयम नहीं किया।

सीष भई संसार थैं, चले जु सांई पास।
अबिनासी मोहि ले चल्या पुरई मेरी आस ॥२॥

सीष=शिक्षा।

संसार की दुर्दशा देखकर हमें यह शिक्षा मिली कि एक मात्र प्रभु ही काम्य है अत मैं उनके पास को चल दिया प्रभु-भक्ति मार्ग पर अग्रसर हुआ। सद्गुरु मुझे उस पंथ पर ले कर बढ़ अथवा प्रभु ने आगे बढ़कर मेरा स्वागत किया और मेरी इच्छा पूर्ण की।

इंद्रलोक अचंभव भया ब्रह्मा पड़्या विचार।
कबीरा चाल्या रांम पं कौतिगहार अपार ॥३॥

जब कबीर राम से मिलने चला प्रभु-भक्ति मार्ग पर अग्रसर हुआ तो स्वर्ग में आश्चर्य छा गया एवं ब्रह्मा भी सोच में पड़ गये। इस आश्चर्य को देखने के लिए अपार जन समूह उमड़ पड़ा।

विशेष—आश्चर्य यह है कि मृत्यु के पश्चात् ही आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार करती है किन्तु कबीर जीवित ही अरण को प्राप्त हो जीवन्मुक्त हो प्रभु से मिलने जा रहा है—यही आश्चर्य है।

ऊंचा चढ़ि असमान कूं मेर ऊलंघे ऊड़ि।
पसू पंषेरू जीव जंत सब रहे मर मैं बूड़ि ॥४॥

असमान=आकाश शून्य ब्रह्मरन्ध्र। मर=मद। पंषेरू=पक्षी। जंत=जन्तु।

कबीर कहते हैं कि पशु-पक्षी जीव-जन्तु, सब मद में डूब रहे हैं। हे साधक! तू इस मद का परित्याग कर शून्य प्रदेश के लिए प्रस्थान कर।

सद पांणी पाताल का काढ़ि कबीरा पाव।
बासी पावस पड़ि मुए, बिषै बिलंबे जीव ॥५॥

स=पदचा।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! तू पातास—बहुत गहरे—में निकला सुन्दर ठाला जल पी । बासी पानी पीकर कितने ही विषयी जीव मरण को प्राप्त हो चुके हैं । भाव यह है कि तू महान अनुभव पर आधृत सिद्धांतों को ही सम्मुख रख स्वयं के अनुभव पर आधृत सिद्धांत मिथ्या नहीं हो सकते ।

कबीर सुपनैं हरि मिल्या सूतां लिया जगाइ ।
आंषि न मींचौं डरपता मति सुपनां ह्वै जाइ ॥६॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार की अज्ञान रात्रि के बीच स्वप्न में प्रभु ने मुझे दर्शन दिया और ज्ञान-दान देकर मुझे अज्ञान निद्रा से जगा लिया । अब मैं इसी कारण पुनः इस संसार में अज्ञान निद्रा में नहीं पड़ता कहीं मुझे यह प्रभु अनुकम्पा द्वारा प्राप्त स्वप्न-तुल्य दुर्लभ और अप्राप्य न हो जाय ।

गोब्यंद के गुण बहुत हैं लिखे जु हिरदै मांहि ।
डरता पांणीं नां पीऊं मति वे धोये जांहि ॥७॥

कबीर कहते हैं कि मेरे हृदय-पट पर प्रभु के अनन्त गुण अंकित हैं । मैं इस भय से माया रूपी जल का व्यवहार नहीं करता कि कहीं वे उससे धुल न जाय ।

कबीर अब तौ ऐसा भया निरमोलिक निज नाउं ।
पहली काच कथीर था फिरता ठांवैं ठांउ ॥ ॥

निरमोलिक = शुद्ध । काच = कच्चा । कथीर = पारा ।

कबीर कहते हैं कि अब प्रभु-भक्ति के द्वारा मेरा नाम शुद्ध (कंचन तुल्य) हो गया है अन्यथा पहले तो मैं कच्चा पारा ही था जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता रहता है । भाव यह है कि चंचलवृत्ति जीव भी प्रभु-भक्ति से पूर्व सांसारिक माया-आकर्षणों मे भटकता रहता था ।

भौ समद विष जल भरया मन नहीं बांधै धीर ।
सबल सनेही हरि मिले तब उतरे पारि कबीर ॥६॥

कबीर कहते हैं कि विषय-वासनाओं के विष जल से भरे संसार-समुद्र को देखकर मेरा मन विचलित हो रहा था । किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली स्वयं प्रभु जैसा प्रेमी मिल जाने पर कबीर पार उतर गया ।

भला सुहेला उतर्या पूरा मेरा भाग ।
रांम नांव नौका गह्या तब पांणी पंक न लाग ॥१ ॥

मेरा बड़ा भाग्य है कि मैं पूर्ण कुशलता से भवसागर पार उतर गया हूं प्रभु-नाम रूपी नौका का आश्रय लेने से संसार की माया का जल एवं विषय-वासनाओं की कीचड़ छू भी नहीं सकते । राम नाम नौका पूर्ण सुरक्षित है ।

कबीर केसौ की दया संसा घाल्या खोइ।
जे दिन गये भगति बिन ते दिन सालैं मोहि ।।११।।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-कृपा से मेरा सारा भ्रम दूर हो गया। अब मुझे उन दिनों के व्यर्थ जाने का पश्चाताप है जो बिना प्रभु भक्ति के नष्ट हो गये थे।

कबीर जाचण जाइया आगैं मिल्या अजंच।
ले चाल्या घर आपणैं, भारी पाया संच ।।१२।।७१२।।

जाचण=याचना के लिए। अजंच=जो याचना नहीं करता। संच=शान्ति।

कबीर कहते हैं कि मैं संसार में सुख-याचना के लिए निकला था किन्तु मार्ग में मुझे वह प्रभु मिल गये जो कभी किसी से याचना नहीं करते। वे मुझे अपने घर ले गये—प्रभु-भक्ति का प्रदेश ही उनका घर है—वहां मुझे अमित शान्ति प्राप्त हुई।

—×—

५१ दया निरबैरता कौ अंग

कबीर दरिया प्रजल्या दाझे जल थल झोल।
बस नांहि गोपाल सौं बिनसे रतन अमोल ।।१।।

प्रजल्या=प्रज्वलित हुआ। दाझे=दग्ध हो गये। झोल=पुष्प कलाप की डली।

कबीर कहते हैं कि संसार रूपी सरिता में विषय-वासनाओं की बड़वानल प्रज्वलित हो उठी जिससे जल-थल एवं कलाप सब कुछ नष्ट हो गया। इस वासना-अग्नि ने बड़े-बड़े अमूल्य रत्नों को विनष्ट कर दिया रक्षक प्रभु पर उसका कोई प्रभाव नहीं।

ऊनमि बिआई बादली बरसण लागे अंगार।
उठि कबीरा धाह दे दाझत है संसार ।।२।।

ऊनमि=ऊंची होकर। धाह दे=दहाड़ दे, रोकर आवाज दे।

माया-मेघ ऊंचा होकर वर्षा करने लगा। वर्षा में उसने अंगार बरसाए जिससे समस्त संसार भस्म हो गया। कबीर अब तू रोकर चिल्लाती आवाज में पुकार, कह कि संसार विनष्ट हो रहा है।

विशेष—आमतौर से बदली तब बरसती है जब वह नीची होती है किन्तु यह बदली ऊंची होकर बरस रही है। इसमें बरसते हुए अंगार विषय वासना के परिणाम हैं।

दाध बली ता सब दुखी सुखी न दीसै कोइ।
जहाँ कबीरा पग धरै तहाँ टुक धीरज होइ ॥१॥७५॥

दाध=अग्नि। बली=प्रज्वलित।

समस्त संसार विषय-वासना अग्नि में जल रहा है, कोई भी सुखी नहीं है। जहां-जहां कबीर पदार्पण करते हैं वहाँ कुछ शान्ति हो जाती है।

—•—

५२ सुंदरि कौ अंग

कबीर सुंदरि यौं कहै सुणि हो कंत सुजांण।
बेगि मिलौ तुम आइ करि नहीं तर तजौं पराण ॥१॥

साधक की आत्मा रूपी सुन्दरी यह कहती है कि हे चतुर स्वामी—मेरी विनय सुनिए। आप आकर या तो शीघ्र दर्शन दो अन्यथा मैं प्राण तज दूँगी संसार त्याग दूँगी।

कबीर जे को सुंदरी जाणि करै विभचार।
ताहि न कबहूँ आदरै, प्रेम पुरिष भरतार ॥२॥

कबीर कहते हैं कि जो भी आत्मा रूपी सुन्दरी विविध विषयों में लिप्त रह व्यभिचारमय आचरण करती है उसे उसका स्वामी—प्रभु—कभी भी सम्मान प्रदान नहीं करता।

जे सुंदरि साँई भजै तजै आन की आस।
ताहि न कबहू परहरै पलक न छाड़ै पास ॥३॥

जो आत्मा रूपी सुन्दरी प्रभु का ही भजन करती है अन्य किसी की आशा नहीं रखती उसे वे कभी भी नहीं छोड़ते एक पल के लिए भी उससे दूर नहीं हटते।

इस मन कौं मैदा करौं नान्हा करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुंदरी ब्रह्म झलक्कै सीस ॥४॥

हे साधक! इस मन को संयम के द्वारा पीस-पीस कर मैदा के समान चिकना निर्मल कर ले। तभी ब्रह्मरन्ध्र में निरंजन ज्योति के दर्शन होंगे और आत्मा प्रसन्न होगी।

दरिया पारि हिंडोलनां मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलषणी नित प्रति झूलण जाइ ॥५॥७९॥

शून्य स्थान के पार प्रभु का हिंडोलना है जिस पर उन्होंने स्वयं बिछौना बिछाया हुआ है। वही आत्मा रूपी नारी सुलक्षणी है जो नित्य प्रति दिन के

साथ उस पर झूलती है। अथवा सुसलभी नारी (कुण्डलिनी), जो साईं हुई है को जगाकर नित्य प्रेम के साथ झूलते जाना चाहिए।

— —

कस्तूरिया मृग को अंग

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढ़ै बन माँहि।
ऐसे घटि घटि रांम है, दुनियां देखै नाँहि ॥१॥

कैसी विडम्बना है कि मृग की नाभि में ही कस्तूरी का वास है किन्तु वह उसकी खोज में बन-बन भटकता है ऐसे ही प्रभु का प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास है किन्तु कोई उसे देख नहीं पाता।

कोइ एक देखै संत जन जांकै पांचूं हाथि।
जाकै पांचूं बस नहीं ता हरि सग न साथि ॥२॥

उस घट घट वासी प्रभु को वह विरला संत ही देख पाता है जिसका पाँचों इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो। जिसका इन पाँचों इन्द्रियों पर अधिकार नहीं वह प्रभु का साक्षात्कार नहीं कर पाता।

सो साईं तन में बसै, भ्रम्यौ न जांणै तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं फिर फिरि सूंघै घास ॥३॥

वह परब्रह्म परमेश्वर प्रत्येक के हृदय में स्थित है किन्तु भ्रमवश कोई उसे पहचान नहीं पाता। जिस प्रकार कस्तूरी के नाभि में रहते हुए भी मृग घास को सूंघ-सूंघ कर उसे खोजता है उसी भांति मनुष्य अन्य सांसारिक विषयों में उसे खोजने का व्यर्थ प्रयास करता है।

कबीर खोजी रांम का गया जु सिंघल दीप।
रांम तौ घट भीतरि रमि रह्या जौ आवै परतीत ॥४॥

कबीर कहते हैं कि साधक प्रभु को खोजने के लिए सिंहलद्वीप गया किन्तु यदि विश्वास सहित देखा जाय तो प्रभु तो हृदय के भीतर ही रमा हुआ है।

विशेष—नाथ-पंथ में सिंहलद्वीप को सिद्धपीठ माना गया है, नाथ-पंथी योगी इसकी यात्रा को बड़ा महत्व देते थे।

घटि बधि कहीं न देखिये ब्रह्म रह्या भरपूरि।
जिनि जांन्यां तिनि निकटि है दूरि कहैं ते दूरि ॥५॥

घटि-बधि=घट-बढ़कर, कम या अधिक।

वह सर्वत्र समान रूप से परिव्याप्त है वह कहीं कम या कहीं अधिक नहीं है। जो उसे जानते हैं उनके लिए वह निकट है जो उसे दूर समझते हैं उनके लिए वह दूर ही है।

मैं जांण्या हरि दूरि हैं हरि रह्या सकल भरपूरि।
आप पिछांणें बाहिरा नेड़ा ही थैं दूरि ॥९॥

मैं प्रभु को बहुत दूर समझता था किन्तु वह सर्वत्र परिव्याप्त है। और आप उसे दूर खोजने लगोगे तो वह पास होता हुआ भी दूर ही हो जायगा।

तिणकैं ओल्है रांम है परबत मेरे भाइ।
सतगुर मिलि परचा भया तब हरि पाया घट माँहि ॥१०॥

रामरूपी महान् तत्त्व अहं के पर्वत की ओट में छिपा हुआ है। सद्गुरु के मिलने पर अहं के विनष्ट हो जाने पर प्रभु से साक्षात्कार हुआ और मैंने उन्हें अपने हृदय में ही पा लिया।

रांम नांम तिहूँ लोक मैं सकल रह्या भरपूरि।
यहु चतुराई जाहु जलि खोजत डोलैं दूरि ॥११॥

कबीर कहते हैं कि ऐसी चतुरता बुद्धिबल विनष्ट हो जाए जिसके कारण प्रभु को दूर खोजा जाता है। वह तो तीनों लोक—आकाश पृथ्वी पाताल में समान रूप से परिव्याप्त है।

ज्यूं नैनूं मैं पूतली त्यूं खालिक घट माँहि।
मूरिख लोग न जांणहीं बाहरि हू डण जाँहि ॥१२॥७६१॥

जिस भाँति नेत्रों के मध्य पुत्तलिका का वास है किन्तु हम उसे बिना दर्पण (मुकुर) के नहीं देख सकते उसी भाँति प्रभु तो हृदय में ही स्थित है, मूर्ख लोग इस रहस्य को न जानकर अन्यत्र प्रभु की खोज में भटकते हैं।

—•—

५४ निंद्या कौ अंग

लोग बिचारा नींदई, जिनह न पाया ग्यांन।
रांम नांव राता रहै, तिनहूं न भावै आंन ॥१॥

जिन मनुष्यों को ज्ञान-प्राप्ति नहीं हुई वे ज्ञानियों की निन्दा करते हैं किन्तु जो राम-नाम में अनुरक्त रहते हैं उन्हें अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती।

दोख पराये देख करि, चल्या हसंत हसंत।
अपनें च्यंति न आवई जिनकी आदि न अंत। २॥

च्यंति=चित्त।

दूसरे के दोषों को देखकर मनुष्य उपहास करता है किन्तु अपने अवगुणों को जिनका कोई आदि और अन्त ही नहीं कभी चित्त में भी नहीं लाता।

निंदक नेड़ा राखिये आंगणि कुटी बंधाइ।
बिन साबण पाणीं बिना निरमल करै सुभाइ ॥३॥

जो आपका निंदक हो उसे अपने पास ही सुविधापूर्वक रखना चाहिए क्योंकि वह बिना पानी और साबुन के स्वभाव को शुद्ध कर देता है।

न्यदक दूरि न कीजिये दीजै आदर मांन।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आंनहि आंन ॥४॥

निंदक को दूर मत कीजिए, उसे सम्मानपूर्वक पास ही रखना उचित है। क्योंकि वह हमारे दोषों का कथन कर उन्हें सुधारने का अवसर दे तन-मन को शुद्ध कर देता है।

जे को नींदै साध कूं संकटि आवै सोइ।
नरक मांहि जांमैं मरै, मुकति न कबहूं होइ ॥५॥

नींदै=निंदा करता है।

जो साधु की निंदा करता है उस पर स्वयं संकट टूटता है। वह नरकतुल्य इस संसार से मुक्त नहीं होता जन्म और मृत्यु के आवागमन चक्र में पड़ा रहता है।

कबीर घास न नींदिये जो पाऊं तलि होइ।
उड़ि पड़ै जब आंखि मैं खरा दुहेला होइ ॥६॥

कबीर कहते हैं कि तुच्छ वस्तु को भी हीन समझ कर उपेक्षा मत करो। पैरों से प्रतिपल रौंदी जाने वाली घास की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि जब उसी घास का थोड़ा तृण उड़कर आंख में पड़ जाता है तो वेदना उत्पन्न कर देता है।

आपन यों न सराहिए और न कहिये रंक।
नां जांणौं किस बिष तलि कूड़ा होइ करंक ॥७॥

कबीर कहते हैं कि दूसरे को रंक कहते हुए अपनी प्रशंसा मत करो क्योंकि यह पता नहीं कि यह अस्थिचर्ममय शरीर किस स्थान पर कहीं हो जाय निष्प्राण हो जाय।

कबीर आप ठगाइये और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै और ठग्यां दुख होइ ॥८॥

कबीर कहते हैं कि स्वयं को ही धोखे में रखो, दूसरे को धोखे में मत रखो। अपने को धोखे में डालने से सुख की प्राप्ति होती है और दूसरों को ठगने से दुख की।

अब की जे साईं मिलै तौ सब दुख आखौं रोइ।
चरनूं ऊपरि सीस धरि कहूँ ज कहणां होइ ॥१॥

यदि अब की बार मुझे प्रभु मिल जायें तो अपनी सब व्यथा-कथा रो-रो कर उनसे कह दूं। उनके चरणों में शीश रखकर मन की भी कहने के लिए है सब कह डालूं।

—•—

५५. निगुणा कौ अंग

हरिया जांणै रूंखड़ा उस पांणी का नेह।
सूका काठ न जांणई कबहूँ बूठा मेह ॥१॥

प्रभु-भक्ति से परिप्लावित भक्त रूपी हरित वृक्षों को ही प्रभु के कृपा-वारि का ज्ञान होता है। प्रभु-भक्ति से हीन शुष्क ठूंठ जैसे अन्य व्यक्तियों को क्या ज्ञात कि यह प्रभु-कृपा-वारि की वर्षा कब हुई।

झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया पांहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भई पांहण बोही तेह ॥२॥

सैंजल=सजल।

पत्थरों के ऊपर प्रभु-स्नेह वारि की वर्षा हुई, उसके साथ चिपकी हरि भक्त रूपी मिट्टी की आत्मा तो सजल—प्रभु-अनुकम्पा युक्त—हो गई किन्तु वह पत्थर ज्यूं का त्यूं ही रहा।

पार ब्रह्म बूठा मोतियां घड़ बांधी सिषरांह।
सगुरां सगुरां चुणि लिया चूक पड़ी निगुरांह ॥३॥

परम प्रभु ने अपनी कृपा के मोतियों की वर्षा की साधकों में उनके बीनने के लिए होड़ लग गई। जो सद्गुरु के शिष्य थे उन्होंने तो मौक्तिक चुन लिये और जो सद्गुरुहीन थे उनके हाथ कुछ न लगा।

कबीर हरि रस बरषिया गिर डूंगर सिषरांह।
नीर निवांणां ठाहरै, नां ऊंचा परड़ांह ॥४॥

डूंगर=टीला। सिषरांह=चोटियों पर। निवांणा=नीचे में। ऊंचा=ऊंचे पर।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-अनुकम्पा वारि की वर्षा पर्वत टीलों और ऊंची ऊंची चोटियों (गर्व से परिपूर्ण शुष्क कठोर और दम्भ युक्त मनुष्यों) पर हुई, किन्तु वहां वह प्रभु-भक्ति का जल नहीं ठहरा। जल तो ऊंचे पर नहीं निम्न

स्थान में रखना है। भाव यह है कि प्रभु की भक्ति और कृपा के अधिकारी विनम्र-हृदय भक्त ही हैं।

कबीर मूड करमियां नष सिष पाषर ज्यांह।
बाहणहारा क्या करै बाण न लागै त्यांह ॥५॥

कबीर कहते हैं कि जिन्होंने मूर्खतापूर्ण कर्मों के आवरण से अपने मर्म स्थल को ढक रखा है उन पर सद्गुरु के उपदेश बाण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसमें सद्गुरु का कोई दोष नहीं

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझ्या मन।
कहि कबीर चेत्या नहीं अजहूँ सुपहला दिन ॥६॥

कबीर कहते हैं कि कथा-कथा कहते-कहते समस्त आयु व्यतीत हो गई फिर भी मन जो एक बार संसार भ्रम में पड़ा था पड़ा ही रहा सुलझ नहीं पाया। ज्ञान प्रकाश हो जाने पर भी हे जीव! तू सावधान नहीं होता अज्ञानग्रस्त पड़ा है।

कहै कबीर कठोर कै सबद न लागै सार।
सुध बुध कै हिरदै भिदै उपजि बिबेक बिचार ॥७॥

कबीर कहते हैं कि कठोर-हृदय मनुष्यों पर उपदेश-बाण की चोट नहीं लगती। ज्ञान शब्द व्यक्तियों के मर्म को भेद कर ही उपदेश-बाण विवेक और विचार की उत्पत्ति करते हैं।

मा सीतलता कै कारणैं नाग बिलबे आइ।
रोम रोम बिष भरि रह्या अमृत कहां समाइ ॥८॥

जिस भांति बटोही मार्ग में विश्राम के लिए ठहर जाता है उसी भांति आत्मा कहती है कि अनन्त यात्रा से थककर शीतलता की आशा में मैं भी संसार में एक पर्ण किन्तु परिणाम उल्टा निकला। इस विषाक्त स्थली संसार के कण-कण में विषय-वासना का विष भरा हुआ है अतः इसमें अमृतरूपी निर्मल आत्मा के लिए स्थान कहां?

सरपहि दूध पिलाइये दूधैं विष ह्वै जाइ।
ऐसा कोई नां मिलै स्यूं सरपै विष खाइ ॥९॥

सर्प को दूध पिलाने से दूध उसके मुख में जाकर विष ही बन जाता है। इस बात ऐसा साधक नहीं मिला जो विषयुक्त इस माया की सर्पिणी को ला कर नष्ट कर देता।

आमीं ह्है बटपणों सम्म पेड़ि सजूरि।
पंषी छांह न बीसवै फल लागैं ते दूरि ॥१ ॥

बड़पणां=बड़प्पन।

कबीर कहते हैं कि खजूर के सीधे और ऊँचेपन का क्या लाभ? पंथी को तो दूर तक छाया तक नहीं मिलती और फल इतने ऊँचे पर लगता है कि उसका लाभ सब नहीं उठा सकते।

ऊँचा कुल के कारणैं बंस बध्या अधिकार।
चंदन बास भेदै नहीं जाल्या सब परिवार॥११॥

ऊँची जाति का होने के कारण बांस में अहम्मन्यता आ गई और उससे छोटे चन्दन के सद्गुण—सुन्दर, शीतल सुगन्ध—को वह नहीं अपना सका इसीलिए वह अपने परिवार—समूह सहित—नष्ट हो गया।

कबीर चंदन के भिड़ै नींब भि चंदन होइ।
बूड़ा बंस बड़ाइतां यौं जिनि बूड़ै कोइ॥१२॥७९॥

कबीर कहते हैं कि दूसरे के सद्गुण ग्रहण करने से बुरा व्यक्ति भी उत्तम हो सकता है, देखो चन्दन के पास रहने से नीम भी उसकी सुगन्ध ग्रहण कर चन्दन जैसा ही बन जाता है किन्तु दूसरे के सद्गुण ग्रहण न करने पर जिस प्रकार बांस का परिवार सहित विनाश हुआ ऐसी स्थिति किसी की न आवे। भाव यह है कि सभी दूसरों के सद्गुण अपनाने की चेष्टा करें।

— —

५६ बिनती कौ अंग

कबीर सांईं तौ मिलहिंगे पूछहिंगे कुसलात।
आदि अंति की कहूँगा उस अंतर की बात॥१॥

कबीर कहते हैं कि स्वामी मिलेंगे तो अवश्य ही इस मिलन-बेला में कुशलता पूछे जाने पर मैं अपने हृदय की व्यथा-कथा आदि से अंत तक कहूँगा।

कबीर भूलि बिगाड़िया तू नां करि मैला चित।
साहिब गरवा लोड़िये नफर बिगाड़ै नित॥२॥

कबीर कहते हैं कि तूने प्रभु को विस्मृत कर अपनी स्थिति को बिगाड़ लिया किन्तु फिर भी चित्त मलिन मत होने दे। प्रभु भक्ति से अब भी तेरा उद्धार हो सकता है यदि तू गर्व का परित्याग कर दे। यह दम्भ नित्य प्रति हमारी स्थिति को बिगाड़ता है।

करता केरे बहुत गुण औगुण कोई नांहि।
जो दिल खोजौं आपणो तौ सब औगुण मुझ मांहि॥३॥

स्वामी में तो अनन्त गुण ही हैं अवगुण तो उसमें कोई भी नहीं है। हे मनुष्य! यदि तू आत्मदर्शन करे तो तू ही समस्त अवगुणों का केन्द्र है।

औसर बीता अलपतन पीव रह्या परदेस।
कलंक उतारौ केसवा भांनौं भरम अंदेस ॥४॥

अलपतन=अज्ञान में। भांनौं=नष्ट कर।

मेरी समस्त आयु अज्ञान में ही व्यतीत हो गई और प्रिय मुझसे दूर रहा। अब मैं अपने हृदय से भ्रम और शंका को समाप्त कर अज्ञानी होने के कलंक को मिटा प्रभु-पास होना चाहता हूं।

कबीर करत है बीनती भौसागर के तांई।
बंदे ऊपरि जोर होत है जम कूं बरजि गुसांई ॥५॥

तांई=लिए हित। बंदे=दास। जोर=अत्याचार। बरजि=वर्जित कर।

संसार के सागर तुल्य अपार जनसमूह के लिए कबीर प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! मनुष्यों पर काल अत्याचार कर रहा है आप इसे रोक दीजिए।

हज काबै ह्वै ह्वै गया केती बार कबीर।
मीरां मुझ में क्या खता मुखां न बोलै पीर ॥६॥

कबीर न जाने कितनी बार काबा और हज कर आया किन्तु मुझे पता नहीं कि गुरुवर मुझमे क्या दोष है बोलते तक नहीं। भाव यह है कि व्यर्थाडम्बरों में लिप्त रहने पर गुरु भी शिष्य को नहीं अपनाता।

ज्यूं मन मेरा तुझ सौं यौं जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौं मिलै संधि न लखई कोइ ॥७॥१०६७॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मेरा आपसे अपार प्रेम है, मेरी इच्छा है कि हम दोनों इस प्रेम में एकमेक हो जायें जिससे कोई दोनों के अन्तर को उसी प्रकार न जान सके जिस प्रकार गरम करके लोहे से लोहा मिला देने पर दोनों की सन्धियों का पता नहीं चलता।

५७ साषीभूत कौ अंग

कबीर पूछै राम कूं सकल भवनपति राइ।
सबही करि अलगा रहौ सो बिधि हमहिं बताइ ॥१॥

कबीर समस्त भवन-पति (१४ भुवन) प्रभु से पूछता है कि हे प्रभु!

आप सब भुवनों की व्यवस्था कर उनमें रमे हुए भी उनके प्रभाव से जिस प्रकार असम्पृक्त रहते हो वह ढंग मुझे भी बता दो।

जिहि बरियां सांइ मिलै तास न जांणै और।
सबकू सुख दे सबद करि अपणीं अपणीं ठौर ॥२॥

जिस क्षण तुझे प्रभु प्राप्ति हो जाय उस समय के समान महत्वमय अन्य समय को मत समझ। सबको यथास्थान अपने उपदेश से सुख पहुँचा।

कबीर मन का बाहुला ऊंडा बहै असोस।
देखत हीं दह मैं पड़ै दई किसा कौं दोस ॥३॥८ ॥

बाहुला=नाला बड़ा।

कबीर कहते हैं कि यह मन रूपी नाला बड़ा गंदला और गहरा है। यह जानते हुए भी यदि कोई इसमें गिर पड़े तो फिर किसे दोष दिया जा सकता है।

— —

५८ बेली कौ अंग

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी नां तूं बड़ी न बेलि।
जालण आंणीं लाकड़ी ऊठी कूंपल मेल्हि ॥१॥

कबीर कहते हैं कि जलाने के लिए जो लकड़ी लाइ गई थी वह पुनः पल्लवित होने लगी अर्थात् मन जिसे संयम से मारा था पुनः विषयों में प्रवृत्त होने लगा। इस अवस्था में इस संसार सागर के पार जाने के लिए न बेल है न तू बा—कोई सम्बल नहीं।

विशेष—तैरने के लिए तूबे आदि का सहारा लिया जाता है।

आगैं आगैं दौं जलै पीछैं हरिया होइ।
बलिहारी ता बिरष की जड़ काट्यां फल होइ ॥२॥

दौं=दावाग्नि। हरिया=हरित पल्लवित।

माया रूपी बेल को आगे-आगे से यदि जलाया जाय तो यह पीछे ही पीछे तत्काल पल्लवित होती जाती है। कबीर कहते हैं कि मैं उस वृक्ष की बलिहारी जाता हूं जिसकी जड़ काटने से माया को समूल नष्ट करने से फल ईश्वर प्राप्ति होती है।

जे काटौ तौ डहडही सींचौं तौ कुमिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का कुछ गुण कह्या न जाइ ॥३॥

कबीर कहते हैं कि इस त्रिगुण—प्रकृति माया-बेलि की दशा का क्या वर्णन किया जाय? यदि इसे इन्द्रियों के कुल्हाड़े से काटा जाय भोग किया

जाय तो वह और अधिक बढ़ती है और यदि इसे प्रभु-भक्ति के जल से सिंचित किया जाय तो कुम्हला जाती है।

आंगणि बेलि अकासि फल, अण ब्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी रमैं बांझ का पूत ॥३॥

यह माया रूपी बेल संसार के आंगन में फैली हुई है और इसे काट देने पर शून्य प्रदेश में निमल फल—परम-प्रभु की प्राप्ति होती है। सामान्यजनों को यह बात ऐसी ही विचित्र लगती होगी जैसे अनब्याही गाय का दूध अथवा खरगोश के सींग की धूनी की बात कहना अथवा यह कहना कि बन्ध्या का पुत्र क्रीड़ा कर रहा है।

कबीर कड़ई बेलड़ी कड़वा ही फल होइ।
सांध नांव तब पाइये जे बेलि बिछोहा होइ ॥४॥

कबीर कहते हैं कि इस माया रूपी कड़वी बेल का फल भी ऐसा ही कड़वा होता है। वही प्रभु की खोज कर सकता है जो इस बेल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर दे।

सींध भइ तब का भया चहूँ दिसि फूटी बास।
अजहूँ बीज अंकूर है, भी ऊगण की आस ॥५॥८६॥

सींध=सिद्ध साधक। बास=प्रसिद्धि। ऊगण=उगने।

यदि कोई माया से सम्बन्ध विच्छेद कर साधक बन गया और उसकी प्रसिद्धि हो गई तो क्या हुआ इसका विशेष महत्व नहीं। आज भी इस माया बेलि का बीज शेष है, वह कभी भी पुनः अंकुरित हो सकता है, अतः हे साधक! सावधान रह।

—•—

५६ अबिहड़ कौ अंग

कबीर साथी सो किया जाकै सुख दुख नहीं कोइ।
हिलि मिलि ह्वै करि खेलिस्यूं, कदे बिछोह न होइ ॥१॥

कबीर ने उस परब्रह्म को अपना साथी बनाया है जिसे कभी भी सुख-दुख नहीं व्यापता। मैं उससे बड़े प्रेमभाव से क्रीड़ा करता हूँ उस प्रभु से मेरा कभी भी वियोग नहीं हो सकता।

कबीर सिरजनहार बिन मेरा हितू न कोइ।
गुण औगुण बिहड़ै नहीं स्वारथ बंधी लोइ॥ ॥

कबीर कहते हैं कि सृष्टा प्रभु के अतिरिक्त मेरा हितैषी अन्य कोई नहीं

है। अन्य सांसारिक प्रियजन स्वार्थ के कारण मेरा ध्यान रखते हैं किन्तु वह परम प्रभु मुझे गुणयुक्त अथवा गुणहीन किसी भी दशा में नहीं छोड़ेगा। अतः वही मेरा सच्चा हितैषी है।

आदि मधि अरु अंत लौं अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की सेवग तजै न संग ॥१॥८ ६॥

कबीर कहते हैं कि आदि, मध्य एवं अन्त किसी भी अवस्था में जिसका साथ नहीं छूटता मैं उस प्रभु की सेवा और संसर्ग को कभी भी नहीं छोड़ूंगा।

पदावली भाग

राग गौड़ी

दुलहनीं गावहु मंगलचार
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार ॥टेक॥
तन रत करि मैं मन रत करि पंचतत बराती।
रामदेव मोरे पांहुनें आये मैं जोबन मैं माती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूं ब्रह्मा बेद उचार।
रामदेव संगि भांवरि लैहूं धनि धनि भाग हमार॥
सुर तेतीसू कौतिग आये मुनियर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं पुरिष एक अबिनासी॥१॥

दुलहनी—सौभाग्यवती नारियो। मंगलचार—संस्कार के मंगलमय गीत। भरतार—पति। रत=अनुरक्त। पंचतत=क्षिति जल पावक गगन समीर। पांहुनें—अतिथि। भांवरि—विवाह-परिक्रमाएं। धनि-धनि=धन्य-धन्य। कौतिग—कौतिक करोड़। मुनियर—मुनिवर।

कबीर यहां परमपुरुष से अपने आध्यात्मिक मिलन का वर्णन विवाह के रूपक द्वारा करते कहते हैं कि हे सौभाग्यवती नारियो! तुम विवाह के मंगल गीत गाओ। आज मेरे घर पर स्वामी राम—परमप्रभु आये हैं। मेरी आत्मा प्रभु भक्ति में परिपक्व (जोबन में माती) है। स्वयं प्रभु मेरे द्वार पर अतिथि बनकर आये हैं। मैं उनका स्वागत पति रूप में ही वरण कर करूंगी। मैं अपने शरीर और मन को उनके प्रेम में रंग पृथ्वी जल वायु अग्नि एवं आकाश को बराती बनाकर अर्थात् उनको साक्षी बना शरीर रूपी कुंड की वेदी पर प्रभु के साथ विवाह सम्बन्ध में बंध जाऊंगी। इस विवाह के संस्कार पर स्वयं ब्रह्मा वेद-मंत्रों का उच्चारण करेंगे। अब आगे कबीर ऐसा वर्णन करते हैं कि विवाह हो चुका है, वे कहते हैं कि इस प्रेम में प्रेमिका (आत्मा) के इस महामिलन को देखने के लिए तेंतीस करोड़ देवता एवं अट्ठासी सहस्र मुनिवर आये थे। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार हम अविनाशी परम पुरुष से विवाह-सूत्र (अटूट प्रेम सम्बन्ध) जोड़ कर इस संसार में आ रहे हैं।

विशेष—कबीर यहां अपनी विचारधारा के प्रतिकूल तेंतीस करोड़ देवता एवं अट्ठासी सहस्र ऋषियों तथा ब्रह्मा आदि का उल्लेख करते हैं किन्तु इसका तात्पर्य

यह नहीं कि कबीर बहुदेववाद अथवा अन्धविश्वास से अन्य देवी-देवताओं को मानते थे। इन सबका उल्लेख केवल यहाँ उस परम-मिलन की अद्भुतता दिखाने के लिए ही किया है। इससे अन्यथा अर्थ निकालना कबीर के साथ अन्याय होगा।

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये
भाग बड़े घरि बैठें आये ।।टेक।।
मंगलचार माँहि मन राखौं राम रसांइण रसनां चाषौं ।।
मंदिर माँहि भया उजियारा ले सूती अपनां पीव पियारा ।।
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई ।।
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हां ।।२।।

थें=में (बहुत दिनों में)। रसांइण=रसायन। मंदिर=हृदय मन्दिर। सूती=सखी।

कबीर उसी महामिलन का वर्णन करते कहते हैं कि मैंने बहुत दिनों में अपने स्वामी के दर्शन किये हैं (जब से आत्मा परमात्मा से बिछुड़ी है, तभी से उसे परम तत्व के दर्शन नहीं हुए)। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने इस संसार में ही उनको प्राप्त कर लिया। हे सखियो! (दूसरी आत्माओ) तुम अपना मन प्रभु अर्चना में लाये मंगल गीतों में ही लगाओ एवं जिह्वा से राम नाम के अमूल्य रसायन का रसास्वादन करो। प्रभु आगमन से मेरे हृदय मन्दिर में प्रकाश हो उठा। (ज्ञान-वर्तिका प्रदीप्त हो उठी)। हे सती आत्मा! तू अपने प्रियतम से भेंट कर। मैंने यह अमूल्य और दुर्लभ निधि जो प्राप्त की यह प्रभु की ही अनुकम्पा है, क्योंकि—

'सोई जानहि जेहि तुमहि जनाई, जानत तुम्ह तुम्हइ होइ जाइ।'

कबीर कहते हैं कि हे सखी! मैंने कुछ भी विशेष महत्व का कार्य नहीं किया किन्तु यह प्रभु की कृपा है कि उन्होंने मेरी आत्मा को अपनाया।

अब तोहि जांन न देहूं रांम पियारे,
ज्यूं भावै त्यूं होह हमारे ।।टेक।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये भाग बड़े घरि बैठें आये ।।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।।
इत मन मंदिर रहौ नित चोषैं कहै कबीर परहु मति धोखै ।।३।।

चोषैं=भली प्रकार।

कबीर आत्मा के द्वारा कहलवाते हैं कि हे प्रियतम राम! अब मैं तुम्हें अलग न होने दूंगी। जिस प्रकार भी आप मेरे पास रह सकते हैं वैसे ही रहिये! मैंने बहुत दिनों के बिछुड़े स्वामी को प्राप्त किया है और वे घर बैठे ही प्राप्त हो गये हैं

यह मेरा परम सौभाग्य है। मैं उन्हें प्रेम-बन्धन में बांध उनके चरणों में रहकर सेवा करूंगी। हे स्वामी! आप मेरे मन मन्दिर में नित्य भली प्रकार (सम्पूर्ण सुविधाओं सहित) रहो। आप अन्यत्र जाकर धोखे में मत पड़िये अर्थात् मेरे जैसा सच्चा प्रेम अन्यत्र दुर्लभ होगा।

विशेष—आचार्यप्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' के श्रद्धा भक्ति' निबन्ध में प्रेम और भक्ति का अंतर स्पष्ट करते हुए बताया है कि प्रेम में प्रेमी यह चाहता है कि जिस प्रिय से उसकी प्रीति है उससे अन्य कोई प्रेम न करे, दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में भक्त यह चाहता है कि जिस आराध्य को मैं पूज्य मानता हूं उसे सब पूज्य मानें। इस दृष्टि से देखने पर यहां कबीर की भावना भक्ति क्षेत्र की नहीं अपितु प्रेमी की ही भावना है, ईश्वर से यही प्रेम सम्बन्ध तो उन्हें रहस्यवादी कवि की कोटि में रखता है।

मन के मोहन बीठुला यहु मन लागो तोहि रे।
चरन कंवल मन मानियां और न भावै मोहि रे ॥टेक॥
षट दल कंवल निवासिया चहु कौं फेरि मिलाइ रे।
दहुं के बीचि समाधियां तहां काल न पासैं आइ रे ॥
अष्ट कंवल दल भीतरा तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुर मिलै तौ पाइये नहीं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे ॥
कदली कुसुम दल भीतरा तहां दस आंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले जनम होत नहीं मींच रे ॥
बंक नालि के अंतर, पछिम दिसा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिये तहां भंवर गुफा के घाट र।
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जो हाथि रे।
तहां न फिरि मघ जोइये सनकादिक मिलिहैं साथि रे ॥
गगन गरजि मघ जोइये तहां दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन बरषिहैं तहां भीजत हैं सब संत रे ॥
षोडस कंवल जब चेतिया तब मिलि गए श्री बनवारि र।
जुरामरण भ्रम भाजिया पुनरपि जनम निवारि र।
गुर गमि तैं पाइये झंषि मरै जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या सहज समाधी लाइ रे ॥५॥

कबीर कहते हैं हे मन के स्वामी! मेरा मन केवल आप में ही अनुरक्त है। आपके चरण-कमलों में ही मेरा मन लगता है, मुझे अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। स्वा-धिष्ठान चक्र में मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को पहुंचाने से या समाधि लगाती

जायेगी उससे मृत्यु भय तिरोहित हो जायगा। अष्ट कमल—सुरति कमल—के मध्य ईश्वर का निवास है। यदि सद्गुरु प्राप्ति हो जाय तो वहाँ तक पहुँचा जा सकता है अन्यथा यह जन्म व्यर्थ ही चला जाता है। कदली तुम्ब रीढ़ की हड्डी के मध्य जो नाड़ी जाल है मूलाधार चक्र से हृदय-चक्र तक पहुँचने में दस अंगुल की दूरी है। यहाँ द्वादश दल वाला कमल है जिसकी प्राप्ति से मृत्यु नहीं होती। सुषुम्ना यदि ऊपर सहस्रार में जाकर बाईं ओर को विस्फोट करे तो वहाँ उस शून्य गुफा से अमृत-स्रवण होता है। यदि साधक को इस स्थान की प्राप्ति हो जाय तो वह त्रिवेणी-स्नान का पुण्य लाभ यहीं करता है। वहाँ जाकर पुनः संसार की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं वहाँ तुम्हारा मिलन अन्य मुक्तात्माओं से भी हो जायगा। अनहद नाद के द्वारा मेघ-गर्जन का सुख लाभ होता है और परब्रह्म के दर्शन होते हैं। यहाँ अनंत ज्योतिष्मान् परमेश्वर की कान्ति का विद्युत् प्रकाश है एवं अमृत-स्रवण से समस्त मुक्तात्माएं स्नात हैं। षोडश-दल कमल—विशुद्ध चक्र—प्राप्ति पर साधक प्रभु से तदाकार हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त कर जरा-मरण का भय भाग जाता है और पुनः आवागमन में नहीं पड़ना पड़ता। यह परमपद गुरु कृपा के द्वारा ही पाया जा सकता है वैसे चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे उसकी प्राप्ति नहीं कर सकता। कबीर तो अब उसी परमपद का लाभ सहज समाधि द्वारा कर रहा है।

विशेष—१ नाथपंथी साधनानुरूप योग का वर्णन है। २ किन्तु चक्र वर्णों का वर्णन नाथ सम्प्रदाय से भिन्न स्थानों में प्राप्त होता है। ३ प्रभु के वैष्णव नाम प्रयोग से कबीर पर वैष्णव प्रभाव देखा जा सकता है।

गोकल नाइक बीठुला मेरौ मन लागौ तोहि रे।
बहुतक दिन बिछुरैं भये तेरी औसेरि आवै मोहि रे॥टेक॥
करम कोटि को ग्रेह रच्यौ रे नेह कये की आस रे।
आपहि आप बँधाइया द्वै लोचन मरहिं पियास रे॥
आपा पर संमि चीन्हिये दीसै सरब समांन रे।
इहिं पद नरहरि भेटिये तू छाड़ि कपट अभिमांन रे॥
नां कहुँ चलि जाइये नां सिर लीजै भार।
रसनां रसहि बिचारिये सारंग श्रीरंग धार रे॥
साधै सिधि ऐसी पाइये किंवा होइ महोइ।
जे दिठ ग्यांन न ऊपजै तौ अहटि रहै जिनि कोइ रे॥
एक जुगति एकै मिलै किंवा जोग कि भोग।
इन दून्यूं फल पाइये रांम नांम सिधि जोग रे॥

प्रेम भगति ऐसी कीजिये मुखि अमृत बरिषै चंद।
आपही आप बिचारिये तब केता होइ अनंद रे ॥
तुम्ह जिनि जानौं गीत है यहु निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया आतम साधन सार रे।
चरन कंवल चित लाइये राम नाम गुन गाइ ॥
कहै कबीर संसा नहीं भगति मुकति गति पाइ रे ॥५॥

नाइक=नायक। बीठुला=विट्ठल हिन्दुओं के आराध्य।

कबीर कहते हैं कि हे लोकनायक विट्ठल प्रभु ! मेरी आपसे प्रीति हो गई है। आप मेरे से बहुत समय से बिछड़ गये हो (आत्मा-परमात्मा में बहुत समय पूर्व अलग हो चुकी) आपकी स्मृति मुझे व्यथित करती है। आपके दर्शनों की आशा में मेरे दोनों नेत्र प्यासे मरते हैं मैं स्वयं ही इस जगत् के बन्धन में बंध गया हूं जिसके फलस्वरूप स्नेहहीन व्यक्तियों से मैंने प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास कर विविध कर्मों का तन्तु ताना। आगे कबीर कहते हैं कि वह सर्वत्र व्यापी प्रभु सबको समान रूप से दृष्टिगत होता है तथा जिस रूप में वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है उसी भांति स्वयं में भी अतः अपने भीतर ही प्रभु का खोजने की चेष्टा करनी चाहिए, अन्यत्र नहीं। अतः हे मनुष्य ! तू कपट एवं मिथ्याभिमान का परित्याग कर अपना पूर्ण समर्पण प्रभु चरणों में कर दे। उस प्रभु की खोज में न तो इधर-उधर भटकने की आवश्यकता है और न शीश पर शास्त्र ग्रन्थों का बोझ ढोने का। केवल चित्त से प्रेम सहित उस परम प्रभु का ध्यान करते रहो ! साधना से ही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है अथवा उस प्रभु से प्रेम द्वारा पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ही उनका साक्षात्कार आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। यदि मनुष्य की दृष्टि ज्ञानपूर्ण नहीं है तो वह संसार में ही भटकती रहती है। अनन्य साधना से ही उस परमतत्त्व एक अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है अथवा एक समय में एक ही की साधना की जा सकती है भाग की अथवा याग की अर्थात् याग और भोग का असम्पृक्त होना वांछनीय है। राम-नाम जपने से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है कि याग और भोग दोनों का आनन्द ही प्रभु भक्ति में आने लगे। मनुष्य को ऐसी अपूर्व प्रेमपूर्ण भक्ति साधना करनी चाहिए कि उसके मुख से चन्द्रमा से अमृत सवित होने लगे और इस अवस्था में पहुंचकर मनुष्य अपनी चंचल वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर दे तो उसे अपरिमित आनन्द प्राप्त हो। भाव यह है कि यदि मनुष्य कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा दे और वहां से स्रवित अमृत का पान करे तो वह अमर हो जाए मुक्त हो जाय।

कबीर कहते हैं कि हे सांसारिको ! तुम यह समझते होगे कि यह कबीर ने यों ही मनोरंजनार्थ गीत गाया है बल्कि यह तो मेरा स्वयं का ब्रह्म सम्बन्धी दृष्टि

कोष है। मैंने तो केवल आत्म साधना की विधि का कथन मात्र किया है। यदि आप राम नाम स्मरण कर उनके चरणों में प्रेमपूर्वक अपने चित्त का विनियोग कर देंगे तो निस्संदेह ही भक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्त हो जायगी।

विशेष—यद्यपि इस पद में कबीर ने कुछ स्थलों पर योग-साधना की विविध प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है किन्तु वे विशेष महत्त्व 'प्रेम-भक्ति' को ही दे रहे हैं—यह इस पद के उत्तरार्द्ध से भली भाँति स्पष्ट है।

अब मैं पाइबौ रे पाइबो ब्रह्म गियान
सहज समाधे सुख में रहिबौ कोटि कलप बिश्राम ।टेक॥
गुर कृपाल कृपा जब कीन्हीं हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या परम जोति प्रकासा॥
मृतक उठ्या धनक कर लीये काल अहेड़ी भागा।
उदया सूर निस किया पयाना सोवत थैं जब जागा॥
अविगत अकल अनूपम देख्या कहता कह्या न जाई।
सैन करै मनही मन रहसै गूंगै जांनि मिठाई॥
पहुप बिना एक तरवर फलिया बिन कर तूर बजाया।
नारी बिना नीर घट भरिया सहज रूप सो पाया॥
देखत कांच भया तन कंचन बिन बानी मन मांनां।
उडया बिहंगम खोज न पाया ज्यूं जल जलहि समांनां॥
पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं न्हाये उदिक न नांउं।
भागा भ्रम ये कही कहता आये बहुरि न आऊं॥
आपै मैं तब आपा निरख्या अपन पैं आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपनां अपन पै आपा बूझ्या॥
अपनैं परचै लागी तारी अपन पै आप समांनां।
कहै कबीर जे आप बिचारै मिटि गया आवन जांनां॥९॥

कबीर ब्रह्म-दर्शन के पश्चात् अपनी मिलनानुभूति का वर्णन करते कहते हैं कि अब मुझे ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति हो गई है। उस सहज समाधि में ऐसा अपरिमित सुख है कि करोड़ों कल्पों तक उसी स्थिति में रमा जाय।

कृपालु सद्गुरु ने जब कृपा द्वारा ज्ञान पथ प्रशस्त किया तो हृदय में पूर्ण कमल का विकास हुआ जिससे मेरा संसार-विषयक भ्रम विदूरित हो गया और अनन्त ज्योति प्रकाशित हो उठी। मेरा समाप्त आत्मज्ञान पुनरुज्जीवित हो प्रभु-मिलनके लिए प्रयत्नरत हो गया जिससे काल रूपी बधिक जो संसार का वध करता है डर कर भाग गया। जब मैं इस प्रकार चेतनावस्था में आ गया तो ज्ञान-सूर्य का उदय हो गया एवं

सुमति सरीर कबीर बिचारी त्रिकुटी संगम स्वामी ।
पद आनंद काल थैं छूटै सुख में सुरति समानी ॥७॥

सहज साधना द्वारा ही प्रभु को पाया जा सकता है। इस साधना से सांसारिक विषय-वासना के बीज और अंकुर समाप्त हो जाते हैं एवं इस संसार वृक्ष का वास्तविक फल प्रभु की प्राप्ति होती है।

गुरु ने अपने सदुपदेश से ज्ञान का प्रकाश कर दिया एवं प्रभु की भक्ति पर साधक को लगा दिया। इस ज्ञान सूर्य के प्रकाश से हृदय प्रदेश का कोना कोना भासमान हो उठा एवं योग-साधना में साधक प्रवृत्त हुआ जिससे कुण्डलिनी को जाग्रत् कर उसने छहों चक्रों का भेदन किया और ऊर्ध्वगामी हो उसने शून्यस्थित ब्रह्मरन्ध्र का भेदन किया जिसमें अमित आनन्ददायी अनहद नाद होने लगा। कबीर अपनी सद्बुद्धि द्वारा विचार कर यह घोषणा करते हैं कि शरीर की त्रिकुटी में प्रभु-साक्षात्कार किया जा सकता है और इस भाँति सुरति-निरति का परिचय कर मनुष्य परम पद का अधिकारी हो कालबन्धन से मुक्त हो सकता है।

विशेष—(१) अनहद तूरा —कुण्डलिनी जब षट्चक्रों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है तो अमल ज्योति के दर्शन होते हैं और शरीर का रोम प्रति रोम से प्रभु नाम का शब्द निकलता है—यही 'अनहद नाद' कहलाता है जिसे कबीर 'अनहद तूरा' कह रहे हैं। २ 'त्रिकुटी'—दोनों नेत्रों एवं नासिका मूल भाग का केन्द्र बिन्दु, ध्यानावस्था में योगी यहीं अपना ध्यान लगाता है। ३ 'पद आनन्द'—आनन्द पद मुक्त हंसात्मा—योगियों ने इसे ही परम काम्य माना है।

मन रे मन ही उलटि समांनां ।
गुर प्रसादि अकलि भई तोकौं नहीं तर था बेगांनां ॥टेक॥
नेडै थैं दूरि दूर थैं नियरा जिनि जैसा करि जांनां ।
औ लौं ठीका चढ़्या बलींडै जिनि पिया तिनि मांनां ॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा सुंनि सुरति लै लागी ।
अमर न मरै मरै नहीं जावै ताहि खोजि बैरागी ॥
अनभै कथा कवन सौं कहिये है कोई चतुर बबेकी ।
कहै कबीर गुर दिया पलीता सो झल बिरलै देखी ॥ ॥

अकलि=ज्ञान विवेक। बगांनां=आवारा। नेडै=पास निकट। बलींडै=यहां ऊर्ध्व स्थान से तात्पर्य। उलटे पवन=उल्टे होकर प्राणायाम करना। बबेकी=विवेकी। झल=अमल ज्योति।

कबीर कहते हैं कि साधक का मन ऊर्ध्वमुखी हो गया है, इसे गुरुकृपा से ज्ञान प्राप्त हो गया अन्यथा यह तो निपट आवारा—चारों ओर भ्रमित रहने वाला था।

जब प्रभु को खोजने चलते हैं तो यह ऐसा लगता है कि वह दूर अर्थात् अगम्य है किन्तु सर्वत्र खोजने के पश्चात् परिणाम यही निकलता है कि वह कहीं अन्यत्र नहीं हृदय में ही स्थित है। जो भी मनुष्य ऊपर चढ़ गया अर्थात् मन की वृत्तियों को ऊर्ध्वोन्मुखी कर प्रभु से प्रेम किया उसने उसकी प्राप्ति कर ली। अन्तर्मुखी हो प्राणायाम साध कर षट्-चक्रों का भेदन कर शून्य में सुरति को लगा दिया जाय तो मनुष्य आवागमन चक्र से विमुक्त हो जाय—हे साधक! तू उसी मार्ग की साधना कर। कबीर कहते हैं कि इस अपूर्व कथा का वर्णन किससे किया जाय ऐसा कोई चतुर एवं विवेकवान् मनुष्य है? भाव यह है कि ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्हें इस योग साधना का पात्र समझा जाय। कबीर कहते हैं कि ब्रह्मपुर के ज्ञान रूपी दान से रचित मार्ग का अवलम्बन और उस अगम ज्योतिस्वरूप परम प्रभु के दर्शन विरले ही लोगों को होते हैं।

इहि ठाइ राम जपहु रे प्रानी बूझौ अकथ कहाणी।
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि जाग्रत रनि बिहाणी ॥टेक॥
डाइन डारै सुनहाँ डोरै स्यंघ रहै बन घेरै।
पंच कुटम्ब मिलि झूझन लागे बाजत सबद संघेरै॥
रोहै मृग ससा बन घेरै पारधी बाण न मेलै।
सायर जलै सकल बन दाझै मछ अहेरा खेलै॥
सोई पंडित सो तत ग्याता जो इहि पदहि बिचारै।
कहै कबीर सोइ गुर मेरा आप तिरै मोहि तारै॥ ॥

डाइन = माया। स्यंघ = सिंह काल। पंच कुटम्ब = पांच ज्ञानेन्द्रियाँ। रोहै = भागा। पारधी = अहेरी। सायर = सागर। मछ अहेरा = साधक योगी। तत ग्याता = तत्त्व ज्ञाता उसका जानने वाला।

कबीर कहते हैं कि हे प्राणियो! संसार का सार यही है कि राम-नाम स्मरण कर प्रभु की अकथनीय कथा का चिन्तन किया जाय। जिसके हृदय में परम प्रभु का भाव सबसे ऊपर है वह 'इस राग प्रेम-पीर' में जागृत हो जागता रहता है। हे साधक! सुन ऐसे योगी के मार्ग में माया रूपी डाइन कभी आकर्षण के विविध प्रकार फैला जाया करती है और काल रूपी सिंह समस्त संसार रूपी वन पर अपना अधिकार किये हुए है। विषयादिक आकर्षणों की ध्वनि सुनकर मन रूपी मृग उस ओर भागता है एवं ज्ञानेन्द्रियों के रूप में इन समाधियों में संसार को घेर रखा है किन्तु फिर भी साधक रूपी अहेरी राम-भक्ति द्वारा इसका नाश नहीं करता। जब इस समस्त सृष्टि के जल-थल वासना अग्नि से भस्म होने लगते हैं तब भी योगी रूपी अहेरी सदा निर्विकल्पता में क्रीड़ा करता है उसे सांसारिकता नहीं व्यापती। कबीर कहते हैं कि वही व्यक्ति

ज्ञानी है, मेरा गुरु है जो इस पद का विचारपूर्वक आचरण कर स्वयं भी इस भव-सागर से तर जाय और कबीर जैसे अन्य लोगों) को भी संसार-सिन्धु से तार दे।

विशेष—कबीर ने प्रस्तुत पद में सांगरूपक अलंकार का प्रयोग किया है, समस्त पद में सिकार खेलने का रूपक है।

कबीर अपने जिस पद के विषय में यह घोषणा करते हैं—

'सोई पंडित सो तत ग्याता जो इहि पदहि बिचारै"

उस पद का अर्थ बताने का साहस मुझ जैसा अल्पज्ञ कैसे कर सकता है? जो कुछ भी इसका अर्थ स्पष्टीकरण किया गया है वह केवल भाव मात्र की परिधियों का स्पर्श है उसकी वास्तविकता तक मेरी गति कहां?

अवधू ग्यान लहरि धुनि मांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता इहि विधि त्रिष्णां षांडी ॥टेक॥
बन कै ससै समद घर कीया मछा बसै पहाड़ी।
सुइ पीवै ब्राम्हण मतवाला फल लागा बिन बाड़ी॥
षाड बुणै कोली मैं बैठी मैं खूंटा मैं गाढ़ी।
तांणें बाणें पड़ी अनंवासी सूत कहै बुणि गाढी।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ अगम ग्यान पद मांही।
गुरु प्रसाद सूई कै नांकै हस्ती आवै जांही॥१॥

षांडी = नष्ट की। ससै=खरगोश यहां चंचल मन के लिए प्रयोग किया गया है। मछा=आत्मा। पहाड़ी=शून्य रूपी पर्वत। बाड़ी=खेती। षाड=थान वस्त्र। कोली=जुलाहा। खूं टा=बुनाई में काम आने वाला एक खूं टा। गाढ़ी=वह भी बुनाई से सम्बन्धित। तांणें-बांणें=ताना-बाना वस्त्र में दो तरफ से पड़ने वाले सूत के धागे। गाढी=बुनने वाले।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत! ज्ञान-लहर के उठने पर साधक समाधि में लीन हो गया। अनाहद नाद से उत्पन्न आनन्ददायी शब्द में ही उसकी वृत्तियाँ रम गई। इस भाँति उसने सांसारिक तृष्णा को नष्ट कर दिया। जिसके फलस्वरूप संसार रूपी वन मे भटकने वाले चंचल खरगोश रूपी मन ने शून्य-समुद्र मे अपना वास-स्थान बना लिया एव मछली रूपी पवित्र आत्मा शून्य-शिखर रूपी पर्वत पर जा बसी। वहाँ पहुंच कर प्रभु-भक्ति मे मस्त मुक्तात्मा ब्राह्मण अमृत का पान करने लगा और इस प्रकार बिना ही खेती किये प्रभु रूपी अमूल्य फल की प्राप्ति साधक को हो गई। इस अवस्था में पहुंच कर आत्मा रूपी जुलाहा सुन्दर कर्म रूपी वस्त्र का निर्माण करती है। इस वस्त्र बुनने की प्रक्रिया में आत्मा ही कर्ता है एवं स्वयं ही साधन—'अहं ब्रह्मास्मि'।

इस संसार में पहले तो पुत्र रूपी मनुष्य का जन्म हुआ—"ईश्वर अंश जीव अविनाशी' —फिर माता रूपी माया का आविर्भाव। माया प्रभु की दासी है—चेली है—उसी प्रभु का अंश जीव अर्थात् पुत्र उसके पीछे लग रहा है—पैरों पड़ रहा है। भाव यह है कि प्रभु-दासी माया में संलिप्त रहता है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी ने मेरुदण्ड की सुषुम्ना में अपना वास कर लिया है। माया ने विषय-वासना से पोषित जीवों को समाप्त कर दिया। गुणी आत्मा तामसी वृत्तियों रूपी बैलों का नाश करके अपने वास्तविक स्थान—शून्य महल—में आ गई एवं जो सांसारिकता में बद्ध विषय वासना में लिप्त रहने के समान निकृष्ट जीव थे उन्हें तो माया ने अपने बंधन में बाँध लिया। इस संसार रूपी वृक्ष की शाखाएं अधोमुखी एवं मूल ऊर्ध्वमुखी है इस मूल-स्थान—ब्रह्मरन्ध्र—पर विविध कामनाओं को तृप्त करने वाला रूप—अलख निरंजन दर्शन-प्राप्त होता है। कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य इस पद के अर्थ को हृदयंगम कर (आचरण कर) सकेगा उसे त्रिभुवन का ज्ञान सहज प्राप्त हो जायेगा।

विशेष—अधोमुखी वृक्ष का ऐसा ही वर्णन गीता में प्राप्त होता है, सुमित्रा नन्दन पंत ने भी अपनी 'महात्मा जी के प्रति' कविता में लिखा है—

"अधोमूल अश्वत्थ विश्व शाखाएं संस्कृतियाँ वर।

हरि के पारे बड़ पकाये जिनि जारे तिनि पाये।
ग्यान अचेत फिरैं नर लोई ताथै जनमि जनमि डहकाये ॥टेक॥
धौंस मछलिया बैसर बाबी कऊआ ताल बजावै।
पहरि चोल नांगा दह नाचै भैंसा निरति करावै॥
स्यंघ बैठा पान कतरै घूंस गिलौरा ल्यावै।
उदरी बपुरी मंगल गावै कछू एक आनंद सुनावै॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो गडरी परबत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै समंद अकासां धावा ॥१९॥

प्रभु-भक्ति में अनुरक्त लोग साधना की भट्टी में तपे हैं जिन्होंने यहां अपनी विषय-वासनाओं को भस्म कर दिया उन्होंने प्रभु को प्राप्त किया और जो अज्ञानी हैं वे तो संसार के माया प्रपंचों में भटकते फिरते हैं एवं उन्हें बारम्बार आवागमन के चक्र में पड़ना पड़ता है।

ढोल मृदंग बाजा आदि विविध वाद्य संसार में माया-आकर्षणों के रूप में बज रहे हैं विषय-वासना की ओर एक दम लपकने वाला कौआ रूपी जीव भी इन आकर्षणों की गति में अपने को छोड़ देता है। विषय-वासना का वस्त्र धारण कर यह जीव निर्लज्ज होकर उन आकर्षणों में भटकता है एवं विविध तामसिक वृत्तियों का

मैसा उससे यह नृत्य कराता है। माम का सिंह निश्चिन्त होकर भ्रम के पान को कतर रहा है—नष्ट कर रहा है, माया रूपी मूस उसे पथ भ्रष्ट कर विविध पाखण्डों की गिलौरी (पान में डालने की) देना चाहती है किन्तु माम उसके कहने में नहीं भाता। बेचारी मुक्तात्मा प्रभु भक्ति के आनन्दप्रद-मंगल-गान (नाम-जप) गाती है। कबीर कहते हैं कि हे साधुओ! सुनो माया रूपी गडरिनी माम के प्रबल पर्वत को नष्ट करना चाहती है किन्तु कुण्डलिनी शून्य में विस्फोट कर अमल निरञ्जन की ज्योति के दर्शन करती है और समुद्र अर्थात् विषय-वासना में पड़ी आत्मा शून्य प्रदेश में पहुंच जाती है।

विशेष—यहां कबीर ने उलटबांसी के माध्यम से योगसाधना की विविध प्रक्रियाओं को पार कर प्रभु-प्राप्ति का ढंग बताया है।

चरपा जिनि जर।
कातौंगी हजरी का सूत नणद के भइया की सौं ॥टेक॥
जलि जाई थलि ऊपजी आई नगर में आप।
एक अचभा देखिया बिटिया जायौ बाप॥
बाबल मेरा ब्याह करि बर उत्यम ले चाहि।
जब लग बर पावै नहीं तब लग तूं ही ब्याहि॥
सुबधी कै घरि लुबधी आयौ आन बहू कै भाइ।
चूल्है अगनि बताइ करि फल सौ दीयौ ठठाइ॥
सब जगही मर जाइयौ एक बढ़इया जिनि मरै।
सब राडनि कौ साथ चरषा को धरै॥
कहै कबीर सो पंडित ग्याता जो या पदहि बिचारै।
पहलै परचौ गुर मिलै तौ पीछै सतगुर तारै॥१३॥

कबीर प्रेमिका के रूप में कहते हैं कि यह शरीर रूपी चरखा नष्ट न हो क्योंकि मैं प्रियतम अर्थात् प्रभु की सौगन्ध खा कर कहती हूँ कि इसमें प्रभुभक्ति रूपी उत्तम कर्मों का सूत कातूंगी।

जीवात्मा के रूप में कबीर आगे कहते हैं कि मैं अपने वास्तविक जन्म-स्थान से इस संसार रूपी नगर में स्वयं ही आ गई हूं। मैंने यह बड़ा आश्चर्य देखा कि माया रूपी प्रभु की बेटी ने (क्योंकि वह उनसे उत्पन्न है इसलिए उनकी पुत्री) जीव (जो प्रभु का ही अंश है) रूपी पुत्र को जन्म दिया। अब आत्मा प्रभु से प्रार्थना करती है कि मेरा विवाह सम्बन्ध जो धार्मिक बन्धन है किसी उत्तम व्यक्ति के साथ कर दे और हे परमपिता जब तक कोई अन्य सुन्दर वर नहीं मिलता तब तक तुम्हीं मुझे पत्नी रूप में स्वीकार करो। कुबुद्धि रूप आत्मा को आकर्षित करने के लिए

विषय-वासना का आकर्षण ले माया ने प्रपंच फैलाया। उसने आत्मा को वास्तविक प्राण प्रभु—से तो दूर रखा और विषय-वासना की तप्त अग्नि में झोंक दिया। समस्त संसार इसी प्रकार इस विषय-वासना अग्नि में भस्म हो नष्ट हो गया मनुभव प्राप्त एक (कबीर की) ही आत्मा नष्ट न हुई। इसीलिए उस प्रिय की अचल सुहागिन ने अन्य अभागिन आत्माओं के साथ शरीर रूपी चरखे को कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं होने दिया। कबीर कहते हैं कि जो इस पद का अर्थ हृदयंगम कर सके वही पण्डित है, वही ज्ञानी है। किसी का परिचय यदि पहले कुछ आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों से हो जाता है तभी सद्गुरु उसकी जीवन नौका पार लगाते हैं।

विशेष—(१) कबीर की आत्मा अपने 'बाप'—प्रभु—से ही दाम्पत्य सम्बन्ध इसलिए स्थापित करना चाहती है कि यहाँ एक दूसरे की दूरी नहीं रहती – 'एक प्राण दो तन' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। जो आत्माएं इस प्रकार प्रभु से सम्बन्ध स्थापन न कर अन्य सांसारिक माया आकर्षणों में फंसी रहती हैं उन्हें कबीर ने अभागिन—'रांडनि'—कहा है। (२) केवल मात्र उक्ति-वैचित्र्य लाने के लिए ही कबीर ने टेक वाली पंक्ति में 'प्रियतम' के लिए 'नगर के महता' का प्रयोग किया है।

> अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपने देसा।
> इन पंचनि मिलि लूटी हूँ कुसंग आहि बदेसा। टेक।
> गंग तीर मोरी खेती बारी जमुन तीर खरिहानां।
> सातौं बिरही मेरे नीपजैं पंचूं मोर किसानां।
> कहै कबीर यहु अकथ कथा है कहतां कही न जाई।
> सहज भाइ जिहि ऊपजै ते रमि रहे समाई॥१८॥

कबीर की आत्मा प्रियतम से मनुहार करती कहती है कि हे प्रियतम! अब मुझे आप अपने देश में ले चलो। इस संसार रूपी विदेश में मुझे यहाँ के माया आकर्षणों (पंचनि) के सम्पर्क ने लूट लिया है। गंगा और यमुना अर्थात् इड़ा और पिंगला के तट पर मेरी खेती-बारी और खलिहान हैं—मेरा सर्वस्व वहीं है अतः मेरी गति वहीं है। अब तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियां छठा मन तथा सातवीं बुद्धि यही मेरे खेत की वास्तविक उत्पत्तियाँ हैं जिन्हें काम क्रोध मद लोभ मोह रूपी कृषकों ने उत्पन्न किया है। अतः मुझे इस अवस्था से उबारो। कबीर कहते हैं कि संसार के अद्भुत क्रिया-व्यापार की कथा और उससे मुक्ति का उपाय अकथ्य है। जिस प्रक्रिया से सहज समाधि प्राप्त की जा सकती है मैं उसी में लगा हुआ हूँ।

> अब हम सकल कुसल करि मांनां
> स्वांति भई तब गोब्यंद जांनां ॥टेक॥

तन में होती कोटि उपाधि उलटि भई सुख सहज समाधि ॥
जम थें उलटि भया है राम दुख बिसर्‌या सुख कीया बिश्राम ॥
बैरी उलटि भये हैं मींता सापत उलटि सजन भये चीता ॥
आपा जांनि उलटि ले आप तौ नहीं ब्यापै तीन्यूं ताप ॥
अब मन उलटि सनातन हूवा तब हम जांनीं जीवत मूवा ॥
कहै कबीर सुख सहज समाऊं आप न डरौं न और डराऊं ॥१५॥

स्वांति=शान्ति । गोब्यंद=गोविन्द प्रभु ब्रह्म । उपाधि=व्याधियां ।
सजन=स्वजन हितैषी ।

कबीर कहते हैं कि जब मैंने प्रभु को जान लिया तभी चित्त को शान्ति हुई, इसलिए अब तो मेरी कुशल ही कुशल है ।

संसार की मायालिप्त होने की जो स्वाभाविक गति है उससे विपरीत आचरण कर अर्थात् वृत्तियों को बहिर्मुख से चिदुन्मुख कर देने से जो शरीर की कोटि-कोटि व्याधियां थीं वे समस्त सहज समाधि में परिवर्तित हो गईं । अब काम भी बदल कर मुझे राम सम ग्राह्य और प्रिय हो गया है और इस प्रकार मैं दुख को विस्मृत कर सुख-लाभ कर रहा हूं । काम क्रोध मद लोभ मोह आदि जो आत्मा के शत्रु थे वे अब दास बन कर मित्र रूप में काम आ रहे हैं । शाक्त जैसे कुमार्गी आचरण भ्रष्ट भी सज्जन रूप में परिवर्तित हो गये हैं । यदि मनुष्य अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर दे तो उस दैविक दैहिक भौतिक—तीनों तापों में से कोई भी व्यथित नहीं कर सकता । जब मैं जीवन-मुक्त की स्थिति में आ गया तभी मेरा मन जो संसार माया में उलझा रहता था निर्मल हो कर अपने प्रकृत रूप (जिस रूप में ईश्वर ने उसे प्रदान किया था) में आ गया ।

कबीर कहते हैं कि मैं सहज-समाधि में अपने को लगाकर सुख लाभ करूंगा और संसार-तापों के भय से न तो स्वयं भयभीत होऊंगा और न किसी को भयभीत करूंगा ।

विशेष—पद की टेक पूर्णतः लोकगीत पर आधृत है । लोकगीतों में पति के लिए नगर के वीर का सम्बोधन बड़ा प्रिय है ।

संतो भाई आई ग्यांन की आंधी रे ।
भ्रम की टाटी सबै उडांणी माया रहै न बांधी ॥टेक॥
हिति चत की द्वै थूंनी गिरांनी मोह बलींडा तूटा ।
त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि कुबधि का भांडा फूटा ॥
जोग जुगति करि संतौं बांधी निरचू चुवै न पांणी ।
कूड़ कपट काया का निकस्या हरि की गति जब जांणी ।

आँधी पीछैं जो जल बूठा प्रेम हरी जन भींनां।
कहै कबीर भान के प्रगटैं उदित भया तम षींनां ॥१६॥

टाटी = टट्टी छप्पर। उडांणी = उड़ गई। थूनी = छप्पर को रोकने लिए एक प्रकार की टेक जायसी ने भी नागमती के वियोग वर्णन में इस वस्तु का उल्लेख किया है। बलींडा = छप्पर को मजबूत करने के लिए उसके सिरे पर लगाये जाने वाला फूस का लम्बा-सा एक भाग। कबधि = कबुद्धि। बूठा = बरसा। भान = भानु, सूर्य। षींना = क्षीण।

कबीर कहते हैं कि हे संतो! ज्ञान की आँधी आयी जिससे माया-बन्धनों से बनी भ्रम की टट्टी छपरिया नष्ट होकर उड़ गई। ज्ञान—आँधी के आते ही मिथ्या भ्रम द्वैत जनित भावना की थूनियां गिर गईं एवं मोह का बलींडा भी टूट पड़ा। इस प्रकार तृष्णा की छान पर—संसार—से सम्बन्ध का पड़ा तथा कुबुद्धि का भेद खुल गया कि वह किस गलत मार्ग पर थी। हे संतो! जीवात्मा ने यह छप्पर बड़े यत्न पूर्वक बांधा था जिससे ज्ञान की एक बूंद भी इस में न पड़ सके किन्तु इस ज्ञान आँधी ने इसे उड़ाकर शरीर के पापों रूपी कूड़ को निकाल बाहर किया। इस आँधी के पश्चात् प्रभु भक्ति के जिस जल की वर्षा हुई उससे प्रभु प्रेमी भीग गये। कबीर कहते हैं कि इस भांति ज्ञान—प्रभाकर के उदित होते ही अज्ञानान्धकार विदीर्ण हो गया।

विशेष – सांग रूपक रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

अब घटि प्रगट भये राम राई सोधि सरीर कनक की नांई ॥टेक॥
कनक कसौटी जैसें कसि लेइ सुनारा सोधि सरीर भयो तन सारा।
उपजत उपजत बहुत उपाई मन थिर भयो तबै थिति पाई॥
बाहरि षोजत जनम गवाया उनमनी ध्यान घट भीतरि पाया।
बिन परचै तन कांच कथीरा परचै कंचन भया कबीरा ॥१७॥

शरीर को यौगिक प्रक्रियाओं से कंचन के समान शुद्ध किया है तभी हृदय में प्रभु के दर्शन हुए हैं। जिस प्रकार स्वर्णकार कसौटी पर कस कर स्वर्ण को शुद्ध कर कंचन बना लेता है उसी प्रकार योग-साधना से मैंने शरीर को शुद्ध किया। हृदय में प्रभु भक्ति उपजाने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु जब चंचल मन पूर्ण रूप से शांत हो गया तभी शान्तिपूर्ण स्थिति भी प्राप्त हुई। मैंने व्यर्थ समस्त संसार में प्रभु को खोजते हुए जीवन व्यर्थ कर दिया उन्मनी की ध्यानावस्था से मैंने उसे हृदय में ही प्राप्त कर लिया। प्रभु से बिना परिचय के तो यह शरीर कच्चे मास के समान अशुद्ध था किन्तु उससे साक्षात्कार होते ही यह विशुद्ध कंचन के रूप में परिवर्तित हो गया। तुलसी ने भी कहा है —

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥

हिंडोलनां तहां झूलैं आतम रांम ।
प्रेम भगति हिंडोलनां सब संतनि कौ बिस्राम ।।टेक।।
चंद सूर दोइ खंमवा बंक नालि की डोरि ।
झूलैं पंच पियारियां तहां झूलै जीय मोर ।।
द्वादस गम के अंतरा तहां अमृत कौं ग्रास ।
जिनि यहु अमृत चाखिया सो ठाकर हम दास ।।
सहज सुंनि कौ नेहरौ गगन मंडल सिरिमौर ।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलैं हिंडोल ।।
अरध उरध की गंगा जमुनां मूल कवल कौ घाट ।
षट चक्र की गागरी त्रिबेणी संगम बाट ।।
नाद ब्यंद की नावरी राम नाम कनिहार ।
कहै कबीर गुंण गाइ ले गुर गमि उतरौ पार ।।१८।।

प्रेम भक्ति के हिंडोले पर समस्त संत जन रमण करते हैं। उसी हिंडोले पर कबीर झूल रहा है ।

जिस भांति हिंडोले में दो खम्भ होते हैं उसी प्रकार इडा पिंगला के दो स्तम्भ हैं जिनके मध्य बंकनालि—सुषुम्णा—की डोर डाल रखी है जिस पर पांचों ज्ञानेन्द्रियां झूलती हैं अर्थात् समस्त चित्त वृत्तियां वहीं केन्द्रित हो गई हैं—मेरा मन भी वहीं झूलता—रमता है। जिस शून्य स्थान पर—ब्रह्मरन्ध्र में—द्वादश आदित्यों के आलोक सदृश प्रकाश प्रकाशित रहता है वहीं अमृत का कलश है। जिस साधक ने इस अमृत का पान कर लिया वह हमारा स्वामी है हम उसके सेवक। शून्य शिखर पर सहज समाधि में ही हमारा पीहर है यहां झूलकर हम अपना पितृकुल एवं श्वसुर कुल अर्थात् लोक एवं परमार्थ दोनों को ही श्रेष्ठता प्रदान कर देंगी।

अब दूसरा रूपक प्रस्तुत करते हुए कबीर कहते हैं कि कुण्डलिनी मूलाधार चक्र के घाट से इडा-पिंगला रूपी मार्गों द्वारा षट् चक्रों की गागरी को उठाकर—भरकर—त्रिकुटी के संगम पर पहुंच कर विस्फोट करेगी जिससे जो अनहद नाद उत्पन्न होगा वहीं इस तीर्थ स्थल में नौका होगी जिसे नाम-स्मरण से खेया जायगा। कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू राम का गुणगान कर ले जिससे इस संसार-सरिता के पार उतरा जा सके।

को बीन प्रेम लागी री माई को बीन ।
राम रसाइण मातै री माई को पीवै ।।टेक।।
पाई पाई तू पुतिहाई, पाई की तुरियां बेचि खाई री माई को बीन ।
ऐसे पाई पर बिथुराई त्यूं रस आनि बनायौ री माई को बीन ।।

नाचै तांनीं नाचै बांनीं नाचै कूंच पुरांना री माई को बीनैं।
करगहि बैठि कबीरा नाचै चूहै काट्या तांनां री माई को बीनैं ॥११॥

कबीर कहते है कि प्रभु भक्ति के इस अनुपम वस्त्र को हे सखि! कौन बुनेगा। मैं तो अब राम रसायन में मदमस्त हूं और कौन इस सुख को प्राप्त करना चाहती है। हे बुनकर सखि! तूने अपना समस्त धन पाप-कर्मों में खर्च कर डाला अब इस भक्ति-वस्त्र को कौन बुनेगा (वस्त्र बुनने में कुछ पूंजी की आवश्यकता होती है न) बनकर सखि! माया आकर्षणों में लिप्त रहु मयी अब इस प्रभु-प्रम वस्त्र को कौन पूरा करे। बुनकर के समान मैं तानाबाना दोनों इधर इधर हो रहे हैं एवं वस्त्र बुनने में वही पुरातन ढर्रा चल रहा है जिसमें विषय-वासना ही प्रमुख थी। इसीलिए करघे पर कबीर यह देखकर प्रभु-भक्ति वस्त्र बुनने बैठ गये कि काल रूपी चूहा आयु को समाप्त कर रहा है।

भाव यह है कि संसार रीति माया-मय छोड़ शीघ्र ईश्वर-भजन करो।

मैं बुनि करि सिरांनां हो रांम नालि करम नहीं ऊबरे ॥टेक॥
दखिन कूंट जब सुनहां भूंका तब हम सुगन बिचारा।
सरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो रांम॥
तांनां लीन्हां बांनां लीन्हां लीन्हें गोड के पऊवा।
इत उत चितवत कठवन लीन्हां मांड चलवनां डऊवा हो रांम॥
एक पग दोइ पग त्रपग संधें संधि मिलाई।
करि परपच मोट बंधि आये किलि किलि सबै मिटाई हो रांम॥
तांनां तनि करि बांनां बुनि करि छाक परी मोहि ध्यांन।
कहै कबीर मैं बुनि सिरांनां जानत है भगवांनां हो रांम ॥२॥

दखिन—दक्षिण। कूंट—कोने में कोण—दिशा का। भूंका—श्वान के भूंकने की ध्वनि। पऊवा—पाव भर। संधें—धीरे-धीरे। किलिकिलि—धीरे-धीरे। छाक—सूक्ष्म भोजन कलेवा जैसा।

कबीर कहते हैं कि मैंने सांसारिक कर्मों का तन्तुवाय तानना बन्द कर दिया क्योंकि इन कर्मों के द्वारा संसार से मुक्ति सम्भव नहीं। दक्षिण दिशा में जिस समय श्वान रूपी सांसारिक जीवों की व्यथित ध्वनि आ रही थी भाव यह है उनकी दुर्दशा देखकर हमने अपने विषय मे कुछ शकुन अनुमान किया। उसी समय मुझे यह आभास हुआ कि यम-नियम-संयम रूपी पुत्रो के जागने पर भी यह विषय-वासना का चोर मेरे भीतर घुस आया। तभी मैंने ताना-बाना एवं सूत के पाव-पाव के पोते आदि एकत्रित कर लिये अर्थात् अपने सम्पूर्ण प्राप्य को लेकर इस संसार से कहीं अन्यत्र जाकर अपने सुकर्मों का वस्त्र बुनने का निश्चय किया। कुछ पग बढ़कर धीरे

धीरे इसने उन दुष्कर्मों के मधूरे थान-थान में अच्छे कर्मों की रुचि मिलाने का प्रयास किया। किन्तु यहां जो विषय-वासना में पड़कर पापों की गठरी बांध ली थी वह धीरे-धीरे नष्ट हुई। इस भांति सत्कर्मों का ताना-बाना बाल मुझे वस्तुत ग्राह्य भोज्य —प्रभु-भक्ति—का ध्यान आया। कबीर कहते हैं कि प्रभु-भक्ति में प्रवृत्त होते ही मैं कर्म-निरत हो गया—यह सब प्रभु जानते हैं।

विशेष—लोकधुन पर आधृत और आधृत ही क्या लोकधुन की ही संगी तारतम्यता में कबीर के अभीष्ट अर्थ की अभिवृत्ति में अपूर्व योगदान किया है।

तननां बुननां तज्या कबीर, राम नांम लिखि लिया शरीर ।।टेक।।
जब लग भरौं नली का बेह् तब लग टूटै रांम सनेह ॥
ठाढी रोवै कबीर की माई, ए लरिका क्यू जीवं खुदाइ।
कहै कबीर सुनहु री माई पूरणहारा त्रिभुवन राई ।।२१।।

कबीर कहते हैं कि मैं तो जीवन्मुक्त हो गया हूं इसीलिए कर्म-निरत हो कर वस्त्र बुनने का व्यापार त्याग मैं तो प्रभु भक्ति में अनुरक्त हो गया हूं। जब तक मैं इस जीवन-नलिका पर आयु रूपी सूत लपेटता रहूंगा तब तक मेरी राम में प्रीति बनी रहेगी भाव यह है कि जीवन-पर्यन्त मैं प्रभु-प्रेमानुरक्त रहूंगा। कबीर की मा अर्थात् माया—जिससे वह पहले सम्बन्धित होता रहा था आश्चर्यान्वित है कि यह जीव मुझसे पृथक होकर जीवित कैसे है किन्तु कबीर माया रूपी (झूठी) मां को समझाते कहते हैं कि जीवनदान देने वाला तो अनन्त शक्तिमय प्रभु है।

धुगिया व्याह मरै मरि जाइ।
घर बाजरौ बलीडो टेढो औलोती बर राइ ।।टेक।।
मगरी तजो प्रीति पाप सू डाडी देहु लगाइ।
छींकौ छोडि उपरहि डौ बांधो ज्यू जुगि जुगि रह्यो समाइ ।।
बसि परहूंढी धारा मु दावी त्यावों पूत घर घरी।
जेठी धीय सासरै पटवौं ज्यू बहुरि न आवै फेरी ।।
लहुरी धीइ सबै कुल खोयो तब ढिग बैठन पाई।
कहै कबीर भाग बपरी को किलि किलि सब चुकाई ।।२२।।

धुगिया=जन। बाजरौ=जर्जर। बलीडो=छप्पर के बीच में भीतर की ओर लगने वाला एक बांस। टेढो=टेढा। औलोती=वहाँ छप्पर के अन्तम भाग से पानी चू-चू कर गिरता है। मगरी=छप्पर की कमर। पाप=पाया प्राय मिट्टी अथवा पक्की ईंटों के बने हुए मकान के एक विशेष प्रकार के स्तम्भ जिन पर छप्पर के सिरे टिके रहते हैं। डाडी=मटु की छप्पर में लगने की एक लकड़ी होती है। छींको एक विशेष प्रकार का लटकने वाला छींका सा जिस पर प्राय भोज्य पदार्थ

सुरक्षा की दृष्टि से रख दिये जाते हैं। 'कृष्ण-साहित्य'—विशेष रूप से सूर साहित्य मेंइसका पर्याप्त वर्णन है, यथा—

मैं बालक बहियन को छोटी छींको केहि बिधि पायो।

धी=को। परछुती—बड़े रखने का स्थान विशेष जो एक प्रकार से मकानों में बनी अंगीठी के ऊपर की सिल्ली के समान होता है। बेठी धीय—बड़ी पुत्री यहां तात्पर्य कुण्डलिनी से है। म्यू—विवाह। लहुरी धीय=छोटी पुत्री अर्थात् माया। बपरी=बपुरी बेचारी।

कबीर कहते हैं कि हे जीव! यदि तू अन्य सांसारिकों की भांति मरना चाहता है तो मर जा किन्तु तू तनिक यह तो ध्यान रख कि तेरा शरीर रूपी भवन जर्जर हो चुका है, विषम-वासनाओं के दबाव से बलेंडा रूपी शरीर का मेरुदण्ड झुक गया है जिस से न जाने कब वर्षा की मौसमाती रूपी आशंका आ पड़े।

मैं प्रभु प्रेम के पातों पर शरीर को छोड़ दूंगा जिसमें नाम-जप की आंधी लग जायेगी। उस स्थान पर प्रभु प्राप्ति के फल को ऊंचे पर ही रखूंगा जिससे वह मेरे लिए बहुत समय तक सुरक्षित रहे। इस घर के द्वार जिनसे मन बाहर जाता है पसहंडी रूपी मकूल से बन्द करता हूं गा। कुण्डलिनी रूपी बड़ी लड़की को उसके स्वसुर गृह—वास्तविक घर शून्य शिखर पर—पहुंचा दूंगे जिससे वह पुनः लौट कर इस संसार में न आ सके। माया रूपी छोटी लड़की ने तो समस्त कुल—संसार—को सम्पर्क में आते ही नष्ट कर दिया। कबीर कहते हैं कि यह अपना-अपना भाग्य है छोटी का किया हुआ बड़ी लड़की—कुण्डलिनी—को भरना पड़ रहा है।

विशेष—रूपक सामरूपक रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।

मन रे जागत रहिये भाई।
गाफिल होइ बसत मति खोवै चोर मुसै घर जाई ।।टेक।।
षट चक्र की कनक कोठड़ी बस्त भाव है सोई।
ताला कूंची कुलफ के लागे उघड़त बार न होई ।।
पंच पहरवा सोइ गये हैं बसतैं जागण लागी।
जुरा मरण व्यापै कुछ नांहीं गगन मंडल लै लागी ।।
करत विचार मनही मन उपजी नां कहीं गया न आया।
कहै कबीर संसा सब छूटा राम रतन धन पाया ।।२१।।

गाफिल=असावधान। चोर=पंच चोर—काम क्रोध मद लोभ मोह। पंच पहरवा=पांच ज्ञानेन्द्रियां। बसत=कुण्डलिनी।

कबीर अपने मन को प्रबोध देते हुए कहते हैं कि हे मन! तू असावधान हो अपनी पूंजी का नाश न अन्यथा माया भी चोर का शरीर में घर में प्रवेश हो जायगा।

यह शरीर पञ्चतत्त्वोंभूत स्वर्ण-कोठरी है जिसमें कुण्डलिनी सुप्तावस्था में पड़ी है। किन्तु जब प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर जायेगी तो समस्त रहस्य प्रकट हो जायेगा। इस अवस्था में पहुँचकर शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी पहरेदार जो समस्त क्रिया व्यापार के संचालक हैं सो गये हैं अर्थात् उन्होंने अपनी गति स्थिर कर दी है। उनके सोते ही कुण्डलिनी जाग गयी और वह शून्य की ओर अग्रसर होने लगी वह ब्रह्मरन्ध्र पर पहुँच गई। वहाँ पहुँचने पर फिर जीवात्मा को जन्म-मरण का भय नहीं रहता। मन में विचार करते ही करत यह सिद्धि प्राप्त हुई है अथवा मन की वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर देने पर यह प्राप्ति हो गई इसके लिए मुझे कहीं इधर-उधर न भटकना पड़ा। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार राम रूपी अमूल्य रत्न को प्राप्त कर मैं संसार-बंधन से छूट गया।

चलन चलन सबको कहत है नां जानौं बैकुंठ कहां है ॥टेक॥
जोजन एक प्रमिति नहीं जानैं बातनि ही बैकुंठ बषानैं।
जब लग है बैकुंठ की आसा तब लग नहीं हरि चरन निवासा ॥
कहें सुनें कैसें पतिअइये जब लग तहाँ आप नहीं जइये ॥
कहै कबीर यहु कहिये काहि साध संगति बैकुंठहि आहि ॥२४॥

कबीर कहते हैं कि सब प्रभु लोक—गमन की जाने को कहते हैं किन्तु उनका मार्ग किसी को ज्ञात नहीं है। जो व्यक्ति उस एक ब्रह्म की सीमाओं—शक्तियों —से अवगत नहीं वह तो व्यर्थ में ही बैकुण्ठ की बात करता है उसे प्रभु स्थान का पता भी नहीं। जब तक मन में बैकुण्ठ पहुँचने में कोई कामना प्रमुख है तब तक प्रभु चरणों में निवास असम्भव है। उस प्रभु-लोक की बताई गई बातों को जब तक स्वयं न देख ले विश्वास किस आधार पर करे? कबीर कहते हैं कि मैं यह किसे समझाऊँ कि साधु संगति में ही प्रभु का वास है—वही बैकुण्ठ है।

अपनें बिचारि असवारि कीजै सहज कै पाइड़ै पाव जब दीजै ॥टेक॥
दे मुहरा लगांम पहिराऊं सिकली जीन गगन दौराऊं।
चलि बैकुंठ तोहि लै तारौं थकहि प्रेम ताजनैं मारूं ॥
जन कबीर ऐसा असवारा वेद कतेब दहूं थैं न्यारा ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि हे साधक! आत्मविचार की सवारी करो और सहज समाधि की रकाब में पैर रखो—अश्व होगो मन को वश में मुहरा पहना नियंत्रित कर लो और उसकी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर आकाश मार्ग के शून्य-शिखर की ओर उसे दौड़ाओ। हे मन! जब तुम्हें प्रभु लोक में ले जा कर तेरा उद्धार कर और वहाँ शून्य पर सम्पूर्ण शक्ति से प्रेम का एक चाबुक मार दूं जिससे तू प्रभु प्रेमातुर हो जाय। कबीर कहते हैं कि ऐसा ही साधक और होता है जो वेद-शास्त्र कुरान वर्णित धर्म वाक्यों के पचड़े से दूर रहता है।

अपने मैं रँगि आपनपी जानूं
जिहि रँगि जानि ताही कूं मांनूं ॥टेक॥
अभि अंतरि मन रंग समानां लोग कहैं कबीर बौरानां ॥
रंग न चीन्हैं मूरखि लोई जिहि रँगि रंग रह्या सब कोई।
जे रंग कबहूं न आवै न जाई कहै कबीर तिहि रह्या समाई ॥२६॥

कबीर कहते हैं कि मैंने जब अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर दिया तभी मुझे अपने वास्तविक रूप—कि मैं भी ब्रह्माश हूं अतः मेरा वास्तविक प्रिय ब्रह्म ही है—के दर्शन प्राप्त हुए। जिसने भी प्रभु के रंग को पहचान लिया मैं उसी को सम्मान दूंगा।

मेरे मन में प्रभु-प्रेम का रंग समाया हुआ है किन्तु संसार मुझ सांसारिक-आचरणों से विरत देख पागल समझता है—

'राम वियोगी न जिये जिये तो बौरा होय।"

मूर्ख अज्ञानी प्रभु के प्रेम के रंग को नहीं पहचान पाते यद्यपि समस्त सृष्टि के अणु-अणु में उसी की कान्ति है। वह रंग इतना प्रगाढ़ है कि कभी छूटता नहीं है कबीर उसी रंग में (आपादमस्तक) रंगा हुआ है।

विशेष—महा कवि सूरदास ने भी इसी भाव का पद कहा है।
"आपुन पौ आपुन ही में पायो।
सब्दहिं सब्द भयौ उजियारो सतगुरु भेद बतायौ ॥
ज्यौं कुरंग-नाभी कस्तूरी ढूंढत फिरत भुलायौ।
फिरि चेत्यो जब चेतन ह्वै करि, आपुन ही तनु छायौ ॥

झगरा एक नबेरो रांम जे तुम्ह अपनें जन सूं कांम ॥टेक॥
ब्रह्मा बड़ा कि जिनि रू उपाया बेद बड़ा कि जहाँ थैं आया ॥
यहु मन बड़ा कि जहां मन मानैं रांम बड़ा कि रांमहिं जानै।
कहै कबीर हूं खरा उदास तीरथ बड़े कि हरि के दास ॥२७॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! यदि आपको अपने भक्तों से स्नेह है तो एक झगड़े को निपटा दो। वह यह कि ब्रह्मा बड़ा है या जिसने हमें उत्पन्न किया है, वेद बड़े हैं अथवा वह बड़ा है जहां से वेदों का उद्गम है। यह मन बड़ा है अथवा वह प्रभु जिसमें मन यह रमता है अथवा इन सबसे बड़े स्वयं आप हैं ? यह सब बातें आप ही जान सकते हैं। तीर्थस्थल बड़े हैं या उनसे भी बड़े हैं प्रभु-भक्त भाव यह है कि तीर्थस्थलों की अपेक्षा साधुसंगति अधिक श्रेयस्कर है। कबीर तो अब इस झगड़े से उदास हो गया है—वह केवल प्रभु को ही सर्वोपरि मानता है।

विशेष— ब्रह्मा कहा कि जिनि ए उपाया' —से यह ध्वनित होता है कि शरीर का भ्रष्टा कबीर परब्रह्म को ही मानते हैं जबकि हिन्दुओं की पौराणिक मान्यतानुसार ब्रह्मा ही शरीर का निर्माता है। किन्तु इस विचार वैभिन्न्य से कबीर के अभिप्रेत अर्थ को पाठक तक पहुंचने में कोई कठिनाई नहीं होती।

> दास रामहि जानिहै रे और न जानै कोइ ।।टेक।।
> काजल देइ सब कोई भषि चाहन मांहि बिनांन।
> जिनि मोइनि मन मोहिया ते मोइन परवांन।।
> बहुत भगति भौसागरा नांनां बिधि नांनां भाव।
> जिहि हिरदै श्रीहरि भेटिया सो भेद कहूं कहू ठाउं।।
> दरसन समि का कीजिये जौ गुन नहिं होत समांन।
> सींधव नीर कबीर मिल्यौ है फटक न मिलै पखांन ।।२८।।

कबीर कहते हैं कि प्रभु का भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता। जिस प्रकार नेत्रों में काजल तो सभी डालते हैं किन्तु वह सुन्दर नेत्रों में ही शोभा पाता है। नेत्र की जिन सुन्दर पुतलिकाओं ने मन को मोहित कर लिया वे ही नेत्र प्रामाणिक रूप से सुन्दर हैं। संसार-सागर में विविध प्रकार की अनेक भक्ति-पद्धतियां हैं किन्तु जिसके माध्यम से हृदय में प्रभु के दर्शन हो जायें वह भक्ति तो किसी ही किसी—बिरले को ही प्राप्त है। उन प्रभु भक्तों के दर्शन करके ही हे मानव ! क्या लाभ यदि तुमने स्वयं में उसके समान गुण उत्पन्न न किये। कबीर को तो प्रभु-भक्ति रूपी समुद्र का पवित्र जल प्राप्त हो गया है, हे जीवात्मा ! तुझे धारा मार भटकने से तो पत्थर भी भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

> कैसें होइगा मिलावा हरि सनां
> रे तू बिष बिकारन तजि मनां ।।टेक।।
> रैतैं जोग जुगति जान्यां नहीं तैं गुर का सबद मान्यां नहीं।।
> गंदी देही देखि न फूलिए संसार देखि न भूलिए।
> कहै कबीर मन बहु गुनी हरि भगति बिनां दुख फुनफुनी ।।२९।।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू विषय-विकारों का परित्याग कर दे अन्यथा पाप-पंक-पूरित शरीर से प्रभु से किस प्रकार मिलन होगा ? हे मन ! तूने न तो यौगिक क्रियाओं को साधा और न सद्गुरु के उपदेश का पालन किया जिससे प्रभु प्राप्ति सम्भव होती। तू इस शरीर का जो नित्य करता है व्यर्थ अभिमान मत कर और न संसार के विभिन्न माया-आकर्षणों में पड़ कर अचेत हो। कबीर कहते हैं कि इस संसार में चाहे कितने ही गुण क्यों न हों प्रभु भक्ति बिना के सब दुख ही दुख है।

कासूं कहिये सुनि रामां तेरा मरम न जानैं कोई जी।
दास बबेकी सब भले परि भेद न छानां होई जी। टेक।।
ए सकल ब्रह्मंड तैं पूरिया अरु दूजा महि थांन जी।
मैं सब घट अंतरि पेषिया जब देख्या नैंन समांन जी।।
रांम रसाइन रसिक हैं अद्भुत गति बिस्तार जी।
भ्रम निसा जो गत करै ताहि सूझै संसार जी।।
सिव सनकादिक नारदा ब्रह्म लिया निज बास जी।
कहै कबीर पद पंकजा अब नेड़ा चरण निवास जी।।१।।

मरम—रहस्य। बबेकी—विवेकी ज्ञानी। छानां—पाया। पेषिया—देख लिया। पंकजा—पंकज। नेड़ा—पास निकट।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मैं तुम्हारी महिमा-वर्णन किस से करूं कोई तुम्हारा भेद जानता ही नहीं। आपके भक्त बड़े ज्ञानी हैं किन्तु वे भी आपका भेद नहीं पा सकते। इस समस्त ब्रह्माण्ड में आप परिपूर्ण हैं और फिर भी आपका स्थान कोई दूसरा ही है। मैंने जब अपने हृदय घट को समझकर देखा तो आपके दर्शन किये आपकी छवि उसी प्रकार है जिस भांति नेत्रों से देखते तो सबको हैं किन्तु हम स्वयं अपने नेत्रों को (बिना दर्पण आदि के) नहीं देख सकते आपके द्वारा ही समस्त क्रिया-व्यापार संचालित होते हैं किन्तु आपके दर्शन नहीं हो पाते। आपकी गति परम विचित्र है। प्रभु! आप रसिकों के लिए किसी अमूल्य रसायन सदृश हैं। जो इस संसार में अज्ञान रात्रि को विनष्ट कर देता है उसे ही संसार का वास्तविक रूप दृष्टिगत होता है। शिव सनकादिक एवं नारदादि ने ब्रह्म को ही अपना निवास बना लिया है अर्थात् वे उसमें ही रम गए हैं। कबीर कहते हैं कि अब मेरा वास भी प्रभु के पद पद्मों में ही होगा।

विशेष—'सिव सनकादिक नारदा'—ये समस्त पौराणिक ऋषि और (शिव) देवता हैं।

मैं डोरै डोरै जाऊंगा तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा।।टेक।।
सूत बहुत कछू थोरा ताथैं लाइ ले कंथा डोरा।
कंथा डोरा लागा तब जुरा मरण भौ भागा।।
जहां सूत कपास न पूनीं तहां बसै इक मूनीं।
उस मूनी सूं चित लाऊंगा तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा।।
मेरे डंड इक छाजा तहां बसै इक राजा।
तिस राजा सूं चित लाऊंगा तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा।।

जहाँ बहु हीरा धन मोती तहाँ तत लाइ लै जोती ।
तिस जोतिहि जोति मिलाऊँगा तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥
जहाँ ऊगै सूर न चंदा, तहाँ देख्या एक अनंदा ।
उस आनन्द सूं चित लाऊंगा तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
मूल बंध इक पावा तहाँ सिध गणेस्वर रावा ।
तिस मूलहि मूल मिलाऊंगा तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
कबीरा तालिब तोरा तहाँ गोपत हरी गुर मोरा ।
तहाँ हेत हरी चित लाऊंगा तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥११॥

भौजलि=भावी यहाँ सभी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । धोरा=धोखा भ्रम । कथा=साधुओं के धारण करने का एक वस्त्र विशेष । बूरा=जरा वृद्धावस्था । भौ=भय । पूनी=रुई को कातने से पूर्व बनाई जाने वाली एक बत्ती सी । भूमी=भूमि ब्रह्म । राजा=स्वामी ब्रह्म । लै जोती=निरंजन ज्योति । मूल बन्ध=मूलाधार चक्र । सिद्ध गणेस्वर रावा=सिद्धि दाता गणपति कुण्डलिनी ।

कबीर कहते हैं कि यदि मैं प्रभु के प्रेम मार्ग पर अग्रसर हो गया तो हे सखि ! मैं फिर लौटकर इस संसार में नहीं आऊँगा ।

इस संसार में कर्म रूपी सूत का कोई ओर छोर नहीं अतः उसमें पड़ने की अपेक्षा कथा धारण करना विरक्त होना अधिक श्रेयस्कर है । संसार से विरक्त होने पर प्रभु-भक्ति को अपनाने के कारण जरा-मरण का भय समाप्त हो जायेगा । जहाँ सूत कपास एवं पूनी आदि अर्थात् कोई भी सांसारिक उपकरण नहीं है वहाँ ब्रह्म का निवास है । मैं उस ही परम प्रभु से प्रेम करूँगा और पुनः इस संसार में नहीं आऊँगा । मेरे प्रेम नगर के अनुपम (शून्य) भवन में एक राजा—ब्रह्म—का निवास है अब मैं उसी राजा की भक्ति करूँगा और इस संसार में नहीं लौटूँगा । उस शून्य प्रदेश में अधिक मात्रा में हीरे और मोती हैं एवं वहीं निरंजन ज्योति का वास है । मैं उसी परम-ज्योति स्वरूप से अपनी आत्मा की दीप-ज्योति मिला दूँगा । जहाँ सूर्य एवं चन्द्रमा की भी गति नहीं है वहाँ—शून्य—स्थल—पर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हुई । अब मैं उसी आनन्द में निमग्न रहूँगा और हे सखि मैं अब पुनः इस संसार में नहीं आऊँगा । मूलाधार चक्र में एक ऐसा स्थल है जहाँ सिद्धिदायक गणपति—इस ब्रह्म प्राप्ति में सिद्धि प्रदान करने वाली कुण्डलिनी का वास है । उस मूल शक्ति को सृष्टि के मूल उस ब्रह्म में मिला दूँगा और फिर इस संसार में नहीं आऊँगा । कबीर कहते हैं कि यहाँ ब्रह्मानन्दी साधक के गुरु का वास है—शून्य प्रदेश में वहीं मेरे भी गुरु हैं । मैं भी प्रभु-प्रेम के कारण अपनी चित्तवृत्तियों को वहीं केन्द्रित कर रहा हूँ अतः अब मैं इस संसार में नहीं आऊँगा ।

संतो धागा टूटा गगन बिनसि गया सबद जु कहाँ समाई ।
ए संसा मोहि निस दिन ब्यापै कोइ न कहै समझाई ।।टेक।।
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुनि नाहीं पंचतत भी नाहीं ।
इला प्यंगुला सुषमन नाहीं ए गुण कहाँ समाहीं ।।
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं तहियाँ रचनहार पुनि नाहीं ।
जोवनहार अतीत सदा संगि ये गुण तहाँ समाहीं ।।
तूटै बंधै बंधै पुनि तूटै जब तब होइ बिनासा ।
तब को ठाकुर अब को सेवग को काके बिसवासा ।।
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै जौ धागा उनमानाँ ।
सीखे सुनै पढ़ें का होई जौ नहीं पदहि समानाँ ।।३२।।

बिनसि=विनष्ट। ब्रह्मंड=ब्रह्माण्ड। प्यंड=पिंड शरीर। पंचतत=पंचतत्त्व क्षिति जल पावक गगन समीरा।

कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! जीवन का यह सूत्र टूट जाने पर शरीर-सत्ता समाप्त हो जाती है तो गुरु का सदुपदेश कहाँ समायेगा? मुझे तो यही आशंका अहर्निश ग्रस्त करती है कि जीवात्मा गुरु-उपदेश द्वारा किस प्रकार जीवन्मुक्त होगी? शरीर की सत्ता समाप्त होने पर ब्रह्माण्ड और पिण्ड तथा पंचतत्त्व एवं इड़ा-पिंगला आदि का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। न गृह द्वार अथवा सृजक-सृजन के लिए तो कोई भी नहीं रह जाता। उस अगम्य अनादि ईश्वर में ही आत्मा का लय हो जाता है। यह जीवन सूत्र टूटता है, बनता है और यही जीवन-क्रम चलता रहता है इसी के द्वारा जो पहले कभी स्वामी रहा होगा उसे किसी का सेवक बनना पड़ता है। कबीर कहते हैं कि इस ज्ञान के श्रवण मात्र से कुछ नहीं होता वास्तविक तत्त्व को हृदयंगम कर उन्मन अवस्था से ब्रह्म से तद्रूप हो जाने पर शून्य—ब्रह्म से आत्मा विलग नहीं होता।

ता मन कौं खोजहु रे भाई तन छूटे मन कहाँ समाई ।।टेक।।
सनक सनंदन जै देवनामा भगति करी मन उनहुँ न जाना ।
सिव बिरंचि नारद मुनि ग्यानी मन की गति उनहुँ नहीं जानी ।।
ध्रू प्रहिलाद बभीषन सेषा तन भीतरि मन उनहुँ न पेषा ।
ता मन का कोई जानै भेव रंचक लीन भया सुषदेव ।।
गोरष भरथरी गोपीचन्दा ता मन सौं मिलि करैं अनन्दा ।
अकल निरंजन सकल सरीरा ता मन सौं मिलि रहा कबीरा ।।३३।।

कबीर कहते हैं कि हे भाइयो! उस मन की गति का पता लगाओ जो शरीर के छूटने पर भी न जाने कहाँ रमण करता है। सनक सनन्दन आदि जो भक्तिगण थे

उन्होंने अपार भक्ति करके भी मन का रहस्य न पाया। शिव एवं नारद जैसे विरक्त ज्ञानी महामुनि भी मन की गति को न जान पाये। परम भक्त ध्रुव प्रह्लाद विभीषण एवं शेषनाग भी शरीर स्थित मन की गति से अवगत न हो सके। उस रहस्यपूर्ण मन का भेद भला कोई क्या जान सकेगा? शुकदेव मुनि ने थोड़ी सी उसकी गति को जान पाया अथवा फिर गोरखनाथ भर्तृहरि, गोपीचन्द जैसे नाथपंथी योगियों ने मन की गति को जानकर पूर्ण आनन्द प्राप्त किया। जो मन शरीर में अलख निरंजन ज्योति स्वरूप परमात्मा के समान समाया हुआ है उससे कबीर ने पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया है।

विशेष—पद की प्रथम और अन्तिम पंक्ति से ऐसा आभास होता है कि मन का प्रयोग कबीर ने इन दो पंक्तियों में आत्मा के लिए किया है।

माई रे बिरले दोसत कबीर के यहु तत बार बार कासौं कहिये।
भांनण घड़ण संवारण समरथ ज्यूं राखै त्यूं रहिए ॥टेक॥
आलम दुनीं सबै फिरि खोजी हरि बिन सकल अयानां।
छह दरसन छ्यांनवै पाखंड आकुल किनहूं न जानां॥
जप तप संजम पूजा अरचा जोतिग जग बौरानां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां मनही मन न समानां॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूं निहचै भगति निवासा ॥१४॥

बिरलै—कोई ही। दोसत—साथी क्योंकि कबीर का साधना मार्ग बड़ा कठिन है अतः उसके साथ चलने के लिए बिरले ही साथी मिलते हैं। तत—तत्त्व सत्य। आलम—दुनिया संसार। दुनीं—दुनिया। छह दरसन—षट्दर्शन शिक्षा छन्द निरुक्त व्याकरण ज्योतिष कल्प।

कबीर कहते हैं कि मेरे साथी बहुत कम हैं—इस सत्य का बारम्बार उद्घाटन मैं किस-किस के सम्मुख करूं। वह परम प्रभु भरण पोषण एवं पोषण-संहारण सब दोनों में समर्थ है अतः वह जिस प्रकार रख रहा है मनुष्य को वैसे ही रहना चाहिए। मैंने सर्वत्र सृष्टि में खोज कर देख लिया किन्तु प्रभु बिना सर्वत्र शून्य निर्जनता के और कुछ नहीं है। षट्दर्शन एवं अन्य विविध शास्त्र ग्रन्थों (जिन्हें कबीर केवल मात्र कागज़ का पागलपन मानते हैं) में प्रभु की खोज के बड़े व्यर्थ प्रयत्न किए गए हैं किन्तु कोई भी उन्हें पूर्णरूपेण जानने में समर्थ नहीं हो सका। उसी को जानने के लिये संसार जप नियम-संयम पूजा अथवा ज्योतिष आदि विविध प्रयत्नों में पागल हो रहा है। उसकी खोज के लिए पुस्तक पर पुस्तक एवं विविध धर्म ग्रन्थों के ढेर के ढेर लिख कर मन ही मन प्रफुल्लित हैं किन्तु इनमें किसी ने भी

उसका वास्तविक रूप प्रकट नहीं होता। कबीर कहते हैं कि योगी आदि विभिन्न वर्गों के साधक उसकी खोज में झूठी आशा ले कर मर रहे हैं इनके द्वारा गृहीत रास्तों से वह प्राप्त नहीं होता वह तो निश्चयपूर्वक गुरु उपदेश के द्वारा सहज भी वर्ग दृढ़ भक्ति द्वारा प्राप्त होता है।

किते सिध साधक गये रूठि
राम संमाधि अजहूँ नहीं छूटि ॥टेक॥
असं काल कहूँ किते आप गये इंद्र से अगिणत आप।
ब्रह्मा खोजि पर्यौ गहि नाल कहै कबीर वे राम निराल ॥१३१॥

इस पद में कबीर प्रभु की अगम्यता का वर्णन करते कहते हैं कि जिसप्रकार कैसे न जाने कितने तपस्वी प्रभु की प्राप्ति-इच्छा में समाधि लगा-लगा कर पत्थर मान गये किन्तु प्रभु की समाधि—निद्रा अब भी नहीं टूटी जो उन्हें दर्शन दे सकें। न जाने कितनी सृष्टियों का सृजन एवं विनाश हो गया और इन्द्र जैसे न जाने कितने शत देवता उनसे पराजित हो गये। ब्रह्मा उन्हें खोजते-खोजते कमल-नाल पकड़ कर बैठ रहा किन्तु कबीर कहते हैं कि वे अद्भुत राम किसी को भी प्राप्त नहीं हो सके।

विशेष—पद की प्रत्येक पंक्ति में हिन्दुओं के किसी न किसी धार्मिक विश्वास का कबीर को ध्यान है जिसके आधार पर वे ब्रह्म की अगम्यता सिद्ध कर रहे हैं।

अब्यत ज्योति ए माधौ सो सब मांहि समानां।
ताहि छाड़ि जे आंन भजत हैं ते सब भ्रमि भुलानां ॥टेक॥
ईस कहै मैं ध्यान न जानूं दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणां कारणि केसौ नांव धरण कौं तोहीं॥
कहौ धौं सबद कहां थैं आवै अरु फिरि कहां समाई।
सबद अतीत का मरम न जानैं भ्रमि भूली दुनियाई॥
प्यंड मुकति कहां ले कीजै जौ पद मुकति न होई।
प्यंडै मुकति कहत हैं मुनि जन सबद अतीत था सोई॥
प्रगट गुपत गुपत पुनि प्रगट सो कत रहै लुकाई।
कबीर परमांनंद मनाये अकथ कथ्यौ नहीं जाई ॥१३२॥

यह अनुपम ब्रह्म समस्त सृष्टि में समा रहा है उस परम-प्रभु को छोड़ जो अन्य देव भजन करते हैं वे लोग सांसारिक भ्रम में भ्रमित हैं।

प्रभु स्वयं कहते हैं कि मैं ध्यान द्वारा प्राप्य नहीं हूँ मुझे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। हे प्रभु! आप अपने दासों—भक्तों—पर थोड़ी सी तो दया-दृष्टि कीजिये—

यह सृष्टि उसी है तो फिर पंडित इसी बात के रहस्योद्घाटन के लिये क्या शास्त्र-कथन करेगा ? वह ब्रह्म न तो शरीरधारी है और न मनयुक्त है एवं सत्व रज तम तीनों गुणों से परे है। इस संसार में उसी की सृष्टि के रूप में विष और अमृतमय फलों से युक्त वृक्ष लगे हुए हैं किन्तु उन सबका मूल उत्स एक ही है। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार समस्त सृष्टि का नियामक एक ही ब्रह्म को मान लेने में ही आनंद और शान्ति है कौन इस व्यर्थ के झगड़े में पड़कर उलझे ?

पांडे कौंन कुमति तोहि लागी
तू रांम न जपहि अभागा ॥टेक॥

बेद पुरांन पढ़त अस पांडे खर चंदन जैसें भारा ।
रांम नांम तत समझत नांहीं अंति पड़ मुखि छारा ॥
बेद पढ़यां का यहु फल पांडे सब घटि देखैं रांमां ।
जन्म मरन थें तौ तू छूटै सुफल हूंहि सब कांमां ॥
जीव बधत अरु धरम कहत हौ अधरम कहां है भाई ।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे का सनि कहौं कसाई ।
नारद कहै ब्यास यौं भाषै सुखदेव पूछौ जाई ।
कहै कबीर कुमति तब छूटै जे रहौ रांम ल्यौ लाई ॥३६॥

हे पांडे जी ! आप किस बुद्धि के फेर में पड़कर विविध पाखण्ड कर्मों का जंजाल फैलाते हो हे अभाग्यवान् राम-नाम क्यों नहीं जपता ? स्वर्ग में वेद और पुराण पढ़ने से क्या लाभ ? वास्तविक ज्ञान तो प्रभु-भक्ति है यह पुस्तकीय ज्ञान तो ऐसा ही है जैसे गधे पर चन्दन लदा हुआ हो और वह उसका कुछ भी लाभ न उठा सके। यदि तूने राम-नाम का रहस्य नहीं जाना तो अंत में मुख में धूलि पड़ेगी अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होगा। हे पाण्डे जी ! वेद पढ़ने का तो यही लाभ है कि प्रत्येक जीव के हृदय में प्रभु की अवस्थिति समझो। इससे तू जन्म-मरण के आवागमन चक्र से मुक्त हो जाएगा और तेरे समस्त कार्य सफल हो जायेंगे। यदि तुम पशुबलि करके भी धर्म कहते हो तो फिर अधर्मपूर्ण कार्य कौन सा रह गया ? तुम स्वयं पशुबलि करके तो मुनि कहलाते हो फिर भला कसाई किसे कहोगे ? । व्यास जी नारद और शुकदेव जैसे ऋषियों द्वारा इस मत की पुष्टि कराते हैं। कबीर कहते हैं कि यह कुबुद्धि जो तुम्हें ऐसे क्रूर कर्म करने के लिये प्रेरित करती है तभी छूट सकती है जब तुम अपनी वृत्तियां राम में केन्द्रित कर दो।

पन्डित बाद बदत झूठा ।
राम कह्या दुनियां गति पावै पाड कह्यां मुख मींठा ॥टेक॥

पावक कह्या पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै तौ सब कोई तिरि जाई॥
नर कैं साथि सूवा हरि बोलै हरि परताप न जानै।
जौ कबहू उड़ि जाइ जंगल मैं बहुरि न सुरतैं आनै॥
साची प्रीति बिषै माया सूं हरि भगतनि सूं हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ बांध्यौ जमपुरि जासी॥४॥

पंडित लोग व्यर्थ के विभिन्न वाद प्रस्थापित कर ईश्वर के झूठे स्वरूप से परिचय कराते हैं। भला यदि राम-नाम कहने मात्र से संसार से मुक्ति हो जाय और खांड का नाम-मात्र लेने से मुंह मिष्टान्न का स्वाद ले ले अग्नि का नाम लेने से ही पैर जल जाय और जल कह देने भर से तृषा परितृप्त हो जाय भोजन कहने भर से भूख की परितृप्ति हो जाय तो सब ही अपनी इच्छानुकूल तृप्ति पा लें। मनुष्य द्वारा सिखाये जाने पर तोता भी राम-नाम उच्चारण करता है किन्तु वह प्रभु प्रताप से तो अवगत नहीं होता। यदि कभी वह अपने पिंजड़ से छूट जाय तो पुनः कभी उसे प्रभु की स्मृति भी नहीं आ सकती। जो जीवात्मा माया के विविध विषयों से अनुराग रखते हैं और प्रभु भक्तों का उपहास करते हैं उनके हृदय में कभी भी प्रभु प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता और वे आवागमन के बंधन में बंधे मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

जौ पै करता बरण बिचारै
तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै ॥टेक॥
उतपति ब्यंद कहां थैं आया जो धरी अरू लागी माया।
नहीं को ऊंचा नहीं को नीचा जाका प्यंड ताही का सींचा॥
जे तूं बांभन बभनीं जाया तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया।
जे तूं तुरक तुरकनीं जाया तौ भीतरि खतनां क्यूं न कराया॥
कहै कबीर मधिम नहीं कोई सो मधिम जा मुखि रांम न होई॥४१॥

कबीर कहते हैं कि यदि सृष्टि कर्ता प्रभु भी वर्ण-विचार करे तो मनुष्य के जन्म लेते ही उसे तीन वर्णों में विभाजित कर दे। समस्त जीवों का मूल उत्स एक ही है और फिर सब माया-बंधन में पड़ते हैं। समस्त जीव समान हैं क्योंकि शरीर एक ही सांचे में ढले हुए हैं इसलिए कोई उच्च और निम्न नहीं है। हे ब्राह्मण! यदि तुझे अपनी उच्चता का गर्व है तो तू शेष संसार के समान ही मातृ-गर्भ से क्यों जन्मा किसी अन्य मार्ग से क्यों नहीं आया? और हे तुर्क! यदि तू अपनी श्रेष्ठता से किसी को कुछ समझता ही नहीं तो मातृ उदर से ही खतना करा कर अन्य लोगों से अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करता। कबीर कहते हैं कि कोई नीच नहीं है केवल वही नीच है जिसके मुख से राम-नाम का उच्चारण नहीं होता।

विशेष—सुनति—मुसलमानों में ४ ५ वर्ष की अवस्था में बालक—लड़के—की इन्द्रिय के अग्र भाग की खाल काटने का एक संस्कार होता है।

कथता बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यानी होई ।।टेक।।
जैसैं अगिन पवन का मेला चंचल चपल बुधि का खेला।
नव दरवाजे दसू दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यांन बिचार ।।
देही माटी बोलै पवनां बूझि रे ग्यांनी मूवा स कौनां।
मुई सुरति बाद अहंकार वह न मूवा जो बोलणहार ।।
जिस कारनि तटि तीरथि जांहीं रतन पदारथ घट हीं माहीं।
पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बखांणै भीतरि हूती बसत न जांणैं ।।
हूं न मूवा मेरी मुई बलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया मरता जाता नजरि न आया ।।४२।।
बलाइ—भाई।

जो अपनी वृत्तियों को अंतर्मुखी कर विचार करता है वही ज्ञानी है वही उपदेशक है वही प्रभु प्रमानुरक्त है। जिस प्रकार वायु के संसर्ग से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी भांति सर्वव्यापी और तीव्र बुद्धि के द्वारा ही यह आत्म-चिन्तन सम्भव है। शरीर में नौ द्वार एवं ब्रह्मरन्ध्र है हे ज्ञानी! ज्ञान द्वारा तू इनकी स्थिति का अनुमान कर। शरीर तो मिट्टी मात्र है जिसको प्राणवायु जीवन प्रदान करती है हे ज्ञानी जो (आत्मा) मर गया वह कौन था उसके स्वरूप पर विचार कर। कबीर स्वयं ज्ञानी से किये गये प्रश्न का उत्तर देते कहते हैं कि आत्मा नष्ट नहीं होती मनुष्य की मृत्यु पर नष्ट तो अहं मिथ्या दम्भ एवं स्वार्थवृत्ति होती है। जिसके लिए मनुष्य विविध तीर्थों की यात्रा का श्रम उठाता है वह रत्न और अमूल्य पदार्थ अर्थात् प्रभु तो हृदय में ही वास करते हैं। पण्डित व्यर्थ में वेदों का सस्वर पाठ करता है किन्तु अन्तर में रहने वाले ब्रह्म से परिचित नहीं होता। मृत्यु पर मनुष्य नहीं मरता केवल मात्र उसका अहं नष्ट हो जाता है और वह जो समस्त संसार में रमा हुआ है परमात्मा आत्मा के रूप में रह जाता है। कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने मुझ ज्ञान-दृष्टि प्रदान कर ब्रह्म के दर्शन करा दिये जिससे मैं जीवन-मरण के आवागमन चक्र से मुक्त हो गया।

हम न मरैं मरिहैं संसारा हंम कूं मिल्या जियावनहारा ।।टेक।।
अब न मरौं मरनै मन मांनां तेई मूए जिनि राम न जांनां।
साकत मरै संत जन जीवैं भरि भरि रांम रसाइन पीवैं ।।
हरि मरिहैं तो हमहूं मरिहैं हरि न मरै हंम काहे कूं मरिहैं।
कहै कबीर मन मनहि मिलावा अमर भये सुख सागर पावा ।।४३।।

कबीर इस पद में प्रभु प्राप्ति के पश्चात् अपनी मनःस्थिति का वर्णन करते कहते हैं कि अब मेरा मरण नहीं हो सकता क्योंकि मुझे तो जीवन या अमरता प्रदान करने वाले प्रभु के दर्शन हो गये। अब मैंने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं मरण को प्राप्त नहीं होऊंगा—मरते तो वे हैं जो प्रभु-महिमा से अवगत नहीं होते और मैं तो प्रभु से साक्षात्कार कर चुका हूं। शाक्त तथा बलि आदि की विविध हिंसात्मक क्रियाओं में ही पड़ा हुआ नष्ट हो जाता है और साधु जन भरपूर मात्रा में राम रूपी रसायन—प्रभुभक्ति—का पान करते हैं अत वे अमर हो जाते हैं। यदि प्रभु की समाप्ति हो जायेगी तो हमारा भी नाश हो जायेगा किन्तु जब वही नहीं मरेगा तो हम कैसे मर सकते हैं? क्योंकि हम तो उस प्रभु के अंश हैं। कबीर कहते हैं कि मन को प्रभुन्मुख कर देने से सुख-सागर की प्राप्ति हो कर मनुष्य अमर हो जाता है।

कौन मरै कौन जनमैं आई, सरग नरक कौनै गति पाई। टेक॥
पंचतत अविगत थें उतपनां एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां रेख रही नहीं आसा॥
जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांनां यहु तत क्यौ गियानीं॥
आदें गगनां अंतैं गगनां मधे गगनां भाई।
कहै कबीर करम किस लागै झूठी संक उपाई॥४४॥

अविगत=ब्रह्म। एकै=एक में ही। संक=शंका। उपाई=उपाय।

कबीर कहते हैं कि भला कौन मरता जीता है एवं मरणोपरान्त कौन स्वर्ग और नरक प्राप्त करता है—ये तो विश्वासमात्र ही हैं। ब्रह्म से उत्पन्न पंचतत्त्व—पृथ्वी जल आकाश अग्नि वायु—एकत्र रूप में आने पर मनुष्य का रूप धारण कर लेते शरीर नष्ट हो जाने पर उससे विलग हो ये पंचतत्त्व पुनः उसी ब्रह्म में समा जाते हैं और फिर मनुष्य का कुछ चिह्न भी संसार में नहीं रह जाता। वस्तुतः यह सृष्टि इसी प्रकार है कि संसार के जल में शरीर रूपी एक घट है जिसमें भीतर भी जल ही विद्यमान है—शरीर में समस्त तत्त्व इस सृष्टि के ही हैं—एवं उसके बाहर तो संसार रूपी जल है ही। शरीर रूपी घट के फूट जाने पर शरीर घट स्थित जल रूपी आत्मा शेष संसार में व्याप्त परमात्मा से मिल गई। इस प्रकार सृष्टि के आदि मध्य और अन्त में सर्वत्र सर्वत्र परमात्मा का ही निवास है। कबीर कहते हैं कि संसार के मायाप्रवर्तन तथा संसार भ्रम मिथ्या हैं यहां तो केवल कर्म ही प्रधान है।

कौन मरै कहु पंडित जनां सो समझाइ कहौ हम सनां॥टेक॥
माटी माटी रही समाइ पवनै पवन लिया सँगि लाइ।
कहै कबीर सुनि पंडित गुंनी रूप मूवा सब देखै दुनी॥४५॥

हे ज्ञानी पण्डित भक्त ! हमें बताओ तो सही कि मरता कौन है। मरना कुछ नहीं केवल मिट्टी का दूसरी मिट्टी मे मिल जाना है, पवनांश का सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त वायु से मिलन है। कबीर कहते हैं कि ज्ञानी पण्डित ! तुम सब लोग केवल शरीर ही नष्ट होता देख उसे मरण कहते हैं किन्तु यह कोई नहीं देखता कि यह व्यष्टि का समष्टि से अंश का अंशी से आत्मा का परमात्मा से मिलन है।

जे को मरै मरन है मीठा
गुर प्रसादि जिनही मरि दीठा ।।टेक।।
मूवा करता मुई ज करनी मुई नारि सुरति बहु धरनी ।
मूवा आपा मूवा मांन परपंच लेइ मूवा अभिमांन ।।
रांम रमें रमि जे जन मूवा कहै कबीर अबिनासी हूवा ।।४६।।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु की कृपा से जिन्हें मरण के दर्शन हो जाते हैं वे यदि मरना चाहें तो मरना ही उनके लिए मधुर है क्योंकि वह प्रभु-दर्शन का एक उपाय है। जो सांसारिक कर्मों के लिए मर जाता है अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है उसे कर्म-बोध या कर्म-पाप नहीं लगता। व्यक्ति को कामिनी एवं अन्य मायाकर्षणों से विरक्त हो जाना चाहिए। अहं और दम्भ को नष्ट कर एवं मिथ्या-मान को भी त्याग कर व्यक्ति सांसारिक प्रपंच से अलग हो जाता है। कबीर कहते हैं कि इस भांति संसार के लिए मर कर जो प्रभु-भक्ति मे लीन रहते हैं फिर वे प्रभु में मिल कर अमरत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

जस तू तस तोहि कोई न जांन
लोग कहैं सब आंनहि आंन ।।टेक।।
चारि बेद चहूं मत का बिचार इहि भ्रमि भूलि परयो संसार ।
सुरति सुमृति दोइ को बिसवास बाझि परे यों सब आसा पास ।।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर मैं बपुरो धू का मैं का कर ।।
जिहि तुम्ह तारौ सोई पै तिरइ कहै कबीर नांतर बांध्यो मरई ।।४७।।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभ ! आप जैसे हैं उस रूप में आपको कोई नहीं जानता सब और ही और रूप में आपका स्वरूप वर्णन करते हैं। चारों वेद एवं समस्त मत-मतान्तरों का उद्देश्य भी आपका स्वरूप वर्णन है किन्तु संसार उनमें विश्वास कर व्यर्थ भूल में पड़ा हुआ है—कहां ईश्वर का वास्तविक स्वरूप कहां ? प्रभु को प्राप्त करने के लिए केवल दो ही उपाय हैं—प्रेम और स्मृति अंध संसार दोष उपाया के द्वारा इन्हीं के चारों ओर घूमता है। आगे कबीर पूर्व कथन से विरोध रखती हुई बात कहते हैं कि ब्रह्मादिक एवं सनकादिक आदि ऋषिगण एवं अन्य देवता तथा मनुष्य भी उनका भेद न जान सके तो मैं बेचारा भला उनको क्या जान

सकता हूँ ? कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! जिसे आप इस संसार सिंधु से तारना चाहते हैं वो तर जाता है अन्यथा शेष मनुष्य तो माया-बंधन में पड़ ही मर जाते हैं और आवागमन के चक्र में पुनः पड़ते हैं।

विशेष—१ अन्तिम पंक्ति से तुलना कीजिए—

'सो जानई जेहि तुम्हई जनाई, जानत तुम्हई होइ जाइ।'

२ ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करने में कबीर की बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है, प्रस्तुत पद के पूर्वार्द्ध में कबीर चुनौती देकर वेदादि की प्राप्ति को भ्रम बताते हैं किन्तु इससे थोड़ा आगे बढ़कर वे प्रभु प्राप्ति के दो ही उपाय बताते हैं—प्रेम व स्मृति ग्रन्थ। यह कैसा विरोधाभास है ? फिर और आगे बढ़कर उसी कबीर के मुख से जो धर्म ग्रन्थों की प्राप्ति को इस प्रकार चुनौती देता है कि उसने वास्तविक सत्य का साक्षात्कार किया है उसका ब्रह्म से मिलन हुआ है, हम यह सुनते हैं कि जब बड़े-बड़े ऋषिगण ही उस प्रभु को न जान सके तो भला मैं क्या जान सकता हूँ ? वस्तुतः इन कथनों में ऊपर से ही विरोधाभास लक्षित होता है, इनके मूल में एक साधक की विभिन्न मनःस्थितियों का दर्शन होता है।

लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन नंद कहौ धूं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते तब यहु नंद कहां थौ रे ॥टेक॥
जांमैं मरै न संकुटि आवै नांव निरंजन जाकौ रे।
अबिनासी उपजै नहिं बिनसै संत सुजस कहैं ताकौ रे ॥
लष चौरासी जीव जंत मैं भ्रमत नंद थाकौ रे।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो भगति करैं हरि ताकौ रे ॥४८॥

हे पंडित ! नन्दलाल श्रीकृष्ण को प्रभु बताते हो किन्तु यह तो बताओ कि नन्द कौन है ? और कहाँ का वासी है ? जब पृथ्वी और आकाश—सृष्टि में कुछ भी नहीं था केवल मात्र परब्रह्म था क्या तुम्हारा यह नन्द तब भी था ? कबीर कहते हैं कि वास्तविक प्रभु तो वही है जिसका नाम अलख-निरञ्जन है। वह न तो जन्म लेता है और न मरण को प्राप्त होता है और न कभी उस पर संकट आता है। वह अविनाशी प्रभु न तो जन्म लेता है न मरता है। हे साधुजनो ! तुम उसी का गुण-गान करो। अरे तो जो कृष्ण का पिता है, आवागमन के चक्र में पड़कर चौरासी लाख योनियों में भ्रमित होता रहा है अर्थात् वह तो सामान्य मनुष्य है किन्तु कबीर के स्वामी ऐसे हैं जो इन सब सांसारिक बातों से परे हैं उसी की भक्ति काम्य है।

निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई
अबिगत की गति लखी न जाई ॥टेक॥

चारि बेद जाकै सुमृत पुरांनां नौ व्याकरनां मरम न जांनां।
सेस नाग जाकै गरड़ समांनां चरन कवल कवला नहीं जांनां॥
कहै कबीर जाकै भेदैं नांहीं निज जन बैठे हरि की छांहीं॥४१॥

कबीर कहते हैं कि हे भाई! तुम निर्गुण ब्रह्म की भक्ति करो। उस परम प्रभु की गति का किसी को पता नहीं। चारों वेद एवं समस्त स्मृति एवं पुराण ग्रन्थ तथा नव-व्याकरण इस निर्गुण ब्रह्म के रहस्य को न जान सके। शेषनाग को जिसका वाहन गरुड़ चट कर जाता है उस प्रभु के रहस्य को उसके चरण कमलों में रहने वाली लक्ष्मी नहीं जान पातीं। कबीर कहते हैं कि परम प्रभु के रहस्य को कोई नहीं जान पाया किन्तु प्रभु-भक्त उसके रहस्य को पहचानकर उन्हीं की शरण मे रहते हैं।

विशेष – कबीर के ब्रह्म की विशेषता यही है कि उसे जहां निर्गुण बताते हैं वहां उसका सम्मिलन वैष्णवों के आराध्य विष्णु आदि से कर देते हैं किन्तु इन नामों को भी कबीर ने अवतार के नाम के रूप मे नहीं अपनाया उनका निर्गुण ब्रह्म जनता में प्रचलित इष्टदेव के नामों से अभिहित हो सर्वसाधारण के अधिक निकट आ जाता है।

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो
कोई कहौ कबीर कोई कहौ रांम राई हो॥टेक॥
नां हम बार बूढ़ नाहीं हम नां हमरै चिलकाई हो।
पठए न जाऊं अरवा नहीं जांऊं सहजि रहूं हरिआई हो।
ओढ़न हमरै एक पछेवरा, लोक बोलैं इकताई हो।
जुलहै तनि बुनि पांन न पावल फारि बुनी दस ठांई हो।
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमरो नांउं रांम राई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि इहि कबीर कछु पाई हो॥४२॥

कबीर का ब्रह्म स्वयं कहता है कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूं और सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में सब कुछ मैं ही हूं। यह नाना रूपात्मक जगत् मेरे विभिन्न रूपों का प्रकाश है। कोई मुझे किसी नाम से पुकारता है और कोई किसी अन्य नाम से। मैं न तो जल-प्रवाह मे डूब सकता हूं एवं न मैं किसी बाह्य प्रकाश से प्रकाशित हूं। मैं न कहीं जाता हूं और न कहीं आता हू मैं तो स्वाभाविक रूप से प्रयत्न न करते हुए भी संसार (विद्वानों से तात्पर्य) मुझे एक परमतत्व के रूप में जानता है। जुलाहा जिस प्रकार एक ही थान को बुनकर उसके दस टुकड़े कर देता है उसी भांति मैं एक होते हुए भी सर्वत्र रहता हू। मुझे मेरी सत-रज तम त्रिगुणात्मक प्रकृति भी नहीं व्यापती इसी मद्गुणता के कारण मेरा नाम राम पड़ा। कबीर ने उसके स्वरूप को कुछ

ग्रहण किया है इसीलिये वे कहते हैं कि ब्रह्म तो समस्त जगत् को देखता है किन्तु संसार उस परमात्मा को नहीं देखता।

सोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई ।।टेक।।
अला एक नूर उपनाया ताकी कसी निंदा।
ता नूर थें सब जग कीया कौन भला कौन मंदा ।।
ता अला की गति नहीं जांनी गुरि गुड़ दीया मीठा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहिब दीठा ।।२१।।

खालिक=प्रभु। खलक=संसार। नूर=रत्न। बंदा=बुरा। गुरि=सद्गुरु। गुड़=आशीर्वाद। पूरा=पूर्ण ब्रह्म। साहिब=स्वामी ब्रह्म। दीठा=दृष्टिगत हुआ।

हे पंडित! तुम प्रभु-महिमा को जानते हुए भी उसे भूलो मत अर्थात् प्रभु को विस्मृत कर-संसार की विषय वासनाओं में मत पड़े रहो। वह ब्रह्म परिव्याप्त है। इस प्रकार वह प्रभु प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में बसा हुआ है। एक प्रभु से ही समस्त संसार का निर्माण हुआ है अतः दूसरे की निन्दा कर प्रभु की ही निन्दा करते हैं। जब समस्त संसार उसी एक ज्योति से प्रकाशित है तो फिर भला अच्छा और बुरा उच्च और निम्न का भेद कैसा? सद्गुरु के मधुर आशीर्वाद से प्रभु के दर्शन हुए, उसकी गति अगम्य है। कबीर कहते हैं कि मुझे पूर्ण ब्रह्म के दर्शन हो गये अब मुझे प्रत्येक के हृदय में उसका वास दृष्टिगत होता है।

राम मोहि तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुंठ कहौ धूं कैसा करि पसाव मोहि दैहो ।।टेक।।
जो मेरे जीव दोइ जानत हौ तौ मोहि मुकति बतावो।
एकमेक रमि रह्या सबनि मैं तौ काहे भरमावो ।।
तारण तिरण जबै लग कहिये तब लग तत न जांनां।
एक रांम देख्या सबहिन में कहै कबीर मन मांनां ।।२२।।

तारि=उद्धार कर संसार-सागर से तार कर। पसाव=कृपा करके। तत=तत्व ब्रह्म।

हे प्रभु! मेरी समझ में नहीं आता कि आप मुझे इस संसार से तार कर कहाँ ले जाओगे। हिन्दुओं का यह विश्वास है कि संसार सागर से पार होकर मनुष्य बैकुण्ठ में जाता है, तो हे प्रभु! आप मुझे कृपा कर जो यह मोक्ष प्रदान करेंगे वह कैसा है? यदि आप अपने में और मेरी जीवात्मा में द्वैत भावना के अंतर रखते हैं तो मुझे मुक्ति का साधन बतादें जिससे मैं आपके स्वरूप में लीन हो एकमेक हो

जाऊं। यदि वह एक ब्रह्म सर्वत्र समस्त वस्तुओं एवं पदार्थों में परिव्याप्त है तो फिर मुझे इस द्वैत—भ्रम में क्यों डाला गया। तारने एवं तरने की तो बातें तभी तक सूझती हैं जब तक प्रभु को नहीं जाना जाता। कबीर मन में प्रभु की सत्ता को स्वीकार कर सर्वत्र राम की ही झांकी देखते हैं।

सोहं हंसा एक समांन काया के गुण आंनहि आंन ॥टेक॥
माटी एक सकल संसारा बहु बिधि भांडे घड़े कुंभारा ॥
पंच बरन दस दुहिए गाइ, एक दूध देखौ पतिआइ।
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभवननाथ रह्या भरपूर ॥१३॥

सोहं=सोऽहं ब्रह्म। हंसा=आत्मा। काया=शरीर। आंनहि आंन=अन्य ही अन्य। संसा=संशय।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म और आत्मा में कोई अन्तर नहीं केवल मात्र मनुष्य के ही गुण भिन्न हैं यही माया में संलिप्त है। समस्त संसार में एक ही मिट्टी है सृष्टि निर्माता ब्रह्म रूपी कुम्भकार ने उसी मिट्टी के विविध आकारधारी मनुष्य रूपी घड़े निर्मित कर दिये हैं। संसार मे पंचवर्ग रूपी काम क्रोध मद लोभ मोह और दसों इन्द्रियों द्वारा एक आनन्द प्राप्ति ही काम्य बना ली है। कबीर कहते हैं कि संसार के माया-जन्य भ्रम को दूर कर दे और प्रभु का भजन कर क्योंकि वही समस्त संसार में परिव्याप्त है।

प्यारे रांम मनहीं मनां।
कासूं कहूं कहन कौं नाहीं दूसर और जनां ॥टेक॥
ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिए, आप दवासूं सोई।
संसौ मिट्यौ एक कौ एकै महा प्रलै जब होई ॥
जौ रिझऊं तौ महा कठिन है बिन रिझयें थैं सब खोटी।
कहै कबीर तरक दोइ साधै ताकी मति है मोटी ॥१४॥

हे प्रभु ! मैं आपका महिमागान मन ही मन कर लेता हूं, मैं किससे आपका गुण-वर्णन करूं कोई अन्य प्रभु-भक्ति में अनुरक्त नहीं मिलता। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब है उसी भांति इस संसार में आपका प्रतिबिम्ब है। संसार भ्रम का नाश तो तभी हो सकता है जब महाप्रलय होकर सब कुछ नष्ट हो जाय और केवल मात्र एक ब्रह्म ही शेष रह जाय। यदि मैं प्रभु को अपने प्रेम द्वारा आकर्षित करने का प्रयत्न करूं तो यह प्रेम निर्वाह बड़ा कठिन है। कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति तर्क बल से संसार और प्रभु दोनों की सत्यता प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं वे निर्बुद्धि हैं क्योंकि एकमात्र प्रभु से प्रेम ही मनुष्य का क्षेम है।

हम तो एक एक करि जांनां ।
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग जिन नांहिन पहिचांनां ॥टेक॥
एक पवन एक ही पांनीं एक ज्योति संसारा ।
एक ही खाक घड़े सब भांडे एकही सिरजन हारा ॥
जैसे बाढ़ी काष्ट ही काटै अगिनि न काटै कोई ।
सब घटि अंतरि तू ही व्यापक धरै सरूपैं सोई ॥
माया मोह अर्थ देखि करि काहे कू गरबांनां ।
निरभै भया कछू नहीं व्यापै कहै कबीर दिवांनां ॥५५॥

दोइ=द्वैत । दोजग=दोजख नरक । खाक=मिट्टी । भांड=पात्र । बाढ़ी =बढ़ई । अगिनि=अग्नि । तू ही=तू ही ब्रह्म । सरूपैं=स्वरूप । अर्थ=धन । गरबांना=गर्व करना मिथ्या दम्भ के अर्थ में प्रयोग ।

कबीर कहते हैं कि हमने तो प्रभु को एक ही परब्रह्म के रूप में जाना है । जो व्यक्ति प्रभु को एक से अधिक बताते हैं अथवा जो प्रभु और संसार दोनों को सत्य मानते हैं वे नरक के अधिकारी हैं । संसार में एक ही पवन परिव्याप्त है एवं जल भी एक ही है । समस्त संसार एक ही परम ज्योति के प्रकाश से अथवा एक ही सूर्य से प्रकाशित है । एक ही मिट्टी से सृजनकार ब्रह्म ने मनुष्यों के रूप में विविध आकार के पात्रों का निर्माण किया है । इन सबसे यही सिद्ध होता है कि प्रभु एक ही है । जिस प्रकार बढ़ई काष्ठ की लकड़ी को ही काटता है अग्नि को कोई नहीं काट सकता उसी भांति भौतिक उपादानों को तो नष्ट कर सकते हैं किन्तु परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म को नष्ट नहीं किया जा सकता । हे प्रभु ! समस्त संसार के हृदय में आपका वास है, एक प्रकार से समस्त संसार के रूप में प्रभु ही विविध रूपों में भासित है । हे मनुष्य ! क्यों व्यर्थ मिथ्यादम्भ करता है, तेरा चंचल मन धन एवं अन्य माया प्रलोभनों में सहज ही फंस जाता है । कबीर कहते हैं कि प्रभु प्रेमानुरक्त भक्त को किसी प्रकार का सांसारिक भय नहीं रह जाता वह तो प्रभु प्रेम में ही लीन रहता है ।

अरे भाई दोइ कहां सो मोहि बतावो
बिचिहि भरम का भेद लगावो ॥टेक॥
जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं दीन एक बीच भई करनीं ।
रांम रहीम जपत सुधि गई उनि माला उनि तसबी लई ॥
कहै कबीर चेतहु रे भौंदू बोलनहारा तुरक न हिंदू ॥५६॥

दोइ=दो यहां तात्पर्य एक से अधिक का है बहुदेववाद । तसबी=मुसल मानों के जपने की माला का विशेष नाम । भौंदू=मूर्ख मूढ़ ।

कबीर कहते हैं कि एक से अधिक कहाँ से आ गये हे बहुदेववादियो ! मुझे इस बात का उत्तर दो। यदि वह एक से अधिक है तो उसने एक से अधिक पृथ्वी का निर्माण क्यों नहीं किया। सब धर्मों का बिन्दु तो एक ही है केवल मात्र उनकी आचरण पद्धति में अन्तर है। हिन्दू और मुसलमानों ने अपने-अपने आराध्य को पृथक् पृथक् स्वीकार कर इस सत्य को विस्मृत कर दिया और हठधर्मी से एक ने माता को और दूसरे ने उसकी को अपनाया। कबीर कहते हैं कि भेद बुद्धि रखने वाले हे मौदूमो ! (बुद्धुओ) मनुष्य के शरीर में बोलने वाली आत्मा न तो हिन्दू है और न मुसलमान—वह इस भेद बुद्धि से परे है।

ऐसा भेद बिगूचन भारी।

बेद कतेब दीन अरु दुनियां कौंन पुरिष कौन नारी ।।टेक।।

एक बूंद एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।

एक जोति थैं सब उतपनां कौन बांम्हन कौन सूदा ।।

माटी का प्यंड सहजि उतपनां नाद रु ब्यंद समांनां।

बिनसि गयां थैं का नांव धरिहौ पढ़ि गुनि भ्रम जांनां ।।

रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई।

कहै कबीर एक रांम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई ।।४७।।

बेद—चारों वेद। कतेब—किताब कुरान मुसलमानों का धर्म ग्रन्थ। बूंद—वीर्य की एक बूंद से तात्पर्य। सूदा—शूद्र। प्यंड—पिंड शरीर। नाद—शब्द। ब्यंद—रूप।

कबीर कहते हैं कि भेद-बुद्धि ने भारी विडम्बना खड़ी कर रखी है। इस भेद बुद्धि ने ही विविध धर्म ग्रन्थों, मतों एवं देशों में विभेद कर रखा है। वास्तविकता यह है कि स्त्री और पुरुष में भी कोई अन्तर नहीं है सब ही उस परब्रह्म के अंश हैं।

समस्त मनुष्य एक ही वीर्य की बूँद से उत्पन्न हुए हैं। सब समान रूप से मल-मूत्र का त्याग करते हैं। सब में एक ही चर्म और समान ही मांस है। सब का जन्म परम ज्योति स्वरूप एक ब्रह्म से ही है फिर भला ब्राह्मण और शूद्र का अन्तर कैसा ? मिट्टी से सबके शरीर की उत्पत्ति एक समान भाव से ही होती है। सबके शरीर में नाद-ब्रह्म की अवस्थिति है। यदि यह शरीर नष्ट हो गया तो मृत्यु के उपरान्त आत्मा को क्या सम्बोधन दोगे ? भाव यह है कि नाम-रूप का भेद मिथ्या है—सब में समान रूप से ब्रह्म का वास है। इस सत्य के होते हुए भी संसार व्यर्थ पोथी ज्ञान में उलझा हुआ है। हिन्दुओं का यह विश्वास कि ब्रह्मा में रजोगुण शंकर में तमोगुण एवं विष्णु में सतगुण प्रधान है—भ्रामक है। इसीलिए कबीर कहते

है कि तुम एक परब्रह्म का ही भजन करो। हिन्दू और मुसलमान सब एक हैं अतः उनके आराध्य भी एक ही हैं।

हमारे राम रहीम करीमा केसो अलह राम सति सोई।
इनके काजी मुलां पीर पैकंबर रोजा पछिम निवाजा।
इनके पूरब दिसा देव दिज पूजा ग्यारसि गंग दिवाजा।।
तुरक मसीति देहुरै हिंदू, दहूँठां राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नांही तहां काकी ठकुराई।।
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित पूरि रह्या राम राई।
कहै कबीरा दास फकीरा अपनी रहि चलि भाई।
हिंदू तुरक का करता एकै ता गति लखी न जाई।।१८।।

हमारे = हमारे। करीमा = करीम। केसो = केशव। बिसमिल = बिस्मिल्लाह। बिसम्भर = विश्वम्भर, विश्व का भरण पोषण करने वाला। मुलां = मुल्ला। पैकंबर = पैगम्बर धर्म दूत। रोजा = रमजान के दिनों में उपवास रखने को रोजा कहते हैं। दिज = द्विज ब्राह्मण। मसीति = मस्जिद। देहुरे = देवालय। ठकुराई = प्रभुता स्वामित्व। रहि = राह मार्ग। करता = कर्ता ब्रह्म।

कबीर यहाँ सब मत-मतान्तरों द्वारा मान्यता प्राप्त प्रभु को नामों की विभिन्नता होते हुए भी एक ही मानते हैं। कहते हैं कि हमें तो प्रभु राम रहीम करीम अल्लाह समस्त रूपों में समान भाव से मान्य हैं। बिस्मिल्लाह न कहकर यदि उसे विश्वम्भर कह दिया जाय तो भी वह वही प्रभु रहेगा कोई दूसरा नहीं।

एक ओर मुस्लिमों के यहाँ काजी मुल्ला पीर तथा पैगम्बर एवं रोजा तथा पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके नमाज पढ़ने की मान्यता है तो दूसरी ओर हिन्दुओं के यहाँ पूर्व दिशा की ओर मुख करके ब्राह्मण और अन्य देवताओं की पूजा विधि है और एकादशी व्रत तथा गंगा स्नान की मान्यता है। भला एक ही प्रभु के लिए उपासना पद्धति का यह व्यवधान कैसा? मुसलमान मस्जिद एवं हिन्दू मन्दिर में प्रभु का वास मानते हैं इस प्रकार वे राम और अल्लाह में भेद उत्पन्न कर देते हैं। भला जहाँ मन्दिर और मस्जिद नहीं है वहाँ किस प्रभु का शासन है? इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान व्यर्थ अपने बीच भेद की दीवार खड़ी कर अभिमान धारण करते हैं और परस्पर लड़ते हुए एक दूसरे से कटते रहते हैं।

अतः कबीरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य! तू अपने उचित मार्ग का अवलम्बन कर क्योंकि ऊपर-नीचे दश-दश-अनन्त वही सर्वशक्तिमान् राम ही व्याप्त हुआ है। हिन्दू और मुस्लिम दोनों का निर्माता एक ही ब्रह्म है, उसकी गति को कोई नहीं देख पाता।

काजी कौन कतेब बषानैं ॥
पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहीं जानैं ॥टेक॥
सकति से नेह पकरि करि सुनति यहु नबदूँ रे भाई।
जोर षुदाइ तुरक मोहि करता तौ आपै कटि किन जाई ॥
हौं तौ तुरक किया करि सुनति औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै आधा हिंदू रहिये।
छाड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हो भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की काजी रहे झष मारी ॥२६॥

कतेब=किताब कुरान शरीफ। खून करत हो भारी=बहुत अन्याय करते हो। सुनति=मुसलमानों की रस्म।

कबीर कहते हैं कि हे काजी! क्यों व्यर्थ कुरान के पाठ के चक्कर में पड़े हुए हो? इसका पाठ करते-करते तुम्हें न जाने कितना समय व्यतीत हो गया किन्तु तुम अब भी प्रभु महिमा से परिचित नहीं हो सके। ये काजी शक्तिपूर्वक बालक का खतना कराते हैं यह इनका आचरण है। यदि तुर्क अपने प्रभुत्व का इसी प्रकार उपयोग करें तो काजी ही कट जाय मार दिया जाय। यदि तुम तुर्क होकर खतने कराने से पवित्र होते हो तो फिर स्त्री को क्या उत्तर दोगे? अर्ध शरीरी नारी ही अच्छा है, अतः हे मुसलमानो! अपनी पवित्रता बनाने के लिए हिन्दुओं के आगे आचरण करो। हे मुल्ला! तुम कुरान आदि धर्म ग्रन्थों को छोड़ राम नाम का जप करो इसके अन्यथा करने पर तुम भारी अन्याय कर रहे हो। कबीर कहते हैं कि मैंने तो भक्ति का दृढ़ सम्बल प्राप्त कर लिया है, धर्मनिष्ठ मुसलमान काजी मुझे मुसलमान बनाने का व्यर्थ उपक्रम करते रह गये।

विशेष—१ प्रथम दो पंक्तियों में पुस्तकीय ज्ञान की निस्सारता पर जो बात कबीरदास जी ने यहां कही है, वही बात साखी में भी बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की है, यथा—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय ॥

"छाड़ि कतेब……भारी" चरण से ज्ञात होता है कि कबीर की वैष्णव भक्ति में कितनी दृढ़ और अटल आस्था थी। उनकी इस अटूट निष्ठा का द्योतक पद में प्रयुक्त 'खून करत हो भारी' प्रयोग है। आगे वह इसी की पुष्टि करते हुए कहते हैं 'पकरी टेक कबीर भगति की।'"

मुलां कहां पुकार दूरि राम रहीम रह्या भरपूरि ॥टेक॥
यहु तौ अलह गूंगा नांही देखै खलक दुनी दिस मांही ।
हरि गुन गाइ बंग मैं दीन्हां काम क्रोध दोऊ बिसमल कीन्हां ॥
कहै कबीर यहु मुलनां झूठा राम रहीम सबनि मैं दीठा ॥६॥

कबीर कहते हैं कि हे मुल्ला जी ! आप बांग देकर प्रभु को दूर से बुलाने का उपक्रम क्यों करते हो ? उसे अल्लाह कहो या राम वह तो सर्वत्र रमा हुआ है । वह अल्लाह गूंगा तो नहीं है उसे तो समस्त संसार में तथा अपने हृदय में देखा जा सकता है । कबीरदास जी कहते हैं कि यह बांग लगाने वाला मुल्ला भ्रम में पड़ा हुआ है, वह राम और रहीम सभी नामों को धारण करने वाला ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है । अतः मैंने तो प्रभु का गुणगान कर बांग को अमान्य कर दिया है अर्थात् बांग का मेरे लिए कोई प्रयोजन नहीं । प्रभु-स्मरण से मेरे अब काम तथा क्रोध भी समाप्त हो गये हैं ।

विशेष—१ 'यहु तो अल्लाह गूंगा नहीं" में 'गूंगा' शब्द के स्थान पर यदि 'बहरा' शब्द होता तो अधिक उपयुक्त था क्योंकि मुल्ला के बांग देने की बात कही गई है । २ खलक दुनी में पुनरुक्ति दोष दृष्टिगत होता है । यदि इसका अर्थ इस प्रकार कर दिया जाय कि संसार उसे समस्त दुनिया में और हृदय में देखे' तो यह दोष नहीं रहता ।

पढ़ि ले काजी बंग निवाजा
एक मसीति दसौं दरवाजा ॥टेक॥
मन करि मका कबिला करि देही बोलनहार जगत गुर येही ।
वहां न दोजग भिस्त मुकांमां इहां ही रांम इहां रहिमांनां ॥
बिसमल तांमस भरंम कै दूरी पंचू भषि ज्यूं होइ सबूरी ।
कहै कबीर मैं भया दिवांनां मनवां मुसि मुसि सहजि समांनां ॥११॥

कबीर कहते हैं कि हे काजी ! तू मसजिद में जो नमाज पढ़ता है वह झूठी है अब तू प्रभु नाम का स्मरण कर सच्ची नमाज पढ़ । इस एक शरीर रूपी मसजिद के दस द्वार हैं उन सबमें यही राम नाम ध्वनि आनी चाहिए । तू मन को मक्का और शरीर को कर्बला के समान पवित्र तीर्थधाम बना ले । तेरे भीतर ब्रह्म का जो अंश आत्मा है वही तेरा पूज्य गुरु है । अतः तू अपना ध्यान वहां केन्द्रित कर उस ब्रह्म में लगा जहां न स्वर्ग है और न नरक । वह एकमात्र ब्रह्म ही राम और रहीम आदि नामों से पुकारा जाता है । तू अपनी समस्त तामसी वृत्तियों को समाप्त कर माया भ्रम को भगा दे । यदि तू पांचों इन्द्रियों के अर्थात् सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों से प्रभु का भजन करेगा तो तुझे शान्ति प्राप्त होगी ।

कबीर कहते हैं कि मैं तो प्रभु-प्रेम का दीवाना हो गया हूँ और मेरा मन चुपचाप—संसार से असम्पृक्त हो सहज समाधि में लीन हो गया है।

मुलां करि ल्यौ न्याव खुदाई
इहि बिधि जीव का भरम न जाई ॥टेक॥
सरजी आंनें देह बिनासै माटी बिसमल कीता।
जोति सरूपी हाथि न आया कहौ हलाल क्या कीता॥
बेद कतेब कहौ क्यूं झूठा झूठा जो न बिचारै।
सब घटि एक एक करि जांनैं भी दूजा करि मारै॥
कुकड़ी मारै बकरी मारै हक हक करि बोलै।
सबै जीव सांई के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै॥
दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हां उसका खोज न जांनां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजग ही मन मांनां॥१२॥

कबीर कहते हैं कि हे मौलवी साहब! इन बाह्याचारों के ढोंग में न पड़कर ईश्वर के न्याय के अनुरूप आचरण करो। इस मिथ्याचार से जीवात्मा का भ्रम नष्ट नहीं होगा उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। जीव-हत्या द्वारा तुमने उस परमेश्वर द्वारा निर्मित जीव के शरीर को नष्ट कर उसके तन को भी समाप्त कर दिया। इस हलाल करने का क्या लाभ जब वह ज्योतिस्वरूप परम ब्रह्म ही तुम्हें दृष्टिगत नहीं हुआ। वेद कुरान आदि शास्त्र ग्रन्थों को झूठा कहने से क्या लाभ? वस्तुतः झूठे व नहीं झूठे तो वे लोग हैं जो उन पर विचार नहीं करते। यदि आप सब प्राणिमात्र के हृदय में एक उसी ब्रह्म की अवस्थिति मानते हैं तो जीवहत्या करते समय आप उसमें अपने जैसा ही प्राण क्यों नहीं मानते? तुम बकरी और मुर्गी जैसे निरीह जीवों को मारकर भी धर्म और पुण्य की बातें बढ़ चढ़ कर करते हो। समस्त जीवमात्र ही परमेश्वर को प्रिय हैं वे निर्मम हत्याएं कर तुम किस भांति मुक्त हो सकोगे? तुम्हारा हृदय तो स्वच्छ नहीं है और न तुम उस परम पवित्र प्रभु को पहचान पाये और न उसको खोजने का कभी प्रयत्न ही किया। कबीर कहते हैं कि मुल्ला जी! आपने प्रभु और संसार मे (संसार के जीवों में) द्वैत भावना स्थापित कर भ्रम का वातावरण बना रखा है।

या करीम बलि हिकमति तेरी
खाक एक सूरति बहु तेरी ॥टेक॥
अर्ध गगन मैं नीर जमाया बहुत भांति करि नूरनि पाया।
अवलि आदम पीर मुलांनां तेरी सिफति करि भये दिवांनां॥
कहै कबीर यहु हेत बिचारा या रब या रब यार हमारा॥१३॥

करीम=ईश्वर। बलि=बलिहारी। हिकमति=सराहनीय प्रयत्न यहाँ माया से तात्पर्य। खाक=मिट्टी।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारी माया पर बलिहारी जाता हूँ जिसने चित्र-विचित्र सृष्टि की रचना की है। इस संसार में मिट्टी एक ही है किन्तु उसी से ही तुमने विविध भाँति के जीव निर्मित कर दिये। तुम्हारी यह विचित्र माया ही तो है कि आकाश के कुछ भाग में न जाने कैसे असमय मेघों की सृष्टि कर दी। आपके ज्योतिस्वरूप का साक्षात्कार बड़े प्रयत्न से ही हो पाता है। संसार में जितने भी बली भारत तथा अन्य पीर आदि श्रेष्ठ व्यक्ति हुए हैं वे केवल आपकी कृपा और भक्ति से हुए हैं। कबीर कहते हैं कि इसीलिए मैंने आपकी प्रिय भक्ति को ही अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया है।

काहे री नलनी तू कुमिलांनी
तेरे ही नालि सरोवर पांनी ।।टेक।।
जल में उतपति जल में वास जल में नलनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि तोर हेतु कहु कासनि लागि ।।
कहै कबीर जे उदिक समान ते नहीं मए हमारे जान ।।१४१।।

कबीर कहते हैं कि हे कमलिनि ! तू क्यों कुम्हला रही है ? तेरी नालिका तो सदैव जल पूर्ण सरोवर में रहती है। इस जल में ही तेरा जन्म हुआ और जल में ही तू प्रारम्भ से अन्त तक निवास करती है। तू तो जल की गरमी से भी दूर है और न सूर्य का ताप तुझे झुलसा सकता है (क्योंकि रात्रि में विकसित होती है) फिर तू किस कारण से मुरझाती जाती है। कबीर कहते हैं कि जो जल के समान ही हो गये जल से एकरूप हो गये—जहाँ तक मेरा ज्ञान है वे तो अमर ही हो गये हैं।

विशेष—१ यहाँ महात्मा कबीर ने अन्योक्ति के माध्यम से जीव की स्थिति के विषय में प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि जीव ! जब तू जलस्वरूप ब्रह्म के नित्य सम्पर्क में है तो फिर तू व्यथित और भ्रमित क्यों है ? यदि तू अपने को उस जल—ब्रह्म के ही समान कर ले अर्थात् अपनी आत्मा को पूर्ण शुद्ध कर जल जैसा के समान ही बना ले तो तुझे कोई भव-बाधा न हो तू मुक्त हो जाए।

२ अपने प्रसिद्ध पद—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना इति तथ कथ्यो ग्यानी ।।"

में भी कबीर ने यही प्रतिपादित किया है कि द्वैत का बन्धन टूटते ही आत्मा परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेती है।

इब तू हसि प्रभू में कुछ नांही
पंडित पढ़ि अभिमान नसांहीं ।।टेक।।

मैं मैं मैं जब लग मैं कीन्हाँ तब लग मैं करता नहीं चीन्हाँ ।
कहै कबीर सुनहु नरनाहा नां हम जीवत न मूवाले माहीं ॥१६॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं कुछ नहीं हूं आप ही सर्वस्व हैं आप ही समस्त चर-अचर के विधायक हैं —हे पंडित ! तू इस सत्य का साक्षात्कार करके अपने अहं को विदूरित कर दे । जब तक मैंने अहं का परित्याग नहीं कर दिया तब तक मैं प्रभु के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाया । कबीर कहते हैं कि हे श्रेष्ठ संतो ! सुनो मैं इस अहं-दर्प का परित्याग कर न जीवित—संसारसम्पृक्त और न मृत—संसार से असम्पृक्त की स्थिति में हूं अर्थात् जीवन्मुक्त हूं ।

विशेष—महात्मा कबीर द्वारा वर्णित यह जीवन्मुक्त स्थिति गीता के निष्काम योगी की सी दशा है ।

अब का डरौं डर डरहि समांनां
जब मैं मोर तोर पहिचानां ॥टेक॥
जब लग मोर तोर करि लीन्हां भै भै जनमि जनमि दुख दीन्हां ।
आगम निगम एक करि जांनां ते मनवां मन मांहि समांनां ॥
जब लग ऊंच नींच करि जांनां ते पसुवा भूले भ्रम नांना ।
कहै कबीर मैं मेरी खोई तबहि रांम अवर नहीं कोई ॥१६॥

कबीर कहते हैं कि अब मैं जीवन्मुक्त स्थिति में आकर संसार के तापों तथा मायाधिक के भय से भयभीत क्यों होऊं ? मैं तो अहं और परं की भावना को विदूरित कर भव-मुक्त हो गया हूं । जब तक मैं अहं और परं जनित द्वैत भावना में संलिप्त रहा तब तक मैं आवागमन चक्र में पड़कर जन्म-मरण का दुख भोगता रहा । आगम निगम आदि जितने भी धर्म ग्रन्थ हैं उन सबकी एकमत मान्यता यही है कि वह परम प्रभु हृदय के भीतर ही अवस्थित है । जब तक मनुष्य मनुष्यों में ही ऊंच और नीच का विभेद करता है तब तक वह मनुष्य नहीं अपितु नाना संशयों में पड़ा हुआ पशु मात्र है ।

कबीर कहते हैं कि जब मैंने अहं का परित्याग कर समस्त चर-अचर को एक माना तब मुझे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दृष्टिगत हुआ ।

विशेष—कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के निम्न भाव से तुलना कीजिए—

"एक ही तो असीम उल्लास विश्व में पाता विविधाभास ।

बोलनां का कहिये रे भाई, बोलत बोलत तत नसाई ॥टेक॥
बोलत बोलत बढ़ विकारा बिन बोल्यां क्यू होइ बिचारा ।
संत मिलै कछु कहिये कहिये मिलै असंत मष्टि करि रहिये ॥
ग्यांनीं सूं बोल्यां हितकारी मूरखि सूं बोल्यां झख मारी ।
कहै कबीर आधा घट डोलै भर्‌या होइ तौ मुखां न बोलै ॥१७॥

कबीर कहते हैं कि व्यर्थ तर्क से क्या लाभ तर्कजाल में उलझकर वास्तविक सत्य का नाश हो जाता है। व्यर्थ बक-बक करने से ही विद्वत्ता नहीं होती है किन्तु यदि बोले नहीं तो विचार-विमर्श कैसे हो? इसके विषय में कबीर की नीति यह है कि यदि सन्त मिले तो उससे विचार विमर्श कीजिए और यदि दुर्जन मिले तो चुप रहना ही श्रेयस्कर है। ज्ञान-सम्पन्न से तो वार्तालाप हितकारी और मूर्ख से तो बोलना मत्था मारना ही है। जिस प्रकार आधा भरा हुआ घट ही छलक कर ध्वनि करता है और पूर्ण भरा होने पर वह न छलकता है और न बोलता है इसी भांति ज्ञानी तो दूसरे की ज्ञानपूर्ण बात सुनकर चुप रहता है उसका आदर करता है किन्तु जो ज्ञान से रिक्त है वह दूसरे की ज्ञानपूर्ण बात सुनकर उसे कुतर्क का विषय बना देता है।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

आगम देस मूवन का घर है
तहाँ जिमि जाइ दाझन का डर है ॥टेक॥
सब जग देखौं कोई न धीरा परत धूरि सिरि कहत अबीरा।
न तहाँ सरवर न तहाँ पांणी, न तहाँ सतगुर साधू बांणी ॥
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा ऊंचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।
देस मालवा गहर गंभीर डग डग रोटी पग पग नीर॥
कहै कबीर घरहीं मन मांनां, गूंगे का गुड़ गूंगै जांनां ॥१८॥

उस प्रिय के देश का मार्ग अग्नि के समान दाहक बाधाओं से परिपूर्ण है—साधन-स्वरूपी पथ अत्यन्त विकट है। कबीर कहते हैं कि मैंने समस्त संसार को देखा किन्तु उसमें कोई ऐसा धैर्यवान् दृष्टिगत न हुआ जो उस पथ का अवलम्बन कर सके। कुछ प्रयत्न तो करते हैं किन्तु उसमें परिपक्वता के अभाव के कारण उन्हें असफलता ही प्राप्त होती है। उस मार्ग में भाव पथिक के परिश्रमशमनार्थ न तो कोई सरोवर है और न जल का कोई अन्य साधन एवं साधना मार्ग में प्रवृत्त होने पर सद्-गुरु की [illegible] वाणी और सज्जनों के सत्संग का अवकाश भी शेष नहीं रहता। वहाँ कोयल की मधुर भाषिणी और तोते के रूपाकर्षण के लिए भी स्थान नहीं, अर्थात् किसी प्रकार का सुख उपलब्ध नहीं। वहाँ तो हंसात्मा उच्चतर सोपान को प्राप्त करती जाती है। इस भांति यह प्रभु का स्थान अत्यन्त कठिन साधना के उपरान्त प्राप्य होता है। वहाँ पहुँचकर तो पग-पग तृप्ति ही तृप्ति है (डग-डग रोटी पग-पग नीर)। कबीर कहते हैं कि मेरा मन तो उसी स्थान पर रम रहा है उस आनन्द का मैं वर्णन उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस भांति गूंगा मनुष्य गुड़ के मिठास को मन ही मन प्रसन्न हो जाता है, उसे अभिव्यक्त नहीं दे सकता।

विशेष—कबीर साधना मार्ग की विकटता बताकर साधक को उससे विमुख नहीं करते अपितु उस पथ की विषमताओं से उसे सचेत कर धैर्य दृढ़ता अटूट श्रद्धा आदि गुणों से परिपूर्ण कर ईश्वर भक्ति पथ पर लगाना चाहते हैं।

अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न षंडै धारा ॥टेक॥
बसै गगन मैं दुनीं न देखै चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहीं छाड़ै पीवै महा रस मीठा ॥
परगट कंथा माँ है, जोगी दिल मैं दरपन जोवै।
सहंस इकीस छ सै धागा निहचल नाकै पोवै ॥
ब्रह्म अगनि मैं काया जारै त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर सहज सुंनि ल्यौ लागै ॥११।

यहाँ कबीर हठयोगी की साधना का वर्णन करते हैं कि योगी समस्त संसार से पृथक् आचरण करने वाला व्यक्ति होता है। उसका तो मुद्रा इड़ा पिंगला सुषुम्ना और अनहद नाद से ही अटूट सम्बन्ध होता है।

वह तो साधना की मुद्रा ग्रहण कर शून्य में ध्यान लगाता है इस प्रकार वह शून्य स्थान—ब्रह्मरन्ध्र—पर पहुँचकर वहाँ स्रवित होने वाले अमृत का पान करता है। वह विरागी के वेश में रहता हुआ हृदय में उसी अनूप का दर्शन करता है। वह इक्कीस सहस्र छः सौ नाड़ियों में अर्थात् सम्पूर्ण तन-मन में ईश्वर को रमा लेता है। इस भाँति जब वह ब्रह्म की मशालस्वरूप निरंजन-ज्योति से शरीर को निर्मल कर लेता है तो त्रिकुटी में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। कबीर कहते हैं कि वही साधक योगेश्वर है जो सहजावस्था को प्राप्त कर अपनी चित्तवृत्तियों को शून्य में केन्द्रित कर देता है।

विशेष—'परगट कंथा … जोवै' में दीपक अलंकार है।

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नालि रस पीजै ॥टेक॥
मूल बाँधि सर गगन समानाँ सुषमन यौं तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहाँ जोगणीं जागी ॥
मनवाँ जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाँहीं सबद अनाहद बागा ॥७ ॥

हे अवधूत! तुम शून्य—ब्रह्मरन्ध्र—को अपना स्थायी वास बना लो। वहाँ सदैव अमृत स्रवित होता है जिससे अमित आनन्द की प्राप्ति होती है। सुषुम्ना नाड़ी को वहाँ पहुँचाकर उसके द्वारा साधक को इस अमृत का पान करना चाहिए।

मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी जागृत हो सुषुम्ना के माध्यम से ऊर्ध्वगामी हो गई जिसमें काम क्रोध आदि विकारों ने जलकर पलीते का कार्य किया और इस विस्फोट द्वारा ही तो योगिनी-रूप कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था से जागृत हो गई। शून्य में पहुँच कर मन उस सहजावस्था में पहुँच गया जहाँ भगवान के दर्शन का आनन्द ही आनन्द विद्यमान है। कबीर कहते हैं कि इस अवस्था में पहुँचकर साधक के मन में कोई भ्रम या माया का संशय नहीं रह जाता है और वह अनहद नाद के आनन्द में मग्न हो परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

विशेष—१ 'मूल' मूलाधार चक्र से तात्पर्य षट्चक्रों में यह सबसे पहला होता है जहाँ कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है। २ 'जोगणी'—कुण्डलिनी के लिए योग-साधना में बहुप्रयुक्त शब्द। ३ सबद अनाहद—अनहद नाद शून्य में सुषुम्ना के माध्यम से कुण्डलिनी के विस्फोट करने पर अमृत स्रवण के साथ-साथ शरीर के रोम रोम से नई बहुराशि जैसी ध्वनि उठती है अथवा घण्टे के नाद जैसा शब्द सुनाई देता है यही अनहद नाद कहलाता है। इस स्थिति में पहुँचकर योगी स्वयं के शरीर की दशा को भी भूल जाता है। उसे इस शब्द के अतिरिक्त अन्य कुछ सुनाई नहीं देता।

> कोई पीवै रे रस राम नाम का जो पीवै सो जोगी रे।
> संतो सेवा करो रांम की और न दूजा भोगी रे ।।टेक।।
> यहु रस तौ सब फीका भया ब्रह्म अगनि परजारी रे।
> ईस्वर गौरी पीवन लागे रांम तनी मतिवारी रे।।
> चंद सूर दोइ भाठी कीन्हीं सुषमनि चिगवा लागी रे।
> अमृत चू पी सांचा पुरया मेरी त्रिष्णा भागी रे।।
> यहु रस पीवै गूंगा गहिला ताकी कोई न बूझै सार रे।
> कहै कबीर महा रस महँगा कोई पीवैगा पीवणहार रे ।।७१।।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-भक्ति के अनुपम रस का पान ही चमत्कार है जो इसका पान करता है वही वस्तुतः योगी है। इसलिये हे साधुजनो! तुम परम प्रभु की ही भक्ति करो अन्य कोई इस पूजा और भक्ति का पात्र नहीं है।

हृदय में ईश्वर भक्ति जग जाने पर सांसारिक विषय-वासनाओं के आकर्षण और रस निस्सार और फीके अनुभव होने लगते हैं। शिव और पार्वती इस भक्ति रस का पान कर ही राम-नाम में मतवाले रहते हैं।

जब मैंने इड़ा और पिंगला की भट्ठी बनाकर प्रभु भक्ति की अग्नि को सुषुम्ना के पलीते द्वारा प्रज्वलित किया तो उसमें अमृत की प्राप्ति हो गई निरंजन ज्योति के दर्शन हो गये एवं मेरी तृष्णाएं परितृप्त हो गई। इस अनुपम रस का पान

जो कोई ऐसा व्यक्ति ही करेगा जिसे संसार पागल समझे और वह इस रस को पान कर गूंगा ही बन जाता है, उसे अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर सकता। कबीर कहते हैं कि इस महारस को प्राप्त करने के लिये महान् त्याग और संयम तथा अटूट भक्ति की आवश्यकता है इसलिये यह कुछ महंगा है। अतः विरले ही इसका पान कर पाते हैं।

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उनमनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा ॥टेक॥
गुड़ करि ग्यान ध्यान कर महुवा भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समानी पीवै पीवनहारा॥
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी चुया महा रस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बसीता छूटि गई संसारी॥
सुनि मंडल में मंदला बाजै तहां मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया सहजि सुषमनां काछै॥
पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यो तन की तपति बुझानी।
कहै कबीर भवबंधन छूटै जोतिहि जोति समानी ॥७२॥

कबीर यहाँ मदिरा खींचने की प्रक्रिया के रूपक द्वारा हठयोगी साधना से ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग बताते हैं कि हे अवधूत! मेरा मन प्रभु-भक्ति में मदमस्त है। यह उन्मनी अवस्था द्वारा शून्य में पहुंच अमृत का पान करता है। इस महारस के पान से मुझे प्रत्येक लोक का ज्ञान प्राप्त है। भाव यह है कि सृष्टि के कण-कण का ज्ञान मेरे साधक को है।

अब कबीर मदिरा खींचने की विधि द्वारा बताते हैं कि जिस भांति मैंने महा रस को प्राप्त किया है। मैंने ज्ञान को गुड़ और ध्यान को महुवा अथवा जौ बनाकर संसार को ही अपनी भट्टी बना लिया। इस भट्टी में अग्नि प्रज्वलित करने के लिए काम और क्रोध (को नष्ट कर) का पलीता बना दिया एवं इंगला-पिंगला का समन्वय कर इस भट्टी को तैयार किया। इस ताप के पूर्ण हो जाने पर अमृत का स्रवण होने लगा। सुषुम्ना नामक नाड़ी सहजावस्था में पहुंच गई और इस प्रकार मैंने इस महारस का पान किया। इस अमृत पान से मुझे ज्ञात हुआ कि शून्य-ब्रह्म रन्ध्र में अनहद नाद हो रहा है जिसकी ध्वनि से मेरा मन आत्म-विस्मृत हो प्रभु में लीन हो गया। इस भांति गुरु कृपा से यह अमृत प्राप्त किया और सुषुम्ना सहजावस्था में ही रहने लगी। कबीर कहते हैं कि इस भांति ज्योति में आत्मा के परमात्मा में विलय हो जाने से मनुष्य विमुक्त हो जाता है। किन्तु यह सब तभी सम्भव है जब ताप और बन्धन सभी नष्ट हो सकते हैं जब कोई ज्ञान-परिपूर्ण पथ-प्रदर्शक सद्गुरु मिले।

छाकि पर्यो आतम मतिवारा
पीवत रांम रस करत बिचारा ॥टेक॥
बहुत मोलि महँगैं गुड़ पावा लै कसाब रस रांम चुवावा।
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा मांगि मांगि रस पीवै बिचारा।
कहै कबीर फाबी मतिवारी पीवत रांम रस लगी खुमारी ॥७३॥

कबीर कहते हैं कि मेरी आत्मा प्रभु भक्ति का रसपान कर मदमस्त है। यह इस प्रभु प्रेम-रस का पान कर प्रभु का ही विचार करती है। मैंने बहुत मूल्य चुका कर गुरुचरणों में बैठ और सत्संग से यह ज्ञान रूपी मूल्यवान् गुड़ खरीदा है एवं योग साधना के अन्य साधनों द्वारा अमृत को प्राप्त किया। शरीर रूपी बस्ती में रस के लिये इसकी तृष्णा बढ़ गई है कि यह मांग-मांग कर उसका पान करती है। राम रसा पान से मदमस्त फक्कड़ कबीर कहता है कि राम-भक्ति रस का पान करने पर उसका नशा ऐसा चढ़ता है कि फिर उतरता नहीं।

बालो भाई रांम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते पीवत अजहूं न अघाई ॥टेक॥
इला प्यंगुला भाठी कीन्ही ब्रह्म अगनि परजारि।
ससि हर सूर द्वार दस मूंदे लागी जोग जुग तारी॥
मन मतिवाला पीवै रांम रस दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया अमृत धार चुवाई॥
पंच जन सो संग करि लीन्हें चलत खुमारा लागी।
प्रेम पियाला पीवन लागे सोवत नागिनी जागी॥
सहज सुंनि मैं जिनि रस चाख्या सतगुर थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहि रसि माता कबहू उछकि न जाई ॥७४॥

अघाई=तृप्ति। द्वार दस=शरीर के दस द्वार—दो आंख दो नासिका छिद्र दो कर्ण छिद्र एक मुख एक मलद्वार, एक मूत्रद्वार एवं एक ब्रह्मरन्ध्र या दशम द्वार। उलटी गंग=कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति। पंच जने=पांच इन्द्रियां। नागिन=कुण्डलिनी।

कबीर कहते हैं कि हे भाइयो! प्रभु की भक्ति करो क्योंकि इस अनुराग भक्ति रस का पान कर शिव और सनकादिक जैसे भी आज तक परितृप्त नहीं हुए। उनकी कामना है कि अभी इस रस का पान और करें, और करें। हृदय में ब्रह्म ज्योति प्रज्वलित कर इड़ा और पिंगला नाड़ियों की भट्ठी बना ली। इड़ा पिंगला के मध्य सुषुम्ना के द्वारा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी कर सहजावस्था की प्राप्ति की। इस प्रकार सुषुम्ना के माध्यम से कुण्डलिनी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में विस्फोट से अमृत का

मग्न होने लगा। प्रभु भक्ति में मस्त मेरा मन उस महारस के पान से संसार के समस्त रसों के आनन्द को भूल गया। इस अमृत पान के साथ-साथ पाँचों इन्द्रियाँ भी तल्लीन थीं। इस महारस से ही वे सब झूम रही थीं। इस भाँति सुषुप्त कुण्डलिनी जागृत हो गई। सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त कर ही साधक इस सहज शून्य के अनुपम रस को प्राप्त कर सकता है। दास कबीर तो इसी रस को पान कर मदमस्त है, इसकी खुमारी कभी नहीं जा सकती।

राँम रस पाईया रे, तार्थें बिसरि गये रस और ।।टेक।।
रे मन तेरा को नहीं खैंचि लेइ जिनि भार।
बिरषि बसेरा पंषि का ऐसा माया जाल ।।
और मरत का रोइए, जो आपा थिर न रहाइ।
जो उपज्या सो बिनसिहै तार्थें दुख करि मरै बलाइ ।।
जहाँ उपज्या तहाँ फिरि रच्या रे पीवत मरदन लाग।
कहै कबीर चित चेतिया तार्थें राँम सुमरि बैराग ।।७२।।

कबीर कहते हैं कि मैंने राम रस की प्राप्ति कर ली है इससे मुझे अन्य सांसारिक तुच्छ रस विस्मृत हो गये। आगे कबीर मन को प्रबोध देते कहते हैं कि हे मन! तेरा इस संसार में कोई नहीं है फिर तू क्यों व्यर्थ में दूसरों का बोझ ढोता है उनके लिये क्यों अनेक पाप कर्म करता है। इस संसार का माया-जाल तो ऐसा है जैसे पक्षी का रात को किसी पेड़ पर अल्प समय का बसेरा! मनुष्यों के मरने पर दुःख भी क्यों किया जाय यहाँ तो जो भी आया है वह तो जायगा ही। जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही मरेगा अतः शोक करना वृथा है। यह जन्म-मरण सृजन-संहार का क्रम अटूट है किन्तु फिर भी लोग वस्तु स्थिति भूलकर इसका रस पान करने में लगे हैं। कबीर कहते हैं कि चित्त जब तक सावधान हो कर विषय वासना का परित्याग नहीं कर देता तब तक प्रभु भक्ति कहाँ? अतः निर्मल मन से प्रभु का भजन ही श्रेय है।

राम चरन मनि भाए रे।
अस ढरि जाहु राँम के करहा प्रेम प्रीति ल्यौ लाये रे ।।टेक।।
आब चढ़ी अबसी रे अंबसी बबूर चढ़ी नग बेली रे।
द्वै भर पकि गयौ राँड को करहा मगहु पाट की सेली रे ।।
कंकर कूई पताल पनियां सूर्ने बूंद बिकाई रे।
बजर परौ इहि मथुरा नगरी कांन्ह पियासा जाई रे ।।
एक दहिड़िया दही जमायौ दूसरी परि गई साई रे।
न्यूँ ति जिमाऊँ अपनौ करहा छार मुनिस की डारी रे ।।

इहि मनि बाज मदन भेरि रे उहि मनि बाज तूरा रे।
इहि मनि खेल राही रुकमनि उहि मनि कान्ह अहीरा रे॥
आसि पासि तुरसी कौ बिरवा माँहि द्वारिका गाँऊ रे।
तहाँ मेरौ ठाकुर राम राइ है भगत कबीरा नाँऊ रे॥७६॥

मनि=मन को। अम्बसी=आम। गगभेमी=आकाश बेल। करहा=करवा। पाट की सैली=ऊन रेशम या धागों की एक माला सी जिसे योगी गले अथवा शीश पर धारण करते हैं। कूई=कुइयाँ छोटा कुआँ। बजर=आग लगाना। स्मृति=निमन्त्रण। रुकमनि=श्रीकृष्ण भगवान् की प्रियतमा किन्तु यहाँ माया से तात्पर्य। कान्ह अहीरा=यहाँ ब्रह्म से अर्थ। तुरसी=तुलसी एक सुगन्धित एवं पूज्य पौधा।

कबीर कहते हैं कि मेरे मन को रामचरण प्रभु भक्ति अत्यन्त प्रिय है। मैं प्रभु में अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित कर उन्हीं के रंग में रंग जाऊँ यह मेरी इच्छा है। जो लता आम जैसे सुमधुर फल के वृक्ष का अवलम्बन करती है वह तो आम के समान ही मधुर हो जाती है और जो शूलयुक्त बबूल वृक्ष का आश्रय लेती है वह तो व्यर्थ की आकाशबेलि ही बनती है इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रभु भक्ति का आश्रय लेते हैं वे मुक्ति का मधुर फल प्राप्त करते हैं और सांसारिकता का मार्ग अवलम्बन करने वाले भवबाधाओं के शूलों से विद्ध होते हैं।

अब आगे वे योग साधना का रूपक बाँधते हुए कहते हैं कि इडा और पिंगला सुषुम्ना से सम्बद्ध हो गईं एवं मन ही स्वयं सेल्ही बन गया (जिसे योगी गले अथवा शीश पर धारण करते हैं)। मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी रूपी पनिहारिन है जिसे शून्यदेश में अमृतोपम जल लेने जाना है। इस संसार रूपी मथुरा नगरी में तो आग ही लग जाय क्योंकि जीव की यहाँ तृप्ति नहीं होती उसकी वास्तविक तृप्ति तो उस शून्य में स्थित अमृत का पान करने से होती है। इस संसार रूपी मन में तो रुक्मिणी माया—का नृत्य हो रहा है पर उस शून्य लोक में ब्रह्मलोक में ब्रह्मरूपी कृष्ण का शीशप्रसार हो रहा है। उस द्वारिकापुरी—ब्रह्मलोक—में सर्वत्र तुलसी के बिरवे पावन महक रहे हैं। वहीं पर मेरे स्वामी ब्रह्म का निवास है मैं उन्हीं की भक्ति करता हूँ।

विशेष—द्वारिका—कुछ राजनैतिक कारणों से भगवान् कृष्ण ने मथुरा छोड़कर इस नगरी को अपनी राजधानी बना लिया था। पोरबन्दर से लगभग २१ मील पश्चिम समुद्र में इस स्थान की अवस्थिति मानी जाती है। कहते हैं कि श्रीकृष्ण के निधनोपरान्त यह पुरी समुद्र जल में मग्न हो गई। जिस प्रकार कबीर साहित्य के संदर्भ में राम-कृष्ण आदि वैष्णव नाम भिन्न अर्थ रखते हैं उसी प्रकार अन्य तीर्थ-

स्थल भी कबीर काव्य में विम्लार्थ रखते हैं—अधिकांशतः उनका प्रयोग महलोक के अर्थ में ही हुआ है।

थिर न रहै चित थिर न रहै च्यंतामणि तुम्ह कारणि हो।
मन मेले मैं फिरिफिरि आवहु तुम सुनहु न दुख बिसरावन हो ॥टेक॥
प्रेम खटोलवा कसि कसि बांध्यौ बिरह बान तिहि लागू हो।
तिहि चढ़ि इंदरी करत गवासिया अतरि जमवा जागू हो ॥
महरू मछा मारि न जानैं गहरै पैठा धाई हो।
दिन इक मगर मछ लै खैहै, तब को रखिहै बंधव भाई हो ॥
महरू मीन हतइये जानै सबद बूझै बौरा हो।
चारै लाइ सकल जग खायौ तऊ न भेटि निसहुरा हो ॥
जौ महाराज चाहौ महरईये तौ नाथौ ए मन बौरा हो।
तारी लाइके सिष्टि बिचारौ तब गहि भेटि निसहुरा हो ॥
टिकुटी भई कान्ह के कारणि भ्रमि भ्रमि तीरथ कीन्हा हो।
सो पद देहु मोहि मदन मनोहर जिहि पदि हरि मैं चीन्हा हो ॥
दास कबीर कीन्ह अस गहरा बूझै कोई महरा हो।
यहु संसार जात मैं देखौं ठाढा रहौ कि निहुरा हो ॥७८॥

थिर=स्थिर। च्यंतामणि=चिन्तामणि ब्रह्म। मेले=मेले। फिरिफिरि=बारम्बार। खटोलवा=खटोला खाट का छोटा रूप। बान=पतली-पतली रस्सियों को जिनसे खाट बुनी जाती है बान कहते हैं। जमवा=यम दूतावनाएं। महरईये=दया करना।

हे प्रभु ! आपके दर्शनों के लिये व्याकुल मेरा यह मन स्थिर नहीं रहता भ्रमित होता रहता है। हे दुःखमोचन प्रभु ! आप मेरी पुकार सुनते नहीं आप मेरे मन के मेले में बारम्बार आकर दर्शन दीजिये। मैंने प्रेम रूपी खटोला बड़े प्रयत्न से तैयार किया है जिसमें विरह का बान लगाकर इसे स्थायित्व प्रदान किया है। इस प्रेम-खटोले पर चढ़कर मेरी समस्त इन्द्रियां आपसे मिलने के लिए प्रस्थान करती हैं किन्तु तभी मन में विषय-वासनाओं के रूप में यम का आविर्भाव हो जाता है। श्रेष्ठ व्यक्ति—प्रभु भक्ति में लीन भक्त—सरिता के तट पर उथले जल में मछलियां—सांसारिक क्षणिक आनन्द—प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य नहीं बनाता अपितु वह तो गहरे पैठ कर हरि-हीरा प्राप्त करता है। उसी को वास्तव में सद्गुरु जाना जो सन्तों के उपदेश (सबद) को हृदयंगम करता हो। समस्त संसार चारों अवस्था में पड़ नष्ट हो रहा है किन्तु तो भी उसे ब्रह्म दर्शन नहीं होता। हे प्रभु ! यदि आप मुझ पर दया करना चाहते हैं तो इस मन का प्रवाह फेरकर उचित मार्ग पर

लगा दो । मैं आपका ही ध्यान करता हुआ आपको प्राप्त करूं । मैं व्यर्थ भ्रमित हो होकर तीर्थों में भटकता रहा किन्तु मुक्ति तो ब्रह्म-ध्यान से ही होती है । हे प्रभु ! आप मुझे वही अवस्था प्रदान करो जिसमें मैं आपसे साक्षात्कार कर सकूं ।

कबीर कहते हैं कि कोई भक्त व्यक्ति ही कबीर की इस गम्भीर बात को समझ सकता है । मैं इस संसार को पतन मार्ग पर जाता देखता हूं हे प्रभु ! मैं भी इन लोगों की मण्डली में ही सम्मिलित हो जाऊं या आप मुझे कृपा कर सद्बुद्धि प्रदान कर रहे हैं जिससे मैं मुक्त हो सकूंगा ।

> बीनती एक रांम सुनि थोरी अब न बचाइ राखि पति मोरी ॥टेक॥
> जैसें मंदला तुमहिं बजावा तैसें नाचत मैं दुख पावा ॥
> जे मसि लागी सबै छुड़ावौ अब मोहि जिनि बहु रूपक छावौ ॥
> कहै कबीर मेरी नाच उठावौ तुम्हारे चरन कवल दिखलावौ ॥७८॥

थोरी=थोड़ी अल्प । मंदला=वाद्य विशेष ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मेरी थोड़ी सी प्रार्थना सुन लीजिए, अब आप मुझसे दूर मत रहो और मेरी लाज रख लो । आपकी माया ने जो आकर्षण जाल फैलाया मैं उसी के फेर में पड़कर बहुत दुखित हुआ । मेरी जितनी भी पाप-कालिमा है आप कृपापूर्वक उसे छुड़ाकर मुझे विविध योनियों के जन्म-मरण से विमुक्त कर दो । कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मुझे अपने चरण-कमलों के दर्शन करा कर इस संसार-प्रपंच से मुक्त कर दो ।

> मन थिर रहै न घर ह्वै मेरा इन मन घर जारे बहुतेरा ॥टेक॥
> घर तजि बन बाहरि कियौं बास घर बन देखौं दोऊ निरास ॥
> जहां जाऊं तहां सोग संताप जुरा मरण कौ अधिक वियाप ।
> कहै कबीर चरन तोहि बंदा घर मैं घर दे परमांनंदा ॥७९॥

कबीर यहां यह बताते हैं कि मन आनन्द की खोज में व्यर्थ बाहर भटकता है जबकि वास्तविक आनन्द—परमानन्द ब्रह्म—मन में ही है ।

वे कहते हैं कि यह मेरा चित्त स्थिर नहीं रहता इसकी इस अस्थिरता ने बहुत से गुण नष्ट कर दिए । इसने आनन्द की खोज में घर—अन्तर—का परित्याग कर संसार के बाहर जाके फलस्वरूप घर और बाहर दोनों स्थान पर इसे निराशा ही प्राप्त हुई । जहां-जहां मैं जाता हूं वहीं वहीं शोक और सांसारिक ताप विद्यमान है और संसार में सभी जरा-मरण के द्वारा आवागमन का चक्र चल रहा है । कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! अब मैं आपके ही चरणों की वन्दना करता हूं अतः आप मुझे हृदय में ही दर्शन दीजिए ।

कसे नगरि करौं कुटवारी चंचल पुरिष बिचषन नारी ।।टेक।।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यू सांझ।
मकड़ी धरि माषी छछिहारी मास पसारि चील्ह रखवारी ।।
मूसा खेवट नाव बिलइया मींडक सोवै साप पहरइया।
नित उठि स्याल स्यंघ सू झूझै कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।।८ ।।

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु के पावन नगर में किस प्रकार प्रवेश करू (क्योंकि मार्ग में अनेक बाधाए हैं)। यह जीवात्मा अत्यंत चंचल है और इसको पथ भ्रष्ट करने वाली माया जैसी चतुर स्त्री है जो विविध आकर्षणों से इसे अपने वश में करना चाहती है।

ईश्वर से ही समस्त जगत् की उत्पत्ति हुई है माया से नहीं वह तो बन्ध्या ही रही। त्रिकाल में अर्थात् सर्वदा ईश्वर से ब्रह्म से ही फल प्राप्ति होती है। ब्रह्म रन्ध्र (मकड़ी धरि) कुण्डलिनी (माषी) अमृत (छाछि) का व्यापार कर रही है। सांसारिक प्रलोभनों से रक्षा सुषुम्ना (चील) ही करती है क्योंकि उसी से समस्त मनःप्रवृत्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं। सांसारिक पुरुषों की स्थिति ऐसी है कि वे माया रूपी नौका में बैठे हुए हैं और उसका खेवनहार भी विषम-वासना सचालित मन है। अज्ञानावस्था जीव सोता रहता है और नित्यप्रति उठकर जीव रूपी शृगाल संसार के महान् आकर्षण रूपी सिंह से संघर्ष करता है। कबीर कहते हैं कि इस पद का भाव कोई बिरले ही समझ सकते हैं।

माई रे चून बिलूटा खाई,
बाघनि संगि भई सबहिन कै खसम न भेद लहाई ।।टेक।।
सब घर फोरि बिलूटा खायौ कोई न जानै भेव।
खसम निपूतौ आंगणि सूतौ रांड न देई लेव ।।
पाड़ोसनि पनि भई बिरांनी मांहि हुई घर घालै।
पच सखी मिलि मगल गावै यह दुख याकौ सालै ।।
द्वै द्वै दीपक घरि घरि जोया मंदिर सदा अंधारा।
घर घेहूर सब आप सवारथ बाहरि किया पसारा ।।
होत उजाड़ सब कोई जांनै सब काहू मनि भावै।
कहै कबीर मिलै जे सतगुर तौ यहु चून छुड़ावै ।।८१।।

चून—पुण्य—सत्कर्मों का पुण्य। बिलूटा—माया। खाई—नष्ट कर देता है। बाघनि—माया। खसम—स्वामी पति ईश्वर। लहाई—प्राप्त किया। भेव—भेद।

कबीर कहते हैं कि हे भाई! समस्त सत्कर्मों के पुण्य को यह मायारूपी बिल्ली खाय जा रही है नष्ट कर रही है। यह माया सब के साथ लग जाती है

और इस प्रकार कोई भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर पाता। इस शरीर-आगार को माया के विविध आकर्षण नष्ट किए दे रहे हैं इस भेद का कोई नहीं जानता। ईश्वर रूपी स्वामी तो पुत्रहीन है अर्थात् उसका आँगन सूना है अर्थात् वह ममत्व बंधन में नहीं पड़ता। यह माया किसी को प्रभु का पुत्र नहीं बनने देती। रूपी भावना से निकृष्ट का व्यक्ति भी कभी-कभी दूर का हो जाता है और माया जीव और ब्रह्म के मध्य दीवार खड़ी करने में सफल हो जाती है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने स्वाद में लिप्त रह और भगाती हैं यह स्थिति भक्त को अच्छी नहीं लगती।

संसार के व्यक्ति अपने-अपने घरों में तो प्रकाशार्थ कई-कई दीपक प्रज्वलित करते हैं किन्तु उनके हृदय मन्दिर में सदैव अज्ञानान्धकार रहता है। मनुष्य अपनी पहुँच के भीतर तो स्वार्थ-वासना में तत्पर रहता ही है साथ ही बाहर भी उसी की पूर्ति करना चाहता है। जब व्यक्ति सर्वथा नष्ट हो जाता है तो सब उसकी मूर्खता पर प्रसन्न होते हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि यदि कोई सद्गुरु मिल जाय वही इस माया से सत्कर्मों के घाटे (पुण्य) को बचा सकता है।

विषिया अजहू सुरति सुख आसा
हूण न देइ हरि के चरन निवासा ॥टेक॥
सुख माँगें दुख पहली आवै ताथैं सुख माँग्या नहीं भावै।
जा सुख थैं सिव बिरंचि डरांना सो सुख हमहु साच करि जाना ॥
सुखि छाड़या तब सब दुख भागा गुर के सबदि मेरा मन लागा।
निस बासुरि बिर्षतनो उपगार बिषई नरकि न जाता बार ॥
कहै कबीर चंचल मति त्यागी तब केवल रांम नांम ल्यौ लागी ॥८२॥

कबीर कहते हैं कि मेरा मन अब भी विषय-वासना जनित आनन्द प्राप्ति की आशा में भटक रहा है इसीलिए यह मुझे प्रभु-चरणों का आश्रय नहीं लेने देता।

मुझे वह विषय-वासना का सुख रुचिकर नहीं जिसकी इच्छा करने पर दुख पहले साथ में आता है जिस विषय-वासना के रसानन्द से शिव एवं ब्रह्मा जैसे महान् देव भी भयभीत हो प्रार्थना करते हैं कि इस सुख से हमें बचाओ मैं उसी सुख को वास्तविक सुख मान बैठा। सांसारिक सुख का परित्याग करने पर ही मेरे समस्त भव भार नष्ट हो गए और मन गुरु के उपदेशानुसार चलने लगा। यदि हे मनुष्य ! तू निशिदिन विषय-वासना में संलिप्त न रहता तो नरक का भागी न होता। कबीर कहते हैं कि जब मैंने चंचल बुद्धि जो विषय-वासनाओं में भटकती रहती थी का परित्याग कर दिया तभी मेरी राम से लगन लगी।

तुम्ह गारड़ू मैं विष का माता काहे न जिवावौ मेरे अंमृतदाता ॥टेक॥
संसार भवगम डसिले काया अरु दुख दारन व्यापै तेरी माया।

सापनि एक पिटारे जागै अह निसि रोवै ताकूं फिरि फिरि लागै ॥
कहै कबीर को को नहीं राखे राम रसाइन जिनि जिनि चाखे ॥८३॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! माया के सांप द्वारा काटे गये आप मेरे विष का अन्त क्यों नहीं कर देते क्योंकि आप उस सर्प के लिए गरुड़ स्वरूप हैं। हे अमृतमय प्रभु ! आप मेरा उद्धार कीजिए। यह समस्त संसार सर्प है जो जीव के शरीर को डसता है विषयुक्त कर देता है। फिर ऊपर से तेरी माया अनेक बाण दुखों से व्यथित करती है। इस संसार के पिटारे में माया रूपी सर्पिणी का स्वामी वास है, उसके डंक से मानव दिन-रात रोता है किन्तु फिर भी बारम्बार उसका ही आलिंगन करता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस माया—सर्पिणी से वही बच सकते हैं जिन्होंने प्रभु-भक्ति का मधुर रसायन चखा है।

माया तजूं तजी नहीं जाइ,
फिरि फिरि माया मोहि लपटाइ ॥टेक॥
माया आदर माया मांन माया नहीं तहां ब्रह्म गियांन।
माया रस माया कर जांन माया कारनि तजै परांन ॥
माया जप तप माया जोग माया बांधे सबही लोग।
माया जल थलि माया आकासि माया व्यापि रही चहुँ पासि ॥
माया माता माया पिता अति माया अस्तरी सुता।
माया मारि करै व्योहार, कहै कबीर मेरे रांम अधार ॥८४॥

कबीर यहां माया-प्रभाव का उल्लेख करते कह रहे हैं कि माया का यद्यपि मैं परित्याग करना चाहता हूं किन्तु उसका आकर्षण इतना प्रबल है कि वह बारम्बार मुझे अपने में संलिप्त कर लेती है। संसार में मनुष्य ने माया को ही आदर और सम्मान सब कुछ समझ लिया है। जहां का प्रभाव नहीं है वहीं प्रभु का ज्ञान प्राप्त हो गया है। माया में ही समस्त रस और माया में ही समस्त आनन्द मानकर व्यक्ति उसके लिए प्राण भी छोड़ देता है। आज माया ही जप तप और योग सब कुछ बन गई है—इस भांति माया ने समस्त जगत् को अपने बंधन में बांध रखा है। माया पृथ्वी समुद्र आकाश सर्वत्र अपना प्रभाव दिखा रही है। संसार में समस्त सम्बन्ध—माता पिता पत्नी और पुत्री माया जनित मिथ्या हैं। कबीर कहते हैं कि मैं माया को नष्ट कर आचरण करता हूं और मेरे एकमात्र आधार प्रभु ही हैं।

यहि जिनि आंखौ रूड़ो रे।
कंचन कलस उठाइ लै मंदिर, रांम कहे बिन धूरी रे ॥टेक॥
इन ग्रिह मन डहक सबहिन के काहू की पर यौ न पूरी रे।
राजा रांनां राव छत्रपति जरि भये भसम की कूरो रे ॥

सबधें मौंकी संत मंडलिया हरि भगतनि कौ मेरौ रे।
गोबिंद के गुन बैठे गैहें खैहें टूकौ टेरौ रे॥
ऐसें जांनि जपौ जग-जीवन जम सूं तिनका तोरौ रे।
कहै कबीर राम भजबे कौं एक आध कोई सूरौ रे ॥८५॥

उन स्वर्ण-कलशधारी मन्दिरों को जिनमें राम नाम प्रभु-नाम का उच्चारण नहीं होता ये केवल कंकण-पत्थर से बने भूतों के घर हैं। इन मन्दिर नामधारी घरों ने सबके ही चित्त को भ्रमित किया है किन्तु ये किसी को भी तत्वदर्शन न करा सके। राजा,तास्मुकेदार एवं अन्य छत्रपति समस्त ही मृत्यु के पश्चात् जल कर भस्म के ढेर मात्र रह गये—उनका कोई नाम अस्तित्व भी नहीं। इन सबसे श्रेष्ठ तो सन्त-समूह है। ये बेचारे रूखी-सूखी खाकर आनन्दसहित प्रभु गुणगान करते हैं। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! प्रभु को इस प्रकार भक्तिभाव से भजो कि संसार बंधन से मुक्त हो जाओ। वे आगे कहते हैं कि प्रभु भजन करने के लिए तो कोई एकाध विरला ही तत्पर होता है।

रजसि मीन देखि बहु पांनी काल जाल की खबरि न जांनी ॥टेक॥
गारे गरब्यौ औघट घाट सो जल छाड़ि बिकांनौं हाट।
बंध्यौ न जांनैं जल उदमादि कहै कबीर सब मोहे स्वादि ॥८६॥

संसार-जल में लिप्त रहने वाले मछलीरूपी जीव विषय-वासना का आकर्षण देखकर उसमें फंस गया किन्तु उसने काल मृत्यु-रूप जाल का भय न जाना। भाव यह है कि यदि वह इस काल-जाल से परिचित होता तो विषय-वासना रूप जल में न पड़ता। प्रभु भक्ति के तट पर जाकर मनुष्य के मिथ्या अहं का नाश हो जाता है। इसलिए जीव रूपी मछली को इस विषय-जल को छोड़ यहाँ से संसार से चल देना चाहिए। कबीर कहते हैं कि जो संसार बन्धन में बंधा हुआ है वह प्रभु भक्ति के रहस्य को नहीं जान पाता। कबीर कहते हैं कि सब मनुष्य संसार के माया-मोह में फंसे हुए हैं।

काहे रे मन दह दिसि धावै बिषिया संगि संतोष न पावै ॥टेक॥
जहां जहां कलपै तहां तहां बंधनां रतन कौ थाल कियौ तैं रंधनां।
जौ पै सुख पईयत इन मांहीं तौ राज छाड़ि कत बन कौं जांहीं॥
आनंद सहत तजौ बिष नारी अब क्या झीष पतित भिषारी।
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि, तजि बिषिया भजि चरन मुरारि ॥८७॥

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू क्यों व्यर्थ भ्रमित होता फिरता है? तू विषयानन्दों में संलिप्त है किन्तु फिर भी तुझे सन्तोष नहीं—तृष्णाओं के पीछे भागता हुआ फिरता है। जिस जिस स्थान की कल्पना मनुष्य करता है वहीं पर उसे माया

मोह का बन्धन बांध लेता है। आत्मा रूपी पूर्ण स्वच्छ स्वर्ण थाली को उसने पापों से कलुषित कर दिया है। जो मनुष्य को इस सांसारिक वैभव विलास एवं विषय जनित आनन्दों में ही सुख प्राप्त होता और वैराग्य से प्रभु प्राप्ति में नहीं तो क्या राजा सोम अतुलित सम्पत्ति और वैभव का परित्याग कर वन का मार्ग क्यों ग्रहण करते ? हे पतित जीव! अब पाप कर्म कर क्यों भिखारी सदृश दीन बनकर सुख-शान्ति की प्रार्थना करता है। यदि तुम विषयों के भोग एवं नारी के संसर्ग का परित्याग कर दो तो वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म सहज प्राप्त हो जायेगा। इसीलिए कबीरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू इस विषय-वासना के सुख को त्याग दे क्योंकि यह क्षणिक है और प्रभु का ही भजन कर।

> जियरा जाहिं गो मैं जांनां।
> जो देख्या सो बहुरि न पेख्या माटी सूं लपटांनां ।।टेक।।
> बाकुल बसतर किता पहिरबा का तप बनखंडि वासा।
> कहा मुगधरे पांहन पूजें कागज डारें माता।।
> कहै कबीर सुर मुनि उपदेसा लोका पंथि लगाई।
> सुनौं संतौ सुमिरौ भगत जन हरि बिन जनम गवाई ।।८८।।

कबीर कहते हैं कि मैं अब यह जान गया हूं कि मन प्रभु-मिलन के लिए अवश्य जायगा। जिसने उस ब्रह्म से साक्षात्कार कर लिया फिर वह इस विषम वासनापूर्ण संसार की ओर नहीं देखता। प्रभु-भक्ति में व्याकुल साधक को वेशभूषा की चिन्ता की क्या आवश्यकता है एवं न ही वह वन में जाकर साधना करता है वह तो मन में ही प्रभ-मिलन सुख प्राप्त कर लेता है। कबीरदास जी लोक-वेद सम्मत साधुजनों की वाणी का आश्रय लेकर कहते हैं कि जड़ पाहन मूर्ति को पूजने एवं उसके सम्मुख तपस्या करके अपने शरीर को सुखाने से क्या लाभ ? इसलिए हे साधुजनो ! एवं प्रभु भक्तो ! ईश्वर-प्राप्ति के बिना यह जीवन व्यर्थ है।

> हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई हरि के बियोग कैंस जीऊं मेरी माई ।।टेक।।
> कौंन पुरिष को काकी नारी अभि अतरि तुम्ह लेहु बिचारी।
> कौंन पूत को काको बाप कौंन मरै कौंन करै संताप ।।
> कहै कबीर ठग सौं मन मांनां गई ठगौरी ठग पहिचांनां ।। ८९।।

कबीर अपनी आत्मा के द्वारा कहलाते हैं कि हे सखि ! प्रभु बड़े भारी ठग हैं जिन्होंने अपने प्रेम से समस्त संसार को ठग रखा है। उनके वियोग में भला मैं कैसे जीवन धारण करूं ? भला तनिक मन में विचार करके सोचो तो सही कि इस संसार में कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी है। कौन किसका पुत्र और कौन किसका पिता है भला इनमें कौन किसके दुख से मरा है। ये समस्त संसार-सम्बन्ध

मिथ्या है। कबीर कहते हैं कि मेरा मन तो एक ठग से लग गया है, इस संसार भ्रम के नष्ट होने पर मन उस ठग स्वरूप परमात्मा को पहचान लिया है।

विशेष—सभंगपद यमक अलंकार।

साईं मेरे साजि दई एक डोली हस्त लोक अरु मैं तैं बोली ॥टेक॥
इक झंझर सम सूत खटोला त्रिस्नां बाव चहूँ दिसि डोला।
पांच कहार का मरम न जांनां एकं कह्या एक नहीं मांनां ॥
भूभर घाम उहार न छावा नैहर जात बहुत दुख पावा।
कहै कबीर बर बहु दुख सहिये रांम प्रीति करि संगही रहिये ॥६ ॥

भूभर=गर्म रेत तप्त बालू। नैहर=पीहर।

कबीर कहते हैं कि मेरे शरीर रूपी एक डोली का निर्माण भ्रम से कर दिया। यह इस संसार में इधर-उधर भटकती फिर रही है। यह मानव-शरीर एक कच्चे सूत से निर्मित खटोले के समान है जिसको तृष्णा चारों ओर घुमाती फिरती है। इसे पाँचों ज्ञानेन्द्रियां बिना समझ बूझे चारों ओर विषय-तुष्टि में भटकाती फिरती हैं। ऐसी अवस्था में आत्मा प्रियतम ब्रह्म के पास कैसे जाय क्योंकि उसर मार्ग में तप्त बालू है एवं परिश्रम दूर करने के लिए छाया तक का आश्रय नहीं है। कबीरदासजी कहते हैं कि चाहे कितने ही दुख सहने पड़ जांय किन्तु कभी भी राम प्रेम प्रभ-भक्ति का आश्रय नहीं छोड़ना चाहिए।

विशेष—पाँच कहार=से तात्पर्य पाँचों ज्ञानेन्द्रियों—आँख नाक कान रसना त्वचा—से है। जिस प्रकार कहार डोली को इधर-उधर से जाते हैं उसी भांति इन्द्रियां मानव शरीर को शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श के विषयों का आस्वाद कराती उसे पाप-पंक में लिप्त कराती हैं।

बिनसि जाइ कागद की गुड़िया
जब लग पवन तबै लग उड़िया ॥टेक॥
गुड़िया कौ सबद अनाहद बोलै खसम लिये कर डारी डोलै।
पवन थक्यौ गुड़िया ठहरांनी सीस धुनै धुनि रोवै प्रानी ॥
कहै कबीर भजि सारंग पानी नहीं तर ह्वै है खैंचा तांनी ॥६१॥

कबीर कहते हैं कि यह मेरा शरीर कागज निर्मित गुड़िया के तुल्य क्षणिक अस्तित्व का है। जब तक श्वास प्राणवायु का संचार है इसका अस्तित्व तभी तक है। यह शरीर योगसाधना द्वारा अनाहद शब्द सुनने की स्थिति ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। जब इस कागज की गुड़िया—शरीर—में स्थित प्राण वायु निकल जाता है तब इसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है एवं अन्य पारिवारिक बड़ा हृदय विदारक रुदन कर उठते हैं। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू प्रभु का भजन कर अन्यथा संसार बन्धनों में पड़ा हुआ तू इधर उधर खिंचता रहेगा।

मन रे तन कागद का पुतला ।
लागै बूंद बिनसि जाइ छिन में गरब करै क्या इतना ॥टेक॥
माटी खोदहिं भींत उसारें, अंध कहै घर मेरा ।
आवै तलब बांधि लै चालै बहुरि न करिहै फेरा ॥
खोट कपट करि यहु धन जोर्यो ले धरती में गाड़यौ ।
रोक्यौ घटि सांस नहीं निकसै ठौर ठौर सब छाड़यौ ॥
कहै कबीर नट नाटिक थाके मदला कौन बजावै ।
गये पषनियां उझरी बाजी को काहू कै आवै ॥६२॥

बिनसि=नष्ट । भींत=दीवार, भित्ति । उसारें=छप्पर निर्मित करना ।
तलब=मृत्यु । खोट=पाप । नाटिक=नाटिका । मदला=एक वाद्य विशेष ।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू इस शरीर पर क्या व्यर्थ इतना गर्व करता है, इसके लिए क्यों व्यर्थ इतना सम्भार करता है ? इसका अस्तित्व तो उस कागज के पुतले के समान अस्थिर है जो बूंद पड़ते ही नष्ट हो जाता है ।

मिट्टी खोदकर कच्ची दीवार पर छप्पर डालकर जो टूटा फूटा रहने का स्थान बनाया है उसे ही यह अज्ञानी जीव अपना घर बताता है । मृत्यु जब आवेगी तो इस मनुष्य शरीर को समाप्त कर जायगी फिर इस संसार को तू देख भी नहीं सकता । यह जो धनराशि तूने विविध पाप-कर्म करके एकत्रित कर पृथ्वी में गाड़ी है वही मृत्यु के समय तेरे प्राणों को निकलने में बाधा देती है सोचता है मैं इसे किस किस स्थान पर छोड़ जा रहा हूं । कबीर कहते हैं कि यह शरीर अब इस संसार नाटक में अभिनय करता-करता परिश्रान्त हो गया फिर भला अब इस वाद्य से ध्वनि कौन निकाल सकता है । सब साथी चले गये छूट गये कौन किसका साथ देता है ?

झूठे तन कौं कहा गरइये मरिये तौ पल भरि रहण न पइये ।टेक॥
षीर षांड घृत प्यंड संवारा प्राण गये ले बाहरि जारा ।
चोवा चंदन चरचत अंगा सो तन जरै काठ के संगा ॥
दास कबीर यहु कीन्ह बिचारा इक दिन ह्वै है हाल हमारा ॥६३॥

इस मिथ्या शरीर को जिसका अस्तित्व मृत्यु के एक क्षण पश्चात् नहीं रह पाता क्या संवारा जाय । क्षीर मिष्टान्न घी आदि जैसे स्वादिष्ट एवं पौष्टिक पदार्थों से जिस शरीर का पोषण किया मृत्यु हो जाने पर उसी को घर से बाहर ले श्मशान में ले जा कर भस्म कर देते हैं । चन्दन आदि विविध सुगन्धित पदार्थों के संलेपन से जिसका मण्डन किया था वही लकड़ी के साथ रखकर चिता पर जलाया जाता है । अतः इस शरीर के पोषण से क्या लाभ ? अतः कबीरदास जी विचार

पुनः यह कहते हैं कि एक दिवस हमारी भी यही गति होगी अतः क्यों न शरीर का मोह त्याग प्रभु भजन किया जाय ?

देखहु यहु तन जरता है घड़ी पहर बिलंबो रे भाई जरता है ॥टेक॥
काहे कौं एता किया पसारा यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा ।
नव तन द्वादस लागी आगी मुगध न चेतै नख सिख जागी ॥
काम क्रोध घट भरे बिकारा आपहि आप जरै संसारा ।
कहै कबीर हम मृतक समांनां राम नांम छूटे अभिमांनां ॥१४॥

बिलंबो—रुको । पसारा=प्रसार सम्भार । बरि है=प्रज्वलित होगा ।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर जिसके लिए तुम पाप-पंक में फंसते हो भस्म होकर अस्तित्वहीन हो जाता है । तुम थोड़े समय बाद देख लेना कि यह जलता है या नहीं—अर्थात् अवश्य जल जायगा । क्यों व्यर्थ तुमने इसके लिए पाप कर्म किये यह तो जल कर क्षार हो जायेगा । इस शरीर को बारह प्रकार की अग्नियां जलाकर नष्ट कर देंगी किन्तु जो संसार में लिप्त है वह यह देखकर भी प्रभु भक्ति में नहीं लगता । मनुष्यों के हृदय में काम क्रोध आदि विकार भरे हुए हैं इनके ताप से संसार स्वयं भस्म होता जाता है । कबीर कहते हैं कि मैं तो जीवन्मुक्त हूं क्योंकि मैंने प्रभु का आश्रय ले लिया है । ईश्वर भजन से ही संसार में मिथ्याभिमान नष्ट होता है ।

तन राखनहारा को नाहीं तुम्ह सोचि बिचारि देखौ मन मांहीं ॥टेक॥
जोर कुटंब अपनौं करि पाल्यौ मूंड ठोकि ले बाहरि जाल्यौ ।
दगाबाज लूटैं अरु रोवैं जारि गाडि पुनि खोजहिं खोवैं ॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई हरि बिन राखनहार न कोई ॥१५॥

कबीर कहते हैं कि मन में यह भली भाँति विचार कर देख लिया कि इस शरीर को बचाने वाला कोई भी नहीं है । जिस परिवार का पालन-पोषण जीवनपर्यन्त किया वे ही थोड़ी देर सिर पीटकर मृत्युपरान्त इस घर से निकाल देते हैं । ये सांसारिक बड़े धोखेबाज हैं जो इसे जीते जी लूटते हैं और मरने पर रोते भी हैं एवं मरने पर जलाकर या दफन करके फिर लूटें अथवा कब्र के ऊपर कुछ चिनवाते हैं । कबीर अपनी स्त्री लोई को सम्बोधित करके कहते हैं कि इस मनुष्य की रक्षा प्रभु के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता ।

विशेष—१. 'जारि गाडि खोज—' के द्वारा कबीर ने उन सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य किया है जिनके कारण मरने पर हिन्दुओं में जला देने पर मनुष्य का अस्तित्व पूर्णरूपेण समाप्त कर देते हैं किन्तु फिर भी किसी स्थान पर उनके नाम का मठ इस विश्वास से बना देते हैं कि वह यहां वास करेगा । इसी प्रकार मुसलमानों में कब्र के ऊपर बड़ी आलीशान दरगाह भी बना देते हैं । ऐसा जीवन की

विडम्बना है कि जिसे जीते जी पारिवारिक लोग सूरते-पसोरते हैं मरने पर उसके लिए क्या ठाटबाट खड़े कर देते हैं।

अब क्या सोचैं आइ बनी सिर परि साहिब रांम धनी ।।टेक।।
दिन दिन पाप बहुत मैं कीन्हां नहीं गोव्यंद की संक मनीं ।
लेटयौ भोमि बहुत पछितांनौं लालचि लागौ करत घनौं ।।
छूटी फौज आंनि गढ़ घेर्यौ उडि गयौ गूडर छाडि तनौं ।
पकर्यौ हंस जम ले चाल्यौ मंदिर रोवै नारि घनौं ।।
कहै कबीर रांम किन सुमिरत चीन्हत नांहिन एक चिनौं ।
जब जाइ आइ पड़ोसी घेर्यौ छांडि चल्यौ तजि पुरिप पनौं ।।९६।।

संक=भय। भोमि = भूमि पृथ्वी। घनौं = अत्यधिक।

कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख जीव! अब जब सीस पर मृत्यु आ खड़ी है तब क्या सोचता है कि प्रभु सर्वोपरि है यह बात तो पहले सोचने की है। जब तो प्रभु का कोई भय न मानते हुए मैंने प्रतिदिन बड़े-बड़े पाप कर्म किये। जब लोभ और लालच में बुरी तरह ग्रस्त था किन्तु अब पृथ्वी पर लोट-लोट कर पश्चात्ताप करता हूँ। अब मृत्यु ने इस शरीर रूपी किले पर आक्रमण कर दिया तो आत्मा इस शरीर को छोड़कर चली गई। प्राणों को पकड़कर यम लेकर चल दिया तो घर पर बहुत से सम्बन्धी रोने लगे। कबीर कहते हैं कि राम का स्मरण कोई नहीं करता उस पहचानने योग्य को कोई नहीं पहचानने का प्रयत्न करता। जब इस शरीर को मृत्यु आ दबाती है तो सब अपने मनुष्यत्व को को यहाँ से चल देते हैं।

सुबटा डरपत रहु मेरे भाई तोही डराई देत बिलाई।
तीनि बार रूंधै इक दिन मैं कबहूं क खता खवाई ।।टेक।।
या मंजारी मुगध न मानै सब दुनियां डहकाई।
रांणां राव रंक कौं ब्यापै करि करि प्रीति सवाई ।।
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा उबरे हरि सरनाई।
लाषौं मांहि तैं लेत अचांनक काहू न देत दिखाई ।।९७।।

सुबटा=तोता यहाँ जीव से तात्पर्य। बिलाई=माया। खता खवाई=धोखा हो जायगा चट कर जायगी। मंजारी=बिल्ली। डहकाई=बहकाई। सरनाई=शरण।

हे शुक रूप जीव तू यहाँ इसी प्रकार से भय-ग्रस्त रहेगा क्योंकि यहाँ यह माया रूपी बिल्ली तुझे चट कर जाने के लिए बैठी हुई है। यह तुझे दिवस में अनेक बार रूंध देती है किन्तु यह तो तेरा भाग्य है कि तू अब तक बचा है किसी बार धोखा हो जायेगा और यह बिल्ली तुझे चट कर जायगी। तू इस बिल्ली के मोह में

न पड़ इससे प्रेम न कर, इसने समस्त संसार को इसी प्रकार बहका रखा है। यह सबको राजा भिखारी सबको भ्रम सिखा कर अपने फन्दे में डाल लेती है। कबीरदास भी कहते हैं कि हे दोर्डे सब जीव! सुन। यह माया-बिल्ली लाखों मनुष्यों के समूह में भी चुपचाप ही व्यक्ति को चट कर जाती है इससे निस्तार प्रभु शरण द्वारा ही सम्भव है।

का मांगूं कुछ थिर न रहाई
देखत नैन चल्या जग जाई ॥टेक॥
इक लख पूत सवा लख नाती ता रावन घरि दिया न बाती।
लंका सा कोट समंद सी खाई, ता रावन की खबरि न पाई॥
आवत संग न जात सगाती कहा भयौ दरि बांधे हाथी।
कहै कबीर अंत की बारी हाथ झाड़ि जैसैं चले जुवारी ॥१८॥

कबीर कहते हैं कि मैं तुमसे हे प्रभु क्या मांगू देखते ही देखते संसार यूं ही चला जाता है। इस संसार में ऐसा कुछ भी तो नहीं है जो स्थिर है। जिस महाराजा रावण के एक लाख पुत्र एवं सवा लाख नाती थे उसका भी अन्त समूल ऐसा हो गया कि उसके घर में कोई दीपक जलाने वाला भी शेष न रहा। जिसका लंका जैसा दुर्ग किला और उसके चारों ओर विशाल समुद्र पर उसका आधिपत्य था उसी रावण का आज चिन्ह तक शेष नहीं है। चाहे कोई द्वार पर हाथी बांध-बांधकर कितना ही वैभवशाली क्यों न कहलाता ले किन्तु न तो उसके साथ कुछ संसार में आया था और न उसके साथ कुछ संसार से जायगा। कबीर कहते हैं कि मृत्यु के समय वैसे ही खाली हाथ मनुष्य जाता है जैसे जुए में हारने पर जुआरी खाली हाथ जाता है।

राम थोरे दिन कौं का धन करना
धधा बहुत निहाइति मरना ॥टेक॥
कोटी धज साह हस्ती बंध राजा क्रिपन को धन कौंने काजा।
धन कै गरिब रांम नहीं जांनां नागा ह्वै जम पै गुदरांनां॥
कहै कबीर चेतहु रे भाई हंस गया कछु संगि न जाई ॥१९॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! थोड़े दिन स्थिर रहने वाले इस सांसारिक धन का क्या करना। इसके लिए न जाने कितने प्रयत्न जी तोड़कर करने पड़ते हैं। यदि कोई साहूकार अथवा राजा अपने द्वार पर हाथी बांध कर अपने घर पर सौ पताकाएं फहरा दे और कृपण अपने कोष में अनगिनत धन जमा कर ले तो इसका किसी और को क्या लाभ? ये लोग धनाभिमान में प्रभु को भी नहीं पहचान पाते किन्तु जब यम द्वार पर आता है तो नग्न होकर जाते हैं। कबीर कहते हैं कि सब सावधान हो प्रभु

भक्ति का भजन करो क्योंकि प्राण निकल जाने पर कछ भी साथ नहीं जाता, यह सांसारिक वैभव यथावत् यों ही धरा रह जाता है।

काहे कू माया दुख करि जोरी
हाथि चूं न गज पांच पछेवरी ॥टेक॥
नां को बंध न माई साथी बांधे रहे तुरंगम हाथी।
मैड़ी महल बावड़ी छाजा छाड़ि गये सब भूपति राजा॥
कहै कबीर रांम स्यौ लाई, धरी रही माया काहू खाई॥१ ॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तूने यह माया धन-सम्पत्ति व्यर्थ क्यों दुख उठा-उठा कर संचित की है। तुझे मृत्यु होने पर लाल रंग का नहीं पाँच गज वस्त्र प्राप्त होगा अन्य कुछ नहीं।

इस संसार में कोई किसी का न बन्धु है न सखा समस्त संसार-सम्बन्ध मिथ्या हैं फिर क्यों व्यर्थ धनिक लोग द्वार पर हाथी घोड़े बाँध कर वैभव का प्रदर्शन करते हैं। झोंपड़ी महल सरोवर एवं अन्य भवन सब को यहीं छाड़कर बड़े-बड़े राजा मृत्यु गामी हो गये। कबीर कहते हैं कि मूढ जीव! तू प्रेम सहित प्रभु भक्ति कर। इस माया को कोई नहीं खाने पाता।

माया का रस षांण न पावा
तब लग जम बिलवा ह्वै धावा ॥टेक॥
अनेक जतन करि गाड़ि दुराई, काहू सांची काहू खाई।
तिल तिल करि यहु माया जोरी चलती बेर तिणां ज्यूं तोरी।
कहै कबीर हूं ताका दास माया मांहैं रहै उदास॥१ १॥

जम=यम मृत्यु। बिलवा=बिलौटा नर बिल्ली। दुराई=छिपाई। तिणा=तिनका।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य अपनी विविध दुखों सहित एकत्रित धन सम्पत्ति का आस्वाद भी नहीं कर पाया था कि मृत्यु रूपी बिलौटा आ धमका। यह अनेक प्रयत्न करके गाड़ और छुपा कर रखी थी किन्तु सत्य-सत्य बताओ इसका उपभोग आज तक कोई कर पाया है। कण-कण एकत्रित कर तो यह माया संचित की किन्तु इस संसार से चलते समय तृण के समान इससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। कबीर कहते हैं कि मैं उसी का दास हूं उसी का भक्त हूं जो माया के मध्य रहता हुआ भी उससे सम्पृक्त न हो।

विशेष—कबीर भी यहाँ वेदान्तियों के समान 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' जैसा आदर्श बताते हैं वास्तव में यह आदर्श बहुत ऊंचा है और कदाचित् कबीर इस स्तर पर पहुंच गये थे तभी वे इतनी दृढ़ता-पूर्वक इस मत की प्रस्थापना करते हैं।

मेरी मेरी दुनियाँ करते मोह मछर तन धरते।
आगे पीर मुकदम होते वै भी गये यौं करते ॥टेक॥
किसकी ममां चचा पुनि किसका किसका पंगुड़ा जोई।
यहु संसार बजार मंड्या है जानैगा जन कोई ॥
मैं परदेसी काहि पुकारौं इहाँ नहीं को मेरा।
यहु संसार ढूंढि सब देख्या, एक भरोसा तेरा ॥
खाहि हलाल हराम निवारैं भिस्त तिनहु कौं होई।
पंच तत का मरम न जानैं दोजगि पड़िहै सोई ॥
कुटंब कारणि पाप कमावै तू जाणैं घर मेरा।
ए सब मिले आप सवारथ इहाँ नहीं को तेरा ॥
सायर उतरौ पंथ सँवारौ बुरा न किसी का करणां।
कहै कबीर सुनहु रे संतो ज्वाब खसम कू भरणां ॥१२॥

कबीर कहते हैं कि सब मनुष्य यह अपना ममत्व-भावना के कारण विविध शरीर धारण करते हैं। जो पहले समाज में सम्माननीय स्थानों और पदों की शोभा थे उन्हें भी चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है। इस संसार में माता-पिता आदि के जो सम्बन्ध हैं वे सब मिथ्या हैं यहाँ कोई किसी का नहीं है। यह संसार तो बाजार के समान है जिसमें थोड़ी देर की पैठ लगाकर सब अपने-अपने सम्बन्ध स्थान को चल देते हैं। हे प्रभु! मैं इस जगत् में परदेशी मनुष्य हूँ मैं किसे अपना समझूँ एकमात्र अवलम्ब तेरा ही है। ये सांसारिक सम्बन्धी परिश्रम की कमाई खाकर आराम करते हैं और इस प्रकार भ्रष्ट आचरण करते हैं। यह मानव यह नहीं समझता कि इस शरीर का मोह कैसा? यह तो मृत्यु के पश्चात् पंचतत्व में समाहित हो जाता है। इस रहस्य को न समझ सकने के कारण ही व दोजख नरक को भोगते हैं। हे जीव! तू परिवारियों के लिए पाप कर्म कर धन अर्जित करता है और यह विश्वास करता है कि ये सब मेरे हैं। यह तेरा मिथ्या भ्रम है। यहाँ इस संसार में तेरा कोई नहीं है सब अपना स्वार्थ साधन कर रहे हैं।

कबीर कहते हैं कि हे सज्जनो! तुम अपना परलोक सुधार लो किसी का बुरा मत सोचो क्योंकि तुम्हें अन्त उस स्वामी प्रभु को अपने कर्मों का उत्तर देना होगा।

र यामैं क्या मेरा क्या तेरा
लाज न मरहि कहत घर मेरा ॥टेक॥
चारि पहर निसि भोरा जैसे तरवर पंखि बसेरा।
जैसैं बनिये हाट पसारा सब जग का सो सिरजनहारा ॥

ये सब जारे वै से गाड़े इनि दाधि इनि दाऊ पर छाड़े ।
कहत कबीर सुनहु रे लोई हम तुम्ह बिनसि रहैगा सोई ॥१ ३॥

कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख मनुष्य ! तुम इस संसार को अपना कहते थकते तक नहीं थकते—इसमें 'मेरा और तेरा' क्या रखा है ? तेरी इस संसार में क्षणिक स्थिति ऐसी ही है जैसे रात्रि में चार प्रहर व्यतीत करने के लिए पक्षीगण पेड़ पर बसेरा ले लेते हैं अथवा जैसे पथिक पथ में आकर थोड़ी ही देर के लिए वहाँ अपनी दुकान लगा कर उसे अपनी कहने लगता है और समस्त जगत् के सत्य का भ्रम भी भूल जाता है । जो इस धन को संचित करते हैं एवं जो उसे विषय भोगों में नष्ट करते हैं वे दोनों ही दुःखी होकर इस संसार से जाते हैं । कबीर कहते हैं कि हे लोई (पत्नी का नाम) ! हम तुम अर्थात् सब संसार तो नष्ट हो जायेगा केवल ब्रह्म ही चिरन्तन और सत्य है अतः उसी का भजन करो ।

नर जानै अमर मेरी काया घर घर बात दुपहरी छाया ॥टेक॥
मारग छाड़ि कुमारग जोवै आपण मरै और कूं रोवै ।
कछू एक किया कछू एक करणां मुगध न चेतै निहचै मरणां ॥
ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा उपजत बिनसत लगै न बारा ॥
पंच पखुरिया एक सरीरा, कृष्ण कंवल दल भंवर कबीरा ॥१ ४॥

कबीर कहते हैं कि मनुष्य यह सोचता है कि मेरा यह शरीर अमर है किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं कि यह दुपहरी की छाया के सदृश क्षणिक एवं अस्तित्वहीन है । वह सन्मार्ग को छोड़ कुमार्ग को ग्रहण कर लेता है स्वयं भी तो इसे मरना ही है फिर और का मरण देखकर क्यों व्यर्थ रुदन करता है ? कुछ तो दुष्कर्म उसने पहले ही किये हैं और कुछ अब और करेगा वह यह नहीं सोचता कि संसार में लिप्त रहने से क्या लाभ ? निश्चय ही उसे एक दिन मरना है । यह संसार जल की एक बूंद के तुल्य है जिसे उत्पन्न होने और नष्ट होने देर नहीं लगती । इस एक शरीर के पाँच ज्ञानेन्द्रिय—आँख नाक कान रसना एवं त्वचा—उसे विविध वासना-विषयों में भ्रमित करते रहते हैं । कबीर तो सहस्रदल कमल में स्थित ब्रह्म में लीन हो गया है ।

मन रे अहरषि बाद न कीजै अपनां सुकृत भरि भरि लीजै ॥टेक॥
कुंभरा एक कमाई माटी बहु बिधि जुगति बणाई ।
एकनि मैं मुक्ताहल मोती एकनि व्याधि लगाई ।
एकनि दीना पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा ।
एकनि दीनीं गरै गूदरी एकनि सेज पयारा ॥
सांची रही सूम की संपति मुगध कहै यहु मेरी ।
अंत काल जब आइ पहूंता छिन मैं कीन्ह न बेरी ॥

कहत कबीर सुनों रे संतो मेरी मेरी सब झूठी।
चड़ा चींथड़ा चूहड़ा ले गया तणीं तणगटी टूटी ॥१०५॥

अहरनि=अहर्निश। सुकृत=पुण्य। कुंभरा=कुम्हार। मुगति=मुक्ति सहित। सूम=कृपण। पहुँता=पहुँचा। चड़ा चींथड़ा=जर्जर वस्त्र। चूहड़ा=चूहा।

कबीर कहते हैं कि हे मन! तू अहर्निश संसार-जाल में ही मत उलझा रहा कर। पुण्य कर्म कर अपना परलोक सवार ले। कुम्हार एक ही मिट्टी के द्वारा अत्यन्त प्रयत्न करके बहुत सी वस्तुएं निर्मित कर देता है किसी एक पात्र में मुक्ता माणिक्य भरे रहते हैं और दूसरा व्याध के पास होता है जिसमें वह रक्त-मांस आदि जैसी वस्तुएं रखता है उसी प्रकार सब मनुष्य उस ब्रह्म से ही निर्मित हैं किन्तु एक को तो विविध प्रकार की सुन्दर-सुन्दर वेषभूषाएं प्राप्त हैं तो दूसरे को बिछाने के लिए वस्त्र तक नहीं प्राप्त होते। एक के शरीर पर चिथड़े होते हैं तो दूसरे को सुन्दर शय्या प्राप्त होती है। यह सब अपने-अपने कर्मों का ही फल है। कृपण तक की सम्पत्ति यहां रखी रह जाती है संसार में वह जीव सम्पत्ति पर अपना स्वत्व जताता है और जब मृत्यु आ पहुंचेगी तो पल भर में सब कुछ समाप्त हो जायेगा। कबीर कहते हैं कि हे सज्जनो! साधुओ! इस संसार में तुम जिस-जिस वस्तु को अपनी बताते हो वह सब झूठ है। इस जर्जर शरीर को काल रूपी चूहा ले गया तो सब सम्बन्ध चरमरा कर टूट जायेंगे।

हड़ हड़ हड़ हड़ हसती है दिवानपना क्या करती है।
आड़ी तिरछी फिरती है क्या च्यौं च्यौं म्यौं म्यौं करती है ॥टेक॥
क्या तू रंगी क्या तू चंगी क्या सुख लोड़ कीन्हा।
मीर मुकद्दम सेर दिवानी जंगल केर षजीना ॥
भूले भरमि कहा तुम्ह राते क्या मदमाते माया।
रांम रंगि सदा मतिवाले काया होइ निकाया ॥
कहत कबीर सुहाग सुंदरी हरि भजि ह्वै निस्तारा।
सारा षलक खराब किया है मानस कहा बिचारा ॥१०६॥

हड़ हड़=खिलखिला कर अट्टहासपूर्वक। च्यौं च्यौं म्यौं म्यौं=विभिन्न ध्वनियां उत्पन्न करके अशान्त वातावरण बनाना। मीर=मुसलमान समाज की श्रेष्ठ पदवी जिसका अर्थ प्रधान होता है। मुकद्दम=मुकद्दम पहले गांवों में हुआ करते थे यहां सम्माननीय व्यक्ति के अर्थ में। मदमाते=मदमाते। निस्तारा=छुटकारा। षलक=संसार। मानस=मनुष्य।

कबीर माया को सम्बोधित करते कहते हैं कि तू खिलखिलाकर अट्टहासपूर्वक हंसकर क्या उत्पात किया करती है। तू ऐसा पागलपन क्यों कर रही है? तू कभी

इधर उधर शान्ति भंग करती क्यों फिर रही है ? कोई व्यक्ति तेरे रंग में रंगकर सुख प्राप्त कर रहा हो भले ही वह मीर-मुकद्दम कोटि का श्रेष्ठतम व्यक्ति क्यों न हो, वह वन में पड़े धसाव बजाने के समान निरर्थक धामक्सोपयोग में लगे हैं क्योंकि उस मानन्द का किसी को लाभ तो प्राप्त होता ही नहीं है। इसलिए तुम भ्रम में पड़े हुए माया के रंग में मत पड़ो। वह माया सबको मदमस्त बना देती है। प्रभु-भक्ति के रस में रंगे हुए सर्वदा (स्थायी) मानन्द का सुख लाभ करते हैं। उसी से शरीर निष्पाप होता है। कबीरदास जी कहते हैं कि इस माया ने तो समस्त संसार को अपने दूषित प्रभाव से विषाक्त बना दिया है, फिर बेचारे मनुष्य की तो बात ही क्या ? अतः हे आत्मारूपी सुन्दरी ! तू प्रभु का भजन कर, उसी से मुक्ति सम्भव है।

> हरि के नांद गहर जिनि करऊ रांम नाम चित मुसां न धरऊ ॥टेक॥
> जैसें सती तजै स्यंगार, ऐसें जियरा करम निवार।
> राग दोष दहूँ मैं एक न भाषि कदाचि ऊपजै तौ चिंता न राषि।
> भूसें बिसरय गहर जौ होई कहै कबीर क्या करिहौ मोही ॥१७॥

मुसां=मुख से। स्यंगार=शृंगार। निवार=परित्याग।

कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य प्रभु के सम्मुख भी मद भाव का परित्याग नहीं करते हैं वे ऐसे लोग होते हैं जो कभी राम-नाम प्रभु नाम को हृदय अथवा मुख में आने ही नहीं देते। वे आगे जीव को समझाते हैं कि जैसे सती नारी शृंगार का पूर्ण परित्याग कर देती है उसी प्रकार तू कर्मों का पूर्ण त्याग कर कर्म-विरत हो जा एवं राग-द्वेष दोनों में से किसी में भी अपना मन न लगा और यदि कभी राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जाय तो तू उस पर विचार ही न कर, वह स्वयं समाप्त हो जायेगा। कबीर कहते हैं कि यदि भूलि में विषयरस हुआ तो वह मोह करके भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता भाव यह है कि हे मनुष्य ! यदि तू इस उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त कर ले तो माया-मोह विषय-विकार तुझे प्रभु भक्ति पथ से हटा नहीं सकते।

विशेष—यह स्थिति गीता के जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ पुरुष जैसी ही है, यथा तुलना कीजिए—

> (१) दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ २।५६

दुःखों की प्राप्ति में उद्वेगरहित है मन जिसका और सुखों की प्राप्ति में दूर हो गई है स्पृहा जिसकी तथा नष्ट हो गये हैं राग भय और क्रोध जिसके ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

(२) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ २।५९

"यद्यपि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग नहीं निवृत्त होता और इस पुरुष का तो राग भी परमात्मा को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।

(३) 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।'
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३।३४

"इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी [illegible]ओं के भोगों में स्थित जो राग और द्वेष हैं उन दोनों के वश में नहीं होवे [illegible] दोनों ही इसके कल्याणमार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं।

मन रे कागद कीर पराया ।
कहा भयौ व्यौपार तुम्हारे, कल तर बढ़ै सवाया ।टेक॥
बड़े बोहरे साठो दीन्हौं कल तर काढ़्यो खोटै ।
चार लाख अरु असी ठीक दे जनम लिख्यौ सब चौटे ॥
अब की बेर न कागद कीर्‌यौ तौ धम राइ सू तूटे ।
पूजी बितड़ि बंदि लै देहै तब कहै कौन क छूटे ॥
गुरदेव ग्यांनी भयौ लगनियां सुमिरन दीन्हौं हीरा ।
बड़ी निसरना नांव रांम को चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥१०८॥

पराया=दूसरे का । तर=तक । सवाया=सवा गुना । बोहरे=व्यापार [illegible]ने वाला महाजन ।

कबीर कहते हैं कि मन ! तूने दूसरे बोहरे का कागज भरा है । वे पाप जो [illegible] अर्जित कर रहा है उसी प्रकार कल तक सवा गुने बढ़ जायेंगे जिस भाँति बोहरे [illegible] सूद । यह देख बोहरा कल तक तुझ पर सूद बढ़ा कर न जाने क्या-क्या दोष [illegible]गा ऐसा लिखकर तुझे चौरासी लाख योनियों में जन्म लेकर भटकते हुए [illegible]ना पड़ेगा । यदि अब की बार इस मनुष्य जन्म में कागज का सब पाप-कर्म रूपी [illegible] न चुका दिया तो मृत्यु-पश्चात् धर्मराज तुझसे रुष्ट हो जायेंगे । पूजी के बढ़ [illegible] पर तुझे वह बन्दी कर लेगा तब तुझे कौन मुक्त करायेगा ? सद्गुरु रूपी [illegible]ज्ञानी ही तुझे स्मरण का हीरा देकर इससे मुक्त करा सकता है । जिसके द्वारा [illegible] राम की सीढ़ी को पाकर इस संसार में यह कबीर भी भक्ति के परम सोपान—[illegible]—को प्राप्त कर सका ।

धागा ज्यूं टूटै त्यूं जोरि ।
तूटै तूटनि होयगा ना ऊ मिलै बहोरि ॥टेक॥

उरझ्यो सूत पान नहीं लागै कूच फिरै सब लाई।
छिटकै पवन तार जब छूटै तब मेरी कहा बसाई॥
सुरझ्यौ सूत गुढ़ी सब भागी पवन राखि मन धीरा।
पंचू भइया भये सनमुखा तब यहु पान करीला॥
नान्ही मैदा पीसि लई है छांणि लई द्वै बारा।
कहै कबीर तेल जब मेल्या बुनत न लागी बारा॥१६॥

ठे=यह बड़ा ! बहोरि=दुबारा । पंचू भइया=पाँचों भइया पाँचों इन्द्रियाँ। मैदा=बारीक भाटे को छानकर निकाली जाती है। छांणि=छान कर।

कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति का धागा यदि टूट जाता है तो जैसे भी हो उसे जोड़ अवश्य लेना चाहिए क्योंकि यह टूटने का क्रम तो चलता ही रहेगा फिर वह प्रभु पुनः प्राप्त नहीं हो सकते। उलझा हुआ सूत पिंडी के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता चाहे आप उसे मुहल्ले के सब व्यक्तियों से करा देखिये। यदि विषय वासना रूप वायु के चलन पर प्रभु भक्ति का तार टूट जाय तो मेरा क्या बस है। कर्म-सूत के सुलझ जाने पर सब मांडें मन के सन्ताप दूर हो जाते हैं और इस प्रकार प्राणों में धैर्य का संचार होता है। पांचों इन्द्रियां जब अपने वश में हो जाती हैं तभी वह कर्म रूपी सूत पान (जिसके ऊपर सूत लपेटा जाता है) पर चढ़ सकता है। कबीर कहते हैं कि इस कर्म सूत को कलफ लगाने के लिए जो प्रयत्न रूपी बार की छनी मैदा लगाई और थोड़ा सा स्नेह (तेल) चुपड़कर कर्म-सूत से भक्ति के जो सुन्दर वस्त्र बुना उसे बुनते थोड़ी भी तो देर न ल गी।

विशेष—१ कबीर ने यहाँ भक्ति को जुलाहे कर्म से सम्बन्धित उपमाओं द्वारा स्पष्ट किया है, इससे उनकी उपमा और रूपक योजना में कुछ दुरूहता अवश्य आ गयी है। किन्तु यदि उसे जुलाहे-कर्म-ज्ञान के सन्दर्भ में देखें तो यह वर्णन स्पष्ट है।

२ उपमा रूपक रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार स्वाभाविक रूप से पद में आ गये हैं।

ऐसा औसर बहुरि न आवै राम मिलै पूरा जन पावै॥टेक॥
जनम अनेक गया अरु आया की बेगारि न भाड़ा पाया।
भेष अनेक एकधू कैसा नांनां रूप धरै नट जैसा॥
दांन एक मांगौं कवलाकंत कबीर के दुख हरन अनंत॥११॥

औसर=अवसर। पूरा जन=पूर्ण पुरुष ब्रह्म। भाड़ा=किराया। कवलाकंत=कमलाकान्त लक्ष्मीपति विष्णु ब्रह्म।

कबीर कहते हैं कि यह मनुष्य जन्म जैसा सुअवसर फिर प्राप्त नहीं हो सकेगा अतः भक्ति द्वारा अपना मोक्ष बना लो जिससे पूर्ण पुरुष नारायण की प्राप्ति हो जाय।

जीव ! तू नाना योनियों में जन्म ले-ले कर आया है किन्तु सबमें तूने व्यर्थ कर्म किये हैं जिनका तुझे कोई फल नहीं प्राप्त होगा । हे प्रभु ! उन विभिन्न जन्मों में मैंने नाना वेष नट के समान धारण किये हैं भाव यह है कि भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न स्वरूप प्राप्त किया है । कबीर कहते हैं कि हे लक्ष्मीकान्त ! हे प्रभु ! मैं आपसे एक ही वरदान मांगता हूं वह यह कि आप मेरे अनन्त दुखों को दूर कर दीजिए ।

विशेष—१ कबीर का पुनर्जन्म में दृढ़ विश्वास ऐसे ही पदों से प्रकट होता है ।

२ कबीर पर वैष्णव प्रभाव की घोषणा यत्र-तत्र प्रभु के लिए आये यह वैष्णव नाम भी करते हैं ।

हरि जननी मैं बालिक तेरा
काहे न औगुण बकसहु मेरा ॥टेक॥
सुत अपराध करै दिन केते जननी कै चित रहैं न तेते ।
कर गहि केस करै जौ घाता तऊ न हेत उतारै माता ।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी बालक दुखी दुखी महतारी ॥१११॥

हे प्रभु आप माता हैं और मैं तुम्हारा अबोध बालक हूं । तुम मेरे अवगुणों को क्षमा क्यों नहीं कर देते ? बालक दिवस में न जाने कितने अपराध करता है परन्तु माता के हृदय में उनमें से एक भी नहीं रह जाता । माता का हाथ पकड़ कर भी कभी बाल आदि खींचकर बालक उसे दुख पहुंचाता है किन्तु तो भी माता उस पर अपनी स्नेह छाया नहीं हटाती । कबीर बुद्धिपूर्वक विचार कर एक बात कहता है वह यह कि यदि पुत्र दुखी रहता है तो माता भी उसके दुख से व्यथित रहती है । भाव यह है कि प्रभु मैं दुखी हूं आप मेरे दुख से व्यथित हो मेरा दुख हर लीजिए ।

विशेष—१ कबीर के समर्पण भावना के ये पद उन्हें ईश्वर के बहुत समीप पहुंचाकर वैष्णव सम्प्रदायी भक्तों के साथ-साथ सूर, तुलसी जैसे भक्तों की कोटि में पहुंचा देते हैं ।

२ प्रभु से ऐसे ही निकट सम्बन्ध स्थापित कर हृदय निवेदन की प्रथा बड़ी पुरातन है तुलना कीजिए—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव । त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव । त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥"

गोब्यंदे तुम्ह थैं डरपौं भारी ।
सरणाई आयौ क्यूं गहिये यहु कौन बात तुम्हारी ॥टेक॥

धूप दाझतें छांह तकाई, मति तरवर सचपाऊं ।
तरवर माँहैं ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊं ॥
जे बन जलै त जल कूं धावै मति जल सीतल होई ।
जलही माँहि अगनि जे निकसै और न दूजा कोई ॥
तारण तिरण तिरण तू तारण और न दूजा जांनौं ।
कहै कबीर सरनाँई आयौ आंन देव नहीं मांनौं ॥११२॥

गोब्यंदे—गोविन्द प्रभु । दाझतें—जलते हुए, झुलसते हुए । तकाई—देखी । तरवर=तरुवर । सचपाऊं=शान्ति पाऊं । सरनाँई=शरण में ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मुझे आपसे बड़ा भय लगता है इसीलिए आपकी शरण में आया हूं । किन्तु आप शरण में आये हुए की भी रक्षा नहीं कर रहे हैं, यह आपका कैसा न्याय है ? संसार के माया-मोह की अग्नि में जलते हुए मैंने आपकी शीतल भक्ति का सहारा तका किन्तु अब उस प्रभु जिस तरुवर की भक्ति अपना है, की शरण में आकर भी शान्ति लाभ नहीं हो रहा है । यदि तरु से ही अग्नि निकलने लगे तो मैं उस पाप-ताप को कैसे शान्त करूंगा ? यदि संसार रूपी वन जलने लगे और मैं प्रभु रूप शीतल जल की ओर भागूं किन्तु यदि वह जल भी शीतल न करे तो मेरी क्या दशा होगी ? कबीर कहते हैं कि हे प्रभु । आप ही मेरे उद्धारक हैं इस संसार-सागर से पार उतारने वाले हैं, मेरा सहायक और कोई नहीं है । हे प्रभु ! मैं तो एकमात्र आपकी ही शरण में आ गया हूं किसी अन्य आराध्य को नहीं जानता । मेरे एकमात्र आधार आप ही हैं अतः मेरी रक्षा कीजिए ।

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं तन मन धन मेरा रामजी कै ताईं ।टेक।
आंनि कबीरा हाटि उतारा सोई गाहक सोई बेचनहारा ॥
बेचै रांम तौ राखै कौंन राखै रांम तौ बेचै कौंन ।
कहै कबीर मैं तन मन जार्‌या साहिब अपना छिन न बिसार्‌या ॥११३॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारा दास हूं मेरा तन मन धन सर्वस्व आपके लिए ही है अतः आप मुझे चाहें तो बेच दें । उस स्वामी ने कबीर को लाकर इस संसार रूपी बाजार में रख दिया है—वस्तुतः वही मेरा बेचने वाला है और वही क्रय करने वाला यदि मुझे राम बेच देना चाहें तो फिर भला कौन ऐसा है जो मुझे संसार में रख सके एवं यदि वह रखना चाहें तो फिर भला बेच कौन सकता है । कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है, प्रत्येक पल मेरा प्रभु के लिए ही है ।

अब मोहि रांम भरोसा तेरा और कौंन का करौं निहोरा ।।टेक।।
जाकै रांम सरीखा साहिब भाई, सो क्यूं अनंत पुकारन जाई ।

जा सिरि तीनि लोक को भारा सो क्यू न करै जन को प्रतिपारा ।
कहै कबीर सेवौ बनवारी सींचौ पेड़ पीवै सब डारी ॥११४॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! अब मुझे केवल मात्र आपका ही आश्रय है, अब मैं किस की वन्दना आपके अतिरिक्त करू ? जिसके पूर्ण समर्थ राम जैसे स्वामी हैं उसे अन्यत्र किसी और की वन्दना करने से क्या लाभ जिस प्रभु राम पर तीनों लोकों के पालन-पोषण का भार है वह भला अपने भक्त की हितचिन्ता क्यों न करे । कबीर कहते हैं कि प्रभु की भक्ति करने में ही भला है । जिस प्रकार पेड़ की जड़ को सींचने से समस्त शाखाएं स्वयं जल प्राप्त कर लेती हैं उसी भांति प्रभु भक्ति से समस्त कामनाएं स्वयं सफलीभूत हो जाती हैं ।

जियरा मेरा फिरै उदास ।
राम बिन निकसि न जाई सास अजहूँ कौन आस ।।टेक।।
जहाँ जहाँ जाऊ राम मिलावै न कोई कहौ संतौ कसै जीवन होई ।
जरै सरीर यहु तन कोई न बुझावै, अनल दहै निस नींद न आवै ।।
चदन घसि घसि अंग लगाऊ राम बिना दारुन दुख पाऊ ।
सत संगति मति मन करि धीरा सहज जानि रामहि भज कबीरा ।।११५।।

कबीर कहते हैं कि मेरा मन संसार से उदास रहता है । मुझे शंका है कि कहीं बिना राम भक्ति के ही यह जीवन समाप्त न हो जाय । हे साधुओ ! मुझे बताओ कि मैं कैसे जीवन धारण करू जहां-जहां भी प्रभु दर्शन की आशा में जाता हूं मुझे कोई भी प्रभु से साक्षात्कार नहीं कराता । मेरा यह शरीर रात-दिन तापाग्नि में दग्ध होता रहता है किन्तु कोई इसका ताप नहीं मिटाता । शरीर की शान्ति के लिए चाहे मैं शरीर पर घिस-घिस कर चन्दन लगाऊ किन्तु बिना प्रभु-भक्ति के मैं दुखों की दारुण व्यथा से व्यथित हो रहा हूं । कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू साधु संगति करता हुआ राम भक्ति में अपनी चित्तवृत्तियां केन्द्रित कर ।

राम कह्यौ न अजहूँ केते दिना जब ह्वै है प्रांन प्रभू तुम्ह लीना ।।टेक।।
भौ भ्रमत अनेक जन्म गया तुम्ह दरसन गोब्यंद छिन न भया ।
भ्रम्य भूलि पर्यो भव सागर, कछू न बसाइ बसोधरा ।।
कहै कबीर दुखभंजना करौ दया दुरत निकंदना ।।११६।।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तुम्हें कितने दिन इस संसार में व्यतीत हो गए किन्तु आज तक तूने प्रभु का नाम उच्चारण नहीं किया । अब वह समय आ पहुंचा है जब ईश्वर इस जीवन को समाप्त कर देगा । इस जग के भ्रम में पड़े हुए अनेक जन्म व्यतीत हो गये किन्तु प्रभु दर्शन एक क्षण के लिए भी न हो सका । इस भ्रम में भ्रमित हो कर ही मैं संसार समुद्र में पड़ा हूं इससे निकलने के लिए प्रभु मेरा कोई

बस नहीं चलता। कबीर कहते हैं कि हे दुख भञ्जन प्रभु! अब एक बार इस संसार से पार निकाल दो।

हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ।।टेक।।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया राम बड़ मैं छुटक लहुरिया।
किया स्यगार मिलन कै ताईं, काहे न मिलौ राजा राम गुसाईं ।।
अब की बेर मिलन जो पाऊं कहै कबीर भौ-जलि नहीं आऊं ।।११७।।

कबीर कहते हैं कि हे सखि! सुन। प्रभु मेरे प्रियतम हैं उनके अभाव में मेरे प्राण पल भर भी नहीं रह सकते। वे मेरे पति हैं तो मैं उनकी पत्नी। वे महान् हैं मैं क्षुद्र। मैंने प्रेम पथ पर अग्रसर हो शृंगार किया किन्तु राम प्रियतम न जाने क्यों नहीं मिल रहे हैं? कबीर कहते हैं कि उस प्रियतम से यदि अबकी बार मिलन हो गया तो फिर मैं इस संसार-जल में डूबने के लिए नहीं आऊंगा।

राम बान अन्ययाले तीर जाहि लागे सो जानैं पीर ।।टेक।।
तन मन खोजौं चोट न पाऊं औषद मूली कहां घसि लाऊं।
एकहीं रूप दीसै सब नारी ना जानौं को पीयहि पियारी ।।
कहै कबीर जाग्मस्तकि भाग ना जानूं काहू देइ सुहाग ।।११८।।

औषद=औषध। मूली=बूटि। दीसै=दृष्टिगत।

कबीर कहते हैं कि राम भक्ति का बाण लगा है, इसकी वेदना को वही जान सकता है जिसको स्वयं यह बाण लगा है। इस बाण का प्रहार देखने के लिए मैं तन मन को खोजता हूं किन्तु कहीं घाव दृष्टिगत नहीं होता जैसे वेदना शरीर के मध्य प्रत्यंग में है। इसलिए यदि कोई उपचार भी करूं तो समझ में नहीं आता कि औषधि किस स्थान पर लगाऊं। संसार में जितनी भी आत्माएं हैं वे सब एक ही रूप में दृष्टि गोचर होती हैं किन्तु यह कहना बड़ा कठिन है कि इनमें प्रभु को यह प्रिय होगी। कबीर कहते हैं कि ज्ञात नहीं किस पुरुष का ऐसा भाग्य होगा जिसे वह प्रियतम अचल सौभाग्य प्रदान कर अंगीकार करेंगे।

आस नहीं पूरिया रे राम बिन को कर्म काटणहार ।।टेक।।
जब सर जल परिपूरता चात्रिग चितह उदास।
मेरी बिषम कर्म गति ह्वै परी ताथैं पियास पियास ।।
सिध मिलै सुधि नां मिलै मिलै मिलावै सोइ।
सूर सिध जब भेटिये तब दुख न ब्यापै कोइ ।।
बोछै जलि जसैं मछिका उदर न भरई नीर।
त्यू तुम्ह कारनि केसवा जन तासा बेली कबीर ।।११९।।

कबीर कहते हैं कि प्रभु के बिना कोई न तो आशा को पूर्ण कर सकता है और न इस भव-बन्धन का ही निवृत्ति कर सकता है। जिस प्रकार सरोवरों

जल के परिपूर्ण रहने पर भी चातक की प्यास नहीं मिटती उसी भांति मेरी भी मति बड़ी विचित्र हो गई है इसीलिए इस संसार के आनन्दों में भी मेरी तृप्ति नहीं हो रही है। साधु इत्यादि सज्जन-गण तो मिल जाते हैं किन्तु कोई मनुवर्धन प्राप्त भक्त नहीं मिलता जो प्रभु से मिला दे। जब ऐसा व्यक्ति मिल जायेगा तब कोई दुख शेष नहीं रह जायगा। पानी में पड़े हुए भी जैसे मछली का पेट जल से ही नहीं भरता (वायु-भक्षण भी करती है) उसी भांति कबीर कहते हैं कि इस संसार के आनन्दों में भी आपके बिना मेरी तृप्ति सम्भव नहीं।

रांम बिन तन की ताप न जाई जल मैं अगनि उठी अधिकाई ॥टेक॥
तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीनां जल में रहौं जलहिं बिन षीनां ॥
तुम्ह प्यंजरा मैं सुवनां तोरा दरसन देहु भाग बड़ मोरा।
तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला कहै कबीर रांम रमूं अकेला ॥१२ ॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में रहते हुए तो इस शरीर के ताप और भी बढ़ते जाते हैं। बिना प्रभु के इन तापों का शमन सम्भव नहीं। यदि प्रभु आप समुद्र हैं तो मैं जल पर ही जीवन धारण करने वाली मछली हूं किन्तु विडम्बना है कि मैं सर्वान्तर्यामी प्रभु के पास रहते हुए भी उनके दर्शन के लिए तड़प रहा हूं। यदि आप पिंजरे हैं तो मैं उसमें आबद्ध तोता हूं जिसकी सीमाएं वह पिंजड़ा ही है। हे प्रभु! यदि आप दर्शन दें तो यह मेरा बड़ा भाग्य होगा। यदि आप सद्गुरु हैं तो मैं आपका आज्ञाकारी शिष्य हूं। कबीर कहते हैं कि वह प्रभु एक ही है और सर्वत्र रमण करता है।

गोब्यंदा गुण गाईये रे ताथैं भाई पाईये परम निधांन ॥टेक॥
ऊंकारे जग ऊपजै बिकारे जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ करि रह्या गगन मठ छाइ॥
झूठे जग डहकाइया रे, क्या जीवण की आस।
रांम रसांइण जिनि पीया तिनिकौं बहुरि न लागी रे पियास ॥
अरध षिन जीवन भला भगवत भगति सहेत।
कोटि कलप जीवन बिथा नांहिन हरि सूं हेत ॥
संपति देखि न हरषियें बिपति देखि न रोइ।
ज्यूं संपति त्यूं बिपति है करता करै सु होइ ॥
सरग लोक न बांछिये डरिये न नरक निवास।
हूंणां था सो ह्वै रह्या मनहु न कीजै झूठी आस ॥

क्या जप क्या तप संजमां क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जो पैं जुगति न जांनियै भाव भगति भगवान।
सुंनि मंडल मैं सोधि ले परम जोति परकास।
तहूंवां रूप न रेप है फूलनि फूल्यो रे अकास।
कहै कबीर हरि गुण गाइ लै सत संगति रिदा मंझारि।
जो सेवग सेवा करै, ता संगि रमैं रे मुरारि ॥१२१॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू प्रभु का गुणगान कर इसी उपाय से उस परमनिधान ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। ओऽम्‌कार का स्मरण करने से संसार बनता है और पाप-कर्मों से तो इस लोक में भी जीवन नष्ट हो जाता है। यह जग मनहर भाव उत्पन्न कर शून्य में रम रहा है। समस्त संसार जीवन की आशा में वृथा ही यम के धोखे में पड़ा हुआ है। जिन्होंने राम भक्ति का अमूल्य रस पान कर लिया उन्हें फिर संसार-रसों की प्यास शेष नहीं रह जाती।

यदि प्रभु से प्रेम नहीं है तो कोटि-कोटि युगों का दीर्घ जीवन वृथा और प्रभु भक्ति-युक्त एक क्षण का जीवन भी श्रेष्ठ है। सम्पत्ति-सुख को देखकर हर्षित नहीं होना चाहिए और न विपत्ति को देखकर दुःखित होना चाहिए। स्वर्ग लोक की इच्छा करना और नरक से भयभीत होना भी उचित नहीं है क्योंकि मन में इन मिथ्या माया भावनाओं को रखने से क्या लाभ ? जो होना है वह तो होकर ही रहेगा—

"सुखदु ले समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। २।१८ (गीता)

× × ×

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ २।४७ (गीता)

प्रभु जप तप संयम तीर्थ व्रत स्नान आदि विविध कर्मों से प्राप्त नहीं होते जब तक प्रेम—भक्ति सहित उनमें हृदय-निवेदन नहीं किया जाता तब तक सब व्यर्थ है।

हे साधक तू उस परम निरंजन ज्योतिस्वरूप को शून्यमण्डल ब्रह्मरन्ध्र में खोज ले। वहां उसका न तो कोई आकार है और न वर्ण बिना वृक्ष के ही फूल के समान वह वहां विराज रहा है। कबीर कहते हैं कि हे मानव ! तू प्रभु का गुणगान कर साधु संगति कर क्योंकि इसी से प्रभुप्राप्ति होगी। जो प्रभु की सेवा प्रेमभक्ति द्वारा करता है उसे उसका मैत्रूप सहवास ही प्राप्त होता है।

विशेष—अगरदेस = अगारदेश अपार भाव से तात्पर्य।
सगन बउ = ब्रह्मरन्ध्र ब्रह्मरन्ध्र भरमसर वचन से तात्पर्य।
सुंनि मण्डल = शून्यमण्डल
परम जोति परकास = ब्रह्म की ज्योति बांध बातमा के वहां की परम ज्योति स्वरूप
निरंजन निराकार माना गया है।

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई।
जा दिन तेरो कोई नांहीं ता दिन रांम सहाई ॥टेक॥
तंत न जानूं मंत न जानूं जानूं सुंदर काया।
मीर मलिक छत्रपति राजा ते भी खाये माया॥
बेद न जानूं भेद न जानूं जानूं एकहि रांमां।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हां मुख कीन्हौं जित नांमां॥
राजा अंबरीक कै कारणि चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो भगत की सरन ऊबारै॥१२२॥

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू सर्वदा प्रभु का स्मरण कर। जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता तब उसका राम के अतिरिक्त और कोई सहायक नहीं होता। कबीर आगे कहते हैं कि मैं तन्त्र मन्त्र—किसी भी पूजा-विधान से जानकारी नहीं रखता केवल रूप-सौन्दर्य में भटका रहता हूं। यह शरीर नाशवान् है—सबको माया नष्ट कर देती है मीर, राव राजा छत्रपति सब ही नष्ट हो जाते हैं। हे प्रभु ! मैं वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से परिचित नहीं हूं मैं तो एकमात्र आपको ही जानता हूं। पण्डित लोग व्यर्थ के विधि विधानों में पड़े रहते हैं किन्तु मैं तो नामस्मरण में ही विश्वास रखता हूं। कबीर के प्रभु बड़े दयालु हैं वे भक्त को दुख से उबारकर शरण में ले लेते हैं, उन्होंने राजा अम्बरीष की दुर्वासा से सुदर्शन चक्र द्वारा बचाकर रक्षा की।

विशेष—१ बड़ी विचित्र बात है कि कबीर प्रभु को वैष्णवों के अवतार न मानते हुए भी अम्बरीष आदि की कथा के साथ सम्बद्ध करते हैं किन्तु उनका वास्तविक अर्थ यही लक्षित होता है कि विष्णु, राम कृष्ण आदि को वे पूर्ण ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में यदि यह कहें कि अपने पूर्ण ब्रह्म के लिए उन्होंने इन वैष्णव नामों को स्वीकार कर लिया था तो अनुचित न होगी। ऐसा करने से उनका अलख निरंजन ब्रह्म जनसाधारण के स्तर पर उतरकर सर्वग्राह्य बन जाता है।

२ अम्बरीष—"वैवस्वत मनु के पौत्र महाराज नाभाग के पुत्र थे। यह परम प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे इन्हीं के कारण दुर्वासा ऋषि का विष्णु के चक्र ने पीछा किया था।"—कबीर बीजक।

रांम भणि रांम भणि रांम चिंतामणि भाग बड़े पायौ छाड़ै जिनि ॥टेक॥
असंत संगति जिनि जाइ रे भुलाइ, साध संगति मिलि हरि गुण गाइ।

रिदा कवल मैं राखि मुकाइ प्रेम गांठि दे ज्यूं छूटि न जाइ ॥
अठ सिधि नव निधि नांव मंझारि कहै कबीर भजि चरन मुरारि ॥१२१॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू राम रूप चिंतामणि का भजन कर । उन व्यक्तियों के भाग्य बड़े महान हैं जो इस संसार से मुक्त हो गये हैं । वे नर भी भाग्यशाली हैं जो दुर्जनों की संगति छोड़कर साधु-संगति या प्रेम मुग्धगान करते हैं । कबीर कहते हैं कि वह बड़ा शून्य स्थान में छिपा हुआ बैठा है । उसे प्रेम भक्ति के द्वारा वहां रोके रखो कभी प्रयत्न न चला जाय । कबीर कहते हैं कि आठों सिद्धि नवों निधि का सुख प्रभु नाम में ही है अतः उन्हीं के चरण कमलों का ध्यान करो ।

विशेष—१ चिंतामणि एक मणि विशेष जिसकी प्राप्ति से समस्त कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं ।

२ आठ सिद्धि—अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व वशित्व ।

३ नवनिधि—पद्म महापद्म शंख मकर कच्छप मुकुन्द कुन्द नील खर्व ।

४ कहै कबीर भजि चरन मुरारि—कबीर निराकार ईश्वर के उपासक हैं किन्तु उन पर वैष्णव प्रभाव इतना प्रबल है कि वे कभी निराकार को कहीं-कहीं साकार बना देते हैं । निराकार के 'चरण' भजने की कैसी संगति ।

निरमल निरमल राम गुण गावै सो भगता मेरे मनि भावै ॥टेक॥
जे जन लेहिं राम को नांउं ताकी मैं बलिहारी जाउं ।
जिहिं घटि राम रहे भरपूरि, ताकी मैं चरनन की धूरि ॥
जाति जुलाहा मति को धीर हरषि हरषि गुण रमैं कबीर ॥१२२॥

कबीर कहते हैं कि जो भक्त निर्मल-मन होकर राम के गुणों का गान करता है वह मेरे मन को अच्छा लगता है । जो भक्त प्रभु का स्मरण करता है मैं उसकी बलि-बलि जाता हूं । वैसे मैं जुलाहे जैसी पिछड़ी जाति का हूं किन्तु भक्ति पथ में बड़ा धैर्यवान् हूं मैं हर्षित हो कर राम का गुणगान करता हूं ।

जा नरि रांम भगति नहीं साधी सो जनमत काहे न मूवौ अपराधी ॥टेक॥
गरभ मुचे मचि भई किन बांझ, सूकर रूप फिरै कलि मांझ ।
जिहिं कुलि पुत्र न ग्यांन बिचारी वाकी बिधवा काहे न भई महतारी ॥
कहै कबीर नर सुदर सरूप रांम भगति बिन कुचल करूप ॥१२३॥

कबीर कहते हैं कि जिसने प्रभु भजन नहीं किया वह अपराधी पापी जन्म लेते ही क्यों न मर गया । वह तो मनुष्य के रूप में सूअर जैसा इस कलियुग में घू

रहा है वह गर्भ में ही क्यों न समाप्त हो गया उसकी माँ बाँझ क्यों न हो गई। जिस परिवार में पुत्र ज्ञान सम्पन्न नहीं हुआ उसकी जननी उसे जन्म देने से पूर्व विधवा क्यों नहीं हो गई। कबीर कहते हैं कि चाहे मनुष्य कितना ही रूपवान् क्यों न हो किन्तु प्रभु भक्ति के बिना वह दुश्चरित्र और कुरूप है।

विशेष—पद के भाव की तुलना कीजिए—

"यर्षा न विद्या न तपो न दानम् ज्ञानं न शील न गुणो न धर्म ।

ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

राम बिनां ध्रिग ध्रिग नर नारी कहा तैं आइ कियौ संसारी ॥टेक॥

रज बिनां कैसौ रजपूत ग्यांन बिनां फोकट अवधूत।

गनिका कौ पूत पिता कासौं कहै गुर बिन चेला ग्यान न लहै ॥

कवारी कंन्यां करै स्यंगार सोभ न पावै बिन भरतार।

कहै कबीर हूं कहता डरूं सुषदेव कहै तौ मैं क्या करौं ॥१२६॥

कबीर कहते हैं कि वे नर-नारी जिन्होंने संसार में आकर प्रभु का नाम नहीं लिया धिक्कारने योग्य हैं। जिस भांति वैभव के बिना राजरूपी ठाट के बिना राजपुत्र अथवा राजपूत का कोई अर्थ नहीं उसी प्रकार बिना ज्ञान के योगी किस काम का। सद्गुरु के बिना शिष्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता जैसे वेश्या-पुत्र यह कहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाता कि वह अमुक का पुत्र है। कबीर कहते हैं कि शुकदेव आदि प्रतिष्ठित मुनिगण कहते हैं कि बिना गुरु के और प्रभु भक्ति के मनुष्य वैसे ही हैं जैसे क्वारी कन्या बिना पति के व्यर्थ ही शृंगार करती है।

विशेष—सुषदेव—इन्हें 'शुकदेव' भी कहा जाता है। पुराण में कहा है कि व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी माया के डर से बारह वर्ष तक माता के गर्भ में रहे थे। व्यास जी के बहुत समझाने पर बाहर आए पर जन्मते ही वन को चल दिए व्यास जी पुत्र मोह में विरह कातर होकर पीछे-पीछे चले आप में कुछ ब्रह्मचारी भी कृष्ण सम्बन्धी श्लोक पढ़ रहे थे उसे सुनकर शुकदेव जी को पूरा श्लोक जानने की इच्छा हुई। व्यास जी ने कहा मैंने अठारह हजार श्लोक बनाए हैं। भगवान् व्यास ने पुत्र को सम्पूर्ण भागवत पढ़ाया और कहा बिना गुरु के ज्ञान अधूरा रहता है। तुम महाराजा जनक से अध्यात्मविद्या प्राप्त कर लो। शुकदेव जी ने पिता की यह आज्ञा स्वीकार करली और राजा जनक के पास जाकर ब्रह्म विद्या प्राप्त की। —कबीर बीजक।

जरि जाव ऐसा जीवनां राजा रांम सूं प्रीति न होई।

जन्म अमोलिक जात है चेति न देखै कोई ॥टेक॥

मधुमाखी धन संग्रहै मधुवा मधु ले जाई रे।
गयौ गयौ धंन मूढ जनां फिरि पीछैं पछिताई रे॥
विषिया सुख के कारनैं जाइ गनिका सूं प्रीति लगाई।
अंधै आगि न सूझई पढ़ि पढ़ि लोग बुझाई॥
एक जनम के कारणैं कत पूजौ देव सहंसौ रे।
काहे न पूजौ रांम जी जाको भगत महेसौ रे॥
कहै कबीर चित चंचला सुनहू मूढ मति मोरी।
विषिया फिरि फिरि आवई, राजा रांम न मिलै बहोरी॥१२७॥

अमोलिक=अमूल्य। चेति=सावधान हो। मधुमाषी=मधु मक्खी।
मधुवा=मधु एकत्र करने वाला। गनिका=वेश्या। सहंसौ=सहस्र।
महेसौ=शिव।

कबीर कहते हैं कि ऐसा जीवन जिसमें प्रभु से प्रेम न हो समाप्त हो जाय। यह अमूल्य जन्म प्रभु भक्ति बिना व्यर्थ व्यतीत हुआ जा रहा है किन्तु कोई सावधान होकर इसका दुष्परिणाम नहीं देखते। मधुमक्खी मधु संचित करती है किन्तु उसे मधु विक्रेता इकट्ठा कर ले जाता है और वह पीछे पछताती रहती है, इसी भांति मनुष्य तू विविध पाप-कर्मों से जो सम्पत्ति संचित कर रहा है उसका उपभोग करने के लिए तू शेष कहां रहेगा? इस मनुष्य जन्म के चले जाने पर हे मूर्ख तू पीछे पछतायगा। विषयानन्द प्राप्त करने के लिए ही वेश्या से लोग प्रेम सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अज्ञानांध को दूर का दृष्टिगोचर नहीं होता चाहे कोई उन्हें कितना ही शास्त्रसम्मत वचनों द्वारा समझावे। इस एक जन्म के लिए क्यो सहस्रों देवताओं की आराधना करते हो उस एक परम प्रभु राम को क्यों नहीं भजते जिनका भजन शिव भी करते हैं।

कबीर कहते हैं कि हे चंचल मूर्ख-अज्ञानी मन मेरी बात सुन। यह विषय-वासना का आनन्द तो तुझे अन्य जन्मों में भी प्राप्त हो जायेगा किन्तु फिर प्रभु दर्शन और प्रभु-भक्ति का अवसर प्राप्त नहीं होगा।

रांम न जपहु कहा भयौ अंधा
रांम बिनां जंम मेलै फंधा॥टेक॥
सुत दारा का किया पसारा अंत की बेर भये बटपारा॥
माया ऊपरि माया मांडी साथ न चलै षोपरी हांडी॥
जपौ रांम ज्यूं अंति उबारै, ठाढी बांह कबीर पुकारै॥१२८॥

मेलै=डालेगा। दारा=स्त्री पत्नी।

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू राम नाम क्यों नहीं जपता अज्ञानांध क्यों

हो रहा है। प्रभु भक्ति बिना काल तुझे कवलित कर जायगा। अब तो तू पुत्र-पत्नी आदि के लिए पाप कर्मों का प्रसार कर रहा है किन्तु मृत्यु के समय कोई तेरा साथ नहीं देगा। माया-मोह का बन्धन मिथ्या है, तेरे साथ तो खाली हांडी तक नहीं जायेगी—फिर तू क्यों पाप कर्मों में रत है। हे मनुष्यो राम का भजन करो जो संसार सागर से बाँह पकड़कर उबार लेता है।

चंचमम छाड़ि दे मन बौरा।
अब तो जरें मरें बनि आवै लीन्हौं हाथ सिंधौरा ॥टेक॥
हाइ निसंक मगन ह्व नाचौ लोभ मोह भ्रम छाड़ौ।
सूरौ कहा मरन थैं डरपै सती न संचै भांडौ॥
लोक बद कुल की मरजादा इहै गलै में पासी।
आधा चलि करि पीछा फिरिहै ह्वै है जग मैं हासी॥
यहु संसार सकल है मैला राम कहैं ते सूचा।
कहै कबीर नाव नहीं छाड़ौं गिरत परत चढ़ि ऊँचा ॥१२७॥

कबीर कहते हैं कि हे पागल मन! तू यह चंचलता त्याग दे। अब तो मैंने हाथ में प्रभु भक्ति का बीड़ा ले लिया है जैसे भी होगा तुझे जीना कर दूंगा अत तू स्वयं ही सन्मार्ग पर आ जा। प्रभु भक्ति में मग्न हो संसार-दुखों से निशंक हो नाचते रहो और लोभ मोह माया भ्रम का परित्याग कर दो। शूरवीर मरन से नहीं डरते और सती स्त्री मोह में नहीं आती उसी भांति भक्त प्रभु-भक्ति पथपर अडिग है। लोक-शास्त्र एवं कुल-मर्यादा के बन्धन शूर और सती को मर्यादा में रखते हैं। किन्तु भक्त इन सब की कोई चिन्ता किए बिना भक्ति मार्ग पर चल दिया है, यदि अब वह आधे मार्ग से ही लक्ष्य को प्राप्त किये बिना लौट पड़े तो उसकी संसार में हंसी होगी।

कबीर कहते हैं कि यह समस्त संसार मैला है जहां आवागमन लगा ही रहता है जो यहां प्रभु का नाम लेते हैं वही अमर है इसीलिए प्रभु नाम का सम्बल नहीं छोड़ना चाहिए, गिरते पड़ते कैसे भी हो प्रभु-मिलन के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए।

का सिधि साधि करौं कुछ नाहीं
राम रसाइन मेरी रसनां मांहीं ॥टेक॥
नहीं कुछ ग्यांन ध्यान सिधि जोग तामैं उपजै नांना रोग।
का बन मैं बसि भये उदास जे मन नहीं छाड़ै आसा पास।
सब कृत काच हरी हित सार कहै कबीर तजि जग ब्योहार ॥१२८॥

सिधि=सिद्ध । रसांइन=रसायन । काच=कच्चे ।

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु प्राप्ति के लिए अन्य साधनाएं, विधि-विधान क्या करूं क्योंकि मेरी जिह्वा पर तो ब्रह्म-प्राप्ति का अचूक रसायन राम-नाम बसा है। किन्तु कोई न तो प्रभु का नाम ले और न अन्य ज्ञान ध्यान जप तप आदि करे तो उसमें अनेक दुर्गुणों का आविर्भाव होता है। विरक्त हो वन में जाकर संन्यासी बनने का कोई लाभ नहीं यदि मन माया-तृष्णा का परित्याग न कर सका। कबीर कहते हैं कि यह सब सांसारिक कर्म मिथ्या हैं इस संसार का कार्य-व्यापार त्याग देना चाहिए क्योंकि केवल प्रभु-भक्ति ही सत्य है।

जौ पै रसनां रांम न कहिबौ
तौ उपजत बिनसत भरमत रहिबौ ॥टेक॥
जैसी देखि तरवर की छाया प्रांन गयें कहु का की माया।
जीवत कछू न कीया प्रवांनां मूवा मरम को काकर जांनां ॥
अंधि काल सुख कोई न सोवै राजा रंक दोऊ मिलि रोवै।
हंस सरोवर कंवल सरीरा रांम रसांइन पीवै कबीरा ॥१११॥

कबीर कहते हैं कि हे जिह्वा ! यदि तू राम नाम का उच्चारण नहीं क[रेगी] तो यह जीवात्मा बारम्बार जन्म-मृत्यु के फेर में पड़ी रहेगी। दूसरे की धन-स[म्पत्ति] का अपने को कोई लाभ नहीं होता। मानव जीवनभर तूने ऐसा कोई कर्म नहीं कि[या] किन्तु मरते समय तक ज्ञान को कंकर-पत्थर जानता रहा। मृत्यु के समय सुखपू[र्वक] कोई नहीं रहता राजा और भिखारी सब उस समय दुखित होते हैं।

इस सरोवर रूपी शरीर में सहस्रदल कमल से निःसृत अमृत का पान क[बीर] कर रहा है।

का नांगें का बांधे चांम जौ नहीं चीन्हसि आतम-रांम ॥टेक॥
नांगें फिरें जोग जे होई बन का मृग मुकति गया कोई।
मूंड मुडायें जौ सिधि होई स्वर्ग ही भेड़ न पहुँती कोई ॥
ब्यंद राखि जे खेलै है भाई तौ खुसरै कौंन परम गति पाई।
पढ़ें गुनें उपजै अहंकारा अधधर डूबे वार न पारा ॥
कहै कबीर सुनहु रे भाई रांम नांम बिन किन सिधि पाई ॥११[२]॥

नांगे=नंगे। चाम=चमड़ा यहां शरीर से तात्पर्य है। चीन्हसि=[पह]चानना।

कबीर कहते हैं कि योगियों का आडम्बर भर कर चाहे नग्न हो जाओ संन्यासी बन कर वस्त्र धारण कर लो किन्तु जब तक हृदयस्थित परमात्मा को पहचानो नहीं तब तक इन सबका क्या प्रयोजन है क्या लाभ है ? यदि नग्न रहने

से योगसाधना पूर्ण हो जाय तो मन में जो भ्रम सर्वथा निर्मूल रहता है मुक्त न हुआ होता ? यदि शीश पर केश न रखने मात्र से ही योगी हो जाते तो भाग्ये लिए मुड़ने वाली भेड़ स्वर्ग की अधिकारी न बन गई होती । यदि शरीर की रक्षा करते हुए योगसाधना हो जाती तो दूसरों को परमगति किस भांति प्राप्त होती है । कबीर कहते हैं कि ज्ञान को पढ़ने से उसे आत्मसात् करके भी यदि अहंकार उत्पन्न हो गया तो वह भव संसार समुद्र के अतल में डूब जाता है । राम नाम के बिना तो किसी को भी परमपद प्राप्ति नहीं हुई ।

हरि बिन भरमि बिगूते गंदा ।
आपैं पांऊ आपनपौ छुड़ावण ते बीधे बहु फंधा ॥टेक॥
जोगी कहैं जोग सिधि नीकी और न दूजी भाई ।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर ऐ जु कहैं सिधि पाई ॥
जहां का उपज्या तहां बिलांनां हरि पद बिसर्‌या जबही ।
पंडित गुनीं सूर कवि,दाता ऐं जु कहैं बड़ हमहीं ॥
वार पार की खबरि न जांनीं फिर्‌यौ सकल बन ऐसें ।
यहु मन बोहि थकै कउवा ज्यूं रह्यौ ठग्यौ सौ बैसें ॥
तजि बांवं दांहिमैं बिकार हरि पद दिढ करि गहिये ।
कहै कबीर गूंगै गुड़ खाया बूझै तौ का कहिये ॥११३॥

भरमि = भ्रम । बीधे = बांधता है । फंधा = फंदा बन्धन । सिधि = सिद्धि । नीकी = अच्छी श्रेष्ठ । लुंचित मुंडित = सिरमुड़ाये योगी । मोनि = मौन धारण करने वाले । बिलांनां = समाप्त होना । वार-पार = आदि-अंत ।

कबीर कहते हैं कि बिना प्रभु के मनुष्य भ्रम के पाप-पंक में फंसा रहता है । जिसके पास भी अपनी मुक्ति के लिए जाता हूं वही स्वयं अनेक बन्धनों में बंधा हुआ है अथवा वह ऐसे उपाय बताता है जिससे और बन्धनों की सृष्टि होती है । योगी के पास यदि मुक्ति की आशा से जाओ तो वह यही बताता है कि योग-साधना ही मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है अन्य व्यर्थ है । शीश मुंडा देने वाले साधु, मौन धारण करने वाले मुनि कहते हैं कि हमने सिद्धि — ब्रह्म — को प्राप्त कर लिया है । कबीर कहते हैं कि यदि किसी साधना में प्रभु के चरण कमलों को विस्मृत कर दिया गया है तो वह तो वहीं की वहीं समाप्त हो जायगी । पण्डित गुणवान् शूरवीर और कवि अपने ज्ञान दम्भ में भर जाते हैं और कहते हैं कि हम ही श्रेष्ठ हैं । इन्हें तो आदि – अन्त किसी का कुछ ज्ञान ही नहीं व्यर्थ ही संसार में घूमते हैं । मन इन विभिन्न साधनावलम्बियों के द्वारा इसी प्रकार ठगा रह गया है जैसे जहाज से उड़ा कौआ चारों ओर समुद्र पाकर भ्रमित हो जाता है । कबीर कहते हैं कि इन सबका कथन मिथ्या है क्योंकि

जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका उसकी अनुभूति तो गूंगे के गुड़ सदृश है। वह उस का वर्णन कैसे करे ? अतः हे मनुष्य ! अथवा हे मन ! तू इधर-उधर के पाप कर्मों को छोड़कर प्रभु के चरण-कमलों को निष्ठापूर्वक दृढ़ता से पकड़ ले।

> चलो बिचारी रहो सँभारी कहता हूँ ज पुकारो।
> राँम नाँम अंतर गहि नाँहीं तौ जनम जुवा ज्यूं हारी ।।टेक।।
> मूंड़ मुड़ाइ फूलि का बैठे कांननि पहरि मंजूसा।
> बाहरि देह षह लपटांनीं भीतरि तौ घर मूसा।।
> गालिब नगरी गाँव बसाया हाँम काम अहंकारी।
> घालि रसरिया जब जम खैंचै तब का पति रहै तुम्हारी।।
> छांड़ि कपूर गांठि विष बांध्यौ मूल हुवा न लाहा।
> मेरे राँम की अभै पद नगरी कहै कबीर जुलाहा ।।११४।।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो ! यदि तुमने राम-नाम प्रभु-नाम को हृदय में धारण नहीं किया तो ऐसा समझो कि यह जन्म जुए में हार दिया। मैं पुकार-पुकार कर इस विचार की घोषणा करता हूं इससे तुम सावधान हो जाओ। हे संन्यासी ! तुम शीश घुटा कर, कानों में मंजूषा धारण कर अभिमान में क्या बैठे हो ? तुमने बाहर ही तो शरीर पर भस्म रमा रखी है, तुम्हारा हृदय तो विषय-वासना विकारों से गन्दा है। इन बाह्याडम्बरों से ही तो प्रभु प्राप्ति नहीं हो जाती ? उस प्रभु का स्थान अत्यन्त उच्च स्थान पर है किन्तु वहां पहुंचने में दम्भ और काम बहुत बाधक हैं। रस्सी डाल कर जब काल तुम्हें खींचेगा तब तुम्हारी क्या लज्जा शेष रह जायगी। प्रभु रूप कपूर को छोड़कर विष रूपी विषय-वासनाओं को सहेज रहा है, इससे तो मानव न तुझे मूल —ब्रह्म— ही प्राप्त होगा और न कुछ लाभ प्राप्त होगा। कबीर जुलाहा कहते हैं कि मेरे प्रभु का वास अभय स्थान पर है, उसे प्राप्त कर संसार में किसी भांति के तापों का भय शेष नहीं रह जाता।

> कौंन बिचारि करत हौ पूजा
> आतम राँम अवर नहीं दूजा ।।टेक।।
> बिन प्रतीतैं पाती तोड़ै ग्यान बिना देवलि सिर फोड़ै।।
> लुचरी लपसी आप सवारे, द्वारै ठाढा राँम पुकारै।
> पर-आतम जौ तत बिचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारै ।।११५।।

कबीर कहते हैं कि तुम क्या सोचकर दूसरे की पूजा कर रहे हो वह प्रभु तो हृदयस्थ है, अन्यत्र कहीं नहीं। बिना विश्वास के पूजा में नैवेद्य चढ़ाना तो पत्ते तोड़ने के समान ही है एवं बिना ज्ञान के मन्दिर पर माथा टेकना पत्थर पर शीश रखना मात्र ही है। हे मनुष्य ! तू विषय-वासनाओं में फंसा हुआ है और उधर प्रभु

भी मिलन के लिए मुझे पुकार मचा रहे हैं। कबीर उन पुरुषों की बलिहारी जाते हैं जो परमात्मा का विचार करते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए कटिबद्ध रहते हैं।

कहा भयो तिलक गरैं जपमाला मरम न जानैं मिलन गोपाला ॥टेक॥
दिन प्रति पसू करै हरिहाई गरै काठ वाकी बांनि न जाई।
स्वांग सेत करणीं मनि काली कहा भयौ गलि माला घाली ॥
बिन ही प्रेम कहा भयो रोयें भीतरि मैल बाहरि कहा धोये।
गल गल स्वाद भगति नहीं धीर, चीकन चदला कहै कबीर ॥११६॥

कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य प्रभु मिलन के रहस्य से परिचित नहीं तो गल माला डाले पर तिलक लगा लेने से क्या लाभ ? जगत में सामने वाले पशु के गले जिस प्रकार काठ का पाया पड़ा रहने पर भी वह सामने से बाज नहीं आता चाहे लगने पर वह पाया कितना ही उसके पैरों में लग इस भांति जीव भी यह जानते हुए कि विषयों के ध्यान्दद में पाप-पक में फसना है इस ओर जाये बिना बाज नहीं आता। यदि किसी का मन संसार स्वार्थ में बुरी तरह फसा हुआ है तो गल में ढोंग की माला धारण करने का कोई लाभ नहीं। प्रेम शून्य स्थिति में प्रभु के लिए रोने से क्या—भीतर मन में तो पाप विषय विकार हैं बाहर से शरीर को धोने का क्या लाभ ? कबीर कहते हैं कि भक्ति पथ में सांसारिक आनन्द नहीं वह बड़ा धैर्यपूर्ण मार्ग है एवं वह एक बन्धन तुल्य शीतल और चिकना है।

ते हरि के आवैहि किहि कांमां जे नहीं चीन्हैं आतमरांमां ॥टेक॥
थोरी भगति बहुत अहंकारा ऐसे भगता मिलें अपारा ॥
भाव न चीन्हैं हरि गोपाला जानि क अरहट कै गलि माला।
कहै कबीर जिनि गया अभिमानां सो भगता भगवन्त समांनां ॥११७॥

कबीर कहते हैं कि वे लोग प्रभु के किस प्रयोजन के जो उसके हृदयस्थ स्वरूप को नहीं पहचानते। ऐसे भक्त तो अनेक मिल जाते हैं जिनमें भक्ति तो थोड़ी बहुत होती है किन्तु भक्ति का दम्भ अधिक। वे यह सोचते हैं कि प्रभु गले में माला देखकर प्रेम-भाव नहीं देखता—यह उनका भ्रम है। कबीर कहते हैं कि जिस भक्त का अभिमान चला गया वह तो फिर प्रभु के समान ही हो जाता है। भाव यह है कि भक्ति में अभिमान का त्याग अत्यावश्यक है।

कहा भयौ रचि स्वांग बनायौ अंतरिजांमीं निकटि न आयौ ॥टेक॥
विषई विष दिढ़ावै गावै रांम नांम मनि कबहूँ न भावै ॥
पाती परसै जाहि अभाग अमृत छाड़ि विष रति लाग।
कहै कबीर हरि भगति न साधी भग मुखि लागि मूये अपराधी ॥११८॥

कबीर कहते हैं कि साधु भी इस ढोंग साधना से क्या लाभ यदि उसने हृदयस्थ प्रभु को प्राप्त न किया। जिसकी का मन सर्वदा विषयों में भ्रमित रहता है उसे प्रभु

लाम कभी भी रचिकर नहीं लगता। ऐसे व्यक्ति अभागे हैं क्योंकि वे स्वयं पाप-पंक में फंसे रहते हैं, प्रभु भक्ति के अमृत को त्याग कर विषयों में रुचि लेते हैं। कबीर कहते हैं कि ऐसे लोग प्रभु भक्ति की साधना तो करते नहीं और स्त्री के पीछे काम वासना से भटककर पाप कमा नष्ट हो जाते हैं।

जौ पें पिय के मनि नहीं भायें तौ का पारोसनि कै हुलरायें ॥टेक॥
का चूरा पाइल झमकायें कहा भयो बिछुवा ठमकायें ॥
का काजल स्यंदूर के दीयें सोलह स्यंगार कहा भयो कीयें।
अंजन मंजन करें ठगौरी का पचि मरें निगौड़ी बौरी ॥
जौ पें पतिब्रता ह्वै नारी कैसें हीं रहौ सो पियहि पियारी।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा ताहि सुहागनि कहैं कबीरा ॥११६॥

चूरा—चूड़ियाँ। पाइल=पायल। झमकायें—बजाने से। बिछुवा—नूपुर। स्यंदूर—सिन्दूर।

कबीर कहते हैं कि यदि यह आत्मा प्रिय—प्रभु—को अच्छी नहीं लगती तो पड़ोसियों के प्रसन्न करने से क्या लाभ? न ही फिर कोई सोलह शृंगार का प्रयोजन शेष रहता है इसलिए चूड़ी पायल एवं बिछुओं की मधुर ध्वनि अर्थात् इनके धारण करने से क्या लाभ? सिंदूर एवं काजल लगाने का भी कोई अर्थ उस अवस्था में नहीं रह जाता। यह पागल आत्मा स्नानादि द्वारा स्वच्छ हो इन शृंगारों के द्वारा स्वामी को रिझाना चाहती है किन्तु इसे यह ज्ञात नहीं कि जो पतिव्रता नारी है वह किसी भी प्रकार से रहे अन्ततः प्रिय को प्यारी ही लगेगी। कबीर कहते हैं कि सुहागिन का एक-मात्र लक्षण यह है कि वह तन-मन-जीवन से—सर्वात्मना—अपने को प्रभु की शरण में डाल दे।

विशेष—आत्मा का वास्तविक पति परमात्मा है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य विषयों में उसका प्रसार व्यभिचार है। इसलिये वे भक्ति के लिये सर्वात्म-समर्पण आवश्यक मानते हैं।

ऊभर पनियाँ भर्या न जाई अधिक तिषा हरि बिन न बुझाई ॥टेक॥
ऊपरि नीर ले ज तलि हारी कैसें नीर भरै पनिहारी ॥
ऊभर्यो कूप घाट भयौ भारी, चली निरास पंच पनिहारी।
गुर उपदेस भरी ले नीरा हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ॥१४ ॥

कबीर कहते हैं कि ऊभर कुआ से निसृत अमृत रस प्राप्ति को पनिहारिन के पानी भरने की क्रिया से उपमा देकर समझाते कहते हैं कि वह ऊमल कुए में भरा हुआ पानी प्राप्त करना बड़ा दुष्कर है। जीवात्मा की आनन्द के लिए प्यास उस परमात्मा के बिना शान्त नहीं होती। ब्रह्मरन्ध्र पर तो वह जल स्थित है और पानी भरने

बाली पनिहारिन—कुण्डलिनी—तल (मूलाधार चक्र) पर। उस औंधे कुएं पर जहाँ घाट बड़ा विकट है पाँचों इन्द्रियों रूपी पनिहारिनों के लिये जल भरना अत्यंत कठिन है क्योंकि वे पूर्णरूप से वहाँ केन्द्रित नहीं रहतीं। कबीर ने वही दुष्प्राप्य जल—अमृत—गुरु उपदेश से ज्ञान प्राप्त कर भर लिया है और वह हर्षित हो होकर इसका पान करता है।

कहौ भईया अबर कासूं लागा
कोई जांणैगा जांनणहार सभागा ॥टेक॥
अबरि दीसै केता तारा कौंन चतुर ऐसा चितवनहारा।
जे तुम्ह देखौ सो यहु नाहीं यहु पद अगम अगोचर माहीं॥
तीनि हाथ एक अरधाई ऐसा अंबर चीन्हौं रे भाई।
कहै कबीर जे अबर जानैं ताही सूं मेरा मन मांनैं॥१४१॥

कबीर कहते हैं कि शून्य—ब्रह्मरन्ध्र—की क्या स्थिति है यह कोई भाग्यशाली तत्त्वज्ञ ही जान सकता है। कौन ऐसा सुजान है जो उस शून्य मे कौन-कौन नक्षत्र हैं यह जान सके अर्थात् उसमें स्थित अलख निरंजन ब्रह्म को देख सके। जिस संसार को तुम देख रहे हो अर्थात् विषय-वासनाओं में फँस रहे हो वहाँ आनन्द नहीं वह तो अगम्य अलख ब्रह्म के ही पास स्थित है। यह शून्य साढ़े तीन हाथ की कुण्डलिनी के द्वारा ही पहचाना जा सकता है। कबीर कहते हैं कि मेरा मन तो उसी से प्रसन्न रहता है, हर्षित होता है जो शून्य को पहचान गया है—जिसने प्रभु का साक्षात्कार कर लिया है।

विशेष—कबीर ने यहाँ उस भक्त की प्रशंसा की है जो ईश्वर से साक्षात्कार कर शून्य रहस्य का समझ गया है।

तन खोजौ नर ना करौ बड़ाई, जुगति बिना भगति किनि पाई ॥टेक॥
एक कहावत मुलां काजी रांम बिनां सब फोकटबाजी॥
नव ग्रिह बांमण भणता रासी तिनहूं न काटी जम की पासी।
कहै कबीर यहु तन काचा सबद निरंजन रांम नांम साचा॥१४२॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम अपने चरित्र पर दृष्टिपात करो व्यर्थ अपनी प्रशंसा मत होवो। अपरम—साधना—बिना भक्ति किसी को भी प्राप्त नहीं हुई है। एक कहावत है कि जितने भी धर्मानुष्ठान करने वाले मुल्ला काजी (या पंडित) हैं बिना प्रभु भक्ति के सब व्यर्थ हैं। नव ग्रह पंडित अथवा अन्य कोई राशिधारी मृत्यु बंधन को न काट सका। कबीर कहते हैं कि यह शरीर तो मिथ्या है सत्य तो केवल प्रभु नाम ही है जिससे प्रभु प्राप्ति होती है।

विशेष—नव ग्रह—नौ ग्रह—

१ सूर्य २ चन्द्र ३ भौम ४ बुध ५ बृहस्पति ६ शुक्र ७ शनि ८ राहु ९ केतु।

जाइ परी हमरै का करिहै
आप करै आपै दुख भरिहै ।।टेक।।
उजड़ जाता बाट बतावै जो न चलै तौ बहु दुख पावै ।।
अंधे कूप क दिया बताई तरकि पड़े पुनि हरि न पत्याई।
इन्द्री स्वादि विषै रसि बहिहै नरकि पड़े पु नि राम न कहिहै ।।
पच सखी मिलि मतौ उपायौ जंम की पासी हंस बधायौ।
कहै कबीर प्रतीति न आवै पाषंड कपट इहै जिय भावै ।।१४३।।

कबीर यहाँ ऐसे मनुष्य को फटकारते हैं जो सद्गुरु के बताये हुए मार्ग पर तो चलता नहीं है किन्तु विपत्ति पड़ने पर पुनः सद्गुरु(कबीर)की शरण में आकर कहता है 'त्राहि माम् त्राहि माम्'। वे कहते हैं कि तुम स्वयं जैसा तुमने किया है उसका फल भोगो हम कोई सहायता नहीं कर सकते। जो उजड़ जाबड़ मार्ग पर चल रहा है और यदि उसे अच्छा पथ बतलाया जाय और वह उस पर न चले तो बड़े दुख पाता है। जो कूप मंडूक अज्ञानान्ध है यदि उसे प्रभु के विषय में कुछ बताया जाय तो वह बिगड़ तो उठेगा किन्तु प्रभु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करेगा। जो मनुष्य इन्द्रियों से संचालित हो नाना विषय-रसों में लिप्त रहते हैं और प्रभु नाम नहीं लेते वे नरक के अधिकारी हैं। पाँचों इन्द्रियों ने जीव को ऐसी कुमति दे दी कि वह मृत्यु बंधन से विमुक्त नहीं हो सकता। ऐसे लोगों का प्रभु-भक्ति में विश्वास नहीं होता उन्हें तो केवल कपट और पाखण्ड में ही रुचि रह जाती है।

ऐसे लोगनि सू का कहिये।
जे नर भये भगति थें न्यारे, तिनथैं सदा डराते रहिये ।।टेक।।
आपण देही चरवा पांनी ताहि निदैं जिनि गंगा आंनी ।।
आपण बूड़ै और कौ बोड़ै अगनि लगाइ मंदिर मैं सोवैं।
आपण अंध और कूं कांनां तिनकौं देखि कबीर डरांनां ।।१४४।।

कबीर कहते हैं कि ऐसे मनुष्यों से कुछ भी नहीं कहा जा सकता जो भक्ति से अलग रहते हैं उनसे तो दूर ही दूर रहना अच्छा। ऐसे लोग अपने कुचरित्र को गंगा तुल्य पवित्र समझते हैं। वे स्वयं तो पाप-गर्त में डूबते ही हैं अन्य लोगों को भी ले डूबते हैं इस प्रकार संसार के अन्य मनुष्यों को भी विषय-वासना की ओर प्रवृत्त कर स्वयं निश्चिन्तता से बैठ जाते हैं। कबीर कहते हैं कि ये लोग स्वयं अज्ञानान्ध होते हुए भी दूसरों में भी अज्ञान का प्रसार करते हैं इनसे हमें डर लगता है क्योंकि ये लोक-घातक हैं।

है हरि जन सूं जगत लरत है, फुनिगा कैसैं गरड़ भषत है ॥टेक॥
अचिरज एक देखहु संसारा, सुनहां खेदै कुंजर असवारा ॥
ऐसा एक अचंभा देखा, जंबक करै केहरि सूं लेखा।
कहै कबीर रांम भजि भाई, दास अधम गति कबहूं न जाई ॥१४५॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आपके भक्त का समस्त संसार विरोधी है। समस्त संसार अथवा भक्ति में लगा हुआ है। कबीर कहते हैं कि श्वान (सुनहां—कुत्ता विशेष) अर्थात् संसार-वासना ग्रस्त व्यक्ति प्रभु भक्ति के हाथी पर चढ़े हुए भक्त को तंग करता है। यह इसी भाँति है मानो गीदड़ शेर से लेखा जोखा ले। कबीर कहते हैं कि हे भाई! प्रभु का भजन कर, इससे भक्त को कभी भी अधोगति प्राप्त नहीं होगी।

विशेष—सुनहां—"सोनहा। कुत्ता कुत्ते की जाति का छोटा जंगली जानवर जो झुंड में रहता है और बड़ा हिंसक होता है यह शेर को भी मार डालता है।"—कबीर बीजक।

है हरिजन थैं चूक परी, जे कछु आहि तुम्हारी हरी ॥टेक॥
मोर तोर जब लग मैं कीन्हां, तब लग त्रास बहुत दुख दीन्हां।
सिध साधिक कहैं हम सिधि पाई, रांम नांम बिन सबै गंवाई ॥
जे बैरागी आस पियासी, तिनकी माया कदे न नासी।
कहै कबीर मैं दास तुम्हारा, माया खंडन करहु हमारा ॥१४६॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्त पर इसलिए दयालु नहीं है कि उनसे कुछ दोष हो गया होगा। मेरी जब तक अहं-ममत्व की भावना समाप्त नहीं हुई थी तब तक मुझे बहुत दुख सहने पड़े। सिद्धि साधक वृथा यह मिथ्या दम्भ भरते हैं कि हमने सिद्धि प्राप्त कर ली है किन्तु वस्तुतः बिना राम नाम के उनकी जो भी संचित सत्कर्मों की पूंजी होती है वह समाप्त हो जाती है। जिन विरक्त की तृष्णाएं शान्त नहीं हुई हैं वह कभी भी माया-बन्धन से विमुक्त नहीं हो सकता।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु मैं आपका भक्त हूं मुझे माया-बन्धन से विमुक्त कर दो।

सब दुनी सयानी मैं बौरा, हम बिगरे बिगरौ जिनि औरा ॥टेक॥
मैं नहीं बौरा रांम कियौ बौरा, सतगुरु जारि गयौ भ्रम मोरा।
बिद्या न पढ़ूं बाद नहीं जांनूं, हरिगुंन कथत सुनत बौरांनूं ॥
कांम क्रोध दोऊ भये बिकारा, आपहि आप जरै संसारा।
मीठो कहा जाहि जो भावै, दास कबीर रांम गुंन गावै ॥१४७॥

कबीर कहते हैं कि जिनकी द्वैत भावना नष्ट नहीं हुई है वे सब चतुर हैं और

मैं प्रभु प्रेमबीवाला । मुझे सब पागल बताते हैं और कोई पागल मत बनो । अरे मूर्खो ! मैं स्वयं पागल नहीं प्रभु ने मुझे पागल कर दिया है—

"राम बियायी ना जिये जिये तो बौरा होय ।"

सद्गुरु ने मेरा संशय विदूरित कर दिया है । मैं न तो शास्त्रों को के ज्ञान का सालस हूं और न ही शास्त्रार्थ ही करता हूं केवल प्रभु के गुण का गायन और श्रवण करता हूं । उसी से मैं प्रभु प्रेम में पागल हूं । काम और क्रोध दोनों विकार हैं जिनकी अग्नि में यह संसार स्वतः ही दग्ध हो रहा है । कबीर कहते हैं कि यह तो अपनी अपनी रुचि का प्रश्न है मधुर तो वही है जो जिसको रुचिकर लगे । कबीर अपनी रुचि के अनुकूल प्रिय प्रभु का गुणगान करता है ।

अब मैं राम सकल सिधि पाई, आंन कहूँ तो राम दुहाई ॥टेक॥
इहि चिति चाषि सबै रस दीठा राम नाम सा और न मीठा ।
और रसि ह्वै कफ गाता हरि रस अधिक अधिक सुखदाता ॥
दूजा बणिज नहीं कछू बापर, रांम नाम दोऊ तत आपर ।
कहै कबीर जे हरि रस भोगी ताकूं मिल्या निरंजन जोगी ॥१४०॥

कबीर कहते हैं कि अब मैंने राम के रूप में समस्त सिद्धियां प्राप्त कर ली हैं यदि अब मैं अन्य किसी का आश्रय ग्रहण करूं तो मुझे राम की ही सौगंध है । मैंने समस्त रसों का स्वाद ग्रहण कर देख लिया है किन्तु उनमें राम नाम सदृश मधुर कोई नहीं है । अन्य सांसारिक रस तो व्याधियों के जन्मदाता हैं किन्तु प्रभु भक्ति रस का पान करने से अधिकाधिक आनन्द प्राप्त होता है । इस संसार में और कोई व्यापार सारपूर्ण नहीं केवल राम नाम का व्यापार ही सार है । कबीर कहते हैं कि जो प्रभु भक्तिरस के आस्वादक हैं उन्हें योग का निरंजन पद सहज ही प्राप्त हो जाता है ।

विशेष—निरंजन जोगी—योग का निरंजन पद जब साधक योग-साधना द्वारा शून्य-स्थित ब्रह्म—अलख निरंजन —ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर वहीं रमण करने लगता है तब वह निरंजन पद का अधिकारी कहलाता है । कबीर भक्ति के द्वारा प्रभु गुणगान के द्वारा भी उसी की बात कहते हैं ।

रे मन जाहि जहां तोहि भावै अब न कोई तेरै अंकुस लावै ॥टेक॥
जहां जहां जाइ तहां तहां रांमां हरि पद चीन्हि कियो विश्रामा ॥
तन रंजित तब देखियत दोई प्रगट्यो ग्यांन जहां तहां सोई ।
लीन निरंतर वपु बिसराया कहै कबीर सुख सागर पाया ॥१४१॥

कबीर अपने मन को वश में कर फिर उसे इतना स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं कि वह जहां चाहे, चला जाय किन्तु अब वह उस स्थिति में है कि जहां भी जायेगा उसे प्रभु ही प्रभु मिलेंगे ।

वे कहते हैं कि हे मन ! तू जहाँ चाहे चला जा अब तुझ पर कोई नियन्त्रण नहीं रखूँगा। जहाँ जहाँ भी तू जायेगा तुझे मेरे संसार में राम ही राम दृष्टिगत होंगे। अब मैं प्रभु चरण-कमलों को पहचान कर पूर्ण निश्चिन्त हूँ। जब शरीर का रोम-रोम अंग-प्रत्यंग मस्ती रस में स्नात हो जाता है तो ज्ञान का स्वतः उदय हो जाता है। कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति में पूर्णरूपेण लीन हो आत्म-विस्मृत हो मैंने सुख के अनन्त सागर को प्राप्त कर लिया है।

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे।
बिछुरे पंचतत की रचना तब हम रामहिं पांवहिंगे ॥टेक॥
पृथ्वी का गुण पाणी सोष्या पांनी तेज मिलांवहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगांवहिंगे॥
जैसें बहुकंचन के भूषन ये कहि गालि तवांवहिंगे।
ऐसें हम लोक वेद के बिछुरें सुंनिहि मांहि समांवहिंगे॥
जैसें जलहि तरंग तरंगनीं ऐसें हम दिखलांवहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलांवहिंगे ॥१५ ॥

कबीर कहते हैं कि हम इस संसार में पुनः क्यों कर आयेंगे इस पंचतत्व निर्मित शरीर की सत्ता छूट जाने पर प्रभु की प्राप्ति होगी। पृथ्वी का गुण भूमि में क्षार रूप में, जल का जल में एवं अग्नि अग्नि में लय हो जायेगी। प्राणवायु वायु में प्रवेश कर जायगी इस प्रकार हम मृण्मय सत्ता से विमुक्त हो हम सहज समाधि लाभ करेंगे। जिस प्रकार विभिन्न आकार प्रकार के स्वर्ण-निर्मित आभूषण पिघलकर सोने में ही परिवर्तित हो जाते हैं उसी भांति हम इस संसार से छूटने पर पुनः परमात्म स्वरूप में समाहित हो जायेंगे। जिस भांति लहर जल से उत्पन्न हो उसी में समा जाती है उसी प्रकार हम पुनः परमात्मा के स्वरूप में लय हो जायगे। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार शरीर की सत्ता छूट जाने पर हम उस सुख सागर स्वरूप ब्रह्म से एकाकार हो जायेंगे।

विशेष —कबीर ने यहां वेदान्तियों के समान ही अंग-अंगी आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को जल-तरंग-न्याय आदि के द्वारा स्पष्ट किया है।

कबीरा संत नदी गयौ बहि रे।
ठाढो माइ कराडे टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे ॥टेक॥
बादल बांनी राम घन उनयां बरिषै अमृत धारा।
सखी नीर गंग भरि आई पीवै प्रांन हमारा॥
जहां बहि लागे सनक सनंदन रुद्र ध्यांन धरि बैठे।
सुर प्रकास आनंद बमेक में घन कबीर ह्वै बैठे ॥१५१॥

कबीर कहते हैं कि सत—प्रभु-भक्त—तो ईश्वर भक्ति की सरिता के प्रवाह में बह चुका है माया किनारे पर खड़ी कोटिश टेर लगाती है किन्तु अब कोई उसे वहां से निकाल नहीं सकता। वास्तव जिससे यह सरिता उमड़ी स्वयं प्रभु नाम का था जिससे अमृत-वर्षा (भक्ति की) हुई। आत्मा इस पुनीत गंगा तट पर उस जल को भरने आई थी उसी को अब हम छक-छक कर पान कर रहे हैं। जिस भक्ति की सरिता के प्रवाह में सनक-सनन्दन जैसे ऋषि बहे और महेश जिसके लिए ध्यानावस्थित हैं उसी आनन्दवाहिनी भक्ति धारा में कबीर डूब चुका है।

विशेष—सनक सनन्दन—"सनक सनन्दन सनत्कुमार और सनातन जो ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते हैं। ये एक बार भगवान् से मिलने बैकुण्ठ गये थे वहां द्वारपालों के रोकने पर उन्हें तीन जन्म तक राक्षस होने का शाप दिया था। —कबीर बीजक।

> अवधू कामधेनु गहि बांधी रे।
> भांडा भंजन करै सबहिन का कछू न सूझै आंधी रे ॥टेक॥
> जौ ब्यावै तौ दूध न देई ग्याभण अमृत सरवै।
> कौली घाल्यां बीडरि चालै ज्यूं घेरौं त्यूं दरवै॥
> तिहिं धेन थैं इंछ्या पूगी पाकड़ि खूटै बांधी रे।
> ग्वाड़ा मांहैं आनंद उपनौं खूटै दोऊ बांधी रे॥
> साईं माइ सास पुनि साईं साईं याकी नारि।
> कहै कबीर परम पद पाया संतौ लेहु बिचारी ॥११२॥

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत! मैंने प्रभु भक्ति की कामधेनु पकड़कर बांध ली है, वह सबके सांसारिक उपकरण मिथ्याडम्बरों रूपी पात्रों को फोड़ देती है। यदि यह माया की ओर चली जाय तो फल नहीं देती दूध नहीं देती और यदि अपनी गम्भीरता बनाये रखे तो अमृतोपम आनन्द प्रदान करती है। मन पर बड़ नियन्त्रण रख इसे प्राप्त किया जा सकता है। इस कामधेनु से मनुष्य की समस्त इच्छाएं परितृप्त हो जाती हैं। यदि इसे दृढ़तापूर्वक बांधा जाय तो यह ग्वाल (भक्त) को अमित आनन्द प्रदान करती है। फिर तो यह भक्त के लिए उसकी चित्तवृत्तियों के अनुकूल हो जाती है। कबीर कहते हैं कि हे संतो! मैंने भक्ति की इसी कामधेनु में प्रभु को प्राप्त कर लिया है।

> जयत गुर अनहद कींगरी बाजै तहां दीरघ नाद ल्यौ लागै ॥टेक॥
> त्री अस्थान अंतर मृगछाला गगन मंडल सींगी बाजै।
> तहुआं एक दुकान रच्यो है निराकार व्रत साजै॥
> गगन ही माठी सींगी करि चूंगी कनक कलस एक पावा।
> तहुआं चवें अमृत रस नीझर रस ही मैं रस चुवावा॥

अब तो एक अनूपम बात भई, पवन पियाला साजा।
तीनि भवन में एकै जोगी कहौ कहा बसै राजा॥
बिनर जानि परणऊं परसोतम कहि कबीर रंगि राता।
यह दुनियां काइ भ्रमि भुलांनो रांम रसांइन माता॥११३॥

कबीर कहते हैं कि साधक या भक्त उस अवस्था में पहुँच गया है कि वहां अनहद नाद का आनन्ददायी स्वर समा बांध रहा है और साधक ने वहां अपनी चित्त वृत्तियों को केन्द्रित कर रखा है। त्रिकुटी के मध्य ही वह रहकर शून्यमण्डल—ब्रह्मरन्ध्र में होने वाले विस्फोट-शब्द को सुन रहा है। वहीं अपना स्थायी वास बनाकर वह भक्त निरंजन की साधना में दत्तचित्त है। अब आगे वे मदिरा खींचने के रूपक द्वारा स्पष्ट करते हैं कि शून्य स्थान की भट्टी बनाकर सहस्र दल कमल के स्वर्ण पात्र के द्वारा सीपी की उपमा दी गयी है जिससे अमृत निस्सृत हो रहा है। इस अमृत का पान साधक की आत्मा करती है। इसको पीकर साधक सर्वोपम एवं सर्वश्रेष्ठ बन जाता है इसीलिए तीन लोकों के स्वामी के समान उसे अपना वैभव इस समय प्रतीत होता है। कबीर कहते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम के रंग में कबीर पूर्णतः रंग गया है और वह अन्य किसी को नहीं जानता। यह जगत् माया भ्रम में उलझा हुआ है किन्तु मैं राम-रसायन के आनन्द से मदमस्त हूं।

विशेष—यहां कबीर ने योगसाधना का सम्पूर्णतः वर्णन किया है। योग-साधना के अनहद नाद गगन त्रिकुटी सीपी गगन-भाठी रसवर्षा—सबका वर्णन नाथपंथी योगसाधनानुकूल किया है।

ऐसा ग्यांन बिचारि लै लै लाइ लै ध्यांना।
सुंनि मंडल मैं घर किया जैसें रहै सिचांनां।टेक॥
उलटि पवन कहा राखिये कोई मरम बिचारै।
सांधें तीर पताल कूं फिरि गगनहि मारै॥
कसा नाद बजाव ले धुनि निमसि ले कसा।
प्यंड परें जीव कहां रहै कोई मरम मिलावै॥
जीवत जिस परि पाइये ऊंधे मुंपि नहीं आव।
सतगुर मिल त पाईये ऐसी अकथ कहांणीं॥
कहै कबीर संसा गया मिले सारंग पांणीं॥११४

कबीर कहते हैं कि हे साधक! तू ऐसा ज्ञान अर्जित कर ले जिससे प्रभु में अपनी वृत्तियां केन्द्रित कर शून्यमण्डल में अपना स्थायी वास बना सके। प्राणायाम द्वारा संसार के इस माया भ्रम को निर्मूलित कर देना चाहिए। मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को शून्य तक पहुंचाने में प्रवृत्त कर दे। फिर उसके विस्फोट से प्रस्फुटित

अन्तवासी अनहद नाद को सुने। अनहद नाद के सुनाई देते ही ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वत्र दृष्टिगत होता है। फिर साधक आत्मविस्मृत हो अपने शरीर को भी भूल जाता है फिर भला शरीर के अचेत होने पर जीव-आत्मा कहाँ जायगी—वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेगी। किसी सद्गुरु के मिलने से ही इस अकथ साधना का रहस्य समझ में आ सकता है। कबीर कहते हैं कि संसार भ्रम विदूरित होने पर प्रभु प्राप्ति सुनिश्चित है।

> है कोई संत सहज सुख उपजै जाकौं जप तप देउ दलाली।
> एक बूँद भरि देइ रांम रस ज्यूं भरि देइ कलाली॥
> काया कलाली लांहनि करिहूं गुरू सबद गुड़ कीन्हां।
> कांम क्रोध मोह मद मंछर काटि काटि कस दीन्हां॥
> भवन चतुरदस भाठी पुरई ब्रह्म अगनि परजारी।
> मूँदे मदन सहज धुनि उपजी सुखमन पोतनहारी॥
> नीझर झरै अंमी रस निकसै तिहि मदिरावल छाका।
> कहै कबीर यहु बास बिकट अति ग्यांन गुरू ले बांका॥२२४॥

यहाँ कबीर मदिरा के रूपक द्वारा भक्ति का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि कोई ऐसा सज्जन साधु, गुरु, है जिसको मैं अपने समस्त सत्कृत्य दलाली के रूप में दे दूँ और वह केवल इतना कर दे कि कलाल के समान मेरे पात्र में एक बूँद रामभक्ति की मदिरा डाल दे। यह शरीर ही कलाल बन गया है एवं सद्गुरु की वाणी गुड़ है। काम क्रोध मद लोभ मोह को काट-काट कर इस गुड़ को मिश्रित कर दिया है। चौदह भुवनों की भट्टी बनाकर इसमें ब्रह्म की अग्नि प्रज्वलित कर दी है। उस मदिरा के पात्र को कामदेव के द्वारा ऊपर से बन्द कर दिया है (काम का परित्याग कर दिया है) अब अनहद नाद की सहज ध्वनि हो रही है जिसकी मुख्य संचालिका सुषुम्ना नामक नाड़ी है। उस शून्य ब्रह्मरन्ध्र से अमृत निर्झर का अजस्र निरन्तर हो रहा है जिससे साधक खूब छक गया है। कबीर कहते हैं कि इस शून्य स्थल पर वास बड़ा कठिन है वहाँ पर ज्ञानी सद्गुरु ही साधक को ले जा सकता है।

विशेष—१ योग की समाधि का वर्णन किया गया है—इसका विस्तृत उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

२ 'चौदह भुवन'—सात स्वर्ग—भूलोक भुवर्लोक स्वर्ग लोक जनलोक तपलोक सत्यलोक एवं सात पाताल अतल वितल तल सुतल महातल रसातल पाताल।

> अकथ कहांणी प्रेम की कछू कही न जाई।
> गूंगे केरी सरकरा बैठे मुसकाई॥टेक॥

भोमि बिना अरु बीज बिन तरवर एक भाई।
अनत फल प्रकासिया गुर दीया बताई ॥
मन थिर बैसि बिचारिया रामहि ल्यौ लाई।
झूठी अनभै बिस्तरी सब थोथी बाई ॥
कहै कबीर सकति कछु नाही गुर भया सहाई।
आवण जाणी मिटि गई मन मनहि समाई ॥१२६॥

सरकरा=शर्करा। भोमि=भूमि। थिर=स्थिर। ल्यौ=लगन। अनभै=निर्भय। थोथी=निस्सार। आवण जाणी=आवागमन।

कबीर कहते हैं कि ईश्वरीय प्रेम की कथा अकथनीय है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता यह तो गूंगे की शर्करा के समान है जिसका वह आस्वादन और प्रशंसा मन ही मन कर लेता है।

वे आगे कहते हैं कि बिना भूमि और बीज के एक भक्ति का तरवर पल्लवित हो रहा है। उस पर लगे अनन्त आनन्ददायी ब्रह्म रूप फल को सद्गुरु ने बता दिया है जिससे मन स्थिर होकर प्रभु के ध्यान में लग गया है। यह माया का निस्सकोच संसार सर्वथा मिथ्या है इसका कोई काम नहीं। कबीर कहते हैं कि जिस अवस्था का वर्णन किया गया है उसकी प्राप्ति के लिए गुरु का अनुकूल होना आवश्यक है गुरुकृपा से ही इस भक्ति को प्राप्त किया है जिसके द्वारा आवागमन जन्म-मृत्यु का यह बन्धन छूट गया है एवं मन अन्तर्मुखी हो ब्रह्म में एकाकार हो गया है।

विशेष—वेदान्तियों के समान उस ब्रह्म के आनन्द को कबीर ने भी मूकास्वादनवत कहा है।

सतो सो अनभै पद गहिये।
कला अतीत आदि निधि निरमल
ताकू सदा बिचारत रहिये ॥टेक॥
सो काजी जाकों काल न व्यापै सो पंडित पद बूझै।
सो ब्रह्मा जो ब्रह्म बिचारै, सो जोगी जग सूझै ॥
उर्ध न अस्त सूर नहिं ससिहर, ताको भाव भजन करि लीजै।
काया थै कछू दूरि बिचारै, तास गुरू मन धीजै ॥
जायो जर न आदूयौ सूकै उतपति प्रलै न आवै।
निराकार अखंड मडल मैं पांचौं तत समावै ॥
लोचन अछित सबै अंधियारा बिन लोचन जग सूझै।
पड़दा खोलि मिलै हरि ताकू जो या अरथहि बूझै ॥

आदि मनत उभै पख निरमल द्रिष्टि न देख्या जाई।
ज्वाला उठी अकास प्रजस्यौ सीतल अधिक समाई॥
एकनि गंध बासनां प्रगट जग में रहे अकेला।
प्रांन पुरिस काया में बिभुर, राखि लेहु गुर मेला॥
माया मर्म मया मन असथिर, निद्रा मेहु नसानां।
घट की जोति जगत प्रकास्या माया सोक बुझानां॥
बकनालि जे संमि करि राखै तौ आवागमन न होई।
कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी सहजि मिलैगा सोई॥१२७॥

अगमैपद=ब्रह्मपद। कलाअतीत=कलातीत आदि-आन्तविहीन। निधि निरमल=निर्मल ब्रह्म।

कबीर कहते हैं कि संत वही है जो परमपद को प्राप्त कर कलातीत निर्मल ब्रह्मनिधि का निरन्तर ध्यान करता रहता है जिसको मृत्यु-भय नहीं नहीं व्यापता है तथा जो ब्रह्म पद के रहस्य को जान लेता है वही पण्डित—ज्ञानी है। ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म का विचार करे और जोगी वही है जो सम्पूर्ण जगत् का द्रष्टा है। जिस प्रभु के समीप सूर्य चन्द्र आदि किसी की सत्ता नहीं है उसी का प्रेमसहित भजन करो। जो गुरु इस शरीर को छोड़ ब्रह्म की भी बात सोचता है उसी को आत्मसमर्पण कर दो। वह ब्रह्म न तो जलाने पर जल सकता है, काटने पर मूल भी नहीं सकता—उसे उत्पत्ति-प्रलय कुछ भी नहीं व्यापती। ऐसे निराकार ब्रह्म के शून्यमण्डल में ही समस्त मानसिक शक्तियां एवं वृत्तियां केन्द्रित हो गई हैं। भक्ति में आगा-पीछा कर (आंख खोलकर) चलने से समस्त संसार में अंधकार ही अंधकार दृष्टिगत होता है किन्तु इस भक्ति पथ पर आंखमूंद कर केवल प्रभु प्रेम का आश्रय लेकर चलने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जो इस रहस्य को समझ लेता है उसका भ्रम-आवरण नष्ट कर प्रभु उसे दर्शन देते हैं। वह ब्रह्म आदि से अन्त—प्रत्येक पक्ष से ऐसा निर्मल है कि सांसारिक दृष्टि से उसे नहीं देखा जा सकता। उसके प्रकट होते ही निर्मल ज्योति आविर्भूत होती है एवं आकाश जलने लगता है शून्यमण्डल में केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है। उसकी सुगन्ध से समस्त संसार सुवासित हो उठता है क्योंकि वह समस्त संसार में व्याप्त जो है। साधक के प्राण उससे इस पचतत्वनिर्मित शरीर को छोड़ गुरु उद्योग से ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। उनके दर्शन से भ्रम भाग जाता है, मन अस्थिर उसी के लिए व्याकुल हो जाता है। संसार-मोह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। उस हृदयस्थ ज्योति से ही समस्त संसार आलोकित दीख पड़ता है माया जाल नष्ट हो जाता है—'लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।

वे आगे कहते हैं कि यदि मेरुदण्ड में स्थित इड़ा पिंगला सुषुम्ना का समन्वय

मनुष्य करता रहे तो न तो उसे आवागमन चक्र में बंधना पड़े और ब्रह्म की प्राप्ति कर वह सर्वदा अनहद नाद को सुनता रहे ।

विशेष—१ योगसाधना का वर्णन इस पद में किया गया है ।

२ "जारयो जरै" समासों में गीता के निम्नस्थ श्लोक से कितनी समानता है यथा—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २। ३

इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं, न इसे अग्नि जला सकती है, जल इसे गीला कर गला नहीं सकता और न वायु इसे सुखा सकती है ।

३ अनुप्रास अतिशयोक्ति विरोधाभास आदि अलंकार स्वाभाविक रूप से आ गये हैं ।

जाइ पूछौ गोबिंद पढ़िया पढिता तेरा कौंन गुरू कौंन चेला ।
अपणें रूप कौं आपहि जांणैं आपैं रहै अकेला ॥टेक॥
बांझ का पूत बाप बिन जाया बिन पांऊं तरवरि चढ़िया ।
अस बिन पाखर गज बिन गुड़िया बिन षड संग्रांम जुड़िया ॥
बीज बिन अंकूर पेड़ बिन तरवर बिन साषा तरवर फलिया ।
रूप बिन नारी पुहुप बिन परमल बिन नीरैं सरवर भरिया ॥
देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा बिन पांषां भवर बिलंबिया ।
सूरा होइ सु परम पद पावै कीट पतंग होइ सब जरिया ॥
दीपक बिन जोति जोति बिन दीपक हद बिन अनाहद सबद बागा ।
चेतनां होइ सु चेति लीज्यौ कबीर हरि के अंगि लागा ॥१५८॥

कबीर ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि उस प्रभु से जाकर पूछ लो कि उसका कौन गुरु है वह किसका चेला है तो कुछ भी ज्ञात नहीं होगा । क्योंकि वह न किसी से उत्पन्न है और न किसी से पालित-पोषित वह तो सर्वथा अकेला है उसके आदि अन्त को भी कोई नहीं जानता वह स्वयं ही अपने स्वरूप को जानता है अन्य कोई नहीं ।

वह ब्रह्म वन्ध्या के बिन जाये पुत्र के समान है । वह बिना पैरों के वृक्ष पर चढ़ने की सामर्थ्य रखता है । वह बिना बीज के अंकुरित होकर और पेड़ के समान है । माया से अलंकृत होते हुए भी वह 'एकोऽहम् बहु स्याम्' को चरितार्थ करता है । आकारहीन सुन्दरी एवं बिना परिमल विकास के पुलिन कुसुम है । वह बिना जल के ही सरोवर को भरने की सामर्थ्य रखता है । वह उसी भांति है जैसे बिना इष्ट देव की मूर्ति के भी देवालय हो सकता है, बिना पत्र-पुष्प के पूजा तुल्य है । वह

बिना पुष्प-राशि के भ्रमित होने वाले भ्रमर के समान है। इस परम-विचित्र ब्रह्म को जो शूरवीर है वही प्राप्त कर सकते हैं वे तो संसार में ही नष्ट हो जाते हैं। वह बिना दीपक के ही ज्योतिष्मान् है एवं असीम और अनहद है। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो! यदि तुम्हें सावधान हो इस प्रभु को पाना है तो शीघ्र चेत जाओ, कबीर तो प्रभु को प्राप्त कर चुका है।

पंडित होइ सु पदहि बिचार मूरिष नांहिंन बूझै।
बिन हाथनि पांइन बिन कांननि बिन लोचन जग सूझै ॥टेक॥
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै बिन जिभ्या गुण गावै।
आछ रहै ठौर नहीं छाड़ै दह दिसिहीं फिरि आवै ॥
बिनहीं तालां ताल बजावै बिन मंदल षट ताला।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै तहां निरतत है गोपाला ॥
बिनां चोलनै बिना कंचुकी बिनहीं संग संग होई।
दास कबीर औसर भल देख्या जानैंगा जन कोई ॥११६॥

कबीर कहते है कि जो ज्ञानी है वही इस पद का भाव अर्थ मर्म हृदयंगम कर सकते हैं मूर्ख लोग नहीं। अब वे प्रभु-स्वरूप का कथन करते कहते हैं कि उसे बिना हाथ पैर, कान नेत्र एवं जिह्वा के समस्त जगत् दृष्टिगत हो जाता है। वह अपने स्थान पर स्थिर रहता हुआ भी दसों दिशाओं में घूम आता है। वह बिना कर तल के ताल बजा सकता है एवं बिना मृदंग आदि के ताल-तुकमय संगीत का सृजन कर सकता है। जहां किसी बाह्य शब्द के अनहद नाद हो रहा है वहीं प्रभु निवास करते हैं वहीं उनका नृत्य चल रहा है किन्तु वह नृत्य (कृष्ण के समान नहीं अपितु) बिना किसी वस्त्र एवं वेशभूषा के प्रत्येक स्थान पर हो रहा है। कबीर कहते हैं कि मैं उपयुक्त अवसर देखकर इस प्रभु रहस्य का कथन कर रहा हूं कोई विरला भक्त ही इसे जान सकता है।

है कोई जगत गुर ग्यांनीं उलटि बेद बूझै।
पांणीं में अगनि जरै अंधेरे कौ सूझै ॥टेक॥
एकनि दादुरि खाये पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ काटि अंगा ॥
बकरी बिघार खायौ हरनि खायौ चीता।
कागिल गर फांदियां बटेरै बाज जीता ॥
मूस मंजार खायौ स्यालि खायौ स्वांनां।
आदि कौं आदेस करत कहै कबीर ग्यांनां ॥११७॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में कोई ऐसा ज्ञानी है जो इस उलटे ज्ञान व्यापार को स्पष्ट कर सके। सहस्र-दल कमल से अमृत झर रहा है वहीं ज्योतिस्वरूप

ब्रह्म प्रकट हो रहा है जो संसार से मोक्ष प्राप्त किये साधक को दिखता है। कुण्डलिनी की साधना ने पाँचों इन्द्रियों रूपी भुजंगनियों को चट कर लिया नियन्त्रण में कर लिया। नाग तुल्य तीव्र साधक ने भ्रम के सिंह को काट-काट कर खा लिया विनुष्ट कर दिया। यह कर्म ऐसा ही है जैसे बकरी ने भेड़िये को एवं हरिण ने चीते को खा डाला। जो माया जीव का अपने फन्दे में फँसाये रहती थी उसी जीव ने साधना द्वारा माया को अपने कब्जे नियन्त्रण में कर लिया—इस प्रकार बटेर बाज से जीत गई। यह उसी भाँति अद्भुत है जैसे चूहा बिल्ली (माया) को तथा बिल्ली ने श्वान को खा लिया हो।

ज्ञानी कबीर इस कथन द्वारा प्रभु का ही सन्देश अर्थात् प्रभु-भक्ति का सन्देश कहना चाहते हैं।

विशेष—१ उलटबाँसी के माध्यम से अद्भुत रस की प्रतिष्ठा हुई है। २ मालोपमा विरोधाभास अतिशयोक्ति आदि अलंकार स्वाभाविक रूप से आये हैं।

ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या मैं रह्या उमेषै।
मूसा हसती सौं लड़ै कोई बिरला पेषै ॥टेक॥
मूसा पैठा बांबि मैं लारै सापणि धाई।
उलटि मूस सापणि गिली यहु अचिरज भाई॥
चींटी परबत ऊखण्यां ले राख्यौ चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै झल पांणीं दौड़ै॥
सुरहीं चूंपै बछतलि बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया सारदूलहि मारै॥
भील लुक्या बन बीझ मैं ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुर करौं जो या पदहि बिचारै॥१८१॥

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने उस ब्रह्म का स्वरूप निरूपण ऐसी अद्भुत विधि से किया कि मैं आश्चर्य चकित हो देखता ही रह गया। मन मायारूपी हाथी से जूझता है जिसको कोई भक्त ही देख पाता है। साधक साधना स्थित हो बैठ जाता है एवं माया रूपी सर्पिणी उसकी ओर को लपकती है किन्तु आश्चर्य यह कि उस साधक ने माया को परास्त कर दिया। यह कार्य वैसा ही हुआ कि चौड़े में चींटी ने पर्वत को उखाड़ कर रख दिया हो। माया और साधक का युद्ध होता है। ब्रह्मरन्ध्र से कमल अमृतोपम जल के मध्य ज्योतिस्वरूप ब्रह्म रहता है। इस प्रकार आत्मा रूपी गाय ब्रह्मरन्ध्र रूपी बछड़े के नीचे चूम रही है अमृत का पान कर रही है। अब यह साधक साधना द्वारा इतना सबल हो गया कि माया के सिंह को मार गिराता है। भ्रमरूपी भील संसार-वन में छिप गया है और साधक फिर भी उसे बाण मार-मार कर नष्ट कर रहा है।

कबीर कहते हैं कि मैं उसे अपना गुरु बना लूँगा जो इस पद को विचारेगा।

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं ब्यापै देही जुरा न छीजै ॥टेक॥
उलटी गंग समुद्रहि सोखै ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे जल मैं ब्यंब प्रकासै॥
डाल गह्यां थैं मूल न सूझै मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि सरप कौं लागी धरणि महा रस खावा॥
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या बाहरि कछू न सूझै।
उलटैं धनकि पारधी मार्यो यहु अचिरज कोई बूझै॥
औंधा घड़ा न जल मैं डूबै सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिण करि चालै ता प्रसादि निस्तरिया॥
अंबर बरसै धरती भीजै यहु जांणै सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै बूझै बिरला कोई॥
गांवणहारा कदे न गावै अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषनां पेषै अनहद बेन बजावै॥
कहणीं रहणीं निज तत जांणैं यहु सब अकथ कहांणीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै यहु पुरिसां की बांणीं॥
बाझ पियालैं अमृत सोख्या नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी धरणि महारस चाख्या ॥१६२॥

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत ! ज्ञान प्राप्त कर पुनः अज्ञान-निद्रा में मत पड़ो। जागृत रहने से मृत्यु बन्धन कभी नहीं बाँधता तथा शरीर जरावस्था द्वारा जीर्ण नहीं होता। सुषुम्ना में इड़ा और पिंगला का समन्वय हो जाने पर कुण्डलिनी ऊर्ध्वगति से शून्य कमल में पहुंच वहाँ से स्रवित अमृत का पान करती है। नौ ग्रहों का दमन कर साधक उस अमृत में ज्योतिस्वरूप अमल निरंजन ब्रह्म के दर्शन करता है। किन्तु यदि साधक कुण्डलिनी को मूलाधार से ऊपर न चढ़ावे तो उस ब्रह्म-रस की प्राप्ति नहीं हो सकती परन्तु मूलाधार चक्र से ही साधना प्रारम्भ करने से ही उसकी प्राप्ति होगी। कुण्डलिनी मन से उलटी होकर ऊर्ध्वगति से चल दी और उसने शून्य में पहुंच महारस का पान किया। मन को अंतर्मुखी करने से ही ब्रह्म दर्शन होता है इस दर्शन से संसार का प्रत्येक रहस्य प्रकट हो जाता है किन्तु यदि मन बाहर विषय-वासनाओं में ही भटकता रहा तो फिर कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। साधक ने इस प्रकार समाधिस्थ हो कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति से इस ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त किया। इस आश्चर्य को जानने वाले कोई ही हैं।

जिस भांति उल्टा घट जल में डूबता नहीं है और सीधा ऊपर तक भर कर डूब जाता है उसी भांति जिन्होंने अपने आत्म-घट को संसार से उल्टा कर लिया है वे भवसागर में डूब नहीं सकते किन्तु जो संसार की ओर ही इसका मुख किए रहेंगे वे निश्चय ही यहां डूब जायेंगे। जो इस संसार से घृणा करके बसता है अर्थात् इसके आकर्षणों में लिप्त नहीं होता वह मुक्त हो जाता है। आकाश से बादलों के बरसने को तो सब कोई ही जानता है। किन्तु औंधे कूएं—ब्रह्मरन्ध्र—से अमृत वर्षा के रहस्य से कोई-कोई ही परिचित होता है। जो प्रभु के गुणों का गान सर्वदा अपने मन में करता रहता है वह कभी-कभी चिल्ला कर प्रार्थना नहीं करता जो उसका नाम मन में अविरल नहीं लेता वही बांग दे देकर प्रभु का नाम पुकारता है। यदि उस नटवर ब्रह्म को देखना है तो देखो वह अनहद नाद की वेणु की स्वर लहरी छेड़ता है। साधक का कथन श्रवण और प्रत्येक कर्म कलाप इस प्रसंग से ही सम्बन्धित होना चाहिए। यह महापुरुषों का कथन है कि कुण्डलिनी उलट कर आकाश-शून्य में जाकर अमृत का पान करती है। यह अमृत कूप कभी सूख नहीं सकता सरिता के रूप में सर्वदा प्रवाहित रहता है। कबीर कहते हैं कि कोई विरला योगी ही इस महारन्ध्र —ब्रह्मरन्ध्र से स्रावित अमृत का पान करता है।

विशेष—१ योगसाधना का उसके पारिभाषिक शब्दों एवं परिभाषानुसार वर्णन हुआ है। २ अतिशयोक्ति अनुप्रास विरोधाभास उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग है। ३ उलटबांसियों की अद्भुत रसपूर्ण विभावनायुक्त प्रतीकात्मकता दर्शनीय है।

राम गुन बेलड़ी रे अवधू गोरखनाथि जांणी।
नाति सरूप न छाया जाके बिरध करै बिन पांणी ॥टेक॥
बेलड़िया द्वै अणीं पहूँती गगन पहूंती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी डाली कूपल मेल्ही ॥
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या सतगुर बाही बेली।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या बाड़ी पांणी मेल्ही ॥
काटत बेली कूपले मेल्ही सींचताड़ी कुमिलांणी।
कहै कबीर ते बिरला जोगी सहज निरंतर जांणी ॥१५३॥

हे अवधूत! गोरखनाथ जैसे सन्त ने रामगुणलता को पहचाना था। उसका न तो कुछ स्वरूप है स्वरूपविहीन होने से उसकी छाया भी नहीं है एवं बिना माया-जल के ही उसकी वृद्धि होती है माया बिना ही वह पल्लवित और पुष्पित होती है। यह रामगुणबेली पृथ्वी से आकाश तक फैली गई है। जब सहज समाधि लगने लगी तभी यह बेली और अधिक पल्लवित हुई। सद्गुरु ने मनरूपी हाथी को इस लता

के पास भेज दिया अर्थात् मन प्रभु गुणगान करने लगा। पाँचों इन्द्रियाँ विषय-रस से हट कर इधर ही लग गईं इसी को सिंचित करने लगीं। माया-रूपी को काटने से इस राम-गुण-लता पर नवीन पल्लव प्रस्फुटित होते हैं और माया-बेली का प्रतिसिंचन करने से यह कुम्हला जाती है। कबीर कहते हैं कि कोई विरला योगी ही इस साधना के मर्म को समझ पाता है।

राम राइ अविगत बिगति न जान
कहि किम तोहि रूप बपानं ॥टेक॥
प्रथमे गगन कि पुहुमि प्रथमे प्रभू प्रथमे पवन कि पाँणी।
प्रथमे चंद कि सूर प्रथमे प्रभू प्रथमे कौंन बिनांणी ॥
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभू प्रथमे रकत कि रेत।
प्रथमे पुरिष कि नारि प्रथमे प्रभू प्रथमे बीज कि खेत ॥
प्रथमे दिवस कि रैंणि प्रथमे प्रभू प्रथमे पाप कि पुन्यं।
कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन तहाँ कुछ आहि कि सुन्यं ॥१९०॥

कबीर कहते हैं कि हे भाई ! राजा राम प्रभु का स्वरूप वर्णन करना अत्यन्त कठिन है, मैं उनके स्वरूप का वर्णन किस भाँति कर सकता हूँ। पृथ्वी और आकाश पहले हुए अथवा प्रभु ? वायु पवन चन्द्र सूर्य और प्रभु इनमें पहले कौन आया ? पहले प्राण हुए कि शरीर, पहले रक्त हुआ कि रज पहले नारी हुई अथवा पुरुष पहले बीज का अस्तित्व है कि खेत का ? पहले रात्रि हुई थी या दिवस ? पहले पाप-पुण्य में किस की धारणा उद्भूत हुई ?—जिस भाँति ये सब प्रश्न बड़े विचित्र और निरुत्तर कर देने वाले हैं उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप आकार प्रकार के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

कबीर कहते हैं कि जहाँ अलख निरंजन ज्योति स्वरूप परमात्मा का निवास है वहाँ शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

अवधू सो जोगी गुर मेरा जो या पद का करै नबेरा ॥टेक॥
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै अष्ट गगन मुख बागा ॥
पैर बिन निरति करां बिन बाजै जिभ्या हीणां गावै।
गावणहारे कै रूप न रेषा सतगुर होइ लखावै ॥
पंषी का षोज मीन का मारग कहै कबीर बिचारी।
अपरंपार पार परसोतम वा मूरति की बलिहारी ॥१९१॥

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत ! जो योगी इस पद का अर्थ स्पष्ट कर दे वही मेरा गुरु है। एक पेड़ बिना तने के खड़ा है एवं बिना पल्लवित हुए ही उस पर फल

विशेष—१ त्रिगुण—सत रज तम।

२ त्रिविधि—वेद विधि लोक विधि कुल विधि।

१ विधि विरंचि—में पुनरुक्ति दोष है जो कबीर के लिए क्षम्य है क्योंकि हिन्दू देवताओं के संबन्ध में उनका ज्ञान उतना ही है जितना कि हम एक अपढ़ विधर्मी से आशा कर सकते हैं—मुसलमान से। वस्तुतः उनका यह ज्ञान ही नहीं समस्त ज्ञान श्रवण से प्राप्त किया हुआ है। वैसे उनके लिए विधर्मी शब्द प्रयुक्त करना उपयुक्त नहीं है वो राम-रसायन पीकर मद मस्त हैं—उनका पालन पोषण ही केवल मुसलमान जुलाहा दम्पति के द्वारा हुआ वैसे उनकी शिराओं में हिन्दू रक्त दौड़ रहा था। इस सम्बन्ध में आचार्यवर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्द द्रष्टव्य हैं—"संयोग से वे ऐसे युग-सन्धि के समय उत्पन्न हुए थे जिसे हम विविध धर्म-साधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिए बंद थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बन कर भेजे गये थे। कबीर ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे जहां से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है दूसरी ओर मुसलमानत्व[1]

इस पद का कला पक्ष भी दर्शनीय है यहां प्रत्येक शब्द रूपमी पर आने में चाहे जिस रूप में नहीं निकल गया है अपितु प्रत्येक शब्द रूपमी के स्वर पर थिरक २ कर मधुर स्वर लहरी उत्पन्न करने के लिए निकला है।

साया है कछू साया है ताको पारिख को न लहै।
अबरन एक अकल अविनासी घटि घटि आप रहै ॥टेक॥
तोल न मोल माप कछु नाहीं गिणती ग्यान न होई।
नां सो भारी नां सो हलवा ताकी पारिख लखै न कोई ॥
जामैं हम सोई हम ही मैं नीर मिलै जल एक हुवा।
यौं जाणे तो कोई न मरिहै बिन जाणे थे बहुत मूवा ॥
दास कबीर प्रेम रस पाया पीवणहार न पाऊं।
बिधना बचन पिछाणत नाहीं कहु क्या काढ़ि दिखाऊं ॥१९९॥

वह अरूप अविनाशी ब्रह्म घट-घट व्यापी है, यह जानते हुए भी कोई उसके विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं सका है। न उसका कोई भार अथवा माप है न उसे संख्या की गणना द्वारा जाना जा सकता है। न वह भारी ही है और न हल्का ही उसे कोई

1 हिन्दी साहित्य।

भी पहचान नहीं सकता। हम उसके अन्दर समाहित हैं और वह हम सबके हृदय में रम रहा है जिस प्रकार जल के दो प्रकार मिलकर एकमेक हो जाते हैं उसी भांति उस अंशी से अंश मिलकर तद्रूप हो जाता है। यदि मनुष्य उसका ज्ञान लें तो फिर कोई न मरे और बिना उसे जाने तो समस्त संसार मृत्यु को प्राप्त हो ही रहा है। कबीर कहते हैं कि मैंने उस प्रभु के प्रेम रस को प्राप्त कर लिया है किन्तु अब मुझे अन्य कोई उसका पीने वाला नहीं मिलता। बहुत तक तो मेरे शब्दों का अर्थ नहीं समझ पाता है फिर भला प्रभु मिलन से सम्बन्धित आनन्द को अभिव्यक्ति कैसे दूँ? (गूंगे का गुड़ ही जो ठहरा)।

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ
भूलें भरम दुनी कत बाहौ ।।टेक।।
जग परबोधि होत नर खाली करते उदर उपाया।
आत्म रांम न चीन्हैं सतो क्यू रमि लै रांम राया ।।
लागैं प्यास नीर सो पीवै बिन लागैं नहीं पीवै।
खोजैं तत मिलै अविनासी बिन खोजैं नहीं जीवै ।।
कहै कबीर कठिन यह करणीं जैसी षंडे धारा।
उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं सो सतगुरू हमारा ।।१७ ।।

कबीर कहते हैं कि वह प्रभु तो प्रत्येक हृदय में स्थित है किन्तु फिर भी व्यक्ति भ्रम में भटक कर उसे अन्यत्र खोजता है। इस मूर्ख अज्ञानग्रस्त संसार को समझाने से तो बुद्धि खाली होती है, यह तो उदरपूर्ति के ही साधनों में भटका हुआ है। ये घट वासी प्रभु को भी नहीं पहचानते इसीलिए सृष्टि के कण-कण में व्याप्त प्रभु के दर्शन इन्हें नहीं हो सकते। जिस प्रकार तृषित को ही खोजने पर जल की प्राप्ति होती है, बिना खोज (साधना) के नहीं उसी भांति जो प्रभु को साधना द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं उन्हें ही उसकी प्राप्ति होती है। कबीरदास कहते हैं कि किन्तु यह साधना मार्ग इतना ही कठिन है जितना तलवार की धार पर गमन करना—

'अति तीक्षण प्रेम की पंथ महा
तरवार की धार प धावनी है।

वे आगे कहते हैं कि जो अपनी कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामी कर साधना द्वारा प्रभु को प्राप्त करता है वह योगी हमारे लिए गुरुवत् पूज्य है।

रे मन बैठि कितै जिनि जासी हिरदै सरोवर है अविनासी ।।टेक।।
काया मधे कोटि तीरथ काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति काया मध बैकुंठवासी ।।
उलटि पवन षटचक्र निवासी तीरथराज गंग तट वासी ।।

मगन मंडल रवि ससि दोइ तारा उलटी कूंची लागि किवारा ।
कहै कबीर भई उजियारा पंच मारि एक रह्यो निनारा ।।१०१।।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू व्यर्थ इधर-उधर क्यों भटक रहा है ? वह अविनाशी प्रभु तो हृदय सरोवर में ही विद्यमान है । अन्यत्र जाकर तीर्थ-पूजा की क्या आवश्यकता है, इस शरीर में ही करोड़ों काशी आदि तीर्थ हैं । इस शरीर में ही लक्ष्मी पति बैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु विद्यमान हैं । इसलिए तू प्राणायाम साधना से कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी कर षट्चक्र का भेदन करता हुआ तीर्थराज प्रयाग (त्रिकुटी) एवं गंगा (ब्रह्मरन्ध्र) तक का वासी हो । उस शून्यमण्डल में सूर्य चन्द्र तारे का प्रकाश —अनन्त ज्योतिस्वरूप परमात्मा—का वास है । उसके किवाड़ बन्द हैं जिसे कुण्डलिनी को उल्टी कर खोलना है । कबीर कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों को वहीं केन्द्रित कर देने से ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है ।

राम बिन जन्म मरन भयो भारी ।
साधिक सिध सूर अरु सुरपति भ्रमत गये हारी ।।टेक।।
ब्यद माव भिग तत जनक, सकल सुख सुखकारी ।
भ्रमत मुनि रवि ससि सिव सिव पलक पुरिष पल भारी ।।
अवर गगन होत अवर धुनि बिन साधनि है सोई ।
गोरख भरथर समगस सब घटि ब्यापक ब्यापै कोई ।।
पांणी पवन अवनि नभ पावक तिहि सगि सदा बसेरा ।
कहै कबीर मन मन करि बेध्या बहुरि न कीया फेरा ।।१०२।।

साधक सिद्ध शूरवीर एवं देवराज इन्द्र सब इस संसार में भटक-भटक कर हार गए किन्तु बिना प्रभु के तो वे जन्म-मरण के बन्धन में ही बंधे रहते हैं । प्रभु प्रेम एक ऐसा मन्त्र है जो समस्त प्राणियों के लिये सुखदायी है । शिव सूर्य चन्द्र आदि सब जानते हैं कि वह प्रभु कभी पल में रंक और तो कभी पल में पुरुष रूप में परिवर्तित हो जाता है । शून्य मण्डल में उसके रहते हुए एक मंगल ध्वनि होती है एवं वह प्रभु बिना सोम प्राण वायु के भी जीवित है । वह अनहद नाद प्रत्येक हृदय में हो रहा है जिसे विरले ही समझते बूझकर प्रभु वन्दना करते हैं । उस ईश्वर के संसर्ग में सिद्धि जल पावक गगन समीर-सब सर्वदा साथ रहते हैं । कबीर कहते हैं कि मन को मैंने इतनी दृढ़ता से नियन्त्रित किया है कि वह पुनः विषय-वासनाओं में भ्रमित नहीं होगा ।

नर देही बहुरि न पाइये ताथैं हरषि हरषि गुण गाइये ।।टेक।।
जब मन नहीं तजै बिकारा तौ क्यूं तिरिये भौ पारा ।
जब मन छाड़ै कुटिलाई, तब आइ मिलै राम राई ।।

ज्यूं जीवण त्यूं मरणां पछितावा कछू न करणां।
जांणि मरै जे कोई तौ बहुरि न मरणां होई॥
गुर बचनां मंझि समावै तब रांम नांम ल्यौ लावै।
जब रांम नांम ल्यौ लागा तब भ्रम गया भौ भागा॥
ससिहर सूर मिलावा तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै तब साँई संगि बिराजै॥
होहु संत जनन के संगी मन राखि रह्यौ हरि रंगी।
धरौ चरन कवल बिसवासा ज्यूं होइ निरभै पद बासा॥
यहु काचा खेल न होई जन षरतर खेलै कोई।
जब षरतर खेल मचावा तब गगन मंडल मठ छावा॥
चित चंचल निहचल कीजै तब रांम रसांइन पीजै।
जब रांम रसांइन पीया तब काल मिट्या जन जीया॥
यू दास कबीरा गावै तातैं मन कौं मन समझावै।
मन ही मन समझाया तब सतगुर मिलि सचुपाया॥१०१॥

हे मनुष्य ! तू पुन इस मानव शरीर को प्राप्त नहीं कर पायेगा इसलिए उत्साह और प्रसन्नता सहित प्रभु का गुणगान कर क्योंकि प्रभु भक्ति इसी जन्म में सम्भव है। जो यह मन विषय-वासनाओं को नहीं त्यागेगा तो यह संसार-सागर से किस भांति पार होगा। जब मन कुटिलता छोड़ निर्मल हो जायेगा तो भगवान् स्वयं आकर तुमसे मिलेंगे। जो मनुष्य जीवन धारण किये हुए है वह मरेगा अवश्य ही फिर इस भांति पछताने से कुछ नहीं होगा कि काश हम प्रभु भक्ति के लिये ही मरे होते। यदि कोई जीते जी मर जाय जीवन्मुक्त स्थिति को प्राप्त कर ले तो फिर उसे बार-बार जन्म मृत्यु के बन्धन में बंधना न पड़े। जो साधक भक्त गुरु उपदेश में अपना मन लगा देता वही प्रभु नाम से अपना ध्यान लगा सकता है। प्रभु से प्रेम होने पर इस संसार का भ्रम तिरोहित हो जाता है। यदि सूर्य-चन्द्र रूप इड़ा-पिंगला मिल जाये (कुण्डलिनी उस मार्ग से शून्य भेदन करे) तो अनहद नाद की वेणु गुंजरित हो जाती है। जब यह अनहद शब्द बजता है तभी भक्त को ज्योतिरूप भगवान् के दर्शन होते हैं। अब यह मन प्रभु के रंग में रंग साधु पुरुषों की संगति में रहता है। मैं अब प्रभु के चरण कमलों का विश्वासी हो गया हूँ इससे ही तो वहाँ (चरणों में) निर्भय पद की प्राप्ति होती है। यह प्रभु भक्ति कोई कच्चा खेल नहीं है इसे कोई वीरवान् ही खेल सकता है। जब साधना के रूप में यह कठिन खेल प्रारम्भ हो जाता है तो भक्त शून्य मण्डल का वासी बन जाता है। मन को पूर्णरूपेण स्थिर कर प्रभु-भक्ति का मधुर रस पान करना चाहिए जिसके पान करते ही काल—मृत्यु—का भय समाप्त हो

उस मार्ग को ग्रहण नहीं करता भला उसे किसने रोका है ? इस कठिन भक्ति के द्वारा मैंने अमृत का पान किया है इस दिन में ही क्षण में ही अमृत की प्राप्ति होती है । कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि भक्ति अपनाने से पलभर में ही भेद संदेह समाप्त हो गया और अनेक जन्म के पुण्य कर्मों द्वारा मुझे उस सद्गुरु की प्राप्ति हुई जिसने प्रभु से मिला दिया ।

> अवधू ऐसा ग्यान बिचारं ।
> भेरै चढे सु अधधर डूबे निराधार भये पार ॥टेक॥
> ऊघट चले सु नगरि पहूंते बाट चले ते लूटे ।
> एक जेवड़ी सब लपटांनें के बांधे के छूटे ॥
> मंदिर पैसि चहूं दिसि भीगे बाहरि रहे ते सूका ।
> सरि मारे ते सदा सुखारे अनमारे ते दूखा ॥
> बिन नैंनन के सब जग देखै लोचन अछते अंधा ।
> कहै कबीर कछु समझि परी है यहु जग देख्या धंधा ॥१०१॥

हे अवधूत ! तू ऐसे अनुपम ज्ञान का विचार कर जिसमें संसार आश्रय टूटने पर मनुष्य डूब जाता है और संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर देने पर वह इस सागर से पार हो जाता है । जो व्यक्ति वाम कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति से चले वे प्रभु के उस प्रदेश (शून्य) में पहुंच गये किन्तु जो मार्ग आदि में सीधे ही अन्य सांसारिकों की भांति चले वे तो लुट कर सर्वस्व गंवा कर बैठ गये । एक माया रज्जु से समस्त संसार बंधा हुआ है । वहां शून्य मन्दिर में जो कोई भी पहुंचा वह उस अनुपम अमृत रस से भीग कर अमर हो गया और जो बाहर रह गया वह सूखा ही रहा उसे वह अद्भुत अमृत प्राप्त नहीं हुआ । जिन्होंने अपने मन को मार दिया है वे सर्वदा सुखी रहे और जिन्होंने उसे स्वच्छन्द छोड़ दिया है तो दुखी हैं ही । वह बिना नेत्रों के ही समस्त संसार की गतिविधि को देख लेता है और इस प्रकार नेत्र वाले अन्धों से अच्छा है । कबीर कहते हैं कि अन्ततः यह समझ में आया कि संसार धोखे से परिपूर्ण है ।

विशेष—१ विरोधाभास विभावना आदि अलंकार ।

२ संसार को इसी प्रकार सब सन्तों समस्त विचारकों ने एवं सामान्य प्राणी तक ने धोखा प्रपंच भ्रम माया ही माना है । पं० प्रतापनारायण मिश्र अपने 'धोखा' निबन्ध में कितने सुन्दर ढंग से इसी बात को प्रस्तुत करते हैं—

'सच है ! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है । जब तक भ्रम है, तभी तक संसार है बरंच संसार का स्वामी तभी तक है फिर कुछ भी नहीं ।

जग धंधा रे जग धंधा सब लोगन जांण अंधा।
लोभ मोह जेवड़ी लपटानी बिनही गांठि गह्यो फंदा ॥टेक॥
ऊँचे टीबै मछ बसत है ससा बसै जल मांहीं।
परवत ऊपरि डोब डूबि मूवा नीर मूवा धू कांहीं ॥
जलै नीर तिण षड सब उबरें, बैसंदर ले सींचै।
ऊपरि मूल फूल तलि नीचैं जिनि जाण्या तिनि नीकै ॥
कहै कबीर जानहीं जानैं अनजानत दुख भारी।
हारी बाट बटाऊ जीत्या जानत की बलिहारी ॥१७६॥

"यह संसार प्रपंच है—इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं' इस तथ्य से सब अनभिज्ञ हैं। यहाँ जीव को लोभ मोह की रज्जु बिना गाँठ वाले फन्दा बना कर फँसाये रहती है। ऊँचे टील शून्य-शिखर पर मछली—ब्रह्म—बसता है और खरगोश कुण्डलिनी नीचे मूलाधार चक्र पर स्थित है। इस शून्य पर्वत के ऊपर अमृत इसे पाने के प्रयत्न में बहुतसे नष्ट हो गये किन्तु वहाँ से सचित अमृत की प्राप्ति किसी को नहीं होती। उस ब्रह्म को जिसने भी प्राप्त कर लिया वे सब मुक्त हो गए। उस वृक्ष की जड़ ऊपर तथा फल नीचे हैं जिन्होंने उसे जान लिया वे ही श्रेष्ठ हैं। कबीर कहते हैं कि जानने का प्रयत्न किये से ही उसे जाना जा सकता है, बिना जाने तो उससे महान् वेदना होती है संसार-ताप तिरोहित नहीं होता। साधना मार्ग में एक दिन वह अवस्था आ जाता है जब लक्ष्य—ब्रह्म—सम्मुख आ जाता है, कबीर उस लक्ष्य प्राप्त भक्त की बलिहारी जाता है।

विशेष—विभावना रूपकातिशयोक्ति रूपक आदि अलंकार।

अवधू ब्रह्म मतै घरि जाइ।
काल्हि जु तेरी बंसरिया छीनी कहा चरावै गाइ ॥टेक॥
तालि चुग बन तीतर लउवा परबति चरै सौरा मछा।
बन की हिरनी कूवै बियानी ससा फिरै अकासा ॥
ऊँट मारि मैं चारै लावा हस्ती तरबा देई।
बबूर की डरियां बनसी लैहूँ सीयरा भूँकि भूँकि खाई ॥
आंब कै बौरे चरहल करहल निबिया छोलिछोलि खाई।
मोरे जान मिन्नाप दरा बन कहै कबीर समझाई ॥१७७॥

हे अवधूत! ब्रह्म का रहस्य जान पाना बड़ा कठिन है क्योंकि कल जिसने तेरी बाँसुरी चुराई उस चोर से गायों के चराने की आशा कैसे की जावे? अथवा कल जिसने स्वयं तेरी बाँसुरी कृष्णरूप में चुराई थी उसको इन्द्रियों के वश में रखने की आशा कैसे की जावे। अब स्त्री संसार जीवरूप तीतर को नष्ट कर रहा है और

सुनहरी मछली रूपी माया पकड़ सदृश संसार को खा रही है। मृग तृष्णा वश-वश भटकने वाला मन हृदयकूप में केन्द्रित हो गया और अनमोल रूप कुण्डलिनी शक्ति— शून्य मण्डल—में रम रही है। मैंने अहं के ऊँचे ऊँट को समाप्त कर दिया है। भाव रूपी हस्तिनी स्वयं अब मेरी चेरी है। शुष्क भावना रूप बबूल वृक्ष पर मधुर फल लग रहे हैं जिन्हें कुण्डलिनी के द्वारा साधक प्राप्त कर रहा है। भाव की डाली (भक्ति) पर बैठकर मनमावन स्वादों से मुक्त रस प्राप्त किया जा सकता है। कबीर कहते हैं कि मुझे तो दास आदि सब कुछ प्राप्त हो गये हैं।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति विरोधाभास विभावना आदि अलंकार।

कहा करौं कैसें तिरौं भौ जल अति भारी।
तुम्ह सरणा-गति केसवा राखि राखि मुरारी ॥टेक॥
घर तजि बन खंडि जाइये खानि खइये कंदा।
बिषै बिकार न छूटई, ऐसा मन गंदा ॥
बिष बिषिया कौ बासना तजौं तजी नहीं जाई।
अनेक जतन करि सुरझिहौं फुनि फुनि उरझाई ॥
जोव अछित जोबन गया कछू कीया न नीका।
यहु हीरा निरमोलिका कौडी पर बीका ॥
कहै कबीर सुनि केसवा तू सकल बियापी।
तुम्ह समानि दाता नहीं हंम से नहीं पापी ॥१३॥

कबीर अपने प्रभु की वन्दना करते कहते हैं कि मैं हे प्रभु! इस गम्भीर संसार सागर-जल से कैसे पार पाऊं? केवल आप ही हमारे एक मात्र आश्रय हैं, अतः हे नाथ रक्षा करो। यह मन तो इतना पाप-पूर्ण है कि घर का परित्याग कर सन्यास लेने पर वन में जाकर तपस्या करते हुए, खाने में कंद आदि पर ही जीवन निर्भर रखते हुए भी इसके विषय-विकार नहीं छूट सकते। यह विषय-वासना का विष कितना ही त्यागने का प्रयत्न करो किन्तु छोड़ते नहीं बनता। इस भव-जाल से मुक्त होने का कितना ही प्रयत्न करो किन्तु इसमें अधिकाधिक उलझते जाते हैं—

"ज्यों ज्यों सुरझ्यो चहत है त्यों-त्यों उरझत जात।

हे जीवात्मा! तेरा यह सुन्दर यौवन काल व्यर्थ ही समाप्त हो गया उसमें तूने कोई सत्कर्म ही नहीं किया। यह तेरा हीरे के समान अमूल्य मानव-जीवन कौड़ी के मूल्य में चला गया। कबीर कहते हैं कि हे ईश्वर! आप सर्वत्र व्यापी हैं आपके समान उदार और दानी कोई नहीं है और मुझ जैसा पापी कोई नहीं है, अतः मेरा उद्धार करो।

विशेष—यह पद बड़ा ही सरस भक्त की दैन्यपूर्ण मधुर भावनाओं से परिपूर्ण है। इसमें अपना लघुत्व और प्रभु का महत्व तो तुलसी के ही समान है।

माधो करहु कृपा जन मारगि लावो ज्यू भव बंधन षूटै ।
जुरा मरन दुख फेरि करन सुख जीव जनम थैं छूटै ।।टेक।।
सत गुर चरण लागि यौं बिनऊं जीवन कहाँ थैं पाई ।
जा कारनि हम उपजैं बिनसैं क्यू न कहौ समझाई ।।
आसा-पास षंड नहीं पाडै यौं मन सुनि न छूटै ।
आपा पर आनंद न बूझै बिन अनभै क्यू छूटै ।।
कहाँ न उपजै उपज्यां नहीं जांणैं भाव अभाव बिहूनां ।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाहीं सहजि रांम ल्यौ लीनां ।
ज्यूं बिबहि प्रतिबिंब समांनां उदिक कुंभ बिगरांनां ।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा जीवहि जीव समांनां ।।१७६।।

कबीर कहते हैं कि हे गुरुवर ! कृपा करके दास को उचित पथ पर लगा दो जिससे संसार का यह समस्त बन्धन छूट जाय एवं जीव जन्म-मरण से छूट आवागमन से मुक्त हो जाय । सद्गुरु के चरण छूकर मैं यह प्रार्थना करता हूं कि कृपा कर इस जन्म का प्रयोजन बतायें । जिस (भक्ति) के लिए हम जन्मे हैं उस उद्देश्य को हमें समझा कर कहें । माया तृष्णा जब तक पीछा नहीं छोड़ देती तब तक शून्य स्थित ज्योतिस्वरूप आनन्दमय का आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता है ।

यह आनन्द की प्राप्ति में बहुत बाधक है । बिना सांसारिक भय भागे भला मुक्ति सम्भव कहाँ ? जिस बात को सद्गुरु कहते हैं उसका तू अनुगमन नहीं करता एवं अभावों के संसार में ग्रस्त रहता है । जहाँ वासनाओं—माया आदि का न उदय है और न अस्त—वहीं प्रभु के पास कबीर ने अपनी वृत्ति रमा दी है जिस भाँति बिम्ब-प्रतिबिम्ब एक ही हो जाते हैं जल और कुम्भ के भीतर का जल मायारूप कुम्भ के फूटने ही एक हो जाते हैं उसी प्रकार भ्रम के नष्ट होते ही जीव परमात्मा में लीन हो जाता है ।

संतौ धोखा कासूं कहिये ।
गुण मैं निरगुण निरगुण मैं गुण है बाट छाडि क्यूं बहिये ।।टेक।।
अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई ।
नाति सरूप बरण नहीं जाकै घटि घटि रह्यौ समाई ।।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई ।
प्यंड ब्रह्मंड छाडि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई ।।१८ ।

कबीर ईश्वर के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह रहस्य जिससे कहा जाय वह सगुण होते हुए भी निर्गुण है और निर्गुण होते हुए भी सगुण है । उचित पथ को छोड़ इस भ्रम में कभी नहीं पड़ना चाहिए कि वह निर्गुण है अथवा सगुण । वह ब्रह्म

सब भूले हो पाषंडि रहे तेरा बिरला जन कोई राम कहै ॥टेक॥
होइ अरोगि बूटी घसि लावै गुर बिन जैसें भ्रमत फिरै ।
है हाजिर परतीति न आवै सो कैसें परताप धरै ॥
ज्यूं सुख त्यूं दुख द्रिढ़ मन राखै एकादसी इकतार करै ।
द्वादसी भ्रमै लख चौरासी गर्भ बास आवै सदा मरै ॥
मैं तैं तजै तजै अपमारग चारि बरन उपरांति चढ़ै ।
ते नहीं डूबै पार तिरि लंघै निरगुण सगुण संग करै ॥
होइ मगन राम रंगि राचै आवागमन मिटै धाप ।
तिनह उछाह सोक नहीं व्यापै कहै कबीर करता आपै ॥१८१॥

समस्त मानव प्रभु को विस्मृत कर संसार के जंजाल में उलझे हुए हैं, कोई कोई ही प्रभु का नाम लेता है। सद्गुरु बिना चाहे उसे जानने के कितने ही प्रयत्न किए जायें किन्तु सब व्यर्थ। वह प्रभु विद्यमान है किन्तु इस बात का विश्वास-दर्शन किसी को नहीं है कि वह किस भाँति इतना अनुपम है। मनुष्य को सुख-दुख में समत्ववृत्ति रखते हुए मन सहित दसों इन्द्रियों को प्रभु में केन्द्रित रखना चाहिए। किन्तु वह तो शरीर द्वादश-अंगों की पूर्ति में ही भटकता रहता है जिससे बार-बार गर्भ में आ चौरासी लाख योनियों में यातना भोगनी पड़ती है। जो व्यक्ति चारों वर्णों का भेद भाव छोड़ अहं-पर की भावना को विलुप्त कर देते हैं वे इस संसार-सागर में डूबते नहीं हैं अपितु उस परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं। मग्न होकर प्रभु भक्ति में लगने से आवागमन चक्र से व्यक्ति विमुक्त हो जाता है। ऐसे लोगों की बुद्धि सम अवस्था को प्राप्त कर लेती है और वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

विशेष—१ गीता के 'स्थितप्रज्ञ' योगी की भाँति सुख-दुख में समान भाव रखने का उपदेश है—

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। —२।३८

२ "एकादसी इकतार करै"—समस्त—११—वृत्तियों को प्रभु में केन्द्रित करे, ग्यारह आँख कान नाक रसना त्वचा हाथ पाँव गुदा लिंग मुख—इन्द्रियाँ तथा एक मन।

३ 'द्वादसी भ्रमै'—शरीर के बारह प्रमुख अंग उन्हीं की इच्छा पूर्ति में लगे रहना। बारह प्रमुख अंग—सिर नैन कर्ण प्राण मुख हाथ पैर, नार कण्ठ तथा गुदा लिंग।

ऐसा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ विवर्जित हरिपद चीन्हैं सोई ॥टेक॥
राजस तामस सातिग तीन्यूं ये सब तेरी माया।
चौथे पद कौं जे जन चीन्हैं तिनहि परम पद पाया ॥

अस्तुति निंदा आसा छांडै तजै मांन अभिमांनां।
लौहा कंचन समि करि देखै ते मूरति भगवानां॥
च्यतै तौ माधौ च्यतामणि हरिपद रमैं उदासा।
त्रिस्नां अरु अभिमांन रहित है कहै कबीर सो दासा॥१८४॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! तेरी भक्ति करने वाला भक्त तो साधक विरला ही है जो काम क्रोध लोभ मोह आदि पंच विषयों से दूर आपके चरणों को पाने का प्रयत्न करता है।

सत रज तम -त्रिगुणात्मक संसार तो तेरी ही माया है किन्तु जो इन सबसे तटस्थ हो प्रभु आराधना करते हैं वे प्रभु के परम पद से साक्षात्कार कर लेते हैं। जो भक्त निंद प्रसंसा परनिन्दा संसार तृष्णा को छोड़ मानाभिमान को त्याग देता है और लोह स्वर्ण सुख-दुख सबको समान मानता है वस्तुतः वह तो प्रभु के ही समान आदरणीय पूज्य है। यदि तू किसी वस्तु की चिन्ता करता है तो चिन्तामणि स्वरूप प्रभु का विचार कर, संसार से उदासीन हो भक्ति में लग। वह प्रभु-भक्ति का मार्ग कबीर के विचार से तृष्णा और अभिमान रहित मनुष्य के लिए ही है।

हरि नांमैं दिन जाइ रे जाकौ
सोई दिन लेखै लाइ रांम ताकौ ॥टेक॥
हरि नांम [मैं जन जागै ताकै गोब्यंद साथी आगै।
दीपक एक अभंगा तामैं सुर नर पड़ैं पतंगा॥
ऊंच नींच सम सरिया तातैं जन कबीर निसतरिया॥१८५॥

जिस व्यक्ति का समस्त दिवस प्रभु गुणगान में बीतता है वही दिवस प्रभु को प्रिय है। जिस भक्त का आधार राम नाम ही है उसकी प्रभु सहायता करते हैं। यह माया का एक प्रज्वलित आकर्षणमय दीपक है उसमें देवता और मनुष्य पतंग के समान पड़-पड़कर प्राण दे रहे हैं। जो भक्त ऊंच-नीच सुख-दुख में समदृष्टि रखता है उससे कबीर तर जायेगा अर्थात वह कबीर को प्रिय है।

जब थैं आतम-तत बिचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थैं कांम क्रोध गहि डारा ॥टेक॥
ब्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै को पंडित को जोगी।
राणा राव कवन सूं कहिये कवन बैद को रोगी॥
इनमैं आप आप सबहिन मैं आप आपसूं खेलै।
नांनां भांति घड़े सब भांडे रूप धरे धरि मेलै॥
सोचि बिचारि सबै जग देख्या निरगुण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पंडित मिलि लीला जस गावै॥१८६॥

जब से मैंने आत्म तत्व प्रभु रहस्य पर विचार करना प्रारम्भ किया है, तभी से मुझे किसी से द्वेष नहीं रह गया है एवं काम क्रोध को मैंने उठाकर पटक दिया है। पण्डित ज्ञानी और योगी—सभी में वही एक ब्रह्म व्यापक है। राजा राव सामान्य पुरुष और वैद्य तथा रोगी चिकित्सक तथा चिकित्सा कराने वाले—सब ही तो समान हैं क्योंकि इन सबमें वही ब्रह्म स्थित है जो स्वयं अपनी क्रीड़ा-लीला स्वयं के आनन्द के लिये कर रहा है। संसार में यह विभिन्नता तो उसी भांति है जिस भांति अनेक प्रकार के घड़े स्वरूप में भिन्न होते हुए भी एक ही मिट्टी के बने होते हैं। कबीर कहते हैं कि मैंने भली-भांति विचार कर देख लिया है कि लीलामय भगवान् का स्वरूप गुण-गान तो सब ज्ञानी और गुणीजन करते हैं किन्तु उस निर्गुण परब्रह्म को कोई नहीं पहचानता।

तू माया रघुनाथ की खेलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे, कोई न छोड़्या नेड़ै ॥टेक॥
मुनियर पीर डिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तूं र फिरै बलिवंती ॥
वेद पढ़ंता ब्राह्मण मारा सेवा करता स्वामी।
अरथ करंता मिसर पछाड़्या तूं र फिरै मैंमंती ॥
साषित कै तूं हरता करता हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर राम कै सरनै ज्यूं लागी त्यूं तोरी ॥१८७॥

रघुनाथ=प्रभु। अहेड़ै=शिकार, आखेट। नेड़ै=पास। मुनियर=श्रेष्ठ मुनि। डिगम्बर=दिगम्बर। जतन=यत्न साधना। बलिवंती=बलशाली। मिसर=मिश्र पण्डितों की जाति विशेष। मैंमंती=मदमस्त। साषित=शाक्त।

कबीर कहते हैं कि प्रभु की माया इस संसार में आखेट को निकली है। चतुर सुघड़ भोले मनुष्यों को इसने छांट-छांट कर मार डाला है कोई भी अपने पास जीवित नहीं छोड़ा। इसने मुनिवर पीर दिगम्बर एवं साधनारत योगी सबको भ्रष्ट किया किसी को नहीं छोड़ा। इस पृथ्वी पर इसने जंगल के जंगम तपस्वी मार के साफ कर दिये। हे प्रभु-माया! तू अत्यन्त शक्तिमयी है। इसने शास्त्र-ग्रन्थों धर्म-ग्रन्थों में अनुरक्त ब्राह्मण तार्किक मिश्र प्रभु सेवा में रत मनुष्य किसी को नहीं मुक्त किया तब भी यह मदमस्त फिर रही है। शाक्त लोगों के यहां तो तू निस्संकोच रमी रहती है किन्तु प्रभु भक्त के पास दासी-सी बनी जाती है। कबीर कहते हैं जो प्रभु की शरण में चला जायेगा वह इससे मुक्त हो जायगा इसे ही उसका समाप्त कर देगा।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

जग सू प्रीति न कीजिये समझि मन मेरा।
स्वाद हेत लपटाइए, को निकसै सूरा ।।टेक।।
एक कनक अरु कामनीं जग में दोइ फंदा।
इनपै जो न बधावई ताका मैं बंदा।।
देह धरे इन मांहि बास कहु कैसें छूटै।
सीव भये ते ऊबरे जीवत ते लूटे।।
एक एक सू मिलि रह्या तिनहीं सचुपाया।
प्रेम मगन लै लीन मन सो बहुरि न आया।।
कहै कबीर निहचल भया निरभै पद पाया।
संसा ता दिन का गया सतगुर समझाया ।।१८८।।

कबीर मन को प्रबोध देते हुए कहते हैं कि हे मन! तू इस संसार के माया-मोह में मत पड़। इससे तो कोई सूरवीर ही मुक्त हो पाता है।

इस संसार में दो ही बन्धन हैं। प्रथम धन द्वितीय रूप यौवन सम्पन्न नारी। जो इन दोनों के बन्धन में नहीं पड़ता है मैं उसका दास हूँ। इस पंच तत्वमय भौतिक शरीर के रहते हुए इनका वास कैसे छूट सकता है? जो शिव के समान मोक्षी और साधक हो जाय तब तो इस माया-पाश से मुक्त हो सकता है। जो उस एक पूर्ण ब्रह्म से मिल गया शान्ति का लाभ तो उसने ही किया है। जिसका मन प्रभु भक्ति में तल्लीन हो गया वह मुक्त हो जाता है पुनः इस संसार बन्धन में नहीं फसता। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार ही निश्चल हो निर्भय पद की प्राप्ति सम्भव है। संसार-संशय तो उसी दिन समाप्त हो गया जब सद्गुरु ने ज्ञानोपदेश से प्रभु भक्ति मार्ग में प्रवृत्त किया।

राम मोहि सतगुर मिले अनेक कलानिधि परम तत सुखदाई।
काम अगनि तन जरत रही है
हरि रसि छिरकि बुझाई ।।टेक।।
दरस परस तै दुरमति नासी दीन रटनि ल्यौ आई।
पाषंड भरम कपाट खोलि कै अनभै कथा सुनाई।।
यहु संसार गंभीर अधिक जल को गहि लावै तीरा।
नाव जिहाज खेवइया साधू उतर दास कबीरा ।।१८९।।

कबीर कहता है कि हे प्रभु! मुझे अनेक कलाओं में पारंगत अमित सन्तोष देने वाले अनेक सद्गुरु मिले किन्तु फिर भी मेरा शरीर कामाग्नि से दग्ध होता रहा। उसकी शान्ति तो प्रभु भक्ति का रस छिड़क कर ही हो सकी। प्रभु के दर्शन एवं स्पर्श से कुबुद्धि का नाश हो गया और मन प्रभु भक्ति में तल्लीन रहा। जिससे सारी

और भ्रम के कपाट खुलकर प्रभु की रहस्यपूर्ण कृपा प्राप्त हुई। यह जगत् गहरे जल से परिपूर्ण है, इसमें जीवात्मा को पकड़ कर कौन पार लगा सकता है? इस शरीर रूपी नौका के केवट तो साधुजन हैं जिससे कबीर पार निकल सकता है।

दिन दहूँ चहूँ के कारणें जैसें सैबल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि साचे कूं भूले ॥टेक॥
जो रस गा सो परहर्या बिड़राता प्यारे।
आसति कहूं न देखिहूं बिन नांव तुम्हारे॥
सांची सगाई राम की सुनि आतम मेरे।
नरकि पड़ें नर बापुड़े गाहक जम तेरे॥
हंस उड़या चित चालिया सगपन कछू नांहीं।
माटी सूं माटी मेलि करि पीछैं अनखांहीं॥
कहै कबीर जग अंधला कोई जन सारा।
जिनि हरि मरम न जांणिया तिनि किया पसारा॥१६ ॥

इस तृष्णा के कारण सेमल फल के समान ऊपर से प्रसन्न रहता हुआ भी भीतर ही भीतर दग्ध होता रहता है। इस मिथ्या सांसारिक आकर्षण से भ्रम कर उस सत्य प्रभु को मैं विस्मृत कर बैठा हूँ। हे प्रभु! जिस रस को स्वाद से मैं अच्छा समझ बैठा हूँ वही नाश का कारण सिद्ध होता है। तारक नाम बिना प्रभु! कहीं भी रक्षा दृष्टिगत नहीं होती। हे मन! तू सुन, एक राम से ही सम्बन्ध सत्य है शेष सम्बन्ध मिथ्या है। अन्त में तो हे मनुष्य! यदि प्रभु-भक्ति न की तो तुझे नरक में पड़ना पड़ेगा और यमदूत तुझे आकर ले जायेंगे। जिस समय तेरी आत्मा यहाँ से प्रस्थान करेगी उस समय तेरा यहाँ कोई भी निकट सम्बन्धी नहीं होगा। मिट्टी से मिट्टी मिल जायगी तो बाद में पछताने से क्या? कबीर कहते हैं कि जिन्होंने प्रभु भक्ति का रहस्य न समझा वे संसार के प्रपंच जाल में पड़ते हैं। इस प्रकार समस्त जग अज्ञानान्ध है।

माधौ मैं ऐसा अपराधी तेरी भगति हेत नहीं साधी ॥टेक॥
कारनि कवन आइ जग जनम्यां जनमि कवन सचुपाया।
भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि ता चित घड़ी न लाया॥
पर निंद्या पर धन पर दारा पर अपबाद सूरा।
ताथैं आवागवन होइ फुनि फुनि ता पर संग न चूरा॥
काम क्रोध माया मद मंछर ए संतति हम मांहीं॥
दया धरम ग्यान गुर सेवा ए प्रभु सुपिनैं मांहीं।
तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर भगत-बछल भौ-हारी।
कहै कबीर धीर मति राखहु सासति करौ हमारी॥१६१॥

हे प्रभु ! मैं ऐसा अपराधी हूँ कि मुझ से आपकी भक्ति की साधना नहीं होती। न जाने मैं क्यों इस जगत् में आकर उत्पन्न हुआ इस अमूल्य मानव-जीवन प्राप्ति का क्या सुख ? इस संसार-सागर-जाल से निस्तार के लिए आपके श्रीचरण चिन्तामणि के समान दुःख दूर करने वाले थे किन्तु उनमें मैंने पल भर भी ध्यान नहीं लगाया। मैं परनिन्दा परधन लालसा पर स्त्री गमन एवं दूसरों पर दोषारोपण करने में लगा रहा। इसी कारण से बार-बार मैं आवागमन के चक्र में पड़ता हूँ और फिर भी क्षणिक देर के लिए भी साधु सगंति नहीं करता। काम क्रोध मोह, लोभ मोह आदि का निवास प्रतिपल मुझ मे रहता है। दया धर्म दान गुरु सेवा—जैसे सद्गुणों से मेरा सम्बन्ध स्वप्न तक में नहीं है। हे प्रभु ! आप कृपालु, दयालु, कलुष एवं भ्रम विदूरित करने वाले हैं। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु मुझे कृपा कर बुद्धि एवं धैर्य प्रदान करो।

रांम राइ कासनि करौं पुकारा
ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा ।।टेक।।
इंद्री सबल निबल मैं माधौ बहुत करैं बरियाई।
ले धरि जांहि तहां दुख पइये बुधि बल कछू न बसाई।।
मैं बपरौ का अलप मूढ मति कहा भयौ जे लूटे।
मुनि जन सती सिध अरु साधिक तेऊ न आयें छूटे ।।
जोगी जती तपी सन्यासी अह निसि खोजैं काया।
मैं मेरी करि बहुत बिगूते बिषै बाघ जग खाया।।
ऐकत छांड़ि जांहि घर घरनीं तिन भी बहुत उपाया।
कहै कबीर कछु समझि न परई, बिषम तुम्हारी माया ।।११२।।

हे प्रभु ! आप तो सब कुछ जानते ही हैं मैं आपके अतिरिक्त और किससे अपनी व्यथा कथा कहूँ ? हे माधव ये इन्द्रियां अत्यन्त शक्तिशाली हैं और मैं निर्बल हूँ ये मुझे नाना विषयों मे भटकाती हैं। जहां कहीं भी ये ले जाती हैं वहीं दारुण व्यथा के अतिरिक्त और कुछ नही है। इन इन्द्रियों के सम्मुख बुद्धि परास्त हो जाती है। इनके जाल से मुनि सती सिद्ध साधक कोई भी मुक्त नहीं हुआ फिर मैं बेचारा अल्पज्ञ मूर्ख भला कैसे इनके विपरीत चलता। योगी यति तपस्वी संन्यासी आदि प्रभु को शरीर के मध्य खोजने का प्रयास करते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि अहं ने समस्त संसार को नष्ट कर दिया है और विषय-वासनाओं का बाघ भी जग को नित्य प्रति चट कर रहा है। जो संन्यास के द्वारा भी प्रभु को खोजने द्वार घर से उनको छोड़कर घर जाकर गृहस्थ बन गये। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! तुम्हारी यह विषम माया मेरी समझ में नहीं आती यह एक रहस्य ही है।

माधौ चले बुनावन माहा, जग जीते जाइ जुलाहा ॥टेक॥
नव गज दस गज गज उगनीसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गंड बहतरि, पाट लगी अधिकाई ॥
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सेर अढ़ाई।
अढ़ाई में जे पाव घटे तौ, करकस करै बजहाई ॥
दिन की बैठि खसम सू कीजै, अरज लगी तहाँ ही।
भागी पुरिया घर ही छाड़ी, चले जुलाह रिसाई ॥
छोछी नली कामि नहीं आवै, लहटि रही उरझाई।
छांडि पसारा राम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई ॥१६३॥

बनावन—बुनने। नव गज—नौ गज। दस गज—दस गज। उगनीसा—उन्नीस।

प्रभु ! आपने इस संसार रूपी वस्त्र का निर्माण बुनकर किया है किन्तु आपके इस वस्त्र को माया नष्ट कर रही है। नवद्वार एवं दसों इन्द्रियों इस उन्नीस गज से इस थान रूपी संसार का निर्माण किया है। सात धातुओं के सूत्र का इसमें पाट फैलाया हुआ है। इसका विस्तार इतना है कि न इसे तोला जा सकता है और न नापा जा सकता है यदि इसमें तनिक भी मात्रा कम हो तो संसार का क्रम नहीं चल सकता। हे मनुष्य ! तू दिन भर अपने व्यवसाय की जो पेंठ लगाये उसमें प्रभु-नाम स्मरण के अतिरिक्त और कुछ न हो। इस प्रकार के व्यवसाय से माया घर छोड़ कर भाग जायगी। संसार में झूठे सम्बन्धों की यह नलिका किसी कार्य नहीं आती यह तो और गुत्थी को उलझाती है। कबीर समझाते हुए कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव ! तू विषय-वासनाओं से अपनी मति रोक राम-नाम का स्मरण कर।

विशेष—१ रूपक रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार। २ नव गज—नव द्वार—दो नैन दो कान दो नासिका विवर, मुख गुदा लिंग। ३ दस गज—दस इन्द्रियां—आंख कान नाक रसना त्वचा हाथ पांव गुदा लिंग मुख। ४ सात सूत—सप्तधातु—रस रक्त मांस वसा मज्जा अस्थि शुक्र।

बाजे जंत्र बजावै गुनीं, राम नाम बिन भूली दुनीं ॥टेक॥
रजगुन सतगुन तमगुन तीन, पंच तत ले साज्या बीन।
तीनि लोक पूरा पेखनां, नाच नचावै एकै जनां ॥
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभवन नाथ रह्या भरपूरि ॥१६४॥

यह संसार रूपी वाद्य बज रहा है जिसे एक गुनी (ब्रह्म) ही बजाता है। प्रभु-नाम बिना समस्त संसार भ्रम में पड़ा हुआ है। रज सत तम त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश—पंचतत्वों से इस वाद्य—संसार—का निर्माण हुआ है। समस्त सृष्टि—तीनों लोक—को देखकर यही निष्कर्ष निकला कि इसका

सचालक यह प्रभु ही है। कबीर कहते हैं कि माया भ्रम को दूर कर मन में यह दृढ़
विश्वास जमा लो कि इस संसार में ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै ताका सबद गगन मैं गाजै ॥टेक॥
सुर की नालि सुरति का तूंबा सतगुर साज बनाया।
सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक गुर बिन तिनहूँ न पाया॥
जिभ्या तांति नासिका करहीं माया का मैण लगाया।
गमां बतीस मोरणां पांचौं नीका साज बनाया॥
जंत्री जंत्र तजै नहीं बाजै तब बाजै जब बावै।
कहै कबीर सोई जन साचा जंत्री सू प्रीति लगावै ॥११२॥

यह हृदय-तन्त्री प्रभु के नाम से बज रही है जिसका अनुपम शब्द—अनहद नाद—शून्य लोक में हो रहा है। सुरति के तूम्बे को स्वर—भक्तिस्वर से जोड़कर ही सद्गुरु ने इस संगीत का सृजन किया है। देव मनुज गन्धर्व ब्रह्मादि किसी ने भी उस परमप्रभु को बिना गुरु की सहायता के प्राप्त नहीं किया है। जिह्वा एवं नासिका के तन्तु पर माया को नष्ट कर उस पर लाख लगायी है। बत्तीस दाँतों अर्थात् मुख एवं पाँचों इन्द्रियों को भी वाद्य मे प्रयुक्त किया है—इस प्रकार प्रभु भक्ति का यह सुन्दर वाद्य बनाया है। यह वाद्य-यन्त्र नाम का आश्रय छोड़ने पर नहीं बजता जब बजता है तब नामोच्चारण का संगीत गुंजरित हो। कबीर कहते हैं कि वही भक्त सच्चा है जो इस प्रभु भक्ति के वाद्य से अपना मन लगा ले।

अवधू नादैं व्यंद गगन गाजै सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहीं देखै नेड़ा ढूंढत बन बन डोलै ॥टेक॥
सालिगरांम तजौं सिव पूजौं सिर ब्रह्मा का काटौं।
सायर फोड़ि नीर मुकलांऊं कूंवा सिला दे पाटौं॥
चंद सूर दोइ तूंबा करिहूं चित चेतनि की डांडी।
सुषमन तंती बाजण लागी इहि बिधि त्रिष्णां षांडी॥
परम तत आधारी मेरे सिव नगरी घर मेरा।
कालहि षंडूं मीच बिहंडूं बहुरि न करिहूं फेरा॥
जपौं न जाप हतौं नहीं गूगल पुस्तक ले न पढ़ाऊं।
कहै कबीर परंम पद पाया नहीं आऊं नहीं जाऊं ॥११३॥

हे अवधूत! इस शरीर मे ही उस प्रभु का वास होता रहता है। यह बिम्ब निनाद अनहदनाद होता है। मनुष्य उस प्रभु को पाने के लिए बन बन तो भटकता है किन्तु अपनी अन्तस् में खोजने का प्रयास नहीं करता। शालिग्राम का परित्याग कर शिव की उपासना करने का क्या प्रयोजन? मैं तो ब्रह्मा तक का अस्तित्व समाप्त कर दूंगा। सायर—जिसकी पूजा होती

है उसको फोड़ जम को सुला दूं गा और कएं में पत्थर डालकर उसे पटका दूं गा। इड़ा पिंगला के तूम्बों को मन की सतर्कता की डण्डी पर बांध कर सुषुम्ना नाड़ी की तांत लगा प्रभु-भक्ति का अलौकिक राग अलाप कर मैं तृष्णा का अन्त कर दूं गा। वह परम ब्रह्म ही मेरे इष्ट हैं और उनका देश ही मेरा घर है। मैं समय के व्यवधान को समाप्त कर मृत्यु का नाश कर दूं गा और इस भांति पुनः इस जगत् में नहीं आऊंगा। अब न मैं मन्दिर या मस्जिद में बैठकर पूजन पूजा का ठाठ खड़ा कर जाप करूंगा और न शास्त्रग्रन्थों आदि का उपदेश दूंगा कबीर कहते हैं कि मैंने तो अब परमपद प्राप्त कर लिया है मैं आवागमन से विमुक्त हो गया हूं।

बाबा पेड़ छाडि सब डाली लागे मूंडे जन्त अभागे।
सोइ सोइ सब रैंणि विहांणी भोर भयो तब आगे ।।टेक।।
देवलि जाऊं तौ देवी देखौं तीरथि जाऊं त पाणी।
ओछी बुधि अगोचर बांणी नहीं परम गति जांणी।।
साध पुकारैं समझत नाहीं आंनि जन्म के सूते।
बांधे ज्यूं अरहट की टीडरि आवत जात बिगूते।।
गुर बिन इहि जग कौंन भरोसा काकै संगि व्है रहिये।
गनिका के घरि बेटा जाया पिता नांव किस कहिये।।
कहै कबीर यहु चित्र बिरोध्या बूझौ अमृत बांणी।
खोजत खोजत सतगुर पाया रहि गई आंवण जांणी ।।१८७।।

कबीर कहते हैं कि इस संसार के अभागे लोग मूल—प्रभु—को छोड़ शाखा—माया—आराधना में मग्न हुए हैं। इस अज्ञान में ही उन्होंने आयु व्यतीत कर डाली और अब गुरु द्वारा हाथ को ? जीवन का अन्त निकट है तब इन्हें सुधि आयी है। यदि मैं मन्दिर में जाता हूं तो देव प्रतिमा दिखाई देता है और तीर्थस्नान में जल किन्तु प्रभु—ब्रह्म—कहीं नहीं। यह मति अल्पज्ञ है जो परमतत्त्व का रहस्य जानने में असमर्थ है। साधु जन इस विषयमग्न मनुष्य को पुकारकर पुकारते हैं किन्तु यह तो दूसरे जन्म को भी भ्रष्ट करके रहेगा और जिस भांति रहट की डोलियों बाल्टियों का आवागमन बना रहता है उसी प्रकार यह भी आवागमन चक्र से विमुक्त नहीं होगा। इस संसार में बिना सद्गुरु के कोई साथी नहीं और मनुष्य की स्थिति वेश्यापुत्र के समान अनामधारी पिता के पुत्र के समान हो जाती है। कबीर अनुपम वाणी कहते हैं कि यह बड़ा चित्र विचित्र है। सद्गुरु की सहायता से खोजते-खोजते प्रभु को पा लिया और जो रह गये वे आवागमन से विमुक्त नहीं हुए।

भूली मालिनी है गोब्यंद जागती जगदेव
तू करै किसकी सेव ॥टेक॥
भूली मालनि पाती तोड़ै पाती पाती जीव।
जा मूरति कौं पाती तोड़ै सो मूरति नर जीव॥
टांचणहारै टांचिया दे छाती ऊपरि पाव।
जे तू मूरति सकल है तौ घड़णहारे कौं खाव॥
लाडू लावण लापसी पूजा चढ़ै अपार।
पूजि पुजारा ले गया दे मूरति कै मुहि छार॥
पाती ब्रह्मा पुहपे विष्णु, फूल फल महादेव।
तीनि देवौं एक मूरति करै किसकी सेव॥
एक न भूला दोइ न भूला भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा जाकै राम अधारा ॥११८॥

हे मालिनी! तू भ्रम में पड़ी हुई है। तू तनिक यह तो विचार कर कि पत्र पुष्प तोड़ कर तू किस प्रभु की सेवा करेगी? तू व्यर्थ फूल-पत्र तोड़ रही है क्योंकि इनमें से प्रत्येक जीव—जीवन है किन्तु तू जिस इष्ट-मूर्ति के लिए इनका नाश कर रही है वह निर्जीव प्रस्तर है। कारीगर छाती पर पाँव धर कर गढ़ता था रहा है। यदि तेरी मूर्ति सत्य है तो उस कारीगर को समाप्त कर दे उस मूर्ति से इसका नाश करा दे। उस मूर्ति पर लड्डू, लवणयुक्त पकवान और अन्य विविध मिष्टान्न अर्पित मात्रा में चढ़ते हैं किन्तु पुजारी उनको अपने घर ले जाता है और उसे राख भी नहीं मिलता। फूल पत्र फल सबमें ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों का निवास है और तीनों देव एक ही हैं—केवल उनका स्वरूप पृथक है, अब बता तू किसकी अर्चना करेगी? मालिनी! यह स्थिति तेरी ही नहीं या एक दो की ही नहीं, समस्त संसार इसी भाँति भ्रम में पड़ा हुआ है। कबीर कहते हैं कि केवल एक प्रभु-भक्त जिसके राम ही आश्रय हैं भ्रम में नहीं पड़ा है।

सेइ मन समझि समर्थ सरणागता जाकी आदि अंति मधि कोइ न पावै।
कोटि कारिज सरैं देह गुण सब जरैं नेक जो नाव पतिव्रत आवै ॥टेक॥
आकार की ओट आकार नहीं ऊबरै, सिव बिरंचि अरु विष्णु तांई।
जास का सेवक तास कौ पाइहै इष्ट कौ छांडि आगे न जाहीं॥
गुणमई मूरति सेइ सब भेष मिली निरगुण निज रूप बिश्राम नाहीं।
अनेक जुग बंदिगी बिबिध प्रकार की अंति गुण का गुण ही समांहीं॥
पांच तत तीनि गुण जुगति करि सांनिया अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया।
पाप पुंन बीज अंकूर जांमे मरै, उपजि बिनसै जेती सर्ब माया॥

त्रिगम करता कहैं परम पद क्यूं सहैं मूसि भ्रम मैं पड़या लोक सारा ।
कहै कबीर रांम रमिता भजैं कोई एक जन गए उतरि पारा ॥१११॥

हे मन ! तू उस समर्थ प्रभु की जिसका आदि मध्य अवसान कोई न पा सका सेवा कर, भक्ति कर। यदि उस प्रभु का नाम एकाग्रमन हो अल्प समय के लिए भी ले लिया जाय तो मनुष्य के करोड़ों कार्य सफल हो जाते हैं तथा देह के दुखनष्ट हो जाते हैं। यदि इस शरीर की भूख—तृप्ति में ही लगे रहेंगे तो शिव ब्रह्मा अथवा किसी भी उपास्य का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं होगा। तू जिसका भक्त है उसको निश्चय ही प्राप्त कर लेगा किन्तु अपने आराध्य को छोड़ अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं। इष्ट को पूजने से सब तृप्तियाँ हो जाती हैं निर्गुण ब्रह्म को अपने कार्य से फुर्सत नहीं सृष्टि सचालन में वह सर्वदा व्यस्त रहता है। अनेक युगों तक अनेक प्रकार से पूजा करने पर भी वह प्रभु हमें प्राप्त न हो सका। पांचों तत्वों तीन गुणों समेत समस्त उपाय करने पर भी योग की अष्टांग साधना बिना उस प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। इसी मार्ग से पाप-पुण्य जन्म-मरण माया विषय-वासना आदि समस्त पचड़ों का अन्त हो जाता है। इस सृष्टि का कर्त्ता कहता है कि तुम्हें किस भांति परम-पद की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि समस्त संसार संशय से ग्रसित है।

कबीर कहते हैं कि राम-नाम स्मरण से कितने ही भक्त इस भवसागर को पार कर गये।

रांम राइ तेरी गति जांनी न जाई ।
जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा रांम नियाई ॥टेक॥

जैसी कहै करै जो तैसी तौ तिरत न लागै बारा ।
कहता कहि गया सुनता सुंणि गया करणीं कठिन अपारा ॥
सुरही तिण चरि अंमृत सरवैं लेर भवगहि पाई ।
अनेक जतन करि निग्रह कीजै बिषै विकार न जाई ॥
सत करै असंत की संगति तासूं कहा बसाई ।
कहै कबीर ताके भ्रम छूटै जे रहे रांम ल्यौ लाई ॥२ ॥

हे राजा राम परम प्रभु, तेरा रहस्य किसी को ज्ञात नहीं होता। राजा राम न्यायी है जो जैसा कर्म करता है तदनुकूल ही वह फल भोगता है। जिसकी सत् कहनी और करनी में अन्तर नहीं होता उसे भवसागर से पार जाते देर नहीं लगती। अनुभव कहने और सुनने में कठिन नहीं उन्हें व्यवहार में लाना कठिन है। तृण—खाद्य रूप—में अमृत अवित होता है, वहां अनुभोगी कोई बिरली आत्मा ही पहुंच पाती है किन्तु सामान्य लोगों के साथ चाहे कितने ही उपाय उभार उठाने के कर लें किन्तु वे विषय-विकार को नहीं छोड़ सकते। यदि सज्जन दुर्जन की संगति करने लगे तो

भला उसका क्या उपचार ? कबीर कहते हैं कि उसी का संसार-बंधन विलीन होता है जिसकी वृत्तियां राम में केन्द्रित हों।

कथणी बदणी सब जंजाल
भाव भगति अरु रांम निराल ॥टेक॥
कथै बदै सुणैं सब कोई, कथें न होई कीयें होइ।
कूड़ी करणी रांम न पावै साच टिकै निज रूप दिखावै।
घट मैं अगनि घर जल अवास चेति बुझाइ कबीरदास ॥२ ११॥

कबीर कहते हैं कि धर्म का धार्मिक उपदेश मिथ्याचरण यह सब वृथा है केवल प्रभु की भावपूर्ण भक्ति ही सत्य है। साधना का कथन टीका-टिप्पणी और श्रवण तो सब करते ही हैं किन्तु प्रयोजन सिद्धि मौखिक लेन-देन से नहीं अपितु कर्म से होती है। बुरे आचरण से प्रभु प्राप्ति सम्भव नहीं केवल सत्याश्रित होने पर ही वह प्रभु अपना रूप दिखाते हैं। इस मन में विषयाग्नि और मायाजल भरा है कबीर कहते हैं कि सावधान हो इसे समाप्त कर दे।

—×—

राग आसावरी

ऐसी रे अवधू की वाणी ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी ॥टेक॥
जब लग गगन जोति नहीं पलटै अविनासी सूं चित नहीं चिहुटै।
जब लग भवर गुफा नहीं जानें तौ मेरा मन कैसें मांनें॥
जब लग त्रिकुटी संधि न जानैं ससिहर कै घरि सूर न आनैं।
जब लग नाभि कवल नहीं सोधै तौ हीरै हीरा कैसें बेधैं॥
सोलह कला संपूरण छाजा अनहद कै घरि बाजैं बाजा।
सुषमन कै घरि भया अनंदा उलटि कवल भेटे गोव्यंदा॥
मन पवन जब परचा भया ज्यूं नाले रांपी रस मइया।
कहै कबीर घटि लेहु बिचारी औघट घाट सींचि ले क्यारी ॥२ १॥

गगन = शून्य। जोति = ज्योतिस्वरूप ब्रह्म। भवर गुफा = ब्रह्मरंध्र। त्रिकुटी = भाल मध्य मस्तिष्क का संधि स्थल भौंहों के बीच का स्थान। नाभि कवल = नाभि पर स्थित मणिपूरक चक्र — इसमें दस दल होते हैं। यह नील वर्ण का होता है इसका बीज रं है। इसका ध्यान करने से क्रमश: डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं की ध्वनि प्रकट होती है। इसकी सिद्धि प्राप्त से मनुष्य संहार पालन में समर्थ तथा वचन रचना में चतुर हो जाता है और उसकी जिह्वा पर सरस्वती निवास करती है

कबीर कहते हैं कि योगी का उपदेश इस भांति है—ऊपर शून्य शाक में कुआ है किन्तु उससे पानी प्राप्त करने का साधन कुण्डलिनी (जल) नीचे है मूलाधार चक्र में स्थित है। जब तक शून्य में ज्योतिस्वरूप परमात्मा का दर्शन नहीं होता तब तक उस अलख निरंजन से मन कैसे लगे ? जब तक मन की शून्यरस ब्रह्मरन्ध्र का भी ज्ञान नहीं फिर उसे कैसे परितोष प्राप्त हो। जब तक साधक को त्रिकुटी का ज्ञान नहीं है तब तक चन्द्र सूर्य इड़ा पिंगला कैसे एकमेक हों। जब तक नाभि में स्थित मणिपूरक चक्र का भेदन साधक नहीं कर लेता तब तक मणि रूप प्रभु को कैसे प्राप्त कर लेगा ? वह सोलह कलाओं से पूर्ण ब्रह्म वहाँ बसा हुआ है वहाँ घण्टे की चोट पड़कर अनहद नाद का निरन्तर घोष हो रहा है। जब सुषुम्ना के द्वारा शून्यकमल भेदन हो अमृत श्रवित होने लगता है तो अपरिमित आनन्द का सृजन होता है। जब मन और परमात्मा का साक्षात्कार हुआ तो दोनों उसी प्रकार एकमेक हो गए जिस भांति नाले का जल (गंगा की) पवित्र धारा में मिलकर एक हो जाता है। कबीर कहते हैं कि इस भांति तुम मन में विचार कर उस अलख निरंजन को प्राप्त कर लो।

> मन का भ्र म मन हीं थैं भागा सहज रूप हरि खेलण लागा॥टेक॥
> मैं त त मैं ए द्वै नांही आप अकल सकल घट मांहीं।
> जब थैं इनमन उनमन जांनां तब रूप न रेष तहां ल्यौ बांनां॥
> तन मन मन तन एक समांना इन अनभै मांहैं मन मांनां।
> आतमलीन अषंडित रांमां कहै कबीर हरि मांहि समांनां॥२ ३॥

मन से भ्रम के भाग जाने पर चित्त हृदय प्रभु-भक्ति म रमने लगा। मैं तूं 'मैं' 'तू' का भेद मिथ्या है। समस्त प्राणिमात्र के हृदय म एक वही प्रभु विद्यमान है। जब स इस मन को उन्मनी अवस्था का ज्ञान हुआ है तभी से इसका वास उस प्रभु के लोक म हो गया है जिसका कोई रूप आकार, नहीं है। शरीर और हृदय दोनों समान ही है और इन्हीं के मध्य अनभावक प्रभु का वास है। वह प्रभु आत्म स्थित एव अविभाज्य है कबीर कहते हैं कि उसी प्रभु म मेरा मन रम गया है।

> आत्मां अनंदी जोगी पीवै महारस अमृत भोगी॥टेक॥
> ब्रह्म अगनि काया परजारी अजपा जाप उनमनी तारी।
> त्रिकुट कोट मैं आसण मांडै सहज समाधि विषै सब छांडै॥
> त्रिवेणी बिभूति करै मन मंजन जनकबीर प्रभु अलष निरंजन॥२ ४॥

आत्मानन्दी योगी ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित उस आनन्दमय महारस का पान करता है। वह ब्रह्माग्नि से शरीर के पाप भस्म कर उन्मनावस्था द्वारा अनहद नाद का श्रवण करता है। त्रिकुटी के किले में समाधि लगाकर साधक बैठ जाता है पर सहज समाधि

समस्त विषय-रसों से मुक्त कर देती है। जब मन इड़ा पिंगला, सुषुम्ना द्वारा प्रवाहित त्रिवेणी में स्नान करने लगता है तो अलख निरंजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा का दर्शन होता है।

या जोगिया की जुगति जु बूझै,
राम रमै ताकौं त्रिभुवन सूझै ।।टेक।।
प्रगट कंथा गुपत अधारी तामैं मूरति जीवनि प्यारी।
है प्रभू नेरैं खोजै दूरि ग्यांन गुफा मैं सींगी पूरि ।।
अमर बेलि जो छिनछिन पीवै कहै कबीर सो जुगि जुगि जीवै ।।२०५।।

जो मनुष्य इस योगी की साधना को समझ लेगा उसे प्रभु-दर्शन हो जायेगा और साथ ही त्रिभुवन-समस्त सृष्टि उसके लिए दृश्य हो जायेगी। प्रकट में तो वह योगी प्रभु कथा कहता ही रहता है, वैसे उसकी आधारी भी प्रभु की प्रिय मूर्ति ही है, वह उसी के द्वारा जीवन धारण करता है। प्रभु तो पास में ही अन्तर में ही स्थित है, उसे दूर कहाँ खोजते हो ? ज्ञान से वह प्राप्य है। कबीर कहते हैं कि सूक्ष्मकमल से उत्पन्न अमरबेलिरस का जो प्रतिपल पान करता है सर्वदा अनहद नाद का श्रवण करता है वह युग-युग तक अमर रहता है। उसे काल-बन्धन नहीं व्यापता।

सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा
राति दिवस न करई निद्रा ।।टेक।।
मन मैं आसण मन मैं रहणां मन का जप तप मन सूं कहणां।
मन मैं षपरा मन मैं सींगी अनहद बेन बजावै रंगी ।।
पंच परजारि भसम करि भूका कहै कबीर सो लहस लंका ।।२०६।।

कबीर कहते हैं कि योगी वही है जो अहर्निश जागृत सावधान रहता हुआ मन में ही खेचरी मुद्रा को धारण करता है। वह मन में ही समाधिस्थ हो रहता है एवं जप-तप आदि साधना के जितने भी सोपान हैं सब की पूर्ति वहीं करता है। योगी का खप्पर और सींगी अनहद नाद—ये सब सम्भार उसके मन में ही रहते हैं। कबीर कहते हैं कि शून्यलोक रूपी लंका को वही प्राप्त कर सकता है जो काम क्रोध मद, लोभ मोह—पाँच विकारों को नष्ट कर दे।

विशेष—कबीर ने यद्यपि योगसाधना पर पर्याप्त पद-रचना की है किन्तु वे विशेष बल मन-साधना पर ही देते हैं। इसे हम अन्तर्मुखी वृत्ति भी कह सकते हैं।

बाबा जोगी एक अकेला जाकै तीर्थ ब्रत न मेला ।।टेक।।
झोली पत्र बिभूति न बटवा अनहद बेन बजावै।
मांगि न खाइ न भूखा सोवै घर अंगनां फिरि आवै।
पांच जनां की जमाति चलावै तास गुरू मैं चेला ।।
कहै कबीर उनि देसि सिधाये बहुरि न इहि जगि मेला ।।२०७।।

कबीर कहते हैं कि योगी संसार में अपने ही ढंग का एक होता है। इसे तीर्थ व्रत मेला आदि से कोई प्रयोजन नहीं होता। उसके पास सामान्य साधुओं के समान न तो झोली होती है, न शरीर पर मली हुई क्षार, न पैसे संचित करने के लिए बटुवा। वह तो अनहद नाद के श्रवण में ही मस्त रहता है। वह न तो भिक्षा मांग कर खाता है न भूखा ही रहता है, वह तो पुण्यलोक ब्रह्म रन्ध्र से स्रवित अमृत का पान करता है। कबीर कहते हैं कि जो पंच विषयों अथवा काम क्रोध मद लोभ मोह पंच विकारों की सेना को नष्ट कर दे ऐसे योगी को मैं गुरु बना लूं। वे आगे कहते हैं जो साधक उस प्रभु के पुण्य लोक को प्राप्त कर लेता है वह पुनः इस संसार में आ आवागमन के चक्र में नहीं पड़ता।

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ
ज्यूं तेरा आवागवन मिटाइ ।।टेक।।
तत करि तांति धर्म करि डांडी सत की सारि लगाइ।
मन करि निहचल आसण निहचल रसनां रस उपजाइ ।।
चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमैं भसम चढ़ाइ।
तजि पाषंड पांच करि निग्रह खोजि परम पद राइ ।।
हिरदै सींगी ग्यांन गणि बांधी खोजि निरंजन सांचा।
कहै कबीर निरंजन की गति जुगति बिनां प्यंड काचा ।।२८।।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! इस शरीर रूपी वाद्य की साधना कर जिससे तेरा जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाए। तू इस वाद्य में परम-तत्त्व का तंतु एवं धर्म की डंडी लगा और सत्य-व्यवहार सत्य आचरण की इस तत पर पुट लगा दे। मन को दृढ़ और एकाग्र कर समाधिस्थ हो जा एवं अपनी जिह्वा से प्रभु-भक्ति प्रभु नाम का रस उत्पन्न कर। इस हृदय को ही प्रभु गुण स्मरण संरक्षण का बटुवा पोश बना ले और अपनी शरीर त्वचा को योगियों के धारण करने की मेखला समझ ले। काम क्रोध मद लोभ मोह को भस्म कर उन्हीं की विभूति बना ले। पाखण्ड का परित्याग कर पाँच विषयों को छोड़ परमप्रभु की खोज की भावना करो। हृदय रूपी शृंगी को ज्ञान रज्जु से बाँध दो और इस प्रकार अनन्त निरंजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा ब्रह्म को खोज लो। कबीर कहते हैं कि ब्रह्म का रहस्य बिना साधना के ज्ञात नहीं किया जा सकता बिना योग साधना के यह शरीर वृथा है।

अवधू ऐसा ग्यान बिचारी ज्यूं बहुरि न ह्वै संसारी ।।टेक।।
च्यंत न सोच चित बिन चितवैं बिन मनसा मन होई।
अजपा जपत सुंनि अभि अंतरि यहु तत जानैं सोई ।।
कहै कबीर स्वाद जब पाया बंक नालि रस खाया।
अमृत झरै ब्रह्म परकासै तब ही मिलै रांम राया ।।२९।।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत ! तू ऐसे ज्ञान—प्रभु-रहस्य—का विचार कर जिससे तुझे पुनः इस जगत् में आकर दुःख न उठाना पड़े। उसे (ब्रह्म को) न पिता है, न कोई शोक वह बिना ही हृदय और नेत्र के सृष्टि को देखता है एवं बिना मानसिक भावनाओं के भी मन रमता है। इस तत्व को तो कोई विरले साधक ही जान सकते हैं जिसमें हृदय के भीतर ही अपने आप अनहद नाद शून्य लोक ब्रह्म लोक में ध्वनित होता है। कबीर कहते हैं कि मैंने उस महारस का स्वाद तब पाया जब सुषुम्ना के माध्यम से कुण्डलिनी ने विस्फोट कर अमृत प्राप्त किया। जब वहाँ से अमृत स्रवित होने लगता है तो वह ज्योतिस्वरूप परमात्मा—ब्रह्म प्रकट होता है और उसका साक्षात्कार होता है।

विशेष—विभावना अलंकार।

गोब्यंदे तुम्हार बन कंदलि मेरो मन अहेरा खेलै।
बपु बाड़ी अनग मृग रचिही रचि मेलै ॥टेक॥
चित तरउवा पवन खेदा सहज मूल बाँधा।
ध्यांन धनक जोग करम ग्यांन बांन सांधा॥
षट चक्र कवल बेधा जारि उजारा कीन्हाँ।
कांम क्रोध लोभ मोह हाकि स्यावज दीन्हाँ॥
गगन मंडल रोकि बारा तहाँ दिवस न राती।
कहै कबीर छाँडि चले बिछुरे सब साथी ॥२१॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आपके कदली वन में मेरा मन रूपी आखेटक आखेट कर रहा है। हृदय रूपी वृक्ष पर प्राणायाम साधना कर इसे सहज समाधि से बाँध दिया है। योगकर्मानुरूप ध्यान के धनुष पर ज्ञान बाण से लक्ष्य संधान—प्रभु-प्राप्ति—किया है। इस बाण से षट्चक्र कमल जो मार्ग में हैं उनका भेदन कर प्रकाश लोक विकीर्ण किया है। काम क्रोध लोभ मद मोह को हाँककर भगाकर, उस लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायता ली। समस्त चित्तवृत्तियों को शून्यलोक में केन्द्रीभूत कर दिया है जहाँ न अन्धकार है न प्रकाश अर्थात् सम अवस्था है। इस प्रकार कबीर कहते हैं कि हम तो अब इस प्रकार से सम्बन्ध-विच्छेद कर प्रभुलोक में चल दिए।

विशेष—रूपक सांगरूपक अनुप्रास रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग है।

(२) योगसाधना षट्चक्रों के स्थान पर प्रायः अष्ट चक्रों का ही उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु कबीर ने अनेक स्थलों पर षट्चक्रों का ही वर्णन किया है। इन्होंने शून्यचक्र एवं सुरति कमल को छोड़ दिया है। वे षट्चक्र निम्नस्थ प्रकार हैं।—

(i) मूलाधार—इसका स्थिति स्थान योनि माना गया है। इसमें चार दल होते हैं। यह रक्त वर्ण का होता है इसका लोक भू है। इसका ध्यान करने से एक प्रकार

की ध्वनि मालूम होती है वह क्रमश में घं यं सं की होती है। इसके सिद्ध साम होने पर मनुष्य वक्ता सर्वविद्याविनोदी आरोग्य मनुष्यों में श्रेष्ठ आनन्दचित्त तथा काव्य-प्रबंध में समर्थ होना आदि के विशेष गुण स मुक्त हो जाता है।

(ii) स्वाधिष्ठान चक्र—इसकी स्थिति स्थान पेडू माना गया है। इसमें छ दल होते हैं। यह सिंदूर वर्ण का होता है। इसका लोक भुव है। इसका ध्यान करने से एक प्रकार की ध्वनि मालूम होती है वह क्रमश ब में में रं, लं में बं की होती है। इसके सिद्ध साम से अहंकार विकार का नाश योगियों में श्रेष्ठ मोह रहित और गद्य पद्य की रचना में समर्थ विशेष गुण मनुष्य में उत्पन्न हो जाता है।

(iii) मणिपूरक चक्र—इसका स्थान नाभि कहा जाता है। इसमें दस दल होते हैं। यह नील वर्ण का होता है इसका लोक स्व है। इसका ध्यान करने से क्रमश डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं की ध्वनियां मालूम होती है। इसके सिद्ध साम होने से मनुष्य संहार पालन में समर्थ तथा वचन रचना में चतुर हो जाता है और उसकी जिह्वा पर सरस्वती निवास करती है।

(iv) अनाहत चक्र—इसकी स्थिति स्थान हृदय में होता है। इसमें द्वादश दल होते है। यह धवल वर्ण का होता है। इसका लोक मह है। इसका ध्यान करने से एक प्रकार का अनहद नाद मालूम होता है। वह क्रमश कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं, टं ठं का होता है। इसके सिद्ध साम से मनुष्य वचन रचना में समर्थ ईश्वरत्व सिद्धि प्राप्त योगेश्वर ज्ञानवान् इन्द्रियजित् काव्य शक्ति वाला हो जाता है।

(v) विशुद्ध चक्र—यह चक्र कण्ठ स्थान में स्थित है। इसके षोडश दल होते हैं। यह धूम्र वर्ण का होता है। इसका लोक जन है। इसका ध्यान करने से क्रमश अ से लेकर अः तक सोलह स्वरों की अनहद ध्वनि मालूम होती है। इसके ध्यान सिद्ध होने पर मनुष्य काव्य रचना में समर्थ ज्ञानवान् उत्तम वक्ता शान्त चित्त त्रिलोक दर्शी सर्वहितकारी नीरोग चिरंजीवी और तेजस्वी होता है।

(vi) आज्ञा चक्र—यह दोनों भ्रुवों के मध्य में स्थित है। इसमें दो दल होते हैं यह श्वेत वर्ण होता है। इसका लोक तप है। इसका ध्यान करने से हं क्षं का अनहद नाद क्रमश ध्वनित होता है। इसके सिद्ध साम से योगी को वाक्य सिद्धि प्राप्त होती है।

साधन कबहूं हरि न उधारै अनभै ह्वै तो पाप बिचारै ॥टेक॥
जोगी मू रण तापि करि मार्णों प्राण मो रम धागा।
चंद सूर एकंतरि कीया सींवल गहू न्नि लागा॥
पद पदार्थ छोड़ि समांनां होरैं मोती जड़िया।
कोटि बरस मू कबूं सींवा सूर मर पर्यं पड़िया॥

जिस मामुर जे सोवैं नाँही ता नरि काल न खाई।
कहै कबीर गुर परसादैं सहजैं राम्या समाई ॥२११॥

प्रभु बिना साधना के प्राप्य नहीं हो सकते हे साधक ! यदि तुझे सांसारिक तापों का भय नहीं है तो इस पद का अर्थ स्पष्ट कर, हृदयंगम कर।

शरीर के सब तारों को गुरु उपदेश की सुरम्य वाणी से सुवासित कर दिया है। इस भक्ति वस्त्र को मौन में बुनको बहुत समय लगा है। मौन से पूर्व इस शिष्य को मिला दिया गया था। पाँच विषयों का रस छोड़कर मैंने इसमें हीरे और माणिक्य जड़ दिये हैं। समस्त संसार, देव-मनुष्य सभी विषय-वासना जंजाल में पड़े हुए हैं और मैंने इस साधना वस्त्र को दीर्घ समय तक सीया है। जो व्यक्ति सब अहर्निश सावधान रह प्रभु भक्ति में संलग्न रहते हैं उन्हें मृत्यु नहीं व्यापती। कबीर कहते हैं कि मैं तो गुरु कृपा से सहज-समाधि में लवलीन हुआ हूँ।

जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्याव
मास बिहूँणां घरि मत आवै हो कंता ॥टेक॥
उर बिन पुर बिन चंच बिन बपु बिहूँनां सोई।
सो स्यावज जिनि मारै कंता जाकै रगत मास न होई।
पैली पार के पारधी ताकी धुनही पिनच नहीं रे।
ता बेली कौ ढूक्यौ मृग लौ ता मृग कैसी सनहीं रे॥
मारया मृग जीवता राख्या यहु गुर ग्यान मही रे।
कहै कबीर स्वामी तुम्हारे मिलन की बेली है पर पात नहीं रे॥२१२॥

आत्मा के माध्यम से कबीर जीव को सम्बोधित करते कहते हैं कि हे स्वामिन्! तू जीवन्मुक्त स्थिति को प्राप्त कर ले। (मांस—जीवात्म) महारस की प्राप्ति बिना तेरा घर आना व्यर्थ है। वह ब्रह्म हृदय विहीन नगर विहीन मुख विहीन एवं रूप आकार से परे है। वही साधक श्रेष्ठ है योगी है जो इस रक्त मांस विहीन आखेट को प्राप्त करे। जिस धनुष से उस दूसरे तट पर स्थित लक्ष्य का संधान किया जाता है उसमें न तो प्रत्यंचा है और न बाण की आवश्यकता ही। उस अनुपम अमृत-बेलि को मन रूपी मृग ने अन्य तृष्णाओं से आवृत कर लिया है। इसलिए मन-मृग से मिलता कैसी? गुरु का उपदेश तो यही है कि इस मृग को मारकर, नियन्त्रित कर उस अमर बेलि को प्राप्त किया जाए। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आपसे मिलन के लिए साधना या भक्ति-लता का ही बन्धन है, माया का नहीं।

मेरी मेरे ममता छोड़ि घरि नाँही तैं तो कोयो मेरे कसम सूँ पांडौं ॥टेक॥
प्रेम की बेबरिया तेरे गलि बाँधू तहाँ लै जाउँ जहाँ मेरो माधौ।
काया नगरी पैसि किया मैं बासा हरि रस छाड़ि बिष रसि माता।
कहै कबीर तन मन का औरा भाव भगति हरि सूँ गठजोरा ॥२१३॥

हे मेरे मन ! तनिक रुक मैं तुझे अभी शिक्षित करता हूं तूने प्रभु स्वामी से विश्वासघात कैसे किया ? मैं तेरे गले में प्रम-रज्जु बाँधकर तुझे वहां ले जाऊंगा जहां भगवान् है। इस शरीर की क्षुधा-पूर्ति में ही तू व्यस्त रहता है, प्रभु-भक्ति के मधुर रस को त्याग विषय-वासनाओं में उलझा रहता है। कबीर कहते हैं कि मैं तन मन-सर्वस्व प्रभु को अर्पित कर चुका हूं और अब भगवान् से ही मेरा सम्बन्ध रह गया है।

पारब्रह्म देख्या हो तत बाड़ी फूली फल लागा बडहूली।
सदा सदाफल दाख बिजौरा कौतिकहारी भूली ॥टेक॥
द्वादस कूवा एक बनमाली उलटा नीर चलावै।
सहजि सुषमनां कूल भरावै दह दिसि बाड़ी पावै ॥
ल्यौकी लेज पवन का ढींकू मन मटका ज बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा सहजि नीर मुकलाया ॥
त्रिकुटी चढ्यौ पाव ढी ढारै, अरध उरध की क्यारी।
चंद सूर दोऊ पांणति करिहैं गुर मुषि बीज बिचारी ॥
भरी छाबड़ी मन बैकुंठा सांई सूर हिया रंगा।
कहै कबीर सुनहु रे संतो हरि हम एकै संगा ॥२१७॥

जब ईश्वर के दर्शन हो जाय तभी यह भक्ति-लतिका पल्लवित होती है और तभी इस पर परम फल लगता है। साधक आत्मा उस सदैव अमर रहने वाले फल गुम्फ सुमधुर पदार्थ का आस्वादन कर आश्चर्य में पड़ जाती है। वहां पर बारह धमनियों युक्त और एक कमल के फूल है जिसका अधिष्ठाता एक ब्रह्म ही है और वहां पर अमृत स्रवित होता रहता है। सहज समाधि द्वारा सुषुम्ना के माध्यम से कुण्डलिनी ऊपर चढ़कर वहां दसों वाटिकाओं को सुजन करती है। प्राणायाम की रस्सी पर लय की डोरी से मन-गागरी को भर सत्य की पिंडी एवं सुरति द्वारा सींच इस प्रभु भक्ति के सहज जल को प्राप्त किया जाता है। त्रिकुटी पर आकर मन स्थिर हो जाता है तथा गागरी शून्य जाती है जिससे इधर उधर बने सत की क्यारियां उस अनुपम प्रभु रस से अभिसिंचित हो जाती हैं। चन्द्र और सूर्य इड़ा-पिंगला दोनों उस क्षेत्र को जोतकर उसे कृषि योग्य बना देती है जिसमें गुरु-वाणी के उत्तम बीज का वपन होता है। इस भांति ईश्वर भक्ति से समग्र रस पल्लवित हो उठा और हृदय प्रभु के रंग से ही रंग गया। कबीर कहते हैं कि इस स्थिति में पहुंचकर मैंने प्रभु का साक्षात्कार कर लिया है।

रांम नांम रंग लागो कुरंग न होई।
हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥टेक॥

और सब रंग इहि रंग थैं छूटै हरि रंग लागा कदे न छूटै।
कहै कबीर मेरे रंग राम राई और पतंग रंग उड़ि जाई ॥२१५॥

कबीर कहते हैं कि मेरा अन्तर प्रभु भक्ति के रंग से रंग गया है और वह छूट नहीं सकता क्योंकि इस ईश्वर भक्ति रंग के समान और कोई रंग नहीं है। कबीर कहते हैं कि मेरे पर तो राम भक्ति का ही रंग चढ़ चुका है और रंग पतंग के रंग के समान क्षणिक है।

कबीरा प्रेम कूल ढर हमारे राम बिना न सरै।
बांधि ले धोरा सींचि ले क्यारी ज्यूं तूं पेड़ भरै ॥टेक॥
काया बाड़ी माहिं माली टहल करै दिन राती।
कबहूं न सोवै काज संवारै, पांणतिहारी माती ॥
सेझै कूवा स्वाति अति सीतल कबहूं कूवा बनहीं रे।
भाग हमारे हरि रखवाले कोई उजाड़ नहीं रे ॥
गुर बीज जमाया कि रखि न पाया मन की आपदा खोई।
औरे स्यावढ करै पारिखा बिसा कर सब कोई ॥
जौ घरि आया तौ सब ल्याया सबही काज संवारया।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ थकित भया मैं हारया ॥२१६॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु प्रेम के तट पर ही निवास श्रेय है क्योंकि प्रभु के बिना हमारा निर्वाह सम्भव नहीं। संयम का बांध बांधकर इस क्यारी को प्रभु-भक्ति के भरपूर जल से अभिसिंचित कर ले। वह अनुपम माली—आत्मा—इस शरीर रूपी वाग के अन्तर्गत ही रहता है जो दिन रात भक्ति पालन में तत्पर रहता है। यह माली वाग को उर्वर करने वाला कभी भी नहीं सोता। इस खेती की सिंचाई के लिए सहज का अत्यन्त शीतल और मधुर जल वाला कुआ है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि इस खेती के रक्षक स्वयं ही भगवान् हैं, इसकी कोई हानि नहीं कर सकता।

गुरु ने सदुपदेश का बीज इस वाग में जमाया था। मन की चंचलता ने उसे विनष्ट कर दिया। जौहरी पारखी ही इस बीज को पहचान सकते हैं शेष तो मूल्य को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रभु भक्ति को घर ले आये तो समस्त कामनाएं परिपूर्ण हो जाती हैं। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! मैं इस तथ्य का कथन करते-करते हार गया किन्तु फिर भी संसार अपनी विषय-वासनाओं में रति नहीं छोड़ता।

राजा राम बिना तकती धो धो।
राम बिनां नर क्यूं छूटौगे चम करै नग धा धो धो ॥टेक॥
मुद्रा पहरयां जोग न होई घूंघट काढ़यां सती न कोई ॥
माया के संगि हिलि मिलि आया फोकट साटै जनम गंवाया।
कहै कबीर जिनि हरि पद चीन्हां मलिन प्यंड थैं निरमल कीन्हां ॥२१७॥

ईश्वर के बिना इस संसार में व्यर्थ-परिश्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काल—मृत्यु—तुम्हें बारम्बार परेशान करेगी बिना राम के भला कैसे उससे मुक्ति होगी।

मुद्रा धारण कर लेने मात्र से ही कोई साधु-योगी—नहीं बन जाता जैसे घूंघट काढ़ लेने मात्र से किसी नारी में सतीत्व नहीं आ जाता। जो मनुष्य माया के साथ प्रेम करके रहा उसने तो अपना जीवन वृथा ही गंवा दिया। कबीर कहते हैं कि जिन्होंने प्रभु के चरणों को पहचान लिया उन्होंने इस पाप मलिन शरीर को पुण्य-धाम बना दिया।

है कोई राम नाम बताव वस्तु अगोचर मोहि लखावे ।।टेक।।
राम नाम सब कोई बखानें राम नाम मरम न जानें ।।
ऊपर की मोहि बात न भावे देखें गावें तौ सुख पावें।
कहै कबीर कछू कहत न आवे परचै बिनां मरम को पावें ।।२१८।।

ऐसा कौन इस संसार में है जो मुझे राम-नाम का मर्म समझाकर उस अगोचर वस्तु को प्राप्त करा दे। राम नाम का गुणगान तो सब कोई करता है किन्तु उसके रहस्य से सब अनभिज्ञ हैं। कबीर कहते हैं कि मुझे बाह्याडम्बर, भक्ति के दौंग से बहुत घृणा है, उस प्रभु के गुणगान और दर्शन से ही वास्तविक सुख प्राप्त होगा है। उसका रहस्य बिना साक्षात्कार के बताना असम्भव ही है।

गोब्यंदे तू निरंजन तू निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया ।।टेक।।
समद नाहीं सिषर नाहीं धरती नाहीं गगनां।
रवि ससि दोउ एकै नाही बहत नाहीं पवनां ।।
नाद नाहीं ब्यंद नाहीं काल नहीं काया।
जब तैं जल ब्यंब न होते तब तू ही राम राया ।।
जप नाहीं तप नाहीं जोग ध्यान नहीं पूजा।
सिव नाहीं सकती नाहीं, देव नहीं दूजा ।।
रुग न जुग न स्याम अथरबन बेद नहीं ब्याकरनां।
तेरी गति तू ही जांनें कबीरा तौ सरनां ।।२१९।।

हे ईश्वर! तू निरंजन है तू साधारण नेत्रों से न देखे जाने के कारण अगम्य निरञ्जन है। तेरा कोई रूप आकार, मुख मुद्रा नहीं माया का भी तुम पर प्रभाव नहीं। तू न तो समुद्र है न पर्वतशिखर न पृथ्वी एवं तू सूर्य-चन्द्र दोनों में न एक भी नहीं है, न वायु ही तू है। न न नाद है न मृत्यु और न शरीर। जब सृष्टि में जल आदि की भी सत्ता नहीं थी तब है प्रभ तूसही था परमेश्वर था। न न जप-तप

बोध ध्यान अथवा पूजा से प्राप्य है। तू न शिव है और न शक्ति—न इसके अति-रिक्त अन्य कोई देवता है। न तू ऋग्, यजु, अथर्व और सामवेद और न व्याकरण में से ही तू कोई है। हे प्रभु ! आपकी गति केवल आप ही जानते हैं कबीर तो आप की शरण में पड़ा हुआ है।

राम के नांइ नीसांन बागा, ताका मरम न जानै कोई।
भूख त्रिषा गुण वाकै नांही, घट घट अंतरि सोई ॥टेक॥
वेद बिबर्जित भेद बिबर्जित, बिबर्जित पाप र पुन्यं।
ग्यान बिबर्जित ध्यान बिबर्जित, बिबर्जित अस्थूल सुन्यं ॥
भेष बिबर्जित भीख बिबर्जित, बिबर्जित डिंभक रूपं।
कहै कबीर तिहूं लोक बिबर्जित, ऐसा तत्त अनूपं ॥२ ॥

यहां कबीर ईश्वर के अद्भुत स्वरूप का कथन करते हुए कहते हैं कि प्रभु राम का कोई चिह्न है ही नहीं उसका रहस्य कोई नहीं जानता। उस न भूख-प्यास व्यापती है। वह तो प्रत्येक हृदय में बसा हुआ है। वह वेद भेद एवं पाप-पुण्य की परि-भाषाओं से अलग है। ज्ञान ध्यान स्थूल एवं सूक्ष्म इन परिधि से भी वह दूर है। बाह्याडम्बर भिक्षाटन दम्भ आदि के स्वरूप से भी वह प्राप्य नहीं हो सकता। कबीर कहते हैं कि वह ब्रह्म तो ऐसा अनुपम विचित्र है कि वह तीनों लोकों से अनोखा है।

राम राम राम रमि रहिए, साषित सेती भूलि न कहिये ॥टेक॥
का सुनहां कौ सुमृत सुनायें, का साषित पैं हरि गुन गाये।
का कऊवा कौ कपूर खवाये, का बिसहर कौं दूध पिलाये ॥
साषित सुनहां दोऊ भाई, वो नींदै वो भौंकत जाई।
अंमृत लै लै नींब स्यंचाई, कहै कबीर वाकी बानि न जाई ॥१११॥

साषित=शाक्त। सेती=शक्ति। सुनहां=श्वान। सुमृत=स्मृति। बिसहर=विषधर।

कबीर कहते हैं कि हे शाक्त ! तुम भूलकर भी शक्ति का जप मत करो सर्वत्र राम-नाम में अपनी वृत्ति रमाये रहो। जिस भांति श्वान को स्मृति सुनाने का कोई लाभ नहीं उसी प्रकार शाक्त के सम्मुख प्रभु-गुण गान का कोई महत्व या अर्थ नहीं। उसके सम्मुख यह ऐसे ही निरर्थक है जिस भांति कौए को कपूर जैसी सुगन्धित वस्तु खिलाने से वह अपना दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ता तथा सर्प दूध पिलाने से दंशन करना नहीं छोड़ता। शाक्त और श्वान दोनों एक जैसे ही हैं शाक्त दूसरों की निन्दा में सर्वदा भीगता रहता है कुत्ता भी भौंकता है। चाहे इसे कितना ही प्रभु भक्ति का अमृत दिया जाय किन्तु उसकी आदत नहीं छूटती।

विशेष—१ उदाहरण अलंकार। २ कबीर की तीव्र शाक्त विरोधी भावना यहाँ स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई है।

अब न बसूं इहि गांइ गुसांई
तेरे नेवगी खरे सयांनें हो रांम ॥टेक॥
नगर एक तहाँ जीव धरम हता बसैं जु पंच किसानां।
नैनूं निकट श्रवनूं रसनूं इंद्री कह्या न मांनें हो रांम ॥
गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै काइथ खरच न पार।
जोरि जेवरी खेति पसारै सब मिलि मोकौं मार हो रांम ॥
खोटो महतो बिकट बलाही सिर कसदम का पार।
बुरो दिवांन दादि नहिं लागै इक बांधै इक मार हो रांम ॥
धरमराइ जब लेखा मांग्या बाकी निकसी भारी।
पांच किसांनां भाजि गये हैं जीव धर बांध्यौ पारी हो रांम ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो हरि भजि बांधौ भेरा।
अब की बेर बकसि बंदे कौं सब खत करौं नबेरा ॥२२३॥

हे प्रभु ! मैं आपके सम्मुख प्रार्थना करता हूं कि इस संसार रूपी ग्राम में पुन नहीं बसूं गा। यहां रहकर जीवात्मा का धर्म नष्ट हो गया है। उस नगर में पांच विषयों के रूप में पांच कृषक वास करते हैं। इन्द्रियां मेरा कहना मानती ही नहीं वे दौड़-दौड़ कर इन विषयों में लिप्त रहती हैं। गांव का स्वामी काल इस शरीर रूपी ग्राम को नाप रहा है और कायस्थ-पटवारी भी अपना हिस्सा नहीं छोड़ता। जर्जर बन्धनों की रज्जु में ये मेरे अस्तित्व को बांध रहे हैं—इस प्रकार हे राम ! ये सब मिलकर मुझे मारे दे रहे हैं। इस गाँव का मुकद्दम और अन्य कर्मचारी भी दुर्जन हैं जो आसामी को मार कर ही छोड़ेंगे। पुलिस के जो दीवान हैं वे भी दुराग्रही हैं जो इन आततायियों से मुझ नहीं बचाते रक्षक ही भक्षक हैं। मृत्यु होने पर जब धर्मराज ने कर्मों का लेखा-जोखा देखा तो मेरी ओर बहुत हिसाब निकला। इस स्थिति को देखकर पांच विषयों के कृषक भाग गये हैं।

कबीर कहते हैं कि हे सज्जनो ! साधुओ ! प्रभु का स्मरण करते हुए इस जीवन-बेड़ा को बांध लो। हे प्रभु ! अबकी बार मुझे क्षमा कर दो दया-दान दे दो तो मैं पिछला समस्त हिसाब सत्कर्मों से चुकता कर दूंगा।

विशेष—१ सांगरूपक अलंकार।

२ सूर से तुलना कीजिए—

"अबकी राखि लेहि भगवान।
...

अबकी बेर बकसि ... (see below)

"अबकी बाकस मोहि उबारो।
अगम ही अब-अपुनिधि में कृपासिंधु मुरारी ॥

नीर अति गम्भीर माया लोभ लहरि तरंग ।
लिए जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग ॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत मोट अघ सिर भार ।
पग न इत-उत धरन पावत उरझि मोह सिवार ॥
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर ।
नहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर ॥
थक्यो बीच बेहाल बिह्वल सुनहु करुनामूल ।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु 'सूर' ब्रज के कूल ॥

इसी प्रकार अन्य भक्तों ने इस जन्म की दारुण व्यथा दिखाते हुए प्रभु से एक बार उद्धार कर देने की कामना की है ।

ता मै प मन लागो राम तोही करौ कृपा जिनि बिसरौ मोही ।।टेक।।
जननी जठर सह्या दुख भारी सो संख्या नहीं गई हमारी ॥
दिन दिन तन छीजै जरा जनावै, केस गहैं काल बिरदंग बजावै ॥
कहै कबीर करुणामय आगै तुम्हारी क्रिपा बिना यहु बिपति न भागै ॥२१२॥

जठर=उदर । छीजै=नष्ट होना है । जरा=वृद्धावस्था । बिरदंग=मृदंग ।

हे प्रभु ! मैं इस संसार-ताप भय से आपका आश्रय ग्रहण कर रहा हूँ । दयामय दया कीजिए । मातृ उदर में बारम्बार ताप और दुख सहता हूँ किन्तु फिर भी यह संसार संचय नष्ट नहीं होता । दिन प्रतिदिन यह शरीर क्षीण होता हुआ वृद्धावस्था के आगमन की सूचना देता है और मृत्यु सर्वदा इस पर छायी हुई आनन्द मना रही है । कबीर दीनबन्धु प्रभु के सम्मुख यह प्रार्थना करता है कि आपकी अनुकम्पा बिना यह दारुण-दुख दूर नहीं होगा अतः कृपा करो ।

कब देखूं मेरे राम सनेही जा बिन दुख पावै मेरी देही ।।टेक।।
हूँ तेरा पंथ निहारूं स्वामी कब रमिलहुगे अंतरजामी ।
जैसे जल बिन मीन तलपै ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥
निस दिन हरि बिन नींद न आवै दरस पियासी राम क्यूं सचुपावै ।
कहै कबीर अब बिलंब न कीजै अपनों जानि मोहि दरसन दीजै ।।२१३।।

हे प्रभु ! मैं आपके दर्शन कब प्राप्त कर सकूँगा आपके अभाव में यह शरीर अत्यन्त कष्टों का अनुभव कर रहा है । मैं आपका मार्ग कभी से जोह रहा हूँ । हे प्रभु आप कब दर्शन देंगे ? जिस भांति जल के अभाव में मछली व्याकुल होती है वही स्थिति मेरी आपके अभाव में है । मुझे अहर्निश प्रभु-दर्शन के बिना नींद नहीं आती है । भला जो स्वामी के दर्शन की भूखी है वह शान्ति लाभ कैसे करेगी ?

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मुझे अपना ही जानकर अब दर्शन देने में देरी मत कीजिए ।

सो मेरा रांम कबै घरि आवै, ता देखें मेरा जिय सुख पावै ।।टेक।।
बिरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूं होइ सराई ।।
निस बासुर मन रहै उदासा, जैसे चातिग नीर पियासा ।
कहै कबीर अति आतुरताई, हमकौं बेगि मिलौ रांमराई ।।२२५।।

कबीर अपनी आत्मा के माध्यम से कहते हैं कि हे मेरे स्वामी राम ! आप कब मुझे दर्शन देंगे जिससे मेरा मन आह्लादित हो जायेगा । यह शरीर विरहाग्नि से दग्ध हो रहा है, दर्शन के बिना यहाँ शीतलता शान्ति सम्भव नहीं । जिस प्रकार चातक स्वाति नक्षत्र के जल के लिए तृषित रहता है उसी भाँति मेरा मन प्रभु दर्शन के लिए बेचैन रहता है । कबीर विह्वलतर होकर मनुहार करते हैं कि हे प्रभु ! मुझे शीघ्र दर्शन दो ।

मैं सासने पीव गौंहनि आई ।
सांई संगि साध नहीं पूगी गयौ जोबन सुपिनां की नांई ।।टेक।।
पंच जनां मिलि मंडप छायौ तीनि जनां मिलि लगन लिखाई ।
सखी सहेली मंगल गावैं सुख दुख माथै हलद चढ़ाई ।।
नांनां रंगैं भांवरि फेरी गांठि जोरि बावै पति ताई ।
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह चौक कै रंगि धर्‌यौ सगौ भाई ।।
अपने पुरिष मुख कबहूं न देख्यौ सती होत समझी समझाई ।
कहै कबीर हूं सर रचि मरि हूं तिरौं कंत ले तूर बजाई ।।२२६।।

कबीर आत्मा से कहलाते हैं कि मैं इस संसार रूपी श्वसुर गृह में नवपरिणीता वधू के रूप में आई थी किन्तु कभी भी मेरा अपने स्वामी (प्रभु) से साक्षात्कार नहीं हुआ । यह आयु (यौवन) यूं ही बीत गई । यद्यपि मेरा सांसारिक रीति से विवाह हुआ था किन्तु साक्षात्कार आज तक नहीं हुआ । पांचों इन्द्रियों ने मिलकर विवाह मण्डप रचाया था और तीनों गुणों ने लग्न लिखी थी । सांसारिक साथियों ने मिलकर मंगल गान इस विवाहोत्सव पर गाये थे और मेरे शरीर पर सुख दुख की हल्दी चढ़ा दी थी । अनेक रंगों की परिक्रमाएं कर गठबन्धन आदि की समस्त क्रियाएं सम्पूर्ण की । चौक के रंगों का रूप भाई ने रचा था । इस भांति बिना पति के ही विवाह की समस्त क्रियाएं सम्पन्न कर दी गईं । इस आत्मा ने अपने स्वामी का मुख देखने का सौभाग्य कभी भी प्राप्त नहीं किया है । कबीर कहते हैं कि हे आत्मा ! अब ऐसे सुकर्म कर कि संयम वाद्य बजाकर प्रियतम का स्वागत कर सके ।

धीरैं धीरैं खाइबौ अनत न जाइबौ राम राम राम रमि रहिबौ ।।टेक।।
पहली खाई आई माई पीछैं खैहूं सगौ जवाई ।
खाया देवर खाया जेठ सब खाया सुसर का पेट ।।
खाया सब पटण का लोग कहै कबीर तब पाया जोग ।।२२७।।

कबीर कहते हैं कि 'राम राम' जपने से ही जीव का कल्याण होगा इसलिए अपने सांसारिक सम्बन्धों को तो धीरे-धीरे समाप्त करना ही श्रेयस्कर है ।

पहले जीवात्मा ने माया (अपनी माँ क्योंकि जीव माया सृष्टि है) को समाप्त किया तदनन्तर उससे उत्पन्न विषय-वासना के जितने भी आकर्षण थे उनको समाप्त कर दिया । देवर, जेठ श्वसुर—जितना भी माया का परिवार था उसको समाप्त कर ही भक्तात्मा ने प्रभु-भक्ति योग को प्राप्त किया है ।

मन मेरौ रहटा रसनां पुरइया
हरि कौ नाउं लै लै काति बहुरिया ।।टेक।।
चारि खूंटी दोइ चमरख लाई सहजि रहटवा दियौ चलाई ।।
सासू कहै काति बहु ऐसै बिन कातैं निसतरिबौ कैसै ।
कहै कबीर सूत भल काता रहटां नहीं परम पद दाता ।।२२८।।

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित करके कहते हैं कि हे बहू ! तू प्रभु का नाम ले-ले कर भक्ति का सूत कात । मेरा मन ही चरखे का घेरा है जिस पर जिह्वा की माल चढ़ी हुई है । चारों पदार्थों की खूटों के रूप में स्थापित कर दोनों लोकों की चमरख लगायी है और 'सहजसमाधि' की फेरी को चला दिया है । गुरु जिस आत्मा को कहते हैं कि तू इस भांति भक्ति का सूत कात बिना इसे काते तेरा उद्धार सम्भव नहीं । कबीर कहते हैं कि हे आत्मा ! तू इस सूत को कात ले मन के वश में मत पड़ मन रूपी रहट (घेरा) परमपद का दाता नहीं उसकी प्राप्ति तो भक्ति से होती है ।

विशेष—सांगरूपक रूपक रूपकातिशयोक्ति अलंकार ।

अब की घरी मेरी घर करसी साध संगति लै मोकौं तिरसी ।।टेक।।
पहली कौ घाल्यौ भरमत डोल्यौ सच कबहूं नहीं पायौ ।
अब की धरनि धरी जा दिन थैं सगलौ भरम गमायौ ।।
पहली नारि सदा कुलवंती सासू सुसरा मानैं ।
देवर जेठ सबनि की प्यारी पिय कौ मरम न जानैं ।।
अबकी धरनि धरी जा दिन थैं पीय सूं बांन बन्यूं रे ।
कहै कबीर भाग बपुरी कौ आइ र राम सुन्यूं रे ।।२२९।।

कबीर कहते हैं कि अब मैं साधु-संगति से इस भवसागर से तर जाऊंगा और अपने वास्तविक घर पहुंच जाऊंगा। मैं अपने पहले किये हुए कुकर्मों के बल पर ही इस संसार में भ्रमित हो रहा हूं और सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पा रहा हूं किन्तु अब जिस समय मैंने प्रभु-भक्ति का संकल्प किया है मेरा समस्त भ्रम विदूरित हो गया है साधक आत्मा बड़ी सती होती है जो प्रिय का ही ध्यान करती हुई गुरुजनों का भी सम्मान करती है किन्तु यह सांसारिक आत्मा प्रियतम (प्रभु) की चिन्ता न करती हुई वासना में लिप्त रहती है। यह पहली साधक आत्मा का ही भाग्य होता है कि प्रभु उससे मिलते हैं।

मेरी मति बौरी रांम विसार्‌यौ किहि विधि रहनि रहूं हो दयाला।
सर्जें रहूं मैंन नहीं देखौं यहु दुख कासौं कहूं हो दयाल ॥टेक॥
सासु की दुखी सुसर की प्यारी जेठ के तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली देवर कै बिरह जरौं हो दयाल ॥
बाप सावको करै लराई माया सद मतिवालो।
सगौ भईया लै सलि चढिहूं तब ह्वै हूं पीयहि पियारी ॥
सोचि विचारि देखौ मन मांही औसर आइ बन्यू रे।
कहै कबीर सुनहु मति सुंदरि राजा रांम रमूं रे ॥२१ ॥

कबीर कहते हैं कि हे दीनबन्धु ! मैं किस भांति जीवन-धारण करूं। यह कैसी विडम्बना है कि आप सदैव समीप रहते हो किन्तु आपका दर्शन नहीं होता इस व्यथा-कथा को किससे कहा जाय। यह आत्मारूपी दुलहिन मायारूपी सास से तो दुखी है किन्तु प्रभु-रूप स्वसुर की प्यारी है एवं त्रास के कारण ही यह घर-घर कांपती है। सखियां इसे वासना पथ पर चलने को प्रेरित करती हैं किन्तु यह किसी और के ही प्रेम में घुली जा रही है। यह माया अपने जन्म देने वाले पिता—प्रभु से ही विरोध ठान रही है। यह आत्मा मायाजन्य आकर्षणों को चाहे वे भाई तुल्य ही प्रिय क्यों हों जब तक मार नहीं देती तब तक प्रियतम को प्रिय नहीं हो सकती। कबीर कहते हैं कि मन में भली भांति सोच समझ कर देख लो यह इस जन्म के रूप में प्रभु भक्ति का अवसर आ गया है। इसलिए प्रभु का भजन करो।

विशेष—१ रूपक अन्योक्ति विरोधाभास।

२ टेक की तीसरी पंक्ति में विद्यापति के भाव की तुलना कीजिए—

"एकहि पलंग पर कान्ह रे, मोर लेख दूर देस भान रे।"

अबधू ऐसा ग्यांन बिचारी तायें भई पुरिष थें नारी ॥टेक॥
नां हूं परनी नां हूं क्वारी पूत जन्यूं द्यौ हारी।
कासी मूंड की एक न छोड़्यौ अजहूं अकल क्वारी ॥

बाम्हन के बम्हनेटी कहियौं जोगी के घरि चेली।
कलमां पढ़ि पढ़ि भई तुरकनी अजहूं फिरौं अकेली॥
पीहरि जांऊं न रहूं सासुरै पुरषहि अंगि न लांऊं।
कहै कबीर सुनहु रे संतो अगहि अंग न छुवांऊं॥२११॥

परनीं=परिणीता। क्वारी=कन्या।

हे अवधूत! तू इस रहस्य को समझने की चेष्टा करो जिससे ब्रह्म परम पुरुष होते हुए भी माया रूप में क्यों सृष्टि करता है? यह वैसा ही है जैसे कि स्त्री न तो परिणीता है और न क्वारी किन्तु फिर भी पुत्र को जन्म देती है। इस माया ने किसी भी मनुष्य को धर्मनिष्ठ नहीं रहने दिया किन्तु फिर भी यह आज भी क्वारी ही है। यह ढोंगी पण्डितों के घर तो अपना पूर्ण प्रभुत्व जमा लेती है किन्तु ज्योति-स्वरूप परमात्मा की साधना में लगे हुए साधक की यह चेरी मात्र है। यह शास्त्र ग्रन्थों को भी पढ़कर व्यभिचार नहीं छोड़ती। आत्मा कहती है कि अब मैं इस संसार रूपी श्वसुर गृह में नहीं रहना चाहती अपने प्रभु के लोक—पीहर—को जाना चाहती हूं। इसलिए मैं अब तनिक भी विषय-वासना में नहीं पड़ूंगी। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो अब मेरी आत्मा पूर्ण निर्मल रहेगी जिससे प्रभु से मिलन हो सके।

मीठी मीठी माया तजी न जाई अग्यानी पुरिष कौं भोलि भोलि खाई ॥टेक॥
निरगुण सगुण नारी संसारि पियारी लषमणि त्यागी गोरषि निवारी।
कीड़ी कुंजर मैं रही समाई तीनि लोक जीत्या माया किनहूं न खाई॥
कहै कबीर पद लेहु बिचारी संसारि आइ माया किनहूं एक कही षारी॥२१२॥

कबीर कहते हैं कि ऊपर से मीठी-मीठी इस माया का परित्याग करते नहीं बनता। अज्ञानी मनुष्य को तो यह भोला समझ-कर खूब नष्ट करती है। यह निर्गुण और सगुण रूप माया बड़ी भयानक है। लक्ष्मण और गोरखनाथ ही केवल इसको त्याग चुके हैं। इसने तीनों लोकों को विजित कर चिऊंटी से हाथी जैसे बड़े पदार्थ तक में अपना अस्तित्व बना रखा है किन्तु इसे कोई समाप्त नहीं कर सका। कबीर कहते हैं कि यह खूब अच्छी भांति समझ लो कि संसार में आकर माया से विरले ही बचते हैं।

मन के मैलौ बाहरि ऊजलौ किसौ रे
खांडे की धार जन कौ धरम इसौ रे ॥टेक॥
हिरदा कौ बिलाव नैन बग ध्यानी।
ऐसी भगति न होइ रे प्रांनी॥
कपट की भगति करै जिन कोई।
अंत की बेर बहुत दुख होई॥

छांडि कपट भजौ राम राई।
कहै कबीर तिहूँ लोक बडाई ॥२१३॥

यदि मन विषय-वासना विकारों से दूषित है तो शरीर को उज्ज्वल रखने से क्या लाभ ? अन्तर और बाह्य—दोनों की ही शुद्धता वांछनीय है। भक्त का कर्तव्य 'तलवार की धार पै धावनो' है।

हृदय में कपट रखते हुए बगला भक्त के समान नेत्र मूंदे से भक्ति-साधना नहीं होती। जो भक्ति में कपटपूर्ण व्यवहार करता है, अन्ततः उसे दारुण दुख उठाने पड़ते हैं। यदि कपट छोड़कर प्रभु राम का भजन किया जाय तो भक्त का यश तीनों लोकों में फैल जाता है।

जौलौं वनज व्यौपार करीजै
आइलैं दिसावरि रे राम जपि लाहौ लीजै ॥टेक॥
जब लग देखौं हाट पसारा उठि मन वणियाँ रे, करि ले वणज सवारा।
बेगि हो तुम्ह लाद लदांनां औघट घाटा रे चलनां दूरि पयांनां॥
खरा न खोटा नां परखानां लाहे कारनि रे सब मूल हिरांनां।
सकल दुनी मैं लोभ पियारा मूल ज राखै रे सोई वनिजारा॥
देस भला परिलोक बिरांनां जन दोइ चारि नरे पूछौ साध सयांनां।
सायर तीर न वार न पारा कहि समझावै रे कबीर वणिजारा ॥२१४॥

कबीर जीवात्मा की तुलना वणिक् से करते हुए कहते हैं कि इस विदेश (संसार) में आकर सत्कर्मों का व्यापार करना ही श्रेयस्कर है अतः हे वणिक (जीव) तुम राम नाम जपो। शीघ्रता-पूर्वक तुम अपना सामान बाँध लो भक्ति कर्म कर लो क्योंकि तुम्हारा लक्ष्य दूर है और साधना की विकट पगडंडी के द्वारा तुम्हें वहाँ जाना होगा। इस संसार में तुमने लाभ के लोभ में खरे-खोटे कर्मों की कुछ भी पहचान न की जिस से लाभ के स्थान पर पूर्वसंचित सत्कर्मों का मूलधन भी गवा बैठे। समस्त संसार लोभ के वशीभूत है जो कोई प्रभु-भक्ति के मूलधन की रक्षा करता है वही वास्तविक भक्त है। जिन दो चार सज्जनों से परामर्श किया उन्होंने यही सद्विचार बताया कि अपना देश ही अच्छा है। यह विदेश तो बाधाओं एवं व्यथाओं से परिपूर्ण है। भक्त कबीर समझाते हुए कहते हैं कि शूरवीर का तीर या तो पार ही कर देता है अन्यथा वे वार ही नहीं छोड़ते। भाव यह है कि ऐसी भक्ति करो जो इस संसार सागर से पार हो अपने वास्तविक देश—प्रभु-लोक—में पहुंच जाओ।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

जौ मैं ग्यांन बिचार न पाया
तौ मैं यौंही जन्म गंवाया ॥टेक॥

यहु संसार हाट करि जानि सबको बणिजण आया।
चेति सकै सो चेतौ रे भाई मूरिख मूल गंवाया॥
थाके नैन बैन भी थाके थाकी सुंदर काया।
जामण मरण ए द्वै थाके एक न थाकी माया॥
चेति चेति मेरे मन चंचल जब लग घट में सासा।
भगति जाव पर भाव न जइयो हरि के चरन निवासा॥
जे जन जानि जपं जग जीवन तिनका ग्यांन न नासा।
कहै कबीर वै कबहूं न हारैं जानि न ढारैं पासा॥२१५॥

यदि मैंने ज्ञान एवं मनन-चिन्तनपूर्ण विचार को प्राप्त न किया तो मेरा यह जन्म व्यर्थ ही चला जायगा। यह संसार तो एक बाजार—हाट है। यहाँ सब कर्म-व्यापार करने आये हैं। हे जीव! यदि तू इस विषय-वासना पूर्ण संसार में सावधान हो प्रभु का भजन कर सके तो ठीक है अन्यथा अज्ञानियों ने अपने पूर्व संचित सत्कर्मों के मूलधन को भी गंवा दिया है। यह सुन्दर शरीर, नयन तथा वाणी सभी कुछ परिश्रान्त और क्लान्त हो चुकी है जन्म-मरण के चक्र में पड़ जीव ऊब गया है किन्तु माया फिर भी पराजित नहीं हुई। हे मेरे चंचल मन! तू प्राणों के रहते सावधान हो जा। हरि चरणों की शरण और भक्ति भाव के बिना माया प्रभाव दूर नहीं हो सकता। जो भक्त-जन संसार की स्थिति को जानते हुए करुणामय का भजन करते हैं उनका ज्ञान नष्ट नहीं होता। वे कभी भी इस माया से पराजित नहीं होते और पुनः इस भव-बंधन में नहीं पड़ते।

भाई बाबा आगि जलावौ घरा रे
ता कारनि मन धंधै जरा रे॥टेक॥
इक डाइनि मेरे मन मैं बसै रे, नित उठि मेरे जीय कौं डसै रे।
या डाइन्य के लरिका पांच रे, निस दिन मोहि नचावैं नाच रे॥
कहै कबीर हू ताकौ दास डाइनि कै संगि रहै उदास॥२१६॥

कबीर कहते हैं कि भाइयो! मुझे अग्नि ला दो आज मैं इस गृह को भस्मसात् कर दूं जिसके कारण मन सर्वदा बन्धन में पड़ा रहा है।

मेरे मन में एक माया रूपी डाकिनी का वास है जो नित्य उठ कर मन को सालती है। इस माया-डाकिनी के पांच पुत्र—पांच विषय अथवा पंच विकार—(काम क्रोध मद लोभ मोह) हैं जो अहर्निश मुझे अपने जाल में फांसे रहते हैं। कबीर कहते हैं कि मैं उस भक्त का दास हूं जो इस माया डायन से उदासीन रहता है उसके प्रभाव में नहीं आता।

बंदे तोहि बंदिगी सौं कांम हरि बिन जांनि और हरांम।
दूरि चलणां कूंच वेगा, इहां नहीं मुकांम ।।टेक।।
इहां नहीं कोई यार दोस्त गांठि गरथ न दाम।
एक एकै संगि चलणां बीचि नहीं बिश्राम।
संसार सागर विषम तिरणां सुमरि ले हरि नांम ।।
कहै कबीर तहां जाइ रहणां नगर बसत निधांम ।।२१७।।

हे जीवात्मा ! तुझे तो प्रभु-भक्ति से ही प्रयोजन है। ईश्वर के अतिरिक्त और सबको तो तू वृथा-जंजाल जान। तुझे अभी दूर जाना है, संसार तीर्थ में ही नहीं रुक जाना है क्योंकि तेरी मंजिल यहां नहीं है। इस संसार में तेरा कोई मित्र—हितैषी नहीं है सब स्वार्थ के सम्बन्धी हैं तथा तेरे पास कुछ भी सम्पत्ति नहीं है जिसके आधार पर तू अपना लक्ष्य प्राप्त कर सके। उस अपनी मंजिल की डगर पर तुझे अनवरत चलना होगा क्षणिक भी विश्राम का अवसर नहीं है। इस भवसागर को पार करना बड़ा कठिन है इसलिए ईश्वर-नाम का गुणगान कर ले। कबीर कहते हैं कि तुझे अपने उसी देश में जाकर रहना चाहिए जहां कृपानिधान ब्रह्म का वास है।

झूठा लोग कहैं घर मेरा।
जा घर मांहै बोले डोलैं सोई नहीं तन तेरा ।।टेक।।
बहुत बंध्या परिवार कुटंब मैं कोई नहीं किस केरा।
जीवत आंषि मूंदि किन देखौ संसार अंध अंधेरा ।।
बस्ती मैं थै मारि चलाया जंगलि किया बसेरा।
घर कौं खरच खबरि नहीं भेजीं आप न कीया फेरा ।।
हस्ती घोड़ा बैल बांहणी संग्रह किया घणेरा।
भीतरि बीबी हरम महल मैं साल मिया का डेरा ।।
बाजी की बाजीगर जांनैं के बाजीगर का चेरा।
चेरा कबहूं उझकि न देखै चेरा अधिक चितेरा ।।
नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक राम भजहु रे बहुरि न ह्वैगा फेरा ।।२१८।।

इस संसार में अज्ञानी लोग व्यर्थ ही यह उद्घोषणा करते हैं कि यह घर मेरा है। अरे मूर्ख ! घर में तेरा यह सुन्दर शरीर बोलता है और भ्रमण करता है वह शरीर भी तेरा नहीं है।

हे जीव ! तू इस संसार के परिवार आदि बंधन में बहुत बंध चुका है किन्तु वास्तव में कोई भी तेरा नहीं है। तुम जीवन्मुक्त स्थिति प्राप्त कर इस संसार को देख लो तो यह अंधकार पूर्ण ही ज्ञात होगा अथवा यदि तुम मरने को ही मर कर

देख लो तो थोड़े समय के पश्चात् तुम्हें कोई स्मरण नहीं करेगा। कुछ लोग संध त्याग विरक्त हो वन में आ जाते हैं। गृह की वे खबर तक नहीं लेते और फि उधर जाते भी नहीं किन्तु इस अवस्था में भी वे बन्धन मुक्त नहीं रहते।

सांसारिक व्यक्ति हाथी घोड़ा बैल आदि ऐश्वर्य और सम्पत्ति का संचय कर है। साथ ही अपने अन्तःपुर में विषय-वासना की पूर्ति के लिए सुन्दरी भी रखता है किन्तु भक्त इधर आँख उठाकर भी नहीं देखता क्योंकि वह इस माया-मोह से सावध रहता है। भक्ति साधना को या तो गुरु ही जानते हैं अथवा उनका शिष्य ही उस परिचित होता है। पंच विषय तीन गुण एवं एक मन का जो जंजाल है वही जी को जन्म-जन्म में आवागमन के चक्र में फांसता है। कबीर कहते हैं कि एक प्रभु ना के जपने से जीव आवागमन के चक्र में नहीं पड़ेगा।

विशेष—१ रूपक अनुप्रास रूपकातिशयोक्ति।

२ 'नौ मन सूत—पांच विषय—शब्द रूप रस गंध स्पर्श तीन गु—सत रज तम एवं मन से ही समस्त कुकर्मों का जंजाल खड़ा होता है, य इन्हें अपने वश में कर ले तो फिर वह मुक्त हो जाय।

हावड़ि धावड़ि जनम गवावै

कबहूं न राम चरन चित लावै ॥टेक॥

जहाँ जहाँ दाम तहाँ मन धावै अंगुरी गिनतां रैनि बिहावै।

तृषा का बदन देखि सुख पावै साध की संगति कबहूं न आवै॥

सरग के पंथि जात सब लोई सिर धरि पोट न पहुँच्या कोई।

कहै कबीर हरि कहा उबारै अपणैं पाव आप जौ मारै॥२११॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! इस आपाधापी में वासना कर्मों के प्रति व देखो तथा अनुरक्त रहने में ही तैंने अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर दिया है। जहाँ-जह धन प्राप्ति की आशा रहती मन वहीं भटकता रहता है और हिसाब लगाते-लगा ही तेरी रात्रि कटती है। सुन्दरी को देखने को प्रति समय लालायित रहता है कि साधुओं की संगति में तेरी वृत्ति नहीं रमती। शीश पर पाप-कर्मों का भार रख स्वर्ग लोक जाने का उपक्रम करते हैं किन्तु वहाँ तक पहुँच कोई नहीं पाता है। कबी कहते हैं कि प्रभु भी उसका उद्धार क्या करें जो स्वयं विषय-वासनाओं को पाप जानते हुए भी उनमें संलिप्त रहता है।

प्राणी काहे कै लोभ लागि रतन जनम खोयौ।

बहुरि हीरा हाथ न आवै राम बिना रोयौ॥टेक॥

जल बूंद थैं ज्यनि प्यंड बांध्या अगिन कुंड रहाया।

दस मास माता उदरि राख्या बहुरि लागी माया॥

एक पल जीवन की आश नाँही जम निहार साठा।
बाजीगर संसार कबीरा जानि ढारौ पासा ॥२४॥

हे मनुष्य तूने किस लोभ में पड़ इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट कर दिया है। यह मणितुल्य मानव जीवन पुनः प्राप्त नहीं होगा अब तू राम भक्ति बिना व्यथा-पीड़ित होता रह। उस प्रभु की लीला बड़ी विचित्र है जिसने वीर्य की एक बूँद से इस शरीर का निर्माण कर दस मास तक मातृ-उदर की जठराग्नि के अग्निकुण्ड में इसे सुरक्षित रखा किन्तु फिर भी तू उसे विस्मृत कर माया में पड़ा रहता है। यह स्थिति तो तब है जब एक क्षण के लिये भी जीवन-अस्तित्व की आशा नहीं क्योंकि प्रति श्वास पर यम का पहरा है—फिर भी तू सावधान हो प्रभु-भक्ति नहीं करता ? कबीर कहते हैं कि यह संसार तो बाजीगर के समान है जो इसमें मग्न रहता है वही इसके पाशों से विमुक्त हो सकता है।

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ।
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूल्यौ ॥टेक॥
जौ जारै तौ होइ भसम तन रहत क्रम ह्वै जाई।
काचै कुंभ उदक भरि राख्यौ तिनकी कौन बडाई ॥
ज्यू माखी मधु संचि करि जोरि धन कीनो।
मूयें पीछे लेहु लेहु करि प्रेत रहन क्यू दीनूं ॥
ज्यू पर नारी संग देखि करि तब लग संग सुहेली।
मरघट घाट खैंचि करि राखे वह देखहु हंस अकेली ॥
राम न रमहु मदन कहा भूले परत अंधेरे कूवा ॥
कहै कबीर सांई आप बंधायो ज्यू ललमा का सूवा ॥२४१॥

हे मनुष्य ! तू फूला फूला आह्लादित क्या घूम रहा है। जब दस मास तक मातृ उदर में व्यथा भोगी थी उसे क्यों विस्मृत कर बैठा ? यदि वह तब इस शरीर को भस्म करना चाहता तो आज कहीं पीछे से रूप में तुम्हारा अस्तित्व होता। वह ईश्वर तो इतना महान् है कि यदि चाहे तो बिना एक कच्चे घड़े में ही जल भर कर रख सकता है उसकी महिमा का वर्णन कहां तक किया जाय ? जिस भांति मधु मक्खी थोड़ा-थोड़ा करके बहुत सा मधु एकत्रित कर लेती है उसी भांति तुम प्रभु भक्ति को नित्य नाम-जप करके संचित कर लो। मरने के पश्चात् इस शरीर का कोई काम नहीं ? बुरे कर्मों को कर प्रेत योनि में पड़ना अच्छा नहीं। जो नारी प्रियतम से अमित प्रेम करती थी और साथ-साथ रहती थी वही श्मशान में इस शरीर को निकाल कर चिता पर रख देती है और आत्मा अकेली ही इस संसार से प्रस्थान करती है कोई सगा-सम्बन्धी उसके साथ नहीं जाता। जो व्यक्ति प्रभु स्मरण न करता हुआ विषय-वासना में संलिप्त रहता है, वह अज्ञान-कूप में पड़कर

आप ही बन्धन में उसी प्रकार पड़ जाता है जिस भाँति 'नलिनी का तोता' स्वयं ही भ्रम-रत रहता है।

विशेष—उपमा रूपक दृष्टान्त अलंकार।

जाइ रे दिन ही दिन देहा करि लै बौरी राँम सनेहा ॥टेक॥
बालापन गयौ जोबन जासी जुरा मरण भौ संकट आसी।
पलटे केस नैंन जल छाया मूरिख चेति बुढ़ापा आया॥
राँम कहत लज्या क्यूँ कीजै पल पल आव घटै तन छीजै।
लज्या कहै हूँ जम की दासी एकै हाथि मुदिगर दूजै हाथि पासी॥
कहै कबीर तिनहूँ सब हार्‌या राँम नाँम जिनि मनहु बिसार्‌या ॥२४२॥

बौरी=पागल। पलटे=परिवर्तित हो गये। लज्या=लज्जा। आव=आयु। मुग्दिर=मुगदर व्यायाम के लिये प्रयुक्त होता है।

कबीर कहते हैं कि हे पागल अज्ञानी मूर्ख मनुष्य! दिन व्यतीत हुए जाते हैं अतः प्रभु से प्रेम कर ले। शैशव व यौवन व्यतीत हो गये वृद्धावस्था भी बीतने वाली है और मृत्यु ऊपर खड़ी है। केश श्वेतता में परिवर्तित हो गये और नेत्रों की दृष्टि मन्द हो इनमें पानी बहने लगा है अज्ञानी! अब तो इस वृद्धावस्था के चिह्न जान सावधान होजा। तुम्हारी आयु प्रति पल घटती जा रही है राम-नाम के उच्चारण में लज्जा क्यों आती है? लज्जा तो तब आयगी जब यम-दासी मृत्यु के एक हाथ में इस जीवन को समाप्त करने के लिये मुगदर और दूसरे हाथ में पुनः आवागमन जाल में फँसाने के लिये बन्धन होगा। कबीर कहते हैं कि जिनके मन में राम-नाम आता है उनसे समस्त माया-आकर्षण परास्त हो जाते हैं।

मेरी मेरी करतां जनम गयौ
जनम गयौ परि हरि न कह्यौ ॥टेक॥
बारह बरस बालापन खोयौ बीस बरस कछू तप न कीयौ।
तीस बरस के राँम न सुमिर्‌यौ फिरि पछितानौं बिरध भयौ॥
सूकै सरवर पालि बँधावै लुणें खेत हठि बाड़ि करै।
आयौ चोर तुरंग मुसि ले गयौ मोरी राखत मुगध फिरै॥
सीस चरन कर कंपन लागे नैंन नीर अस राल बहै।
जिभ्या बचन सूध नहीं निकसै तब सुकरित की बात कहै॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ धन संच्यौ कछू संगि न गयौ।
आई तलब गोपाल राइ की मैड़ी मंदिर छाड़ि चल्यौ ॥२४३॥

हे मानव! मोह के अथवा अपने-पराये के फेर में पड़ तेरी समस्त आयु व्यतीत हो गई किन्तु फिर भी तूने प्रभु का नाम नहीं लिया। आयु के बारह वर्ष तो

माया ने मोह कर प्रेम का ऐसा बन्धन डाला कि मेरा (जीव का) सब ज्ञान और विचार हरण कर लिया। संसार स्वप्नवत् मिथ्या है किन्तु इसमें की सत्ता स्वप्न तुल्य भी नहीं है। हे जीवात्मा ! तू सत्य तत्व को भोठ सौंप दे सब कुछ प्रभु के ऊपर छोड़ दे। जिस प्रकार वानर पशु-बुद्धि के कारण अग्नि को नहीं देखता उसी भाँति कनकस्वरूप सुन्दरी पर मनुष्य दीवाना बना है, वह नहीं देखता कि वह काल-बन्धन में बंधा हुआ है। इसलिये विचार कर विचारों को त्याग उसी तरण-तारण प्रभु का स्मरण क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं है जो तेरे बेड़े को पार लगा दे।

ऐसा तेरा झूठा मीठा लागा सांचे साचे सू मन भागा ।टेक

झूठ के घर झूठा आया झूठा खान पकाया।
झूठी सहन क झूठा बाह्या झूठे झूठा खाया।।
झूठा ऊठण झूठा बैठण झूठी सबै सगाई।
झूठ के बरि झूठा राता साचे को न पत्याई।।
कहै कबीर अलह का पगुरा साचे सू मन लावी।
झूठे केरी संगति त्यागी मन वंछित फल पावो ।।२४६।।

हे मनुष्य तेरी वृत्ति मिथ्या आनन्दों में—विषयानन्दों में इतनी रमती है तुझे वास्तविक सत्यानन्द मिथ्या समझ लगा इसीलिये तू प्रभु-भक्ति नहीं करता तेरा समस्त अन्तर-बाह्य और वातावरण झूठ—विषय-वासना—से प्रेरित है रहता है। उठना बैठना और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध सब मिथ्या हैं। ठीक भी है जो वासना-अभिभूत हैं वे झूठ में ही अनुरक्त रहेंगे सत्य ब्रह्म का वे विश्वास तक करते। कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू ईश्वरांश है अतः उसी सत्य स्वरूप परम में अपना मन लगा। यदि तुम दुर्जनों की संगति का परित्याग कर दो तो मन-वां फल प्राप्त करोगे।

कौण कौण गया राम कौण कौणन जासी
पड़सी काया गढ़ माटी थासी ।।टेक।।
इंद्र सरीसे गये नर कोड़ी पांचौं पांडौं सरिषी जोड़ी।
धू अविचल नहीं रहसी तारा चंद सूर की आइसी बारा।।
कहै कबीर जग देखि संसारा पड़सी घट रहसी निरकारा ।।२

हे मनुष्य ! इस संसार से कौन-कौन चले गये और अभी कौन-कौन जा यह शरीर मृत्युपरान्त मिट्टी मे ही मिल जायगा। इन्द्र जैसे अधिपति और पाण्डव जैसे यशस्वी मनुष्य भी मृत्यु मुख में चले गये। पृथ्वी सूर्य चन्द्र नक्षत्र भी तो संसार मे अचल नहीं है। कबीर कहते हैं कि संसार की क्षणभंगुरता दे हृदयस्थित निराकार ब्रह्म की अर्चना करो।

तामें सविये नारांइणां
प्रभू मेरे दीनदयाल दया करणा ॥टेक॥
जौ तुम्ह पंडित आगम जांणौं बिद्या ब्याकरणां।
तत मंत सब औषधि जांणौं अति तऊ मरणां॥
राज पाठ स्यंघासण आसण बहु सुंदरि रमणां।
चंदन चीर कपूर बिराजत अति तऊ मरणां॥
जोगी जती तपी सन्यासी बहु तीरथ भरमणां।
लुंचित मुंडित मौनि जटाधर अति तऊ मरणां॥
सोचि बिचारि सबै जग देख्या कहूं न ऊबरणां।
कहै कबीर सरणाई आयौ मेटि आमन मरणां ॥२४८॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं आपकी वन्दना करता हूं अतः दीनदयाल आप मुझ पर अनुकम्पा करना। हे पंडित चाहे तुम आगम निगम व्याकरण आदि शास्त्र ग्रंथों में निष्णात हो किन्तु अन्त में मरना तुम्हें भी होगा। तन्त्र मन्त्र एवं औषधि आदि समस्त रखी रह जाती हैं। राज्य वैभव सिंहासन आसन बहुत सी सुन्दरियां जो चन्दन कपूर के अंगराग लगाकर सुन्दर वस्त्र पहनती हैं—जिनके पास ये सब साधन हैं अन्त में उन्हें भी मरना होगा। योगी यती तपस्वी आदि जो बहुत से तीर्थों का भ्रमण करते हैं तथा जैन साधु, मौनधारी जटाधारी जो भी हैं—उन्हें भी मरना होगा। कबीर कहते हैं कि मैंने भली भांति विचार कर देख लिया है कि कोई भी संसार-परिपाटी से ऊपर नहीं है। मैं तो आपकी शरण में आ गया हूं अतः मेरा आवागमन छुड़ा मुझे मुक्त कर दो।

पंडित न करसि बाद बिबादं
या देही बिन सबद न स्वादं ॥टेक॥
खंड ब्रह्मंड खंड भी माटी माटी नवनिधि काया।
माटी खोजत सतगुर भेट्या तिन कछू अलख लखाया॥
जीवत माटी मूवा भी माटी देखौ ग्यांन बिचारी।
अंति कालि माटी मैं बासा लेटैं पांव पसारी।
माटी का चित्र पवन का थंभा ब्यंद संजोगि उपाया।
भांनैं घड़ै संवारै सांई यहु गोब्यंद की माया।
माटी का मंदिर ग्यान का दीपक पवन बाति उजियारा।
तिहिं उजियारै सब जग सूझै, कबीर ग्यांन बिचारा ॥२४९॥

हे पंडित ! व्यर्थ शास्त्रार्थ मत कर। इस शरीर के रहते हुए ही मन सदीन और स्वाद तथा अन्य विषयों में लिप्त होता है। यह सृष्टि सुन्दर शरीर और सृष्टि

की प्रत्येक वस्तु मिट्टी ही है। इस मिट्टी के बनाने वाले को खोजने की चाह से ही सद्गुरु के दर्शन हुए जिनकी कृपा से कुछ अलख-निरंजन का ज्ञान प्राप्त हुआ। तनिक विचारपूर्वक देखो तो संसार में समस्त मिट्टी ही मिट्टी है मनुष्य जीवितावस्था में भी पाँच तत्त्वों से निर्मित मिट्टी का पुतला मात्र है जो मरकर भी क्षार हो जाता है। अन्त में कब्र में पड़ लम्बे पाँव कर मिट्टी में ही मिलना होता है। यह मनुष्य कुछ नहीं मिट्टी की मूर्ति मात्र है जिसे पवन ने आकार दे रखा है। प्रभु की यही विलक्षण माया है कि एक ही मिट्टी से उसने भिन्न-भिन्न प्रकार के घड़ों के रूप में हमारा निर्माण कर दिया है। इस मिट्टी से बने मन्दिर (शरीर) में ज्ञान के दीपक को वायु-नलिका द्वारा प्रज्वलित कर आलोकित करने से समस्त संसार दृष्टिगत हो जाता है।

मेरी जिभ्या बिस्न नैंन नारांइन हिरदै जपौं गोबिंदा।
जंम दुवार जब लेखा मांग्या तब का कहिसि मुकंदा ॥टेक॥
तूं ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा चीन्हि न मोर गियाना।
तैं सब मांगे भूपति राजा मोरे रांम धियाना ॥
पूरब जनम हम ब्राह्मन होते बोछे करम तप हीना।
रांमदेव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीन्हां ॥
नौंमी नेम दसमी करि संजम एकादसी जागरणां।
द्वादसी दांन पुंनि की बेला सर्व पाप छयौ करणां ॥
भौ बूडत कछू उपाइ करीजै ज्यूं तिरि लंघै तीरा।
रांम नांम लिखि भेरा बांधौ कहै उपदेस कबीरा ॥२१०॥

हे मेरी जिह्वा! तू हृदय में भगवान् को रख प्रभु के अनन्त गुणों नामों का गुणगान कर। हे प्रभु! जब यमराज कर्मों का हिसाब मांगेगा तो उसे मैं क्या प्रत्युत्तर दूँगा। हे शास्त्रार्थी पंडित! तू ब्राह्मण है, किन्तु मैं भी पंडितों की नगरी काशी का जुलाहा हूँ—कोई ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा नहीं। तू राजाओं द्वारा सम्मानित है मेरे आश्रय तो भगवान् ही हैं। पिछले जन्म में मैं ब्राह्मण ही था किन्तु प्रभु भक्ति न कर सका इसीलिए इस जुलाहा जाति में जन्म ग्रहण करना पड़ा। नवमी दसमी और एकादशी, द्वादशी के जो व्रत माहात्म्य हैं सबको भली भांति करने से समस्त पापों का प्रक्षालन हो जायगा? हे अभागी! तू संसार-सागर में डूब रहा है अतः शीघ्र कोई उपाय कर ले जिससे तू उस पार पहुँच सके। कबीर इसके लिए मार्ग बताते हैं कि राम-नाम के बेड़े से अपनी नौका बांध दो सदा पार लग जायगी।

कहु पांडे सुचि कवन ठांव
जिहि घरि भोजन बैठि ज्यांऊं ॥टेक॥
माता जूठी पिता पुनि जूठा जूठ फल चित लागे।
जूठा आंवन जूठा जांनां चेतहु क्यूं न अभागे ॥

अंन झूठा पांनी पुनि झूठा झूठे बैठि पकाया।
झूठी कड़छी अन परोस्या झूठ झूठा खाया॥
चौका झूठा गोबर झूठा झूठी का बीकारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे जे हरि भजि तजहि बिकारा॥२११॥

हे पाण्डे ! यदि तुम खान पान में इतना छुआछूत रखते हो तो फिर बताओ कि ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ जूठन नही जिससे मैं वहाँ बैठकर भोजन ग्रहण कर सकूं। माता पिता तथा अन्य स्नेही सब झूठे हैं झूठे प्रसाधनों में फंसे हुए हैं। जन्म मरण सब मिथ्या है फिर हे अभागे जीव ! तू सावधान क्यों नहीं होता ? अन्न-पानी और इसको बनाने वाला सभी तो मिथ्या है। यह भोजन परोसा भी झूठे बरतन से जाता है और जिससे वह लिया है—सब ही तो झूठा है। कबीर कहते हैं कि केवल वही सच्चे हैं जो विषय-वासना विकारों का परित्याग कर प्रभु भजन करते हैं।

हरि बिन झूठे सब ब्यौहार, केते कोऊ करौ गँवार॥टेक॥
झूठा जप तप झूठो ग्यांन राम नाम बिन झूठा ध्यांन।
बिधि न षेद पूजा आचार, सब दरिया मैं वार न पार॥
इंद्री स्वारथ मन के स्वाद जहाँ साच तहाँ मांड बाद।
दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ भर्म कर्म सब दिये बहाइ॥२१२॥

कबीर कहते हैं कि ईश्वर के बिना अन्य का समस्त कर्म-व्यापार निस्सार है चाहे कोई मूर्ख कितने ही कर्म करे किन्तु बिना प्रभु-आश्रय के उसका कोई महत्व नहीं। विधि-विधान पूजा-आचार, सब कुछ प्रभु बिना नदी मे बोरन योग्य है। इन्द्रिय-जन्य विकार एवं मन के स्वार्थ जहां सत्य स्वरूप प्रभु है नष्ट हो जाते हैं। कबीर ने तो प्रभु से अपनी लौ लगा ली है इसलिए संसार भ्रम और समस्त कर्म छोड़ दिए हैं।

चेतनि देखै रे जग धंधा।
रांम नांम का मरम न जांनै माया कै रसि अंधा॥टेक॥
जनमत हीं कहा ले आया मरत कहा ले जासी।
जैसे तरवर बसत पंखेरू दिवस चारि के बासी॥
आपा थापि अवर कौ निंदै जनमत ही जड़ काटी।
हरि की भगति बिना यहु देही धब लोटै ही फाटी॥
कांम क्रोध मोह मद मछर पर अपवाद न सुनियें।
कहै कबीर साध की संगति रांम नांम गुन भणिये॥२१३॥

कबीर कहते हैं कि सावधान होकर इस संसार चक्र को देखो कि मानव ईश्वर नाम की महिमा न जानता हुआ किस भांति माया-मोह में अन्धा हो रहा है। संसार में आकर हीरे जैसे मनुष्य जीवन की क्या गति कर दी ? मरने पर तो यह मिट्टी

में मिल ही जायगा । यहाँ इस संसार में तो जीवन इतना ही क्षणिक है जितना पक्षी का पेड़ पर बसेरा । जन्म से ही यह प्रवृत्ति बना ली है कि दूसरों की ओर स्वार्थ-पूर्ति में ही तेरा समय कटता है । प्रभु-भक्ति के बिना यह शरीर मिट्टी में मिल जायगा । दूसरों की निन्दा को न सुनते हुए काम क्रोध मद लोभ मोह का परित्याग कर दीजिए । कबीर कहते हैं कि हे जीवात्मा ! साधु-संगति करता हुआ प्रभु-भक्ति में लगा रह ।

विशेष—साधु संगति के महत्व पर उक्ति देखिए—

'शठ सुधरहिं सत संगति पाई पारस परस कुधात सुहाई ।'

रे जम नांहि नवै व्यौपारी जे भरैं जगाति तुम्हारी ।टेक॥
बसुधा छाड़ि बनिज हम कीन्हौं, लाद्यो हरि को नांऊं ।
रांम नांम की गूंनि भराऊं, हरि कै टांडै जाऊं ॥
जिनकै तुम्ह अगिवानी कहियत सो पूंजी हम पासा ।
अब तुम्हारो कछु बस नांही कहै कबीरा दासा ॥२१४॥

हे यम (मृत्यु) ! अब तुम्हारे सम्मुख प्रभु-भक्त नमन नहीं करेगा जिससे तुम कर वसूल कर सकते हो, अब वह उधर नहीं जायगा । इस संसार को त्याग कर हमने भक्ति का व्यापार प्रारम्भ कर दिया है और व्यापार के लिए प्रभु-नाम का बोझ लाद लिया है । राम-नाम की सामग्री लादकर मैं ईश्वर के लोक जाऊंगा । तुम अपने को ईश्वर का अग्रदूत उद्घोषित करते थे किन्तु अब वही राम-नाम सम्पत्ति हमारे पास है । अब तुम्हारा कुछ भी वश हमारे ऊपर नहीं चल सकता ।

मींयां तुम्ह सौं बोल्यां बणि नहीं आवै ।
हम मसकीन खुदाई बंदे तुम्हारा जस मनि भावै ।टेक॥
अलह अवलि दीन का साहिब जोर नहीं फुरमाया ।
मुरिसद पीर तुम्हारे है को कहौ कहां थैं आया ॥
रोजा करैं निवाज गुजारैं कलमैं भिसत न होई ।
सतरि काबे इक दिल भीतरि जे करि जांनैं कोई ॥
खसम पिछांनि तरस करि जिय मैं माल मनीं करि फीका ।
आपा जांनि सांई कूं जांनैं तब ह्वै भिस्त सरीका ॥
माटी एक भेष धरि नांनां सब मैं ब्रह्म समानां ।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई दोजग ही मन मांनां ॥२१५॥

हे मियां ! तुमसे बोलने परस्पर व्यवहार करने का ढंग भी नहीं आता । सब एक ही खुदा के बन्दे हैं यह जानकर भी तुम दूसरों से मनमाना व्यवहार करते हो । वह अल्लाह, प्रभु, दीनबन्धु है, उसने तुम्हें शक्ति प्रयोग की आज्ञा नहीं

तुम्हारा कोई गुरु अथवा शिष्य भी है? तुम्हारा आगमन कहां से हुआ है? भाव यह है कि तुम तो दूसरों से निकृष्ट हो। काबा आदि तीर्थ स्थान यदि तुम खोजकर देखो तो मन के अन्दर ही हैं व्यर्थ इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं। स्वामी को हृदय में पहचान कर मन में उसका अनवरत भजन करो। आत्म तत्व-का परिज्ञान कर जब प्रभु को जान जाओगे तो श्रेष्ठ साधुओं की पंक्ति में गिने जाओगे। हम सब जीव एक ही मृत्तिका से निर्मित पात्र हैं, सब में ब्रह्म की समान स्थिति है अतः सबको समान समझो। कबीर कहते हैं कि इस भांति संसार में निस्सार सम्मत है, बकन्न (बहिश्त) प्राप्त हो जायगा।

अलह ल्यौ लायें काहे न रहिये
अह निसि केवल राम नाम कहिये ॥टेक॥
गुरमुखि कलमा ग्यान मुखि छुरी हुई हलाल पचू पुरी।
मन मसीति मैं किनहू न जांनां पंच पीर मालिम भगवांनां॥
कहै कबीर मैं हरि गुन गाऊं, हिंदू तुरक दोऊ समझाऊं ॥२२६॥

ईश्वर से अपनी लगन लगाये रहो और अहर्निशि प्रभु-नाम का जाप करो। गुरु उपदेश से प्राप्त ज्ञान-कटारी से पांच इन्द्रियों के विषय की समाप्ति हो गई। मन रूपी मस्जिद में प्रभु की स्थिति को किसी ने नहीं पहचाना। पांचों इन्द्रियों की वृत्ति अब प्रभु में ही केन्द्रित हो गई है। कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु-गुणगान करता हुआ हिन्दू-मुसलिम दोनों को ही समझाकर एकता लाने में प्रयत्नरत हूं।

रे दिल खोजि दिलहर खोजि नां परि परेसांनी मांहि।
महल माल अजीज औरति कोई दस्त गीरी क्यूं नांहि ॥टेक॥
पीरां मुरीदां काजियां मुलां अरू दरबेस।
कहां थे तुम्ह किनि कीये अकलि है सब नेस॥
कुरांना कतेबां अस पढ़ि पढ़ि फिकरि या नहीं जाइ।
टुक दम करारी जे करै, हाजिरां सूर खुदाइ॥
दरोगां बकि बकि हूंहि खुसियां बे अकलि बकहिं पुमांहि।
हक साच खालिक खलक म्यानैं सो क्यूं सच मूरति मांहि॥
अलह पाक तू नापाक क्यूं अब दूसर नांही कोइ।
कबीर करम करीम का करनीं करै जांनें सोइ ॥२२७॥

हे मन! तू उस हृदय-स्वामी परमात्मा को खोज और व्यर्थ के सांसारिक कर्मों में मत उलझ। ये महल सम्पत्ति धन-वैभव पत्नी तथा अन्य प्रियजन कोई तेरे साथ नहीं जायगा। पीर पैगम्बर, काजी मुल्ला और दरवेश—तुम्हारा सृजन उस परमात्मा के द्वारा ही तो हुआ है अब तुम अपने को अपने का नियामक समझ रहे

हो—तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। कुरान आदि धर्म ग्रंथों का पारायण कर तुम्हें प्रभु की चिन्ता नहीं। किन्तु जो एकदम प्रभु खुदा, के लिए व्याकुल हो जाते हैं और उसे पाने का प्रयत्न करते हैं वे ही वास्तव में शूरवीर कहलाने के अधिकारी हैं। दरोगा आदि राज्य कर्मचारी राजमद में अन्धे हो गालियां बक-बक कर प्रसन्न होते हैं वे कैसे अज्ञानी हैं ? उन्हें उस सर्वशक्तिमान् की शक्ति का ज्ञान नहीं जो इस सृष्टि में सर्वत्र रमा हुआ है। हे प्रभु भक्त ! जब ईश्वर पवित्र है तो तू भी उसी का अंश है जब तुझे संसार के किसी विषयाकर्षण से प्रयोजन नहीं रह गया तो तू भी पवित्र ही है। भक्त के जो भी कर्म होते हैं वे प्रभु को ध्यान में रखते हुए उसी के लिए होते हैं।

> खालिक हरि कहीं दर हाल।
> पजर जसि करद दुसमन मुरद करि पैमाल ॥टेक॥
> भिस्त हुसकां दोजगां दुंदर दराज दिवाल।
> पहनाम परदा ईत आतस जहर जंगम जाल ॥
> हम रफ्त रहबरहु समां मैं खुर्दा सुमां विसियार।
> हम जिमीं असमांन खालिक गुंद मुसिकल कार ॥
> असमांन म्यानैं लहंग दरिया तहां गुसल करदा बूद।
> करि फिकर रह सालक जसम जहां स तहां मौजूद ॥
> हम चु बूंदनि बूंद खालिक गरक हम तुम पेस।
> कबीर पनह खुदाइ की रह दिगर दावानेस ॥२१८॥

ईश्वर प्रत्येक स्थल पर वर्तमान है। वह शत्रु का सर्वनाश ही कर देता है और अपने दास की समृद्धता प्रदान करता है। उस भक्त के लिये शत्रु रूप विकार—काम क्रोध मद लोभ मोह को नष्ट कर नरक को भी स्वर्ग बना देता है। यह संसार विषधर के सदृश है जिसमें पापाचारान्धकार तथा विषय-वासना की दीवार और अग्नि है। मैं तो इस भयंकर वन से गुरु के साथ चल बच लिया। हे प्रभु मैं दीन हूं और आप महान्। मैं पृथ्वी पर हूं और ईश्वर आकाश शून्य पर—दोनों का मिलन कठिन है आकाश के बीच शून्य के मध्य एक अमृत सरिता है। जहां मुक्तात्माएं स्नान करती हैं। (ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवण का वर्णन है)। हे मन ! तू ईश्वर का चिन्तन करता हुआ संसार-भय से निश्चिन्त रह जहां तू चाहेगा वह प्रभु वहीं उपस्थित हो जायगा क्योंकि वह सर्वत्र-व्यापक है। हम—जीवात्माएं तो उस प्रभु रूप जल से उत्पन्न ही बूंद हैं जो मिलकर एकमेक हो जाती हैं। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू सर्वदा उस ईश्वर की शरण ग्रहण करता हुआ प्रभु का ध्यान कर।

संसार की भवस्थिति कैसे है ? तीर्थ और पत्थर प्रतिमा दोनों में ही भगवान् बताते है किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों में से कहीं भी उसके दर्शन प्राप्त न हुए। मुस्लिम मानते है कि पश्चिम दिशा में भल्लाह का निवास है इसलिए वे उधर ही मुंह करके नमाज पढ़ते हैं दूसरी ओर हिन्दू मानते है कि वह पूर्व में है इसलिए पूर्व को मुख करके ही सन्ध्योपासना आदि कर्म करते हैं। अरे अज्ञानी जीव ! अपने मन को खोज कर देख लो ईश्वर वहीं स्थित है। हे प्रभु ! संसार में जितने भी स्त्री पुरुष हैं सबमें आपका स्वरूप विद्यमान है। कबीर तो परमेश्वर का दास हो गया है, वही उसका पीर पैगम्बर, गुरु सर्वस्व है।

मैं बड़ मैं बड़ मैं बड़ मांटी
मण दसना जट का दस गांठी ॥टेक॥
मैं बाबा का जोध कहाऊ अपणीं मारी मींद बसाऊ ॥
इनि अहंकार घर्णे घर घाले नाचत कूदत जमपुरि चाले।
कहै कबीर करता की बाजी एक पलक मैं राज विराजी ॥ १ ॥

मनुष्य अहं दर्प में किसी को कुछ नहीं समझता इसीलिए मदमस्त फूला-फूला फिरता है। मैं उस ईश्वर का अंश कहाकर भी अपने अहं से परिचालित हो संसार में भटकता फिरता हूं। इस अहंकार ने बहुतों का सर्वनाश कर दिया और वे सांसारिक आकर्षणों में बंधे हुए ही मृत्यु के ग्रास में चले गये। कबीर कहते हैं कि उस ईश्वर की माया बड़ी विचित्र है वह एक क्षण में ही कुछ से कुछ कर देते हैं।

काहे बीह्यो मेरे साथी हूं हाथी हरि केरा।
चौरासी लख जाके मुख मैं सो च्यंत करैगा मेरा ॥टेक॥
कहौ कौंन पिवै कहौ कौंन खावै कहां थैं पांणीं निसरै।
ऐसी कला अनंत हैं जाकै सो हंम कौं क्यूं बिसरै ॥
जिनि ब्रह्मंड रच्यौ बहु रचना बाव बरन ससि सूरा।
पाइक पंच पुहुमि जाकै प्रकटे सो क्यूं कहिए दूरा ॥
नैन नासिका जिनि हरि सिरजे दसन बसन बिधि काया।
साधू जन कौं सो क्यूं बिसरै, ऐसा है रांम राया ॥
को काहू का मरम न जांनै मैं सरनांगति तेरी।
कहै कबीर बाप रांम राया हुरमति राखहु मेरी ॥२६१॥

कबीर कहते हैं कि मेरा साथी कौन बनेगा ? मैं प्रभु-भक्ति रस का मदमस्त हाथी हूं। जो उस चौरासी लाख योनियों की व्यथा को समझ प्रभु-भक्ति में लग गया है वही मेरा साथी हो सकता है। यह बताओ कि कौन खाने और पीने की व्यवस्था करता है जो बैठा ही बैठा अपनी अनन्त कलाओं से संसार की व्यवस्था

करता है वह हमें कैसे भुला सकता है? जिस प्रभु ने सृष्टि की रचना कर वायु आकाश सूर्य चन्द्र पंचाग्नि पृथ्वी आदि का सृजन किया है वह दूर नहीं सर्वत्र परिव्याप्त है। राजा राम बड़े दयालु हैं उन्होंने कितने सुन्दर नेत्र नासिका आदि अंग प्रत्यंग की रचना की है, वे अत्यन्त दयालु राजा राम अपने भक्त को किस प्रकार विस्मृत कर सकते हैं।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आपका रहस्य कोई नहीं जानता। मैं आपकी शरण चाहता हूं। हे पिता परमेश्वर ! आप मुझे सद्बुद्धि प्रदान कर मेरी रक्षा करें।

राग सोरठि

हरि को नांव न लेइ गंवारा क्या सोचै बारंबारा ॥टेक॥
पंच चोर गढ़ मंझा गढ़ लूटैं दिवस र संझा ॥
जौ गढ़पति मुहकम होई, तौ लूटि सकै न कोई ॥
अंधियार दीपक चहिये तब बस्त अगोचर लहिये।
जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई ॥
जौ दरसन देख्या चहिये तौ दरपन मंजत रहिये।
जब दरपन लागै काई तब दरसन किया न जाई ॥
का पढ़िये का गुनियें का बेद पुरानां सुनियें।
पढ़े गुनें मति होई मैं सहजैं पाया सोई ॥
कहै कबीर मैं जांनां मैं जांनां मन पतियानां।
पतियानां जौ न पतीजै तौ अंधे कूं का कीजै ॥२६२॥

हे अज्ञानी जीव ! तू न जाने किस चिन्ता में व्यस्त है जो प्रभु नाम का स्मरण नहीं करता। पांच विकारों अथवा पंच विषयों के चोर इस शरीर रूपी किले को अहर्निशि लूट रहे हैं। यदि इस किले में उसके स्वामी—प्रभु की ही आराधना हो तो कोई इसे लूट नहीं सकता। जब इस शरीर रूपी बस्ती में ज्ञानदीप बुझकर अज्ञानान्धकार हो जाता है तभी इसे चोर लूटते हैं। जब यह बस्ती—बुद्धि—अज्ञान तिमिर से परिपूर्ण होती है तो ज्ञान-दीप कहीं भी नहीं सूझता। जो तुम प्रभु का दर्शन प्राप्त करना चाहते हो तो इस हृदय रूपी दर्पण का परिष्कार करते हुए इसे उज्ज्वल रखो। जब दर्पण पर विषयों की काई जम जाती है तो प्रभु दर्शन नहीं होता। शास्त्र ग्रन्थों के पठन-पाठन अथवा का कोई लाभ नहीं है, मैंने उस प्रभु को सहज साधना द्वारा प्राप्त कर लिया है। कबीर कहते हैं कि मैं उस परमेश्वर के स्वरूप से परिचित हो गया हूं और विश्वास सहित उन्हें अपने मन में बसा लिया है। यदि कोई मेरा विश्वास नहीं करता तो उस अज्ञानान्ध मनुष्य का क्या बनाया जा सकता है।

अब मैं हरि बिन को तेरा कवन सूं कहत मेरी मेरा ।।टेक।।
तजि कुलाक्रम अभिमानां झूठे भरमि कहा भुलानां ।
झूठे तन की कहा बड़ाई जे निमष मांहि जरि जाई ।।
जब लग मनहिं बिकारा तब लगि नहीं छूटै संसारा ।
जब मन निरमल करि जानां तब निरमल मांहि समानां ।।
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई ।
जब पाप पुंनि भ्रम जारी तब भयो प्रकास मुरारी ।।
कहै कबीर हरि ऐसा जहां जैसा तहां तैसा ।
भूलै भरमि परै जिनि कोई, राजा रांम करै सो होई ।।२९३।।

हे अज्ञानी नर ! ईश्वर के बिना तेरा कौन हितैषी है ? तू किससे स्नेह सम्बन्ध जोड़ता है । कुलाभिमान एवं झूठे भ्रम का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है । मिथ्या मृण्मय शरीर का अभिमान क्या इसे नष्ट होते पल भी नहीं लगता । जब तक मन विषय-वासना में पड़ा हुआ है तब तक इस संसार से मुक्ति सम्भव नहीं । जब यह मन निर्मल हो जायेगा तभी उस शुद्ध स्वरूप ब्रह्म से भेंट सम्भव है । ब्रह्म ही अग्नि है ब्रह्म ही सब कुछ है । प्रभु के बिना अब मेरा और कोई अवलम्ब नहीं । जब पाप-पुण्य और भ्रम की द्वैत भावना समाप्त हो गई, तभी ज्योतिस्वरूप परमात्मा का प्रकाश विकीर्ण हुआ । कबीर कहते हैं कि वह प्रभु ऐसा अद्भुत है कि कहीं जैसा है तो कहीं किसी और स्वरूप का । भूल कर भी किसी को संसार सागर में सम्मिलित नहीं होना चाहिए । इस संसार में वही होता है जो प्रभु को स्वीकार है ।

मन रे सर्यौ न एकौ काजा
तामैं भज्यौ न जगपति राजा ।।टेक।।
बेद पुरांन सुमृत गुन पढ़ि पढ़ि पढ़ि गुनि मरम न पावा ।
संध्या गाइत्री अरु षट करमा तिन थैं दूरि बतावा ।।
बनखंडि जाइ बहुत तप कीन्हां कंद मूल खनि खावा ।
ब्रह्म गियांनीं अधिक धियांनीं जम कै पटै लिखावा ।।
रोजा किया निमाज गुजारी बंग दे लोग सुनावा ।
हिरदै कपट मिलै क्यूं सांई क्या हज काबै जावा ।।
पहर्‌यौ काल सकल जग ऊपरि, मांहि लिखे सब ग्यांनीं ।
कहै कबीर ते भये षालसे रांम भगति जिनि जांनीं ।।२९४।।

हे मन ! तुझसे प्रभु भक्ति की साधना न हो सकी तूने संसार में आकर और कार्य तो किया ही नहीं ईश्वर को भी नहीं भजा । वेद पुराण स्मृति आदि धर्म ग्रन्थ पढ़कर उस ईश्वर का रहस्य नहीं जाना जा सकता । सन्ध्या गायत्री-जप और

सभी भक्ति के अन्य कर्मों से वह प्रभु दूर ही दूर रहा। वन प्रदेश में जाकर तपस्या करते कन्द मूल-फल खाते बहुत ज्ञान प्राप्त करने का उपक्रम रखने अर्थात् ध्यान धारण करने से मृत्यु को ही आमन्त्रित किया क्योंकि मन में तो कपट भरा हुआ था। रोजा रखने नमाज की उच्चध्वनि लोगों को सुनाने और हज्ज करने का कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि हृदय में तो कपट भरा हुआ था। कबीर कहते हैं कि मृत्यु ने अपनी सूची में समस्त संसार को सम्मिलित कर लिया केवल वही बच रहे जो प्रभु भक्ति के रहस्य को जान कर उसमें मग्न हो गये थे।

मन रे अब तैं रांम कह्यौ
पीछै कहिबे कौं कछू न रह्यौ ।।टेक।।
का जोग जगि तप दांनां जौ तैं रांम नांम नहीं जांनां ।।
कांम क्रोध दोऊ मारे तायैं गुरु प्रसादि सब जारे।
कहै कबीर भ्रम मासो राजा रांम मिले अविनासी ।।२६१।।

हे मन ! जब से मैंने राम-नाम जपा है तब से और कुछ वाणी का विषय संसार में रह ही नहीं गया। योग साधना और जप-तप का क्या लाभ यदि राम नाम का रहस्य न समझ सके। काम और क्रोध दोनों जीवन को मारस्वरूप बना देते हैं किन्तु गुरुप्रसाद से वे समाप्त हो गये। कबीर कहते हैं कि माया भ्रम के नाश होने पर अविनाशी प्रभु के दर्शन हो जाते हैं।

रांम राइ सो गति भई हमारी मो प छूटत नहीं संसारी ।।टेक।।
ज्यूं पंखी उड़ि जाइ अकासां आस रही मन मांही।
छूटी न आस टूट्यौ नहीं फंधा उडिबौ लागौ कांहीं ।।
जो सुख करत होत दुख तेई कहत न कछू बनि आवै।
कुंजर ज्यूं कसतूरी का मृग आप आप बंधावै ।।
कहै कबीर नहीं बस मेरा सुनियै देव मुरारी।
इत भेमीत डरौं जम दूतनि आये सरनि तम्हारा ।।२६१।।

राम-नाम को न जपने से हमारी जो दुर्गति हो रही है वह अवर्णनीय है फिर भी मुझसे यह संसार छोड़ने नहीं बनता। जिस प्रकार पक्षी मन में शान्ति की इच्छा रखते हुए आकाश में ऊंचा ही ऊंचा उड़ता है उसी भांति सांसारिक इच्छाएं और आशाएं तृप्त नहीं होतीं और मन संसार के माया-मोह में भटकता रहता है। मैं जितने भी सुख के उपक्रम करता हूं उनसे अन्तत दुःख ही मिलता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृग सुगन्धि को नाभि में रखे हुए भी मस्त हाथी के समान उसकी खोज में भटकता है उसी प्रकार मैं प्रभु के हृदयस्थ होते हुए भी बाहर की खोज में स्थान स्थान पर भटक रहा हूं। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! ऐसी दयनीय स्थिति के मेरा

कुछ बस नहीं चलता और मैं मृत्यु, काल—नाम से भयभीत हुआ आपकी शरण में आया हूं मेरी रक्षा करो।

रांम राइ तू ऐसा अनभूत अनपम तेरी अनभै थें निस्तरिये।
जे तुम्ह कृपा करो जग जीवन तौ कबहूँ भूलि न परिये ।।टेक।।
हरि पद दुरलभ अगम अगोचर कथिया गुर गमि बिचारा।
जा कारंनि हम ढूंढत फिरते आथि भर्‌यो संसारा ।।
प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये दगधे जंम दुख द्वारा।
प्रगटे बिस्वनाथ जगजीवन मैं पाये करत बिचारा ।।
देख्यत एक अनेक भाव है लेखत जात अजाती।
जिह को देव तजि ढूंढत फिरते मंडप पूजा पाती ।।
कहै कबीर करुणांमय किया देरी गलियां बहु बिस्तारा।
रांम के नांव परंम पद पाया छूटे बिघन बिकारा ।।२६७।।

हे प्रभु ! आप ऐसे अद्‌भुत अनुपम है कि वर्णन नहीं किया जा सकता। आपकी कृपा से यह भवसागर निश्शंक पार किया जा सकता है। हे जगन्नाथ ! यदि आप किसी पर कृपा करें तो वह कभी भी पथ-विचलित नहीं हो सकता। सद्गुरु ने अत्यन्त कठिनता से प्राप्य प्रभु-पद का मार्ग-दर्शन करा दिया जिससे मैंने साधना द्वारा उसे खोजने का प्रयास किया और संसार को त्याग दिया। वह अनन्तप्रकाशवान् ज्योतिस्वरूप परमात्मा प्रकट हुआ और मेरे अज्ञान-कपाट खुल गये जिससे मृत्यु एवं अन्य सांसारिक दुख नष्ट हो गये। निखिल सृष्टि के जीवनदाता विश्वम्भर को मैंने सतत साधना द्वारा प्राप्त किया है। उस प्रभु को देखकर हृदय में अनेक भावनाएं प्रकट हुईं उनका वर्णन नहीं किया जा सकता ये सांसारिक लोग विश्वदेव को मण्डप मन्दिर आदि में पूजा-पत्र आदि के माध्यम से खोजने का व्यर्थ उपक्रम करते हैं। कबीर कहते हैं कि उस करुणानिधान प्रभु का प्रसार सृष्टि के अणु-प्रति-अणु में है। प्रभु-नाम से सांसारिक बाधाओं व्यथाओं का अन्त हो परम पद की प्राप्ति होती है।

रांम राइ को ऐसा बैरागी
हरि भजि मगन रहै बिष त्यागी ।।टेक।।
ब्रह्मा एक जिनि सिस्टि उपाई नांव कुलाल धराया।
बहु बिधि भांड उनहीं घड़िया प्रभु का अंत न पाया ।।
तरवर एक नांनां बिधि फलिया ताकै मूल न साखा।
भौजलि भूलि रह्या रे प्रांणी सो फल कदे न चाखा ।।
कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी।
मांटी का तन मांटी मिलिहै, सबद गुरू का साथी ।।२६८।।

इस संसार में प्रभु का ऐसा कौन सा प्रेमी है जो संसार से विरक्त रह, विषय वासनाओं का परित्याग कर ईश्वर-भक्ति में तल्लीन रहे। परमेश्वर की लीला का रहस्य ज्ञानातीत है, उसने एक ब्रह्मा के द्वारा एक ही प्रकार के समान तत्वों से कुम्भकार के समान विविध बहुरूपी जीव-सृष्टि का निर्माण कर दिया। प्रभु-भक्ति का मूल और शाखा विहीन वृक्ष अनेक प्रकार से सर्वत्र फूल रहा है किन्तु प्राणी संसार की माया-मोह, में पड़े हुए हैं और उस फल का आस्वादन नहीं करते। कबीर कहते कि गुरु-चरणों से प्रेम कर शेष संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लो क्योंकि मिट्टी निर्मित कलेवर मृत्यूपरान्त मिट्टी में ही मिल जायगा और केवल गुरु-देव ज्ञान ही उसका मार्ग प्रशस्त करेगा।

मैंक निहारि हो माया बीनती करै,
दीन बचन बोलै कर जोर, फुनि फुनि पाइ परै ॥टेक॥
कनक लेहु जेता मनि भावै कामनि लेहु मन-हरनी।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी राज लेहु सब धरनी।
अठि सिधि लेहु तुम्ह हरि के जनां नवैं निधि है तुम्ह आगैं।
सुर नर सकल भवन के भूपति तेऊ लहै न मांगैं॥
तै पापनी सबै संघारे, काको काज सवार्‌यौ।
जिनि जिनि संग कियौ है तेरौ को बेसासि न मार्‌यौ॥
दास कबीर रांम के सरनैं छाडी झूठी माया।
गुर प्रसाद साध की संगति तहाँ परम पद पाया ॥२१९॥

यहाँ कबीर प्रभु-भक्त की महिमा का वर्णन करते कहते हैं कि माया उसके सम्मुख दासी के समान बारम्बार दीन-वचन कहती हुई पैर पड़ती है। वह चाहे जितना स्वर्ण धन एवं सुन्दरतम सुन्दरी को प्राप्त कर सकता है। विद्याधिकारी गुणवान पुत्र समस्त पृथ्वी का चक्रवर्ती राज्य एवं आठ सिद्धि तथा नवों निधि का सुख उन्हें सहज प्राप्त है।

यह माया देव मनुष्य राजे-महाराजे सबको विमोहित करती है किन्तु इस पापनी से लाभान्वित कोई नहीं होता सब इसके द्वारा विनष्ट हो जाते हैं। जिस व्यक्ति ने भी माया का साथ किया वह इसके विश्वासघात से मारा गया। भक्त कबीर ने प्रभु-शरण पाकर इस मिथ्या मोह जाल को विदूरित कर दिया। गुरु उपदेश और साधु-संगति से उन्हें तो परम-पद की प्राप्ति हो गयी।

तुम्ह घरि जाहु हमारी बहनां विष लागै तुम्हारे नैनां ॥टेक॥
अंजन छाडि निरंजन राते नां किसही का दैनां।
बलि जांउ ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक माइ एक बहनां॥

राती गांठी देखि कबीरा देखि हमारा सिंगारो।
सरग लोक थें हम चलि आई करन कबीर भरतारो॥
सरग लोक में क्या दुख पड़िया तुम्ह आई कलि मांहीं।
जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहूं पतीजौ नांहीं॥
तहां जाहु जहां पाट पटंबर अगर चंदन घसि लीनां।
आइ हमारे कहा करोगी हम तौ जाति कमीनां॥
जिनि हम साज साज्य निवाजे बांधे काचै धागै।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा पांणीं आगि न लागै॥
साहिब मेरा लेखा मांगै लेखा क्यूं करि दीजै।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा तौ पाहण नीर न भीजै॥
जाकी मैं मछी सो मेरा मछा सो मेरा रखवालू।
टुक एक तुम्हार हाथ लगाऊं, तौ राजा रांम रिसालू॥
जाति जुलाहा नांम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी।
आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि बैसो एक माउ एक मासी॥२७॥

कबीर दूसरी आत्माओं या माया-प्रलोभनों को सम्बोधित कर कहते हैं कि संसार-वासना में लिप्त आत्माओ ! तुम अपनी राह लहो तुम्हारे नेत्र विषयों विषय से आरक्त हैं।

मैं तो इस संसार को छोड़ प्रभु को भजता हूं मुझे किसी अन्य से क प्रयोजन नहीं है। मैं उसकी बलिहारी जाता हूं जिसने मुझे मेरी परीक्षार्थ प्रे किया है। मैं तुम्हारे साथ विषय-लिप्त नहीं हो सकता तुम मेरे लिए माता की बहन तुल्य पूज्य हो। इस पर वे सुन्दरी आत्माएं प्रत्युत्तर देती हैं कि हमारे शृंग और सौन्दर्य को देखकर रवि की नीरवता मादक हो उठी है और हम स्वर्ग कबीर—आपको—वरण करने आई हैं। कबीर उत्तर देते हैं कि स्वर्ग में ऐसी कौन विपत्ति आ गई जो तुम इस कलियुगी संसार में निकृष्ट जाति जुलाहे कबीर को ज आज तक पथ विचलित नहीं हुआ वरण करने आई हो ? तुम तो वहीं जाओ ज वस्त्र की चमक दमक एवं कस्तूरी चन्दन की सुगन्धित वायु हो हम तो नीच जाति जुलाहे के यहाँ आकर क्या करोगी ? जिस स्वामी से हमने अपने दृढ़ अचल प्रेम क कोमल तन्तु जोड़ा है उसे चाहे तुम कितना भी प्रयत्न करो कभी भी विच्छिन्न न कर सकती भला पानी में आग लगायी जा सकती है ? तुम कहती हो कि जि ने मेरे कर्मों का लेखा मांगा है किन्तु उससे क्या लाभ ? जिस प्रकार अत्यधिक प्रय करने पर भी पत्थर पानी से गल नहीं सकता उसी भांति हमारे हिसाब में पाप-क नहीं मिल सकता। मेरी पवित्र आत्मा जिस मछेरे—प्रभु—की मछली है वही मेर

रक्षक है, यदि मैं तुम्हारा स्पर्श तक भी कर लूं तो मेरे स्वामी राम रुष्ट हो जायेंगे। मेरी तो जुलाहे की निम्न जाति है और कबीर मेरा नाम है, प्रभु की खोज में संसार से असम्पृक्त रहता हुआ वन-वन फिरता हूं। हे माया सुन्दरी! तुम कितना ही मेरे इर्द-गिर्द लगो तुम मेरे लिए मातृ-तुल्य हो—तुम्हारा स्पर्श तक पाप-मय है।

विशेष—१ निदर्शना दृष्टान्त अनुप्रास रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार हैं।

२ कबीर जैसा उच्चमना व्यक्ति ही अपने चरित्र की शुद्धता को इतनी दृढ़ता से कह सकता है। इसे हम आत्मश्लाघा के रूप में नहीं देखना चाहिए।

ताकूं रे कहा कीजे भाई तजि अंमृत बिषै सूं ल्यौ लाई ॥टेक॥
बिष संग्रह कहा सुख पाया रंचक सुख कौ जनम गंवाया।
मन बरजै चित कह्यौ न करई, सकति सनेह दीपक मैं परई॥
कहत कबीर मोहि भगति उमाहा कृत करणी जाति भया जुलाहा ॥२०१॥

कबीर कहते हैं कि उस व्यक्ति की क्या सहायता की जाय जो स्वयं ही प्रभु भक्ति के अमृत को छोड़ विषय-वासना में पड़ा रहता है। इन विषयों के सुख से कोई स्थायी आनन्द प्राप्त नहीं होता क्षणिक सुख के लिए जन्म यूं ही नष्ट कर दिया। बुद्धि (यहाँ मन का अर्थ बुद्धि एवं चित्त का अर्थ हृदय मन होगा) मन को विषयों में भटकने से वर्जित करती है किन्तु यह पतंग की भांति दीपक में बारम्बार उड़ उड़ कर पड़ता है। कबीर कहते हैं कि मैं तो भगवान की भक्ति में लग गया हूं निम्न जुलाहा जाति का भी होकर श्रेष्ठ हो गया।

रे सुख इब मोहि बिष भरि लागा
इनि सुख डहके मोटे मोटे छत्रपति राजा ॥टेक॥
उपजै बिनसै जाइ बिलाई संपति काहू कै संगि न जाई।
धन जोबन गरब्यौ संसारा यहु तन जरि बरि ह्वै छारा॥
चरन कंवल मन राखि ले धीरा राम रमत सुख कहै कबीरा ॥२०२॥

कबीर कहते हैं कि यह सांसारिक सुख अब मुझे विष तुल्य लगने लगा है। इन्होंने बड़े छत्रपति राजा इस आनन्द प्राप्ति की इच्छा में नष्ट हो गए। यह सांसारिक संपत्ति उत्पन्न होती है और फिर क्षणिक स्थिति के पश्चात् समाप्त हो जाती है किन्तु किसी के साथ नहीं जाती। धन और यौवन के सौन्दर्य का घमण्ड संसार व्यर्थ ही करता है क्योंकि यह तन भस्म होकर राख भर से क्षार में परिवर्तित हो जायगा। हे मनुष्य! प्रभु के चरण-कमलों को अपने हृदय में बसा। मैं रामभक्ति में वास्तविक स्थायी आनन्द है।

अब न रहूं माटी के घर मैं, अब मैं जाइ रहूं मिलि हरि मैं ।।टेक।।
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कंपै मेरी छाती ।
दसवैं द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी ।।
चहुं दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया ।
कहै कबीर सुनहु रे लोई, भांनड़ घड़ण संवारण सोई ।।२०१।।

कबीर कहते हैं कि अब मैं इस मिट्टी के घर अर्थात् मृण्मय संसार में नहीं रहूंगा, अब मैं प्रभु के समीप जाकर रहूंगा । यह घर टूटा-फूटा है और इसमें जर्जर टट्टी लगी हुई है जब कालरूपी घन गर्जन करता है, तब मुझे बहुत भय लगता है। दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र पर मेरी कुण्डलिनी पहुंच गई है अब मेरा आवागमन छूट गया। इस संसार में स्थिति तो ऐसी है कि चारों ओर मन बुद्धि चित्त अहंकार चार पहरे दार बैठे हुए होते हैं फिर भी जी काम रूपी चोर प्राण जीवन को लूट कर ले जाता है। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो ! अथवा कबीर अपनी शिष्या लोई का सम्बोधन कर कहते हैं कि यह ईश्वर ही सृजन पोषण संहार करने वाला है। इसमें मनुष्य का कोई वश नहीं।

कबीरा बिगर्‌या राम दुहाई,
तुम्ह जिनि बिगरौ मेरे भाई ।।टेक।।
चंदन कै ढिग बिरख जु भैला, बिगरि बिगरि सो चंदन ह्वैला ।
पारस कौं जे लोह छिवैगा, बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला ।।
गंगा मैं जे नीर मिलैगा, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला ।
कहै कबीर जे रांम कहैला, बिगरि बिगरि सो रांमहिं ह्वैला ।।२०२।।

कबीर रामामय से परिवर्तित हो गया है हे भाइयो ! तुम क्यों नहीं परिवर्तित हो जाते । चन्दन के पास जो दूसरी जाति का वृक्ष होता है, धीरे-धीरे वह भी चन्दन की सुगन्ध से सुवासित हो चन्दन जैसा ही हो जाता है । जिस लोहे का स्पर्श पारस पत्थर से हो जाता है वह भी परिवर्तित हो स्वर्ण बन जाता है । गंगा में गन्दे नाले का पानी मिलकर भी शुद्ध और पवित्र गंगा-जल हो जाता है । कबीर कहते हैं कि जो राम कहेगा राम को भजेगा वह भी राम तुल्य या तद्रूप हो जायेगा । ध्वनि यह भी है कि मैं संसार मुक्त हूं मेरे सम्पर्क में रहकर तुम भी मुक्त हो जाओ ।

विशेष—तद्गुण अलंकार ।

रांम राइ भई बिकल मति मेरी,
कै यहु दुनी दिवानी तेरी ।।टेक।।
जे पूजा हरि नाहीं भावै, सो पूजनहार चढ़ावै ।
जिहि पूजा हरि भल मांनै, सो पूजनहार न जांनैं ।।

भाव प्रेम की पूजा ताथैं भयौ देव थैं दूजा ।
का कीजै बहुत पसारा पूजी जे पूजनहारा ।।
कहै कबीर मैं गावा मैं गावा आप लखावा ।
जे इहि पद माँहि समाँनां सो पूजनहार सयाँनां ।।२७५।।

हे प्रभु राम ! आपके प्रेमी भक्त जाने वाले जग को देखकर मेरी चेतना भ्रमित हो रही है। जो पुजारी प्रभु को पत्थर मानते हैं आराधक उसे ही आपकी भेंट चढ़ाते हैं एवं वे जिस पूजा से प्रसन्न होते हैं पूजक उससे परिचित नहीं। प्रेम भावसहित प्रभु की पूजा करने से साधक भक्त प्रभुरूप ही हो जाता है। इस व्यर्थ के पूजाडम्बर से क्या लाभ ? पूजा तो वही श्रेष्ठ है जिससे इष्ट प्रसन्न हो। कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु भक्ति का रहस्य गा दिया। जो भक्त इस पद द्वारा निर्देशित भक्ति भाव से आराधना करते हैं वे श्रेष्ठ हैं।

राँम राइ भई बिगूचनि भारी
भले इन ग्यांनियन थैं संसारी ।।टेक।।
इक तप तीरथ औगाहैं इक मांनि महातम चाहैं ।
इक मैं मेरी मैं बीझैं, इक अहंमेव मैं रीझैं ।।
इक कथि कथि भरम लगावैं संमिता सी वस्त न पावैं ।
कहै कबीर का कीजै, हरि सूझै सो अंजन दीजै ।।२७६।।

हे प्रभु ! कैसी विडम्बना है कि इन ज्ञानियों से संसारी गृहस्थ ही श्रेष्ठ हैं। गृहस्थ तो तपस्या और तीर्थादि के ही विश्वासी होते हैं किन्तु ज्ञानी तो आत्म-पूजा के भूखे हैं। गृहस्थ ममत्व-परत्व की भावना से मुक्त नहीं हो पाता तो वे सर्वथा अहं दंभ में चूर रहते हैं। संसारी इधर उधर भ्रम की बातें सुनता है ये ज्ञानी अपनी व्यर्थ की कथित करने वाली बातों से ही दूसरों को भ्रमाते हैं। कबीर कहते हैं कि ज्ञानियों का क्या उपकार किया जा सकता है। जिससे इन्हें सद्बुद्धि प्राप्त हो हे प्रभु ! आप इन्हें वही भक्ति का अंजन दीजिए।

काया मजसि कौन गुनां घट भीतरि है मलनां ।।टेक।।
जौ तूं हिरदै सुध मन ग्यांनीं तौ कहा बिरोलै पांनीं ।
तूं भी अठसठि तीरथ न्हाई कड़वापन तऊ न जाई ।।
कहै कबीर बिचारी भवसागर तारि मुरारी ।।२७७।।

कबीर कहते हैं कि शरीर-शुद्धि के साथ-साथ हृदय की शुद्धि भी वांछनीय है। इसलिए शरीर को मलने से क्या लाभ ? भीतर मन—हृदय—भी तो स्वच्छ करना चाहिए। हे ज्ञानी ! यदि तुम्हारा हृदय शुद्ध है तो यह पानी बिलोने से कोई लाभ नहीं। इस शरीर रूपी तूंबी को अड़सठ तीर्थों का स्नान कराने से जब तक मन की

सुधरता नहीं कोई लाभ नहीं। कबीर विचार कर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मन इस संसार सिन्धु से पार उतार दो आपके अतिरिक्त कोई माध्यम नहीं।

काहे तू हरि कौ दास कहायौ
करि बहु भेष रे जनम गंवायौ ॥टेक॥
सुध बुध होइ भज्यौ नहिं सांई काछ्यौ ड्यंभ उदर कै तांई।
हिरदै कपट हरि सूं नहीं साच्यौ कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ॥
झूठे फोकट कलू मंझारा राम कहैं ते दास नियारा।
भगति नारदी मगन सरीरा
इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥२७॥

हे मनुष्य ! तू क्यों व्यर्थ प्रभु का भक्त कहाता है, अन्य प्रलोभनों में पड़े हुए तूने अपना जीवन व्यर्थ व्यतीत कर दिया। बुद्धि होते हुए भी तूने प्रभु का भजन नहीं किया और उदरपूर्ति तथा कामना पूर्ति में लगा रहा। यदि हृदय शुद्ध नहीं तो व्यर्थ में मुह से 'अलख निरंजन' का नारा लगाने से क्या लाभ ? मिथ्या-आडम्बरपूर्ण प्रसंगों में प्रभु भक्त का मन नहीं उलझता। भक्ति तो नारद के समान तल्लीन होकर करनी चाहिए। इस संसार सागर से तरने का एकमात्र उपाय यही है।

विशेष—भगति नारदी—से यहाँ तात्पर्य नारद-भक्ति सूत्र में वर्णित भक्ति के प्रकार से नहीं है किन्तु यदि हम उस अर्थ को भी ग्रहण करना चाहें तो कोई आपत्ति नहीं होगी क्योंकि नारद भक्तिसूत्र' में भक्ति-वर्णन कबीर-विचारधारा के अनुकूल ही है यथा— 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। २

अमृतस्वरूपा च'। ३

'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। १९

रांम राइ इहि सेवा भल मानैं
जे कोई रांम नांम तन जानैं ॥टेक॥
रे नर कहा पखालै काया सो तन चीन्हि जहां थैं आया।
कहा बिभूति अटा पट बांधें का जल पैसि हुतासन सांधें॥
र रांम मा दोई अखिर सारा कहै कबीर तिहूं लोक पियारा ॥२८॥

प्रभु भक्ति-भाव से ही प्रसन्न रहते हैं अतः जो भी राम नाम का ध्यान प्रेमपूर्वक प्रभु-सेवा करता है उसे प्रभु प्रेम करते हैं। हे मानव ! इस शरीर को बारम्बार धोने से क्या ? इस शरीर की आसक्ति को त्याग अपने वास्तविक लोक—प्रभु में चित्तवृत्तियाँ लगा। जटा धारण कर कन्था पहन विभूति लगा कर अग्नि में तपने से कोई लाभ नहीं। 'राम' नाम के दो अक्षरों में ही समस्त संसार का ज्ञान समाहित है यह राम नाम समस्त संसार को प्रिय है।

इहि बिधि रांम सूं ल्यौ लाइ ।
चरन पायें निरति करि, जिभ्या बिनां गुण गाइ ॥टेक॥
जहां स्वांति बूंद न सीप साइर सहजि मोती होइ ।
उन मोतियन में नीर पोयौ पवन अंबर धोइ ॥
जहां धरनि बरषै गगन भीजै चंद सूरज मेल ।
दोइ मिलि तहां जुड़न लागे करत हंसा केलि ॥
एक बिरष भीतरि नदी चाली कनक कलस समाइ ।
पंच सुवटा आइ बैठे उदै भई बनराइ ॥
जहां बिछुट्यौ तहां लाग्यौ गगन बैठौ जाइ ।
जन कबीर बटाऊवा जिनि मारग लियौ चाइ ॥ ८ ॥

हे साधक ! सहज-समाधि द्वारा प्रभु में इस प्रकार अनुरक्त हो कि तू वहां—प्रभु के पास बिना चरणों की गति के ही पहुंच जाय और जिह्वा के उच्चारण बिना ही अनहद ध्वनि द्वारा प्रभु गुण-गान करता रहे । जहां स्वाति नक्षत्र के जल और सीप के संयोग के बिना ही शून्य तट पर मोती बिखरे हुए हों । उन मोतियों को शून्यलोक में प्राणायाम साधना द्वारा आत्मा को पहुंचा दिया जाए । जहां इड़ा-पिंगला के संयोग से ब्रह्मरन्ध्र पर कुण्डलिनी के विस्फोट करने से अमृत-वर्षा होती है । जहां सुरति निरति का समन्वय हो जाता है वहाँ मुक्तात्मा आनन्द लाभ करने लगती है । इस साधना तरु पर अमृत-वर्षा से एक नदी बह चली जिसमें समस्त स्वर्ग धन आदि के सांसारिक प्रलोभन डूब गये । पांचों ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति वहीं केन्द्रित हो गई जिससे असीम आनन्द का जन्म हुआ । वहां सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है और जिधर मन की रुचि हो वहीं शून्य स्थल पर आत्मा मुक्त-विहार करती है । कबीर जैसे भक्त ने प्रभु दर्शन का यह मार्ग खोज निकाला है ।

विशेष—विभावना विरोधाभास अनुप्रास रूपकातिशयोक्ति रूपक आदि अलंकार स्वाभाविक रूप से आ गये हैं ।

तामैं मोहि नाचिबो न आवै मेरो मन मंदला न बजावै ॥टेक॥
ऊभर था ते सूभर भरिया त्रिष्णा गागरि फूटी ।
हरि चितन मेरी मंन्सा भीनीं भरम भोयन गयौ छूटी ॥
ब्रह्म अगनि मैं जरी जु ममिता पाषंड अरु अभिमानां ।
काम चोलनां भया पुरांनां मोप होइ न आनां ॥
जे बहु रूप किये ते कीये अब बहु रूप न होई ।
थाकी सौंज संग के बिछुरे रांम नांम मसि धोई ॥
जे थे सचल अचल ह्वै थाके करते बाद बिबाद ।
कहै कबीर मैं पूरा पाया भया रांम परसाद ॥२८१॥

कबीर कहते हैं कि मेरा मन प्रेम भक्ति की डफली पर ही अपना राग अलापता है इसीलिए मुझसे संसार के प्रपंचों में नहीं पड़ा जाता। मैं प्रभु-भक्ति करने से पूर्व पवित्र था किन्तु अब शुद्ध हो गया हूँ और मेरी संसार-तृष्णा की गगरी फूट गई है। प्रभु का स्मरण करते हुए मेरी डफली भी भक्ति के सुन्दर स्वर निसृत करने लगी है जिससे मेरा संसार-बन्धन विदूरित हो गया। ज्योतिस्वरूप परमात्मा के दर्शन से ममता पाखण्ड और अभिमान जलकर विनष्ट हो गये। अब यह शरीर विषय-वासना-जर्जर हो गया है अतः अब मैं पुनः जन्म धारण करने की व्यथा सहन नहीं कर सकता। जो कुछ जन्म ग्रहण करने थे कर चुका। अब तो तत्व-विश्लेषण द्वारा जो चंचल-बुद्धि थे वे भी स्थिर-मति हो गये संगी साथी बिछुड़ चुके हैं और समस्त ताप भी थक गये हैं राम नाम से कलंक-कालिमा को धो डाला है। कबीर कहते हैं कि मैं पूर्ण परमात्मा को पाकर राम भक्त बन गया हूँ।

> अब क्या कीजै ग्यान बिचारा निज निरखत गत ब्योहारा ॥टेक॥
> जाचिग दाता इक पाया धन दिया जाइ न खाया।
> कोई ले भरि सकै न मूका औरनि पैं जानां चूका॥
> तिस बाझ न जीव्या जाई वो मिलै त घालै खाई।
> सो जीवन भला कहाई बिन मूवां जीवन नांही॥
> घसि चंदन बनखंडि बारा बिन नैननि रूप निहारा।
> तिहि पूत बाप इक जाया बिन ठाहर नगर बसाया॥
> जो जीवत ही मरि जानैं तौ पंच सयल सुख मानैं।
> कहै कबीर सो पाया प्रभु भेटत आप गवाया ॥२८२॥

कबीर कहते हैं कि आत्म-चरित्र को विचार कर देख जो ज्ञान प्राप्ति की बात करते थे अब क्या प्रयोजन? मुझ जैसे याचक ने प्रभु रूप दाता को प्राप्त कर लिया है जिसने भक्ति का ऐसा भरपूर धन दिया है जो किसी से समाप्त नहीं हो सकता। अन्य कोई इसे सामान्य धन की नाईं चुराना चाहे तो वह भी सम्भव नहीं है। इसे माया रूपी डायना भी समाप्त नहीं कर सकती उल्टे यदि वह सामने पड़ गई तो भक्ति माया को समाप्त कर देगी। प्रभु-भक्ति का ही जीवन श्रेष्ठ है, जब तक जीते जी मरा नहीं जाता अर्थात् जीवन्मुक्त नहीं हुआ जाता तब तक जीवन की सार्थकता कहाँ? भक्ति के शीतल चन्दन को घिस कर विषय-वासना वन को समाप्त कर दिया एवं बिना नेत्रों की सहायता के समाधि में प्रभु-दर्शन प्राप्त कर लिए। ईश्वर ने अपने अनुरूप भक्त का सृजन कर इस संसार में बसा दिया है। कबीर कहते हैं कि इस प्रभु की प्राप्ति पर आत्म-विस्मृति हो जाती है।

विशेष—विरोधाभास विभावना अनुप्रास आदि अलंकार इस पद में प्रयुक्त हुए हैं।

अब मैं पायी राजा रांम सनेही जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥
बेद पुरान कहत जाकी साखी तीरथि ब्रति न छूटै जम की पासी।
जायैं जनम लहत नर आगैं पाप पुंनि दोऊ भ्रम लागैं॥
कहै कबीर सोई तत जागा मन भया मगन प्रेम सर लागा ॥२८३॥

अब मैंने परम प्रेमी परमात्मा को प्राप्त कर लिया है जिसके बिना मन व्यथा पूर्ण था। वेद-पुराण आदि शास्त्र ग्रन्थ जिस परम पुरुष की साक्षी देते हैं वह प्राप्त हो गया है। उसकी भक्ति से ही सब कुछ सम्भव है। तीर्थ व्रत आदि बाह्याडम्बरों से तो मृत्यु बन्धन से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। जिस पाप-पुण्य के चक्कर में पड़ा मनुष्य आवागमन में पड़ता है ईश्वर-दर्शन से वह समाप्त हो गया। कबीर कहते हैं कि वही अनुपम तत्त्व मुझे प्राप्त हो गया है। प्रभु प्रेम का बाण लगते ही मन ईश्वर भक्ति में रम गया।

बिरहिनी फिरै है नाथ अधीरा।
उपजि बिना कछू समझि न परई बांझ न जांनै पीरा ॥टेक॥
या बड़ बिथा सोई भल जांनैं रांम बिरह सर मारी।
कैसो जांनैं जिनि यहु लाई कै जिनि चोट सहारी॥
संग की बिछुरी मिलन न पावै सोच करै अरु काहै।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै रांम कूं चाहै॥
दीन भई बूझै सखियन कौं कोई मोहि राम मिलावै।
दास कबीर मीन ज्यूं तलपै मिलें भलैं सचुपावै ॥२८४॥

प्रभु प्रेम-व्यथा का अनुभव जिसे न हो वह भला उसके प्रेम का रहस्य कैसे जान सकता है? विरहिणी आत्मा तो उस प्रिय के विरह में व्याकुल घूम रही है किन्तु जिसके यह वेदना उत्पन्न नहीं होती वह इस तत्त्व को नहीं समझता भला वन्ध्या को प्रसव-वेदना का क्या ज्ञान होगा? राम प्रेम-बाण से आहत की पीड़ा को कोई अनुभवी ही जान सकता है। आत्मा परमात्मा से नहीं मिल पा रही है इस वेदना का ज्ञान तो प्रभु-विरही को ही हो सकता है। वे विरही जन अपनी व्यथा-शमन का कुछ ध्यान न करते हुए केवल प्रभु नाम का स्मरण करते हैं एवं साथियों से अत्यन्त दीन भावयुक्त वचनों से राम से मिलाने की प्रार्थना करते हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि ऐसे भक्त जन अहर्निशि प्रभु-वियोग में मछली के समान तड़पते हैं और ईश्वर के पाने पर ही शान्ति लाभ कर सकते हैं।

आतमि बेद न जानिगा जन सोई,
सारा भरम न जानैं राम कोई ॥टेक॥
चषि बिन दिवस जिसी है संझ्या ब्यावन पीर न जानैं बंझ्या ।
सूझै करक न लागै कारी बैद बिधाता करि मोहि सारी ॥
कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये,
अपने तन की आप ही सहिये ॥२८४॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु वियोगी की वेदना को समझने वाला तो कोई समदुख-भोगी ही हो सकता है । इस संसार भ्रम में और किसी की सामर्थ्य नहीं कि उसकी वेदना का अनुमान कर सके । बिना नेत्रों के तो रात्रि भी दिवस के समान अन्धकार पूर्ण है उसी प्रकार बांझ को प्रसव वेदना का अनुभव नहीं होता । क्योंकि उसे कोई पीड़ा नहीं होती इसलिए वह दूसरों की पीड़ा से अनभिज्ञ है । राम वियोगी का उपचार तो वैद्य सांवलिया द्वारा ही हो सकता है । कबीर कहते हैं कि मैं अपनी व्यथा का किससे कथन करूं स्वयं ही इस वेदना को सहन करना होगा ।

विशेष—निदर्शना अलंकार ।

मन की पीर हो राजा राम मन जानैं
कहूं काहि को मानैं ॥टेक॥
नैंन का दुख बैंन जानैं बैंन का दुख स्रवनां ।
प्यंड का दुख प्रांन जानैं प्रांन का दुख मरनां ॥
आस का दुख प्यासा जानैं प्यास का दुख नीर ।
भगति का दुख रांम जानैं कहै दास कबीर ॥२८५॥

कबीरदास जी यह प्रतिपादित करते हैं कि भगवान् भक्त की वेदना से भली भाँति परिचित होते हैं वे उसका किसी से अन्यथा वर्णन सुनकर कैसे विश्वास करेंगे । जिस भाँति नेत्रों के दुख की वेदना का ज्ञान वाणी को वाणी के दुख का श्रवण को और शरीर के दुख का आत्मा को मृत्यु-दुख का प्राणों आशान्वित के दुख को तृषित और तृषित के दुख को जल जानता है, उसी भाँति भक्त के दुख का केवल स्वामी को ही अनुभव होता है—ऐसा कबीर दास का मत है ।

तुम्ह बिन रांम कवन सौ कहिये
लागी चोट बहुत दुख सहिये ॥टेक॥
बेध्यौ जीव बिरह कै भालै राति दिवस मेरे उर सालै ।
को जांनै मेरे तन की पीरा सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा ॥
तुम्ह से बैद न हमसे रोगी उपजी बिथा कैसे जीवै बियोगी ।
निस बासुरि मोहि चितवत जाई अजहूं न आइ मिले रांम राई ॥
कहत कबीर हमकौ दुख भारी बिन दरसन क्यूं जीवहि मुरारी ॥२८६॥

हे राम ! आपके अतिरिक्त अपनी व्यथा-कथा किससे कहूँ हृदय में आपके प्रेम का घाव हो रहा है—इस वेदना को किस भाँति सहन करूँ ? मेरी आत्मा को आपके विरह के भाले ने बेध रखा है जो अहर्निशि मुझे पीड़ा देती है। मेरे रोम प्रति रोम में शूल-उपदेश बह रहा है मेरी पीड़ा का अनुमान कौन कर सकता है ? हे प्रभु ! कोई आप सरीखा चिकित्सक और हम जैसा इस रोग का रोगी भी नहीं मिलेगा अतः मेरी वेदना का निदान करो। मैं रात-दिन व्याकुलतापूर्वक प्रभु का मार्ग तकता हूं किन्तु अब तक स्वामी की प्राप्ति नहीं हुई। कबीर कहते हैं कि हे दीनदयाल ! मुझे बड़ी वेदना हो रही है आपके दर्शन के अभाव में जीवन भार हो गया है।

तेरा हरि नाँमैं जुलाहा मेरे राम रमण का लाहा ॥टेक॥
दस सै सूत्र की पुरिया पूरी चंद सूर दोइ साखी।
अनत नांव गिनि लई मजूरी हिरदा कवल मैं राखी ॥
सुरति सुमृति दोइ खूँटी कीन्हीं आरंभ कीया बमेकी।
ग्यांन तत की नली भराई, बुनित आतमां पेपी ॥
अबिनासी धन लई मंजूरी पूरी थापनि पाई।
रस बन सोधि सोधि सब आये निकटैं दिया बताई ॥
मन सूधा को कूच कियौ है ग्यांन विथरनी पाई।
जीव की गांठि गुढी सब भागी जहां की तहां ल्यो लाई ॥
बैठि बेगारि बुराई थाकी अनमैं पद परकासा।
दास कबीर बुनत सच पाया दुख संसार सब नासा ॥२८ ॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं जुलाहा हूं आपके नाम के सूत का वस्त्र बुनता हूं। मैं आपका भक्ति-वस्त्र बुनने के लिए दस सहस्र 'पुरिया' को पूर्ण कर रहा जिसका सामक सभी को सहायक रूप से साथ लिया है। आपके अनन्त नामों का उच्चारण कर मैंने अपनी मजदूरी प्राप्त कर ली जिसे मैंने हृदय में संजोकर रख रखा है। सुरति निरति की दो खूँटी बनाकर आपके नाम का जप प्रारम्भ कर दिया एवं ज्ञान तत्त्व से नली भरकर आत्मा से बुनने का कार्य सम्पूर्ण किया। ध्यान को पूरा कर मैंने अविनाशी प्रभु को ही अपनी मजदूरी के रूप में प्राप्त कर लिया। अब मोह उस परमात्मा को दूर-दूर वन प्रान्तर में खोज चुके थे किन्तु हमने तो उस अत्यन्त निकट—हृदय में ही—प्राप्त कर लिया। ज्ञान-बैतरणी प्राप्त कर मन ने सीधा उस सत्य प्रभु की ओर ही प्रयाण कर दिया है। जीव की विषय-वासना समाप्त हो गई और उसकी वृत्तियाँ प्रभु में वशीभूत हो गईं। समाधि में बैठकर उस परमपद के दर्शन प्राप्त किए। कबीर कहते हैं कि इस भक्ति वस्त्र को बुनने से हम अमित आनन्द प्राप्त होता है और संसार का समस्त दुख समाप्त हो जाता है।

विशेष—सांगरूपक स्वरूपातिशयोक्ति आदि अलंकार।

भाई रे सकहु त तनि बुनि लेहु रे,
पीछैं रामहि दोस न देहु रे ॥टेक॥
करगहि एक बिनानी ता भीतरि पंच परानीं।
तामें एक उदासी तिहि तणि बुणि सबै बिनासी ॥
जे तू चौसठि बरियां धावा नहीं होइ पंच सूं मिलावा।
जे तैं पासैं छसै तांणों तौ तू सुख सू रहै परांणी ॥
पहली तणियां तांणां पीछैं बुणियां बांणां।
तणि बुणि मुरतब कीन्हां तब रांम राइ पूरा दीन्हां ॥
राछ भरत भइ संझा तारुणीं त्रिया मन बांधा।
कहै कबीर बिचारी अब छोछी नली हमारी ॥२८१॥

कबीर कहते हैं कि यदि सत्कर्मों अथवा भक्ति का थान अब बुनना चाहते हो तो बुन लो फिर प्रभु को दोष मत देना कि हमें यह अवसर प्रदान न किया। इस शरीर रूपी करघे के भीतर काम मद लोभ मोह रूपी पांच प्राणियों का निवास है। उसमें आत्मा भी स्थित है जो संसार से अनासक्त है। उस आत्मा मन में यदि तुम चौसठ बार प्राणायाम द्वारा अपनी वृत्ति रमा दो तो फिर इन पांचों से मिलन नहीं होगा आत्मा शुद्ध पवित्र रहेगी। यदि तू अपनी वृत्तियों पर अंकुश रखेगा तो सुख का अनुभव करेगा। पहले इन्द्रियों को वश में कर उनका ताना बनाकर ही प्रभु भक्ति रूपी थान का निर्माण हो सकता है। जब साधक उस मन पर नियन्त्रण कर भक्ति में लग जाता है तो राजा राम—प्रभु—उसे दर्शन देते हैं। कबीर कहते हैं कि यदि मन सुन्दरी —काम वासना— में बंध जाय तो अज्ञानांधकार छा जाता है। इसीलिये अब मेरी नलि तो सुषुम्ना (छोटी नली) में ही केन्द्रीभूत हो गई है।

मैं बपू कासी तजैं मुरारी तेरी सेवा चोर भये बनवारी ॥टेक॥
जोगी जती तपी सन्यासी मठ देवल बसि परसैं कासी।
तीन बार जे नित प्रति न्हावैं काया भीतरि खबरि न पावैं ॥
देवल देवल फेरी देहीं नांव निरंजन कबहुं न लेहीं।
चरन बिरद कासी कौं न देहू, कहै कबीर भल नरकहि जैहूं ॥

हे प्रभु जो साधक काशी में साधना के लिये आते हैं वे उसका परित्याग क्यों करें, क्योंकि आपकी भक्ति से चोर भी भक्त हो तद्रूप हो गए हैं। योगी यति, तपस्वी एवं सन्यासी मन्दिर और मठों में ही आपको देखने का प्रयास करते हैं। ऐसा ही साधक तीन-तीन बार स्नान कर केवल बाह्य-शुद्धि में ही लगे रहते हैं वे हृदयस्थित ब्रह्म से कैसे परिचित हो सकते हैं। हे मूर्ख साधक! तुमने व्यर्थ शरीर को

मन्दिर प्रति मन्दिर के द्वार पर घुमाया और ज्योतिरूप अलख निरञ्जन ब्रह्म को कभी नहीं भजा।

कबीर कहते हैं कि केवल प्रभु-मूर्ति के चरणों से बरसाने धाम की आशा में काशी में रहने की अपेक्षा नरक में जाना अधिक श्रेयस्कर है।

तब काहे भूली बनजारे, अब आयो चाहै संगि हमारे ॥टेक॥
जब हम बनजी लौंग सुपारी तब तुम्ह काहे बनजी खारी।
जब हम बनजी परमल कसतूरी तब तुम्ह काहे बनजी कूरी॥
अमृत छाड़ि हलाहल खाया लाभ लाभ करि मूल गँवाया।
कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथैं आवागवन न होई ॥२६१॥

कबीर कहते हैं कि हे साधक! यदि तुम भक्ति मार्ग में हमारे साथी बनना चाहते हो तो क्यों इस संसार की विषय-वासना में पड़े हुए हो? जब हम प्रभु-भक्ति द्वारा लौंग सुपारी तुल्य मीठे बन गये हैं तो तुम माया-मोह में पड़ खारे क्यों बन रहे? जब हम प्रभु भक्ति द्वारा कस्तूरी सुगन्ध की भाँति सुवासित हो गये तो तुम कूड़े सदृश सड़ने पाप कर्मों से बने रहे। तुमने विषय-वासना सेवन से भक्ति अमृत को छोड़ वासना विष का सेवन किया और इस प्रकार लाभाशा में मूलधन—पूर्व संचित सत्कर्म—को भी गँवा दिया। कबीर कहते हैं कि यदि तुम मुझ जैसे ईश्वर भक्त और संसार से असम्पृक्त हो जाओ तो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाओगे।

परम गुर देखो रिदै बिचारी कछू करौ सहाइ हमारी ॥टेक॥
लवानालि तंति एक संमि करि, जंत्र एक भल साजा।
सति असति कछू नहीं जानूं जैसैं बजावा तैसैं बाजा॥
चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या मुसियत नगर तुम्हारा।
इनके गुनह हमह का पकरौ का अपराध हमारा॥
सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत जब आपा पर नहीं जाना।
ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै कहै कबीर मन मांना ॥२६२॥

कबीर यहाँ सद्गुरु को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे गुरुवर! तनिक हमारी दीन-दशा को चित्त में विचार कर तो देखो और कुछ तो हमारी सहायता कीजिए। माया और तनु की सहायता से मैंने भी एक यन्त्र का निर्माण किया है किन्तु मैं इसके बजाने की विधि सत्य-असत्य (सदसद्) से परिचित नहीं हूँ जैसे मन में आता है वैसे ही इसे बजा लेता हूँ। भाव यह है कि गुरुवर आप आपना के मेरा पथ-निर्देश कीजिए। वास्तव में यह अज्ञान ही और आपके बनाए चोर आपके भक्त की भक्ति निरन्तर भावनाओं को नष्ट कर रहा है। मैं अपना आपके बिना अज्ञान से कब मुक्ति

पा सकूंगा। अतः हे प्रभु ! मेरा कौन सा अपराध है जो आप मुझे इससे मुक्त नहीं करते ? कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! अब तो मन में यह विश्वास हो गया है कि हम और आप एक हैं, द्वैत भ्रम है। वस्तुतः प्रभु ! आपके रहस्य में पड़कर कोई उसी प्रकार नहीं निकल पाता जिस भाँति जल में डूबा हुआ नहीं निकल पाता।

विशेष—रूपक एवं उपमा अलंकार।

मन रे आहर कहाँ गयौ ताथै मोहि बैराग भयौ ।।टेक।।
पंच तत ले काया कीन्हीं तत कहा ले कीन्हां।
करमौं के बसि जीव कहत हैं जीव करम किनि दीन्हां।।
आकास गगन पाताल गगन दसौं दिसा गगन रहाई ले।
आनंद मूल सदा परसोतम घट बिनसै गगन न जाई ले।।
हरि मैं तन है तन मैं हरि है है पुनि नाहीं सोई।
कहै कबीर हरि नाम न छाड़ूं सहज होइ सु होई।।२१३।।

हे मन ! अब तू इस संसार को छोड़ अन्यत्र कहाँ रम गया (प्रभु-लोक-शून्य में) जो मुझ इस संसार से विरक्तता हो गई है। उस ईश्वर ने पाँच तत्वों से इस का निर्माण किया है किन्तु मृत्यु के पश्चात् न जाने पाँच तत्वों को वह कहाँ ले जाता है ? यदि जीवात्मा कर्मफल को भोगने के लिये ही इस संसार में आता है तो आप जीवन को कुकर्मों में लिप्त ही क्यों करते हो ? आकाश पाताल एवं दसों दिशाओं में वह ब्रह्म समान रूप से उसी प्रकार रमा हुआ है जिस भाँति शून्य—ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है। वस्तुतः शून्य कमल में ही आनन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म का निवास है। शरीर के नष्ट होने पर चाहे हृदय—मन—की सम्वान रहे किन्तु प्रभु फिर भी शून्य में उसी भाव से बसे रहते हैं। वह ब्रह्म वस्तुतः इस शरीर में भी वर्तमान है और शरीर भी ब्रह्म में है यह शरीर शून्य मात्र नहीं प्रभु-परिपूर्ण है। कबीर कहते हैं कि मैं ईश्वर नाम का सम्बल नहीं छोड़ सकता उसे सहज-साधना से प्राप्त किया जा सकता है।

हमारे कौन सहै सिरि भारा
सिर की सोमा सिरजनहारा ।।टेक।।
टेढ़ी पाग बड़ जूरा जरि भए भसम कौ कूरा।।
अनहद की घुरी बाजी तब काल द्रिष्टि मैं भागी।
कहै कबीर राँम राया हरि कै रंगै मूंड मुड़ाया।।२१४।।

सिरि भारा—पाप बोझ। सिरजनहारा—स्रष्टा ब्रह्म। टेढ़ी पाग—तिरछा साफा बाँधने से तात्पर्य। बड़ जूरा—बड़ा जूड़ा वैष्णव-भेष्याव की पद्धति विशेष। घुरी—बजी। कालद्रिष्टि मृत्यु। भ—भय। मूंड मुड़ाया—विरक्त होना।

कबीर कहते हैं कि इस सांसारिक विषय-वासना बोझ का सहना हमारे लिए सम्भव नहीं। हमने पाप-पोट व्यर्थ सिर पर रख रखी है, वस्तुतः जीव की वास्तविक शोभा स्रष्टा की भक्ति है। प्रेम से रचे गये साफे, बड़े-बड़े जूड़े अर्थात् समस्त शृंगार-प्रसाधन जलकर क्षार रूप में परिणत हो जाते हैं। मिट्टी में मिल जाते हैं। अनहद नाद होने पर ही साधक का मृत्यु भय विदूरित होता है। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मैंने आपके भक्ति रंग में रंगकर ही संसार से विरक्तता ली है।

कारनि कौंन सवारै देहा, यहु तनि जरि बरि ह्वै है षेहा ॥टेक॥
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ कै संगा।
बहुत जतन करि देह मुटयाई, अगनि दहै कै जंबुक खाई॥
जा सिरि रचि रचि बांधत पागा, ता सिरि चंच सवारत कागा।
कहि कबीर तन झूठा भाई, केवल राम रह्यौ ल्यौ लाई ॥२६५॥

षेहा=धूल। देह मुटयाई=शरीर बनाया। जंबुक=लोमड़ी। रचि रचि=बना बनाकर। चंच=चंचु, चोंच।

हे मनुष्य! तू क्यों व्यर्थ इस शरीर के सौन्दर्य प्रसाधन में लगा हुआ है? यह तो जल कर भस्म होकर भूमि में मिल जायगा। जिस शरीर को तू चोवा और चन्दन निर्मित अंगरागों से सजा रहे हो वह मृत्यूपरान्त चिता पर लकड़ी के साथ जलता है। अनेक भाँति के प्रयत्न करने पर जिस शरीर को परिपुष्ट किया है वह या तो अग्नि में जलता है अथवा लोमड़ी (आदि जंगली जानवर) ही खाती है। जिस शीश पर बड़े गौरव से साफे की पाग बनाकर धारण करते हो उसे कौए अपनी चोंच से कुरेदते हैं। अतः इस शरीर का शृंगार प्रसाधन वृथा और इस जीवन की आयु-पर्यन्त ही सीमित है। अतः यह दृश्य मिथ्या है केवल ब्रह्म में अपनी वृत्तियाँ लगानी चाहिए—ऐसा कबीर का विचार है।

धन धंधा ब्योहार सब, माया मिथ्या बाद।
पांणी नीर हलूर ज्यूं, हरि नांव बिना अपवाद ॥टेक॥
इक राम नाम निज साचा, चित चेति चतुर घट काचा।
इस भरमि न भूलसि भोली, विधना की गति है ओली॥
जीवते कूं मारन धावैं, मरते कौं बेगि जिलावै।
जाकै हुहि जम से बैरी, सो क्यूं सोवै नींद घनेरी॥
जिहि जागत नींद उपावै, तिहि सोवत क्यूं न जगावै।
जलजल न देखिसि प्रांनी, सब दीसै झूठ निसांनी॥
तन देवल ज्यूं धज आछै, पड़ियां पछितावै पाछै।
जीवत ही कछू कीजै, हरि राम रसाइन पीजै॥

राम नाम निज सार है माया लागि न कोई।
अति कालि सिरि पोटली ले जात न देख्या कोई॥
कोई ले जात न देख्या बलि बिक्रम भोज गस्टा।
काहू कै संगि न राखी दीसै बीसल की साखी॥
जब हुंस पवन त्यौ खेलै पसरयौ हाटिक जब मेलै।
मानिख जनम अवतारा नां ह्वै है बारबारा॥
कबहूं है किसा बिहांना तर पंखी जेम उडानां।
सब आप आप कूं जाई को काहू मिलै न भाई॥
मूरिख मनिखा जनम गवाया बर कौडी ज्यूं डहकाया।
जिहि तन धन जगत भुलाया, जग राख्यौ परहरि माया॥
जल अंजुरी जीवन जैसा ताका है किसा भरोसा।
कहै कबीर जग धंधा काहे न चेतहु अंधा॥ १९

ब्यौहार सब=समस्त क्रिया कलाप। मिथ्यावाद=मृण्मय अनि नाशवान्। चट=इसका अर्थ यहां मन। मौली=विचित्र अनुपम। बनेरी=पह अचेत। जलजन्त=जलजन्तु, जल के जीव। देवल=मन्दिर। बच=मन हाटिक=स्वर्ण। मानिख=मनुष्य। बिहांना=बहाना। डहकाया=खो दि अंजुरी=अंजलि।

कबीर कहते हैं कि इस जगत् का समस्त काम-कलाप और प्रत्येक व विधि मिथ्या है। इसकी सत्ता पानी के समान क्षणिक है। प्रभु-नाम के बिना संसार व्यर्थ है अथवा प्रभु-नाम अर्थात् भक्ति का ही कर्म इस संसार में मि नहीं है, अन्यथा सब-कुछ नाशवान् है।

हे मनुष्य ! तू हृदय में सावधान हो जा क्योंकि मन बड़ा अस्थिर है। सं मे प्रभु नाम ही एकमात्र सत्य है। तुम इस संसार के माया-मोह—भ्रम—में पड़ना। ईश्वर की गति बड़ी विचित्र है। यह उसी की सामर्थ्य है कि वह जीवित अस्तित्व क्षण भर में समाप्त कर दे और मृतक को पुनः जीवन-दान दे-दे। जीव की—मनुष्य की मृत्यु पास है, उसे गहरी नींद मे अचेत ही नहीं सोना चा अज्ञान म नहीं पड़ना चाहिए। हे प्रभु ! यदि आप जीवात्मा को ऐसी कुमति प्र करते हो कि वह अज्ञानग्रस्त ही संसार मे पड़ जाता है तो आप उसे ऐसी चेतना नहीं देते कि वह ज्ञान से अज्ञान की ओर, संसार से भक्ति की ओर प्रवृत्ति से नि की ओर चले। मनुष्य जग में पड़े हुए कीटाणुओं को नहीं देख सकता इसी विरवासमय स्थित नाश की वह कल्पना नहीं करता है ये क्षणिक आनन्द प्रत्यक्ष में आनन्द दृष्टिगत होते हैं वैसे मे विनाशमानस है। इस शरीर में ही ब्रह्म का नि

—मन्दिर—है जो अपनी प्रभासहित गौरव से स्थित है। इसलिए अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर लो कभी जीवन-संध्या निकट होने पर व्यर्थ पछताओ। प्रभु नाम ही इस संसार में सत्य है माया के फन्द में पड़कर तुम इसे विनष्ट मत करो। धन का मोह वृथा है क्योंकि मृत्यु के समय इसे कोई यहां से नहीं ले जाता। बलि विक्रम और भोज जैसे भी अपना समस्त धन-वैभव यहीं छोड़ गये फिर तुम्हारी तो बात ही क्या ? यह सम्पत्ति कभी किसी के साथ नहीं गई इसकी साक्षी वेदव्यास ने भी दी है। जब आत्मा प्राणायाम साधना द्वारा शून्य में लय होती है, तभी उसे शून्य सागर के मोती—स्वर्ण—(आनन्द की अतुलित राशि) प्राप्त होते हैं। यह मनुष्य जन्म बारम्बार प्राप्त नहीं होता अतः इसे व्यर्थ मत खोओ। तब तुम किसे दोष दोगे जब प्राण किसी चमत्कारी पक्षी के समान उड़ जायगे ? सब मनुष्य अपनी स्वार्थ-साधना में अनुरक्त हैं प्रभु-मिलन की चिन्ता किसी को भी नहीं। हे मूर्ख अज्ञानी ! तुमने यह अमूल्य मनुष्य-जन्म कौड़ी तुल्य मूल्य पर दे दिया तो दिया। शरीर और सम्पत्ति मोह में पड़ संसार अपना वास्तविक कर्तव्य—प्रभु-भक्ति—को विस्मृत कर रहा है। संसार में माया का परित्याग कर ही रहना चाहिए। जीवन अंजुलि में भरे जल जो जब चाहे तब समाप्त हो सकता है और प्रतिक्षण कम होता रहता है की भांति है। कबीर कहते हैं कि यह संसार केवल पाप-मय ही है अ हे अज्ञानी जीवात्मा तू सावधान हो प्रभु-भक्ति क्यों नहीं करता ?

विशेष—१ रूपक उपमा आदि अलंकार।

२ पंजाबी भाषा के अनुसार शब्दरूपों का प्रयोग यथा— 'भूलति'।

३ टेक की दूसरी पंक्ति में 'पाणी नीर' में पुनरुक्ति।

४ "जस अंजुरी जीवन जैसा" उपमा बड़ी सार्थक एवं सौन्दर्यमयी है। इस उपमा को रख कबीर ने जीवन की अस्थिरता और प्रतिपल होते नाश का बड़ी सफलता से व्यक्त कर दिया है।

५ ऐतिहासिक व पौराणिक नाम—

बलि—एक प्रसिद्ध प्रतापी, दानी राजा जिसे विष्णु ने वामन रूप धर उसकी दानशीलता को परखने के लिए छला था। ये विरोचन के पुत्र और प्रह्लाद के पौत्र कहे जाते हैं।

विक्रम—यह भी एक बड़े प्रतापी और प्रसिद्ध राजा हुए हैं विक्रम सवत् के प्रचारक भी यही हैं। वास्तव विक्रम के सिंहासन बत्तीसी और अनेक दन्तकथायें प्रचलित हुई हैं।

भोज—'कबीरबीजक' में इनके विषय में निम्न विवरण दिया हुआ है—

"यह उज्जैन के राजा थे जिन्होंने अपनी राजधानी धारा नगरी बनाई थी।

इनके पिता इन्हें छोड़कर बाल्यकाल में ही स्वर्ग सिधार गये थे। अतः इनका चाचा मुंज राजा हुआ। पहले मुंज इन्हें बड़े प्रेम से देखता था परन्तु एक दिन वह उस पाठशाला को जिसमें भोज पढ़ता था देखने गया वहाँ भोज की विद्या-चातुरी को देखकर दंग रह गया। पण्डितों ने भी भोज की बड़ी प्रशंसा की। मुंज सोचने लगा कि कुछ दिनों के बाद तो लोग भोज को ही राजा बनायेंगे अतः मन्त्री को बुलाकर सारा ब्यौरा बतलाया और आज्ञा दी कि इसे वन में ले जाकर मार डालो और सिर काट कर मेरे पास लाओ। इस निमित्त मन्त्री ने भोज को वन में ले जाकर सारा हाल बतलाया भोज ने एक श्लोक अपने चाचा को लिखकर मन्त्री को दिया जिसका भावार्थ यह था कि सत्ययुग का राजा मान्धाता त्रेता के समुद्र पर पुल बाँधने वाले और रावण-हन्ता राम द्वापर के युधिष्ठिर आदि अनेक राजा स्वर्गगामी हुए, परन्तु यह पृथ्वी किसी के साथ नहीं गई, स्यात् अब वह कलियुग में आपके साथ अवश्य जायेगी। मन्त्री ने इससे प्रभावित हो भोज को न मार कर एक बनावटी सिर लाकर मुंज के आगे रखा और वह श्लोक भी दिया जिसे पढ़कर मुंज बहुत पछताया और मरने पर उद्यत हो गया। तब मन्त्री ने सारा रहस्य बतलाया और भोज को राजा मुंज के सामने उपस्थित किया। मुंज ने भोज से अपने अपराध की क्षमा माँगी और उसे गद्दी पर बिठलाकर आप वन को तपस्या करने चले गये। भोज का राज्य प्रबन्ध बहुत ही अच्छा था। धारा नगरी में सुन्दर मकानों और सड़कों को देखकर इन्द्रपुरी का भ्रम हो जाता था। प्रत्येक विद्या की अलग-अलग पाठशालाएं, चिकित्सा के लिए अस्पताल और प्रत्येक प्रबन्ध के लिए अलग-अलग समितियां तथा भवन थे। सारा प्रजावर्ग सन्तुष्ट दिखाई देता था। भोज की राजसभा के पण्डितों की बहुत सी कथाएं भी प्रचलित हैं जिनसे उस समय की संस्कृत विद्या का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

रे चित चेति च्यंति लै ताही
जा च्यंतत आपा पर नाहीं ।।टेक।।
हरि हिरदै एक ग्यान उपाया ताथैं छूटि गई सब माया।
जहाँ नाद न ब्यंद दिवस नहीं राती नहीं नरनारी नहीं कुल जाती ।।
कहै कबीर सरब सुख दाता अविगत अलख अभेद बिधाता ।।२८७।।

हे मन! तू सावधान होकर उस ईश्वर का ध्यान कर जिसके चिन्तन से अपने-पराये का भेद विलुप्त हो जाता है। प्रभु का हृदय में ध्यान आते ही समस्त माया-बन्धन छूट जाता है। प्रभु का ध्यान करने से जिस अनाहद नाद की प्राप्ति होती है जिस सूक्ष्म-अणु की उत्पत्ति होती है वहाँ न तो रात्रि है और न दिन न वहाँ नर है न नारी न जाति कुल का भेद है। कहने का तात्पर्य यह है कि वहाँ सब समता

संसार त्याग जाता है। उस विरक्त के लिए हाथी घोड़ा ग्राम किला नहीं रहते, भूमि आदि ऐश्वर्य उपकरणों में कोई आकर्षण शेष नहीं रह जाता। उस माया-त्यागी के लिए तो नगर भी उजाड़ ही होता है। उस साधक को छत्र सिंहासन चमर धारण करने अथवा अन्य ऐश्वर्य साधनों में तथा कामोपभोग के साधन—सुन्दरी अन्य एवं मधुर संगीत में उसके लिए कोई रस नहीं रह जाता है। साधक-शूर माया त्याग के लिए बड़ा साहसपूर्ण पग उठाता है। वह समस्त सुखों का परित्याग कर सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग का ही अवलम्बन करता है। जिन लोगों ने मन वाणी और कर्म से प्रभु का भजन किया है वे बड़े भाग्यशाली हैं। कबीर कहते हैं कि उस ब्रह्म का ध्यान करने से साधक अमर हो जाता है।

विशेष—१ टेक के पश्चात् प्रथम पंक्ति में पुनरुक्ति दोष है किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कबीर इस दोष में दोषी नहीं 'मसि कागद छूया नहीं, कलम गही नहीं हाथ' वाले संत की झपसी की लय में जो शब्द ठीक बैठा वह उसने कह दिया।

२ भरथरी—"यह उज्जैन के राजा थे जिन्हें अपनी रानी पिंगला का चरित्र देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया था अतः ये अपना सारा राज-पाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर योगी होकर बन में चले गये थे—कबीर बीजक।

गोरखनाथ—ये नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं नौ नाथों में सर्वप्रमुख माने जाते हैं। कबीर ने अनेक स्थलों पर सद्गुरु के प्रतीक रूप मे इस नाम का उल्लेख किया है।

सार सुख पाईये रे, रंगि रमहु आत्मारांम ॥टेक॥
बनह बसे का कीजिये जे मन नहीं तजै बिकार।
घर बन तत समि जिनि किया ते बिरला संसार॥
का जटा भसम लेपन कियें कहा गुफा में बास।
मन जीत्यां जग जीतिये जौ बिषया रहै उदास॥
सहज भाइ जे ऊपजै ताका किसा मांन अभिमांन।
आपा पर समि चीनिये तब मिलै आतमांरांम॥
कहै कबीर कृपा भई गुर ग्यांन कह्या समझाइ।
हिरदै श्री हरि भेटिये जे मन अनतै नहीं जाइ॥१॥

सार—समस्त। रंगी—प्रभु-भक्ति का रंग। बनह—वन में। बिकार—पाप पंच बिकार—काम क्रोध मद लोभ मोह। उदास—विरक्त। भाइ—भाव। आतमारांम—ब्रह्म। अनतै—अन्यत्र।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! प्रभु भक्ति में अपनी वृत्तियाँ केन्द्रित कर देने से समस्त सुखों की प्राप्ति होती है। वन में तपस्या करने से तब तक क्या लाभ जब तक मन विषय-विकारों का परित्याग नहीं करता। जो साधक घर और वन सुख-दुख को समान समझते हैं वे तो संसार में विरले ही हैं। विरक्त होकर जटा धारण करने और भस्म मोटने से कोई लाभ नहीं—जो साधक मन की वृत्तियों को नियन्त्रित कर विषय-वासना से दूर रहता है वही सच्चा साधक है। सहज साधना से जिस ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह मानापमान से परे है। अहं-पर की भावना का परित्याग करने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। कबीर कहते हैं कि मुझ पर सद्गुरु की कृपा हो गई है अतः उन्होंने परम ज्ञान का उपदेश मुझे प्रदान किया जिससे हृदयस्थित ब्रह्म का स्वरूप मालूम हो गया और अब मन अन्यत्र न भटक कर प्रभु में ही लीन रहता है।

है हरि भजन कौ प्रवान।
नीच पावैं ऊँच पदवी बाजते नीसान ।।टेक।।
भजन कौ प्रताप ऐसो तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका चढ़े जात बिवांन ।।
नव लख तारा चलै मंडल चलै ससिहर भांन।
दास धूकौं अटल पदवी रांम कौ दीवांन ।।
निगम जाकी साखि बोलैं कहैं संत सुजांन।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ राखि लेहु भगवांन ।।१ २।।

प्रभु भजन महिमा का प्रमाण ऐसा है कि नीच व्यक्ति भी उच्चतम पद प्राप्त कर लेता है और उसके यहाँ ऐश्वर्यसूचक नगाड़े बजने लगते हैं। ईश्वर भजन का प्रताप है कि जल पर पत्थर भी तैरने लगते हैं। नीच भीलनी शबरी एवं वेश्या गणिका प्रभु भक्ति के द्वारा स्वर्गारोहण के लिए विमान प्राप्त हुए। राम भजन के सम्मान से ही नौ लाख नक्षत्र एवं चन्द्र और सूर्य चले। ब्रह्म वास्तव में ऐसा ही अनुपम है। भागवत कहते हैं कि वेदादि धर्मग्रन्थ भी उसकी अनुपमता की साक्षी देते हैं। हे प्रभु ! दास कबीर आपकी शरण में आया है उसे अपनी शरण देकर रक्षा करें।

विशेष – १ इस पद में कबीर का ध्यान बहुत से पौराणिक आख्यानों की ओर गया है—'तिरे जल पाषान' में राम के सागर पर पुल बाँधने 'अधम भील' में शबरी की कथा की ओर संकेत है।

२ सूरदास के निम्न पद से तुलना कीजिए—
"अविगत गति कछु कहत न आवै।

चकई सखी आइये तहाँ जहाँ मग्न पाइये परमानंद ।।टेक।।
मह मन सामन घूमनी मैरो तन दीजन निन जाइ।
चिंतामनि चित चोरियो, तापें कछू न सुहाइ ।।

सुनि सखी सुपिने की गति ऐसी हरि आये हम पास।
सोवत ही जगाइया जागत भये उदास ॥
अब सखी बिलम न कीजिए, जब लग सांस सरीर।
मिलि रहिये जगनाथ सू यू कहै दास कबीर ॥३ २॥

कबीर आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे सखी उस पूर्ण स्वरूप को पाय जहाँ पूर्णानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस मन की गति धुएँ के समान चंचल और अस्थिर है, शरीर वासनारत रहने के कारण दिन प्रति-दिन क्षीण होता जा रहा है। सबकामना पूर्ण करने वाली चिंतामणि के तुल्य प्रभु में वृत्तियां लगने से मुझे संसार में और कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। अब कवि अपने प्रिय के साक्षात्कार महामिलन का वर्णन करता कहता है कि हे सखी! स्वप्न में मुझे प्रभु के दर्शन प्राप्त हुए किन्तु शीघ्र ही मेरी निद्रा खुल गई और पुन वही वियोग-वेदना शेष रह गयी। अत हे सखी! अब तू उस प्रियतम की खोज के लिए देर मत कर। जब तक शरीर में प्राण है, जीवन है तब तक उस प्रभु से मिलने का प्रयत्न कर—दास कबीर का यही उपदेश है।

विशेष—निद्रा में प्रिय-मिलन वर्णन करने की परिपाटी कवियों की प्राचीन रही है विद्यापति देव आदि ने भी इसका वर्णन किया है यथा—

सोय रहे सपने मेरे जागि गा जापन में। देव

मेरे तन मन लागी चोट सठोरी।
बिसरे ग्यान बुधि सब नाठी भई बिकल मति बौरी ॥टेक॥
देह बदेह गलित गुन तीनू चलत अचल भई ठौरी।
इत उत चित चित्त द्वादस चितवत यहु भई गुपत ठगौरी ॥
सोई पै जानैं पीर हमारी जिहि सरीर यहु ब्यौरी।
जन कबीर ठग ठग्यो है बापुरी सु नि समानी त्यौरी ॥१॥ ११

मेरा अन्तर-बाह्य सब प्रभु की प्रेम-तीर से बिंधा हुआ है जिससे समस्त ज्ञान विज्ञान एव विवेक नष्ट हो गया है और मैं प्रभु के लिए आकुल-व्याकुल हूँ। मुझे अब अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही है तथा मेरे लिए सत रज तम—त्रिगुणात्मक संसार की समाप्ति हो चुकी है। मैं जिधर भी देखता हूँ उधर द्वादश पर्यन्त के प्रकाश से परिपूर्ण ईश्वर का दर्शन होता है—यह एक प्रकार से गुप्त रूप जादू सा हो गया। मेरी व्यथा का अनुमान वही कर सकता है जो स्वयं इस प्रेम-तीर से बिद्ध हो। प्रेम-प्रेम तीर से घायल भक्त कबीर की सकल समस्त चित्त वृत्तियां उस शून्य में ही केन्द्रित हो गई जहाँ प्रभु का वास है।

विशेष—१.टेक की पंक्तियों से तुलना कीजिए—

"इश्क नाजुक मिजाज है बेहद का बोझ उठा नहीं सकता।

२ ब्रह्म का द्वादश आदित्यों के प्रकाश से परिपूर्ण होना गीता आदि अनेक ग्रन्थों में बताया गया है।

> मरो ग्रखियां जाम सुजांन भई।
> देवर मरम सुसर सम तजि करि, हरि पीव तहां गई ।।टेक।।
> बालपने के करम हमारे काटे जांनि दई।
> बांह पकरि करि कृपा कीन्हीं आप समीप लई।।
> पानी की बूंद थें जिनि प्यंड साज्या ता सगि अधिक करई।
> दास कबीर पल प्रेम न घटई दिन दिन प्रीति नई ।।१४।।

मेरे नेत्र प्रभु दर्शन द्वारा एक नवीन प्रकाश से परिपूर्ण हो गए हैं। सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर अब वे वहां बसे गए हैं जहां परमात्मा का निवास है। भाव यह है कि अब मैंने प्रभु-भक्ति मार्ग को ग्रहण कर लिया है। अज्ञानावस्था में जो पाप कर्म मैंने किये थे प्रभु ने उन्हें विस्मृत कर मुझे अपना लिया। जिस प्रभु ने वीर्य की एक बूंद से इस सुन्दर शरीर का निर्माण किया उससे प्रेम करना उसका भजन करना हमारा परम कर्तव्य है। कबीर कहते हैं कि उस प्रभु से मेरा प्रेम दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही है घटता नहीं है।

> हो बलियां कब देखौंगी तोहि।
> अह निस आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापै मोहि ।।टेक।।
> नैन हमारे तुम्ह कूं चाहैं रती न मानं हारि।
> बिरह अगिनि तन अधिक जरावै ऐसी लेहु बिचारि।।
> सुनहु हमारी दादि गुसांई, अब जिन करहु बधीर।
> तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामीं कांचै भांडै नीर।।
> बहुत दिनन के बिछुरे माधौ मन नहीं बांधै धीर।
> देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर ।।१५।।

बलियां—स्वामी। रती—रत्ती तनिक भी। हारि—पुकार। बधीर—देरी। आरतिवंत—आर्त दुखी विर्ह ग्रस्त

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मुझे कब आपका दर्शन प्राप्त होगा आप के दर्शनाभाव में मैं नित्य प्रति आठों प्रहर व्याकुल रहता हूं। मेरे नेत्र व्याकुलता-पूर्वक आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं वे तनिक भी अपने प्रतीक्षा पथ से नहीं हटे हैं। आप मन में हमारी दयनीय अवस्था को विचार कर देखिये कि किस प्रकार विरहाग्नि से मैं अहर्निश दग्ध होता हूं। हे करुणा-

मिलाना ! आप मेरी पुकार सुनकर दया कीजिए, अब कृपा करने में विलम्ब मत कीजिए । हे प्रभु ! आप धैर्य के साक्षात् स्वरूप हैं और मैं आतुरता का पुतला । वस्तुतः मेरा अस्तित्व तो कच्चे पात्र में भरे हुए जल के समान है जो चाहे तब विनष्ट हो सकता है । हे माधव प्रभु ! मेरा और आपका विराम बहुत समय से है अतः मन आपके मिलनार्थ अधीर हो रहा है । अब शरीर क्षीण हुआ जा रहा है अतः दुखी कबीर को आप शीघ्र दर्शन दीजिए ।

विशेष—१ रूपक दृष्टांत आदि अलंकार ।

२ यहाँ कबीर में सगुण भक्त के समान आतुरता दृष्टिगत होती है ।

३ बहुत दिवस और में 'मसाँडी' की पुष्टि हुई है ।

मैं दिन कब आवैंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंगि लगाइ ।।टेक।।
हौं जानूं जे हिल मिलि खेलूं तन मन प्रांन समाइ ।
या कांमनां करो परपूरन समरथ हौ रांम राइ ।।
मांहि उदासी माधौ चाहै चितवत रैनि बिहाइ ।
सेज हमारी स्यंघ भई है जब सोऊं तब खाइ ।।
यहु अरदास दास की सुंनिये तन की तपति बुझाइ ।
कहै कबीर मिलै जे सांई मिलि करि मंगल गाइ ।।३ ६।।

कबीर यहाँ अपने प्रियतम से मिलन की व्याकुलता को प्रदर्शित करते कहते हैं कि हे सखि ! वह दिवस कब आवेगा जब इस जन्म का प्रयोजन सफलीभूत हो प्रिय से साक्षात्कार होगा ? मैं तब अपने प्रियतम से एकमेक हो अनेक प्रेम-क्रीड़ाएँ करूँगी । हे स्वामी ! आप मेरी इस कामना को शीघ्र ही पूर्ण कर दो क्योंकि आप तो सब भाँति समर्थ हो । मैं इस संसार से विरक्त हो नित्य-प्रति अहर्निशि आपको ही देखना चाहता हूँ । आपके वियोग में मुझे शय्या सिंह के समान भयानक लगती है और जब उस पर सोने का उपक्रम करता हूँ तो वह काटने को दौड़ती है । हे प्रभु ! आप भक्त कबीर की यह विनती सुन लीजिए कि मेरे शरीर का विरह-ताप समाप्त कर दो । कबीर कहते हैं कि सब मनुष्य मिलकर प्रभु का गुणगान करो जिससे शीघ्र उनका दर्शन लाभ हो ।

विशेष—१ नामस्मरण का महत्व अन्तिम चरण में अभिव्यक्त हुआ है ।

२ इस पद में कबीर की विरहिणी आत्मा 'वासकसज्जा' नायिका के समान प्रियतम की प्रतीक्षा करती है ।

बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।।टेक।।
सब को कहै तुम्हारी नारी मोकौं इहै अदेह रे ।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे ।

अन्न न भावै नींद न आवै ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूं कामीं कौं काम पियारा ज्यूं प्यासे कूं नीर रे॥
है कोई ऐसा पर-उपगारी हरि सूं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं बिन देखे जीव जाइ रे॥१ ७॥

हे प्रभु! आप आकर शीघ्र दर्शन दीजिए। आपके बिना यह शरीर विरह विदग्ध हो रहा है। सब मुझे आपकी पत्नी कहते हैं—यही तो मेरे लिए असह्य है कि आपकी अर्द्धांगिनी होते हुए भी आपसे अलग हूं। जब तक पूर्ण तादात्म्य न हो तन मन दोनों एक होकर हम शय्या-शयन न करें तब तक प्रेम कैसा? वियोगी आत्मा को तो प्रिय के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता उसकी निद्रा भी भाग गई तथा घर-वन कहीं भी उसकी वृत्ति नहीं रमती। मुझे आप उतने ही प्रिय हैं जितना कामी पुरुष को काम-पूर्ति के साधन—स्त्री और संगीत आदि एवं तृषावन्त को जल। कोई ऐसा परोपकारी व्यक्ति भी है जो प्रभु से मेरी व्यथा का कथन कर सके। कबीर की स्थिति अब ऐसी हो गई है कि आपके दर्शनों के बिना यह जीवित नहीं रह सकता।

विशेष—१ वियोग की प्रथम अवस्था की सूचना इस पद में प्राप्त होती है।

२ तुलसी से तुलना कीजिए—

"कामी जिमिहि नारि प्रिय ऐसेइ मोहि तुम राम।"

३ उपमा अलंकार।

माधौ कब करिहौ दया।
काम क्रोध अहंकार व्यापै ना छूटै माया॥टेक॥
उतपति व्यंद भयो जा दिन थैं कबहूं सच नहीं पायौ।
पंच चोर संगि लाइ दिए हैं इन संगि जनम गवांयौ॥
तन मन डस्यौ भुजंग भामिनीं लहरी वार न पारा।
सो गारडू मिल्यौ नहीं कबहू पसरयौ बिष बिकरारा॥
कहै कबीर यहु कासूं कहिये यहु दुख कोइ न जानैं।
देहु दीदार बिकार दूरि करि तब मेरा मन मानैं॥१ ॥

सच—शान्ति सुख। पंच चोर—काम क्रोध मद लोभ मोह। गारडू—गरुड़। दीदार—दर्शन।

हे प्रभु अब आप दयाकर दर्शन दीजिए क्योंकि मुझे काम क्रोध एवं अहंकार ग्रस्त कर रहे हैं तथा माया-बन्धन नहीं छूटता। जिस समय से मैंने जीवन धारण किया है तभी से कभी सुख शान्ति लाभ नहीं किया। मैंने समस्त जीवन काम क्रोध

मद, लोभ मोह पंच चोरों के साथ रहकर व्यर्थ नष्ट कर दिया। स्त्री रूपी सर्पिणी ने तन-मन को अपने विषय-वासना-रूपी विष से डस लिया है उसके विष की कोई सीमा नहीं जिससे मेरा मन प्रत्यंग जल रहा है। वह गरुड़—सद्गुरु—मुझे अब तक प्राप्त न हो सका जो इस विष को उतार देता। कबीर कहते हैं कि मैं अपनी व्यथा का वर्णन किससे करूं मेरी वेदना से कोई भी परिचित नहीं। हे प्रभु! इन विषय-विकारों को विदूरित कर आप दर्शन दीजिए तभी मेरा मन शान्ति लाभ करेगा।

मैं बन भूला तू समझाइ।
चित चंचल रहै न अटक्यौ विषै बन कूं जाइ ॥टेक॥
ससार सागर मांहि भूल्यौ थक्यौ करत उपाइ।
मोहनी माया बाघनीं थैं राखि लै राम राइ ॥
गोपाल सुनि एक बीनती सुमति तन ठहराइ।
कहै कबीर यहु काम रिप है, मारै सबकूं ढाइ ॥१२०॥

रिप=रिपु, शत्रु।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मैं संसार भ्रम में पड़ा हुआ हूं इससे आप ही मुक्त कर सकते हैं। मेरा चंचल मन स्थिर नहीं रहता रोके रहने पर भी विषय-वासना-वन में भटकने के लिए पहुंच जाता है। मुझ भवसागर में पथ-विभ्रम हो गया है और इससे पार पाने के उपक्रम करते-करते मैं परिश्रान्त हो गया हूं। हे राम! मुझे आप इस मोहिनी जैसी सुन्दर बाघिनी माया से बचा लो। हे नाथ! मेरा निवेदन सुन इस शरीर—मन—को स्थिर कर दीजिए। नाथ यह है कि ऐसी सद्बुद्धि प्रदान कीजिए कि मेरा मन विषय-वासना के आकर्षणों में न भटके। कबीर कहते हैं कि काम सबका शत्रु है जो सबको नष्ट कर रहा है।

विशेष—१ रूपक अनुप्रास आदि अलंकार।

२ कबीर ने यहां अपने निर्गुण ब्रह्म के लिए अवतारी नामों का प्रयोग किया है।

भगति बिन भौजलि डूबत है रे।
बोहिथ छाडि बैसि करि डूंडै
बहुतक दुख सहै रे ॥टेक॥
बार बार जम पैं डहकावै हरि को ह्व न रहै रे।
चोरी के बालक की नाई, कासूं बाप कहै रे ॥
नलिनीं के सुवटा की नांई जग सूं राचि रहै रे।
बंसा अगनि बंस कुल निकसै आपहि आप दहै रे ॥
यहु संसार धार मैं डूबै अघफर थाक रहै रे।
खेवट बिनां कवन भी तारै, कैसैं पार गहै रे ॥

दास कबीर कहै समझावै हरि की कथा जीव रे।
राम को नाम अधिक रस मीठौ, बारबार पीव रे ॥११॥

औगति=अव गति । बोहिथ=बोहित पुराने समय का पालों से चलने वाला जहाज । चेरी=दासी । रचि=अनुरक्त । बंसा=बांस । भौ=भव भवसागर ।

भक्ति के सम्बल बिना जीवात्मा इस संसार-सागर में डूब जायेगी जिस प्रकार जहाज का पक्षी जहाज का आश्रय छोड़कर अनेक दुख सहता है और अन्त में पुन जहाज पर ही आता है वही अवस्था मेरी है कि मैं आप से वियुक्त हूं संसार तापों से झुलस रहा हूं। यम बारम्बार आवागमन के चक्र में डाल व्यथित करता है। प्रभु बिना इस दुख से त्राण नहीं। जिस भांति दासी-पुत्र अपनी व्यथा का (माँ के अतिरिक्त) किसी से नहीं कह सकता क्योंकि कोई भी उसकी व्यथा-कथा को सुनने वाला नहीं है उसी भांति मैं अपना दुख आपके अतिरिक्त और किससे कहूं? जिस प्रकार नलिनी का तोता यह जानते हुए भी कि इस लकड़ी को पकड़ने से मुझे दुख होगा मेरा अस्तित्व इससे गिरने से समाप्त हो सकता है, उसे पकड़े रहता है उसी भांति यह जानते हुए कि विषय वासना मेरे नष्ट होने का कारण है मैं उन्हीं में अनुरक्त रहता हूं एवं इस प्रकार मैं वैसे ही नष्ट हो जाता हूं जैसे बांस समूह अपनी ही अग्नि से विनष्ट हो जाता है। इस संसार-सागर की धारा के मध्य मैं डूब मैं बिल्कुल थक गया हूं अब किनारे को भी नहीं जा सकता। अब बिना खिवैया के मेरी नौका संसार-सागर के पार नहीं उतर सकती। कबीरदास जी संसार को समझा रहे हैं कि इस संसार में प्रेम भक्ति ही एकमात्र जीवनाधार है। राम-नाम के मीठे रस को बारम्बार पीना ही श्रेयस्कर है।

विशेष—१ टेक के भाव की तुलना कीजिए—

'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै।'

२ 'नलिनी के सुवटा' का उपमान सब ही भक्त कवियों को बड़ा प्रिय रहा है। सूर तुलसी एवं कबीर आदि ने अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग किया है।

३ रूपक उपमा उदाहरणमाला आदि अलंकार।

चलत कत टेढ़ौ टेढ़ौ रे।
नऊं दुवार नरक धरि मूँदे तू दुरगंधि कौ बेढ़ौ रे ॥टेक॥
जे जारै तौ होइ भसम तन रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वांन काग कौ भखिन तामैं कहा भलाई ॥
फूटे नैन हिरदै नाहीं सूझै, मति एकै नहीं जांनीं।
माया मोह ममिता सूं बांध्यौ बूडि मूवौ बिन पांनीं ॥

बारू के भरवा में बैठो चेतत नहीं अयांनो।
कहै कबीर एक राम भगती बिन बूडे बहुत सयांनो ॥१११॥

कबीर मन को प्रताड़ना देते हुए कहते हैं कि तू इतराता क्यों फिरता है ? जो दौर तुझे नरक में धकेल रहे हैं और तू अपने पाप-कर्मों से केवल मात्र दुर्गन्ध की, घृणा की ढेरी बन गया है। यदि मैं अपने इस शरीर को जलाता हूँ तो जीवन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और यदि इसे धारण करता हूँ तो कर्म-विपाक से यह प्रतिदिन नष्ट हो रहा है। सूअर कुत्ते एवं काग के समान ही यदि मनुष्य भी अभक्ष्य को ग्रहण करने लगे तो मानव-जीवन की श्रेष्ठता और सार्थकता भी क्या ? अतः मनुष्य को सूअर श्वान एवं काग जैसे निकृष्ट व्यवहार नहीं करने चाहिए। अब मैं ऐसा अज्ञानांध हो गया हूँ कि मुझे कुछ नहीं सूझता तथा यदि विवेक जैसी किसी भी चीज से मेरा परिचय नहीं रह गया है, अब मैं माया मोह, ममता आदि में फंसकर अध-पतन के गर्त में डूब रहा हूँ—इस प्रकार बिना पानी के ही मैं डूब रहा हूँ। मैं आज भी सावधान हो प्रभु-भजन नहीं करता क्योंकि इस संसार में अस्तित्व बालू के घर के समान क्षणिक है। कबीर कहते हैं कि राम-भक्ति के आश्रय बिना इस संसार में बहुत से चतुर व्यक्ति भी डूब गये।

विशेष—विभावना अलंकार।

अरे परदेसी पींव पिछांनि।
कहा भयौ तोकौं समझि न परई, लागी कैसी बांनि ॥टेक॥
भोमि बिडांणी मैं कहा रातौ कहा कियौ कहि मोहि।
लाहै कारनि मूल गमावै समझावत हूँ तोहि ॥
निस दिन तोहि क्यूं नींद परत है चितवत नांहीं ताहि।
जम से बैरी सिर परि ठाढ़ पर हाथि कहा बिकाइ ॥
झूठे परपंच मैं कहा लागौ ऊठै नांहीं चालि।
कहै कबीर कछू बिलम न कीजै कौनै देखी कालिह ॥११२॥

परदेसी=विदेशी आत्मा। बांनि=आदत। भोमि=भूमि। बिडांणी=इधर उधर करना तितर-बितर करना नष्ट करना। लाहे=लाभ।

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे परदेसी तू अपने प्रियतम (ब्रह्म) को पहचान। तुझे कैसी कुटेव पड़ गई है कि सर्वदा विषय-वासना रत रहती है। नष्ट भ्रष्ट भूमि पर कुछ नहीं उगाया जा सकता उसी प्रकार तूने अपने पाप-कर्मों से अपना संसार नष्ट कर लिया है। तू इस मिथ्या लाभ के कारण जो वास्तव में विषय-वासना के अतिरिक्त कुछ नहीं है अपने पूर्वसंचित पुण्यों को भी नष्ट कर रहा है। इस विषय-वासना में तुझे रात-दिन चैन नहीं पड़ता और प्रभु की

कहै कबीर या मैं झूठ नांहीं छाड़ि जीव की बांनि।
रांम नांम निसंक भजि रे, न करि कुल की कांनि ॥१११॥

हे मन! तू सर्वदा राम-नाम का स्मरण कर। धर्म की थूनी एवं सत की थूनियों के आधार पर राम-नाम का एक मन्दिर बना लो। हे प्रभु! जिह्वा तो अन्य रसों के आस्वादन में लगी हुई है और भक्ति के लिए तेरे कीर्तन को कोई ग्रहण नहीं कर पाता। पंच विषयों के प्रसार में इन्द्रियाँ लगी रहती हैं और इस भाँति प्रेम तत्त्व को कलंकित कर लेती हैं। यह शरीर रूपी हाँडी पोली है इसके लिए इतने उपक्रम करना व्यर्थ है। सांसारिक पाप-कर्म करने में अन्य सम्बन्धियों का भी सहयोग तूने लेकर उन्हें भी पाप-कर्मों में लिप्त कर लिया। कबीर कहते हैं कि यह असत्य का मार्ग जीवात्मा को छोड़ देना चाहिए एवं निस्संकोच भाव से राम-नाम स्मरण करना चाहिए, इस पुण्य कर्म में बाधक कुलकानि का भी भक्त को परित्याग कर देना चाहिए।

विशेष—जिस भाँति आगे चलकर वल्लभ ने भक्ति मार्ग में 'कुल कानि परित्याग की बात कही उसे हम कबीर में भी पाते हैं। प्रस्तुत पद के अन्त में इसी भाव की पुष्टि होती है।

प्राणी लाल औसर चल्यौ रे बजाइ।
मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया संगि काहू कै न जाइ ॥टेक॥
देहली लग तेरी मिहरी सगी रे फलसा लग सगी माइ।
मड़हट लूं सब लोग कुटंबी हंस अकेलौ जाइ॥
कहां वै लोग कहां पुर पटण बहुरि न मिलबौ आइ।
कहै कबीर जगनाथ भजहु रे, जन्म अकारथ जाइ ॥११२॥

हे मनुष्य! अवसर हाथ से निकला जा रहा है, अतः प्रभु-भक्ति करो। इस शरीर के पोषण-कर्मों में लगे रहने से ही जीवन के कर्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती यह मुट्ठी भर शरीर तो अति अल्प पदार्थों से निर्मित है। हे मनुष्य! सर्वदा तेरे साथ रहने वाली पत्नी अमित प्यार करने वाली माँ और अन्य प्रियजन कोई भी मृत्यु के पश्चात् साथ नहीं जाता आत्मा अकेले ही चली जाती है। यह संसार के वैभव से पूर्ण नगर-नगरी और ऐश्वर्यशाली लोग पुनः नहीं मिलते अतः इनसे प्रेम करना वृथा है। कबीर कहते हैं कि हे मानव! तुम प्रभु का भजन करो—अन्यथा यह अमूल्य मानव जीवन व्यर्थ नष्ट हुआ जा रहा है।

रांम गति पार न पावै कोई।
च्यंतामणि प्रभु निकट छाड़ि करि
भ्रंमि भ्रंमि मति बुधि खोई ॥टेक॥

तीरथ बरत जपै तप करि करि, बहुत भांति हरि सोध।
सकति सुहाग कहो क्यू पावै अछता कंत बिरोधै॥
नारी पुरिष बसैं इक संगा दिन दिन जाइ अबोलै।
तजि अभिमान मिलै नहीं पीव कू ढूंढत बन बन डोलै॥
कहै कबीर हरि अकथ कथा है बिरला कोई जानैं।
प्रेम प्रीति बेधी अतर गति कहू काहि को मानं॥११६॥

गति=महिमा रहस्य। सकति=शक्ति। सुहाग=स्वामी। अछता=विद्यमान रहई। कंत=स्वामी ब्रह्म। नारी=आत्मा। पुरिष=परमात्मा। बेधी=बिद्ध कर दिया।

कबीर कहते हैं कि ईश्वर की महिमा का पार कोई नहीं पा सकता। व्यर्थ सांसारिकों ने माया भ्रम में पड़ अपना विवेक खो दिया और इस प्रकार सर्वकामना पूर्ण करने वाले चिदानन्दस्वरूप हृदयस्थित ब्रह्म को विस्मृत कर दिया। तीर्थ व्रत जप तप आदि विधि-विधानों से प्रभु को खोजने का बहुत प्रयत्न किया समस्त उपक्रम व्यर्थ गये। भला शाक्त ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि वे मूर्तिपूजक हैं और ब्रह्म का इस विधि विधान से विरोध है। आत्मा और परमात्मा एक ही स्थान पर स्थित हैं किन्तु दोनों के मिलन बिना समय व्यर्थ निकला जा रहा है। ऐ मूर्ख जीव! तू अहं का परित्याग कर मन में तो प्रभु को खोजता नहीं और व्यर्थ बन-बन भटकता फिरता है—

'कस्तूरी कुण्डल बसे मृग ढूंढे बन माहि।
ऐसे घट घट राम हैं दुनिया देखै नांहि॥

कबीर कहते हैं कि उस प्रभु की कथा अवर्णनीय है कोई बिरला ही उसके रहस्य को हृदयंगम कर सकता है। मेरे तो अन्तर बाह्य को प्रभु के प्रेम की प्रेम तीर ने बिद्ध कर दिया है किन्तु मेरी इस विचित्र बात का विश्वास कौन करेगा?

रांम बिनां संसार धंध कुहेरा
सिरि प्रगटया जम का पेरा॥टेक॥

देव पूजि पूजि हिंदू मूये तुरक मूये हज जाई।
जटा बांधि बांधि योगी मूये इन मैं किन्हूँ न पाई॥
कवि कवीनैं कविता मूये कापड़ी केदारौं जाई।
केस मूंधि मूंधि मूये बरतिया इनमैं किन्हूँ न पाई॥
धन संचते राजा मूये अरु ले कंचन भारी।
बेद पढ़ें पढ़ि पंडित मूये रूप भूले मूई नारी॥
जे नर जोग जुगति करि जांनै खोजै आप सरीरा।
तिनकूं मुकति का संसा नाहीं कहत जुलाह कबीरा॥११७॥

मनुष्य के शीश पर मृत्यु यम समान खड़ी हुई है, अतः राम-नाम के बिना प्रभु-भक्ति के बिना यह संसार धुएं के कोट के समान नष्ट होने वाला है। हिन्दू तो देवताओं की पूजा करते-करते मर गये और मुस्लिम हज करते-करते मर गये एवं योगी लोग जटा बांध-बांध कर मर गये—किन्तु इन कर्मों से किसी ने भी ईश्वर को प्राप्त नहीं किया। कविगण कविता करते-करते जोगी सन्यासी रंगे वस्त्र पहनते हुए, तथा जैन साधु लुञ्चन संस्कार करते-करते मर गये। किन्तु इन विधि-विधानों से कोई भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सका। राजा लोगों ने अपना जीवन स्वर्ण-संचय में व्यर्थ कर डाला। पंडित लोग वेदादि धर्म ग्रन्थों को पढ़ते-पढ़ते मर गये और सुन्दरी अपने रूपाभिमान में नष्ट हो गई, किन्तु कोई उस परमात्मा को प्राप्त न कर सका। जो व्यक्ति योगसाधना द्वारा उसे अपने शरीर में खोजने का प्रयत्न करते हैं, यह कबीर का मत है कि उसकी मुक्ति में कोई शंका नहीं।

विशेष—कबीर ने यहाँ हिन्दू-मुस्लिम समाज के बाह्याचारों पर करारी चोट की है।

कहू रे जे कहिबे की होइ।
नां को जानें नां को मानें तार्थं अचिरज मोहि ॥टेक॥
अपनें अपनें रंग के राजा मानत नांहीं कोइ।
अति अभिमान लोभ के घाले चले अपन पौ खोइ ॥
मैं मेरी करि यहु तन खोयौ समझत नहीं गँवार।
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं बूड़े बहुत अपार ॥
मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्यौ अब मोहि दोस न लाई ॥११८॥

कबीर यहाँ उन लोगों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं जो प्रभु के स्वरूप को जाने बिना उसके विषय में व्यर्थ की बातें कहते हैं। वे कहते हैं कि—

जो व्यक्ति बिना जाने-बूझे ईश्वर के स्वरूप के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं उन पर मुझे आश्चर्य होता है। सब अपनी-अपनी हांकते हैं किसी की सत्य बात को कोई मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। सब लोग अभिमान में पड़े हुए लोभ के वशीभूत हैं और इस प्रकार स्वयं ही अपना पतन कर रहे हैं। ये मूर्ख ! मैं के अथवा ममत्व-परत्व के फेर में पड़ जीवन को व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। इस संसार सागर के बीच में बहुत से जीव थक कर डूब गये हैं। ईश्वर ने मुझे दया कर परम तत्त्व का रहस्य बताने का आदेश दिया है किन्तु यहाँ तो कोई किसी की सुनता ही नहीं। अतः कबीर कहते हैं कि मैं सत्य तत्त्व को कहते-कहते हार गया कोई मेरी बात नहीं मान रहा है अब फिर मुझे दोष मत देना।

एक कोस बन मिलान न मेला।
बहुतक भाँति कर फुरमाइस है असवार अकेला ॥टेक॥
जारत कटक जु घेरत सब गढ़ करतब फेली फेला।
जारि कटक गढ़ तोरि पातिसाहू खेलि चल्यौ एक खेला ॥
कूँच मुकाम जोग के घर मैं कछु एक दिवस खटांनां।
आसन राखि बिभूति साखि दे फुनि ले मटी उडांनां ॥
या जोगी की जुगति जु जानैं सो सतगुर का चेला।
कहै कबीर उन गुर की कृपा थैं तिनि सब भरम पछेला ॥ १६॥

मन विषय-वासना अजाम मे उलझा हुआ है और यह बहुत सी कामनाएं उत्पन्न करता रहता है। मन ही समस्त कर्मों का एकमात्र संचालक है। यही मन संसार में समस्त सम्बन्ध स्थापित कर सम्बन्धियों की एक सेना बना विविध पाप कर्म करता है। इस सेना से वह अनेक धर्मों को पद-दलित करता हुआ संसार दे देता है—यह कैसा अद्भुत खेल है? योग-साधना करने वाले साधक को चंचलता शोभा नहीं देती और चंचलता से वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। आसन बिछाकर शरीर पर भस्म रमा लेने से कोई योगी नहीं हो जाता। कबीर कहते हैं कि जो योग का उचित विधान जानता है, वही वास्तव में अपने गुरु का शिष्य है। गुरु कृपा से समस्त भ्रम विदूरित हो जाता है।

राग मारू

मन रे राम सुमिरि राम सुमिरि भाई।
राम नाम सुमिरन बिनां बूडत है अधिकाई ॥टेक॥
दारा सुत ग्रह नेह संपति अधिकाई।
यामैं कछु नांहि तेरो काल अवधि आई ॥
अजामेल गज गनिका पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पारि गये राम नाम लीन्हां ॥
स्वांन सूकर काग कीन्हौं तऊ लाज न आई।
राम नाम अमृत छाडि काहे बिष खाई ॥
तजि भरम करम बिधि नखेद राम नाम लेही।
जन कबीर गुर प्रसादि राम करि सनेही ॥ १९ ॥

कबीर कहते हैं कि हे मन! तू राम नाम का स्मरण कर राम नाम स्मरण से ही कल्याण होगा। बिना प्रभु-नाम के मनुष्य भव-जल में डूब जाता है। स्त्री पुत्र, सांसारिक प्रेम तथा अपरिमित धन—इन सब में तेरा कुछ भी काम नहीं है क्योंकि तेरा अन्तिम समय मृत्यु खड़ी हुई है। अजामिल गजेन्द्र गणिका जिन्होंने न जाने कितने पाप कर्म किये थे वे भी राम नाम से इस संसार-सागर से पार उतर गए।

श्वान सूअर एवं काग जैसे व्यवहार करके भी मनुष्य तुझे लज्जा नहीं आई एवं नाम के अमृत को छोड़ तूने विषय-वासना विष को अपनाया ? माया-भ्रम का परित्याग कर जीव तू ईश्वर नाम भज । कबीर ने तो गुरु-उपदेश के द्वारा राम से अब सम्बन्ध स्थापित कर लिया ।

राम नाम हिरदै धरि निरमोलिक हीरा ।
सोभा तिहूँ लोक तिमर जाय त्रिविधि पीरा ।।टेक।।
त्रिसनां नैं लोभ लहरि, काम क्रोध नीरा ।
मद मछर कछ मछ हरिष सोक तीरा ।।
कांमनी अरु कनक भवर बोये बहु बीरा ।
जन कबीर नवका हरि खेवट गुर कीरा ।।१२१।।

निरमोलिक=अमूल्य । तिमर=तिमिर, अज्ञानान्धकार । त्रिविधि पीरा= दैहिक दैविक भौतिक ताप ।

हे साधक ! तू राम नाम के अमूल्य हीरे को हृदय में धारण कर । यह नाम ही समस्त संसार की शोभा है जिससे मानव के दैहिक दैविक भौतिक ताप विनष्ट हो जाते हैं । इस संसार समुद्र में तृष्णा और लालसा की लहरें उठती हैं तथा काम एवं क्रोध रूपी जल से यह समुद्र परिपूर्ण है । मद-अभिमान इस सागर में रहने वाले मच्छ और घातक जीव हैं । यह सागर सुख-दुख के दुःखों की सीमाओं में बंधा हुआ है । इस सागर में कामिनी और स्वर्ण (धन) भंवर हैं जिनमें पड़कर बहुत से व्यक्ति नष्ट हो गये । इस सागर से पार पाने के लिये भक्त कबीर के पास प्रभु नाम की नौका है जिसे गुरु रूपी खेवट के सहारे चलाकर मैं पार उतर जाऊंगा ।

विशेष—सांगरूपक अलंकार की सुन्दर योजना है ।

चलि मेरी सखी हो वो लगन रांम राया ।
जब तब काल बिनासै कामा ।।टेक।।
जब लग लोभ मोह की दासी
तीरथ ब्रत न छूटै जम की पासी ।।
आवैंगे जम के चालैंगे बांटी
यहु तन जरि बरि होइगा माटी ।।
कहै कबीर जे जन हरि रंगि राता
पायौ राजा रांम परम पद दाता ।।१२२।।

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे सखी ! राजा राम में तू अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित कर, अन्यथा शीघ्र ही मृत्यु इस कलेवर को विनष्ट

कर देगी। जब तक आत्मा लोभ एवं माया मोह की दासी है तथा वह तीर्थ व्रत आदि विधि विधानों का परित्याग नहीं करती तब तक मृत्यु से मुक्त नहीं हो सकती। जब यमदूत आकर मृत्यु का फन्दा डाल देंगे तो यह शरीर जलकर क्षार हो जायेगा। कबीर कहते हैं कि जो भक्त प्रभु के प्रेम रंग में रंग जाता है वह प्रभु के परम पद की प्राप्ति कर लेता है।

राग टोडी

तू पाक परमानंद।
पीर पैकंबर पनह तुम्हारी मैं गरीब क्या गदे ॥टेक॥
तुम्ह दरिया सबही दिल भीतरि, परमानंद पियारे।
नैक नजरि हम ऊपरि नांही क्या कमिबखत हमारे॥
हिकमति करै हलाल बिचारै, आप कहांवै मोटे।
चाकरी चोर निवालै हाजिर सांई सेती खोटे॥
दांइम दूवा करद बजावै मैं क्या करूं भिखारी।
कहै कबीर मैं बंदा तेरा खालिक पनह तुम्हारी॥१२१॥

हे परमात्मा आप परमानन्द स्वरूप हैं पैगम्बर सब आपकी शरण में हैं, मुझ गरीब का ही क्या दोष है जो आप शरण में नहीं लेते। हे प्रियतम! आप सबके हृदय में सरिता रूप से प्रवाहित हैं किन्तु फिर भी मेरे ऊपर तनिक भी अनुकम्पा नहीं करते—ऐसा मेरा दुर्भाग्य क्यों है? ये बड़े कहलाने वाले लोग चिकित्सा करते हैं (चिकित्सा दूसरों की जान बचाने का उपक्रम है) किन्तु स्वयं ही जीव हत्या भी करते हैं (हलाल)। चोरी आदि करने वाले जितने भी कामचोर हैं प्रभु की दृष्टि में वे सब पापी हैं। यह दूसरी बात है कि वे कसाई यहां आनन्द मनाते हैं और आप का भक्त मैं भिखारी तुम्हारे बगैर ही का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मैं आपका दास हूं मुझे अपनी शरण में ले लीजिए।

अब हम जगत गौंहन तैं भागे
जग की देखि जुगति रामहि डूरि लागे ॥टेक॥
अग्यांन पन मैं बहु बौरान समझि परी तब फिरि पछितान॥
लोग कहौ जाके जो मनि भावै लहै भुवंगम कौन डसावै॥
कबीर बिचारि इहै डर डरिये कहै का लो इहां मैं मरिये॥१२२॥

कबीर संसार की निस्सारता का अनुभव करके कहते हैं कि अब हम जग के माया-बन्धन से भयभीत हुए। इस विश्व की ऐसी अनित्यता देखकर प्रभु की खोज में जाने का निश्चय किया। अज्ञानावस्था में पहले मैं सांसारिक माया-बन्धन विषय-वासना वश में पड़ जाते हैं किन्तु विवेक होने पर वे पश्चात्ताप करते हैं। इस संसार

चक्र में पड़ने पर माया-रूपिणी डसता है जिससे अपरिमित व्यथा होती है सांसारिक लोग इस पर विभिन्न प्रकार के अनुमानाश्रित वक्तव्य देते हैं। कबीर विचारपूर्वक यह निश्चय करते हैं कि संसार में माया नाश का कारण है किसी को भी इस माया-बन्धन में नहीं बँधना चाहिए।

राग भैरू

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी सबद अनाहद ब्यंतन करी ।।टेक।।
पहली खोजौ पंचै बाइ, बाइ ब्यंद ले गगन समाइ ।।
गगन जोति तहां त्रिकुटी संधि रवि ससि पवनां मेलौ बंधि ।।
मन थिर होइ त कवल प्रकासै कवला माँहि निरंजन बास ।।
सतगुर संपट खोलि दिखावै निगुरा होइ तौ कहां बतावै ।।
सहज लछिन ले तजौ उपाधि आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि ।।
पुहुप पत्र जहां हीरा मणीं कहै कबीर तहां त्रिभुवन धणीं ।।३२१।।

नरहरी=नर-हरी मनुष्य प्रभु पर (ऐसा ध्यान धरो)। अनाहद=अनहद नाद। ब्यंतन=चिंतन विचार। पंचै बाइ=पांच सभी पांच वायुओं। गगन=शून्य ब्रह्मरंध्र। त्रिकुटी=आंख नाक एवं मस्तक का संधि स्थल दोनों भौं के बीच का स्थान। रविससि=इड़ा पिंगला। पवनां=पवन से प्राणायाम से। कवल=सहस्रदल कमल। निरंजन=अलख निरंजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा। संपट=सम्पुट। निगुरा=गुरु-विहीन। सहज लछिन=सहज-समाधि। दिढ़=दृढ़। साधि=समाधि साध कर। पुहुप=पुष्प। त्रिभुवन धणी=त्रिलोकीनाथ परमात्मा

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! अनहद नाद स्थिति की प्राप्ति के लिये इ(स प्रकार) का ध्यान करो। इसके लिए सर्वप्रथम पांचों इन्द्रियों का अपने वश में कर कुण्डलि(नी) द्वारा शून्य शिखर प्राप्ति का उपक्रम करो। त्रिकुटी पर परम ज्योति का वास है इ(ड़ा) पिंगला को प्राणायाम द्वारा एकमेक कर वहां पहुंचना चाहिए। जब उपरोक्त वि(धि) से मन पूर्ण स्थिर हो जाता है तो सहस्रदल कमल का दर्शन होता है इसी कमल (में) ब्रह्म का वास है। सद्गुरु ज्ञान-ज्योति द्वारा कमल के बन्द संपुटों को खोल(कर) ब्रह्म दर्शन कराते हैं। जो गुरुविहीन हैं उन्हें कौन ब्रह्म को बतायेगा? सहज समा(धि) में पद का परित्याग कर सुषमना से समाधिस्थ होने पर आत्मा वहां पहुंच जा(ती) है जहां शून्य सरोवर के तट पर हीरा-मणियों का ढेर एवं त्रिलोकीनाथ का (वास) है—ऐसा कबीर का मत है।

विशेष—नाथ सम्प्रदायानुकूल हठयोगी साधना का वर्णन कबीर ने उपरोक्त पद में किया है।

इहि बिधि सेविये श्री नरहरी मन की दुविध्या मन परहरी ।।टेक।।
जहां नहीं जहां नहीं तहां कछू जांणि जहां नहीं तहां लेहु पछांणि।
नांहीं देखि न जइये भागि जहां नहीं तहां रहिये लागि ।।

सब चौरासी रब परवर, सोई करीम जे एती करै।
गोरख सोई ग्यांन गमि गहै, महादेव सोई मन की लहै॥
सिध सोई जो साधै इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती।
सिध साधू पैकंबर हुवा, जपै सु एक भेषो है जूवा॥
अपरंपार का नांउ अनंत, कहै कबीर सोई भगवंत॥१२७॥

कबीर यहाँ ब्रह्म की एकता प्रतिपादित कर नामों की विभिन्नता बताते कहते हैं कि हे अलख निरंजन ज्योतिरूप परमात्मा। मैं किस भाँति आपकी भक्ति करूं। विष्णु वही है जिसका सम्पूर्ण संसार में विस्तार है कृष्ण वही है जिसने सृष्टि का सृजन किया है। गोविन्द वही है जो समस्त ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण है राम वही है जो युग-युग तक रहता है। अल्लाह वही है जिसने समस्त संसार में कर्म-विधान रचा है चौरासी लाख योनियों में जीव का जन्म मरण रचने वाला करीम है। गोरखनाथ वही है जिसने समस्त ज्ञान विशाल ध्यान लिया है। महादेव वही है जो दूसरे के मन की बात जान ले। इन सबको एक मानकर भजने वाला ही सिद्ध साधु और पैगम्बर हो जाता है। कबीर कहते हैं कि उस रहस्यमय परम परमात्मा के नाम भी उसी के समान अनन्त हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार ब्रह्म का पार नहीं पाया जा सकता उसी प्रकार उसके नामों का।

तहां जौ राम नाम ल्यौ लागै तौ जुरा मरण छूटै भ्रम भागै। टेक॥
अगम निगम गढ रचि ले अवास, तहुवां जोति करै परकास।
चमकै बिजुरी तार अनंत, तहां प्रभू बैठे कवलाकंत॥
अखंड मंडित मंडित मंड, त्रि-स्नान करै त्रीखंड।
अगम अगोचर अभि-अंतरा, ताकौ पार न पावै धरणीधरा॥
अरध उरध बिचि लाइ ले अकास, तहुवां जोति करै परकास।
टार्‌यौ टरै न आवै जाइ, सहज सुंनि मैं रह्यौ समाइ॥
अबरन बरन स्याम नहीं पीत, हाहू जाइ न गावै गीत।
अनहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभू बैठे समरथ सार॥
कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मैं लिया निवास।
द्वादस दल अभि-अंतरि स्यंत, तहां प्रभू पाइसि करिलै च्यंत॥
अमिलन मलिन घाम नहीं छाहां, दिवस न राति नहीं है तहां।
तहां न ऊगै सूर न चंद, आदि निरंजन करै अनंद।
ब्रह्मंड सो प्यंडे जानि, मांनसरोवर करि असनांन।
सोहं हंसा ताकौ जाप, ताहि न लिपै पुन्य न पाप॥
काया मांहैं जानैं सोई, जो बोलै सो आपै होई।
जोति मांहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्रांणी तिरै॥१२८॥

यदि शून्य शिखर पर राम नाम में व्यक्ति की वृत्तियाँ केन्द्रित हो जायें तो जन्म और मृत्यु का बंधन छूट मुक्ति हो जाती है। जो स्थान समस्त धर्म ग्रन्थों की पहुँच से परे है उसी शून्य पर परम ज्योति का अद्वितीय प्रकाश प्रकाशित हो रहा है। वहाँ विद्युत सदृश अनन्त प्रकाश हो रहा है और ब्रह्म का वास वहीं है। वह ईश्वर अन्तर-बाह्य से अगम्य एवं अदृश्य है, शेषनाग भी उसका पार नहीं पा सकते। त्रिकुटी पर उस परमात्मा का निवास है। वह वहाँ सूक्ष्म रूप से स्थित है और शून्य में रमा रहता है। वह रूप रेखा विहीन और सर्वथा अवर्णनीय है न उसे सुख है और न कोई दुख। वहाँ निरन्तर अनहद नाद की संगीत लहरी गुंजित होती है वहीं सब प्रकार से समर्थ प्रभु का वास है। जिस शून्य शिखर पर कदली सुमन और अनन्त दीपमालिका का प्रकाश है उसी 'अनाहत चक्र' में प्रभु का वास है। वहाँ सुख-दुख धूप-छाँह दिवस रात्रि आदि की स्थिति नहीं है। वहाँ न सूर्य और चन्द्र उदित होते हैं—इस अवस्था में और आनन्द स्वरूप ब्रह्म का निवास है। जो समस्त संसार में है वही इस शरीर में स्थित है ऐसा मानकर मन को अन्तर्मुखी कर शून्य स्थित मानसरोवर में स्नान करना चाहिए। वही मुक्तात्मा है जो पाप-पुण्य से निर्लिप्त इस ब्रह्म का सर्वदा ध्यान करते हैं। शरीर के मध्य में बोलने वाला हंस ही उस ब्रह्म का रूप है। कबीर कहते हैं कि जो ज्योति रूप परमात्मा में अपनी वृत्तियाँ केन्द्रित कर लेता है वह मुक्त हो जाता है।

> एक अचंभा ऐसा भया करणी थैं कारण मिटि गया ॥टेक॥
> करणी किया करम का नास पावक मांहि पुहुप प्रकास।
> पुहुप मांहि पावक प्रजरै पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै॥
> प्रगटी बास बासना धोइ कुल प्रगट्यो कुल घाल्यो खोइ।
> उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई भौ भ्रम भागा ऐसी भई॥
> उलटी गंग मेर कूं चली धरती उलटि अकासहिं मिली।
> दास कबीर तत ऐसा कहै ससिहर उलटि राहु कौं गहै॥१२८॥

कबीर कहते हैं कि ऐसी विचित्र घटना हो गई कि भावना द्वारा जिसकी प्राप्ति की इच्छा की वह प्राप्त हो गया। साधना ने कर्म-जाल नष्ट कर डाला और परम ज्योति पर सहस्रदल कमल का विकास दृष्टि गोचर हुआ। इस कमल में ही अनन्त प्रकाशवान परमात्मा है जिसके दर्शन से पाप-पुण्य का भय मिट जाता है। उस कमल की सुगन्ध से वासना विगलित हो गई एवं कुल-परिवार का मोह त्याग देने से पूर्ण ब्रह्म के दर्शन हुए। चिन्तामणि स्वरूप ब्रह्म के दर्शन से सांसारिक चिन्ता का नाश हो गया एवं अपार नैराश्य समाप्त हो गया। उल्टी गंगा सुमेरु पर्वत (हिमालय से तात्पर्य) को चली अर्थात् अधोगामिनी ऊर्ध्वगामी हो गई। जिसने शून्य में विस्फोट किया।

कबीरदास जी उस परमात्मा का वर्णन करते कहते हैं कि परम-तत्व ने माया को नष्ट कर डाला।

विशेष—१ यमक रूपक विरोधाभास रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।

२ उलटबांसी शैली की प्रतिकात्मकता दर्शनीय है।

है हजूरि क्या दूरि बतावै दुंदर बांधे सुंदर पावै ॥टेक॥

सो मुलनां जो मन सूं लरै, अह निसि काल चक्र सूं भिरै।
काल चक्र का मरदै मांन तो मुलनां कूं सदा सलांम ॥
काजी सो जो काया बिचारै, अह निसि ब्रह्म अगनि प्रजारै।
सुप्पनें बिंद न देई झरनां ता काजी कूं जुरा न मरणां ॥
सो सुलितांन जु द्वै सुर तांनैं बाहरि जाता भीतरि आनैं।
गगन मंडल मैं लसकर करै, सो सुलितांन छत्र सिरि धरै ॥
जोगी गोरख गोरख करै हिंदू रांम नाम उच्चरै।
मुसलमांन कहै एक खुदाइ,
कबीरा को स्वांमी घटि घटि रह्यौ समाइ ॥१२ ॥

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म तो सर्वत्र परिव्याप्त है फिर उसे दूर क्या बताना विषय-विकारों के आतुर को वश में कर उस सुन्दर परमात्मा के दर्शन होते हैं। मौलाना तो वही है जो रात-दिन कालचक्र से लड़ता हुआ मन को नियन्त्रित रखे। जो मृत्यु चक्र—आवागमन—को जीत ले उस मौलाना को सर्वदा मेरा नमस्कार है। काजी वही है जो निशि-दिन ब्रह्म की प्रेम-वेदना से विदग्ध होता हुआ शरीर शुद्धि का प्रयत्न करे। जो स्वप्न में भी माया-मोह में स्खलित नहीं होता उस काजी को जरा-मरण का भय नहीं रहता वह जीवन्मुक्त हो जाता है। राजा तो वही है जो अन्तर व ब्रह्म की शुद्धि कर विषय-वासना से मुक्त करता है। वास्तव में जो शून्य मण्डल में अपनी समस्त वृत्तियों को केन्द्रित कर देता है वही छत्रधारी राजा है। प्रत्येक योग का साधक गोरखनाथ बन सकता है। हिन्दू उसी ब्रह्म को राम के नाम से जानते हैं और मुसलमान खुदा नाम से—किन्तु वास्तव में वह घट-घट वासी ब्रह्म एक ही है केवल उसके नाम बहुत से हैं।

आऊंगा न जाऊंगा मरूंगा न जीऊंगा।
गुर के सबद मैं रमि रमि रहूंगा ॥टेक॥

आप कटोरा आपै थारी आपैं पुरिखा आपैं नारी।
आप सदाफल आपैं नींबू आपै मुसलमांन आपैं हिंदू ॥
आपै मछकछ आपै जाल आपैं झींवर आपै काल।
कहै कबीर हम नांहीं रे नांहीं नां हम जीवत न मुवले मांहीं ॥११॥

कबीर कहते हैं कि मैं गुरु के उपदेश के द्वारा राम-नाम में रम जाऊँगा और फिर आवागमन के चक्र में पड़ जन्म-मृत्यु की वेदना नहीं भोगूँगा। वह ब्रह्म आप ही गाजी है और आप ही कटोरी आप ही पुरुष और आप ही नारी है। आप ही तवाफल है और आप ही नींबू। वही मुसलमान और हिन्दू दोनों है। वह प्रभु स्वयं ही मछली बना हुआ है और स्वयं ही उसको पकड़ने वाला और फिर स्वयं ही उसको मारने वाला। कबीर कहते हैं कि हम कुछ नहीं हैं, वह ब्रह्म ही सब कुछ है। जीवित रहते हुए भी हमारा अस्तित्व मिथ्या है।

हम सब मांहि सकल हम मांही हम थैं और दूसरा नाहीं ॥टेक॥
तीनि लोक मैं हमारा पसारा आवागमन सब खेल हमारा।
खट दरसन कहियत हम भेखा हमही अतीत रूप नहीं रेखा॥
हमही आप कबीर कहावा हमही अपनां आप लखावा ॥३१२॥

यहाँ कबीर उस अवस्था में प्रभु-कथन कर रहे हैं जहाँ अंश-अंशी भक्त अथवा आत्मा परमात्मा में कोई अन्तर शेष नहीं रह जाता— साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' का घोष कर उठता है। वे कहते हैं कि मेरा प्रसार समस्त जगत् में है और समस्त संसार मेरे कलेवर में ही समाया हुआ है। तीनों लोकों में हमारा ही प्रसार है और समस्त ब्रह्म सृष्टि क्रम जो चल रहा है उसका नियन्ता भी मैं ही हूँ। षट्दर्शन मेरे स्वरूप की व्याख्या का प्रयत्न करते हैं किन्तु मैं निर्गुण उनकी पहुँच से परे हूँ। गुरु में और कबीर में कोई अन्तर नहीं रह गया। मुझे (परमात्मा को) किसी के पथ प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं।

विशेष—१ तीन लोक—आकाश पृथ्वी पाताल।
२ षट्दर्शन—सांख्य योग न्याय वैशेषिक मीमांसा वेदान्त।

थौं मन मेरे हरि का नांउ गांठि न बांधौं बेचि न खाउं ॥टेक॥
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बारी भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी।
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा तुम्ह बिन और न जानौं दूजा॥
नांउ मेरे बंधव नांउ मेरे भाई, अंत की बिरियां नांव सहाई।
नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई कहै कबीर जस रंक मिठाई ॥३१३॥

कबीर प्रभु-नाम महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि मुझे ईश्वर नाम का वह अनुपम अमूल्य धन प्राप्त हो गया है कि न तो इसे गांठ में बांधकर रखने (Hoarding) की आवश्यकता है और न इसका क्रय-विक्रय कर समाप्त करने की। हे परमात्मा! मैं आपकी शरण में पड़ा हुआ हूँ मेरी खेती-बारी जीविका का साधन एकमात्र राम-नाम ही है। नाम स्मरण को ही मैं आपकी भक्ति पूजा-अर्चना सब कुछ समझता हूँ एवं आपके अतिरिक्त मुझे कोई आश्रय नहीं है। अपना नाम ही

मेरा बन्धु-बान्धव और परम संबन्धी है मृत्यु के समय भी नाम-स्मरण से ही मोक्ष होगा। कबीर कहते हैं कि नाम मेरे लिए ऐसा ही है जैसे निर्धन को अमूल्य सम्पत्ति प्राप्त हो गई हो जैसे भिखारी को भिक्षा में मिठाई मिल गई हो।

विशेष—उपमा अलंकार।

अब हरि हूं अपनौं करि लीनौं
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ॥टेक॥
जर सरीर अंग नहीं मोरौं प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं।
च्यंतामणि क्यूं पाइए ठोली मन दे रांम लियौ निरमोली॥
ब्रह्म खोजत जनम गवायौ सोई रांम घट भीतरि पायौ।
कहै कबीर छूटी सब आसा मिल्यौ राम उपज्यौ बिसवासा ॥११४॥

अब प्रभु ने मुझे अपना लिया इसीलिए उनके प्रेम रंग से मैं स्नात हूं। मैं भक्ति मार्ग को शरीर के जल जाने तथा प्राणों के निकल जाने पर भी नहीं छोड़ सकता। चिंतामणि स्वरूप अमूल्य ब्रह्म को यूं ही प्राप्त नहीं किया जा सकता उसके लिए साधना द्वारा मन का पूर्ण समर्पण करना होगा। जिस ईश्वर को खोजते-खोजते जन्म व्यर्थ कर डाला उसी को हृदय में ही पा लिया। कबीर कहते हैं कि प्रभु के मिलने पर समस्त सांसारिक कामनाएं विनष्ट हो गई और ईश्वर में और भी अधिक विश्वास बढ़ गया है।

लोग कहैं गोबरधनधारी ताकौ मोहिं अचंभौ भारी ॥टेक॥
अष्ट कुली परबत जाके पग की रैंनां सातौं सायर अंजन नैंनां।
ऐ उपमां हरि किती एक ओपै अनेक मेर नख ऊपरि रोपै।
धरनि अकास अधर जिनि राखी ताकी मुगधा कहै न साखी।
सिव बिरंचि नारद जस गावै कहै कबीर वाको पार न पावैं ॥११५।

रैंनां=रेणु धूलि। सायर=सागर। ओपै=शोभित। मेर=सुमेरु। रोपै=धारण यहाँ उठाने के अर्थ में प्रयुक्त। अधर=बिना किसी आधार के। मुगधा=महिमा।

कबीर कहते हैं कि उस ब्रह्म को लोग 'गोवर्द्धनधारी' कहकर केवल एक पर्वत को उठाने वाला कहते हैं इसका मुझे बड़ा आश्चर्य है। वह तो इतना समर्थ है कि ईश्वर के अष्टों परिवारों के जो पर्वत हैं वे सब उसकी चरण-धूलि के तुल्य हैं एवं सात सागर उसके नैत्रों के अंजन के ही बराबर हैं। एक यह उपमा तो कुछ ठीक लगती है कि वह अनेक सुमेरु जैसे पर्वतों को अपने नाखून पर उठा सकता है। जिस ईश्वर ने पृथ्वी और आकाश को बिना किसी आधार पर स्थिर कर रखा है उसकी महिमा का वर्णन साखी (कविता) द्वारा नहीं किया जा सकता। कबीर कहते हैं कि

शिव ब्रह्मा तथा नारद जैसे महर्षि जिसके यश का गुणगान करते नहीं अघाते उसका रहस्य नहीं पाया जा सकता।

विशेष—परिकरांकुर अलंकार।

राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे ॥टेक॥
अंजन उतपति वो ऊंकार, अंजन मांड्या सब बिस्तार।
अंजन ब्रह्मा संकर इंद अंजन गोपि संगि गोब्यंद ॥
अंजन बांनी अंजन बेद अंजन कीया नांनां भेद।
अंजन बिद्या पाठ पुरांन अंजन फोकट कथहिं गियांन ॥
अंजन पाती अंजन देव अंजन की करै अंजन सेव।
अंजन नाचै अंजन गावै अंजन भेष अनंत दिखावै ॥
अंजन कहौं कहां लग केता दांन पुंनि तप तीरथ जेता।
कहै कबीर कोई बिरला जागै अंजन छाड़ि निरंजन लागै ॥११६॥

वह ज्योतिस्वरूप परमात्मा अत्यन्त अद्भुत है उसी का समस्त ब्रह्माण्ड में प्रसार है। वह निरञ्जन ही जगत् की उत्पत्ति का कारण 'ओंकार' है—वह सर्वत्र व्यापक है। वही ब्रह्मा शंकर तथा इन्द्र और गोपियों के प्रभी श्रीकृष्ण हैं। वह परमात्मा ही सरस्वती एवं वेद है—उसके वे अनेक भेद हैं। सकल विद्या एवं धर्म-शास्त्र भी वही है और वह स्वयं ही शास्त्रग्रन्थों में वर्णित ज्ञान का व्याख्याता है। वही स्वयं पत्र-पूजा—नैवेद्य है स्वयं प्रतिमा है और स्वयं ही पुजारी। वही प्रभु-प्रतिमा के सम्मुख नाचने और गाने वाला है—इस प्रकार वह नाना रूपों में स्वयं सृष्टि का सञ्चालन करता है। दान-पुण्य जप-तप तीर्थ-व्रतादि में भी वही है, उसका वर्णन कहां तक किया जाय। कबीर कहते हैं कि कोई बिरला व्यक्ति ही उस परम-प्रभु के लिए साधना करता है और उसे प्राप्त कर पाता है।

अंजन अलप निरंजन सार, यहु चीन्हि नर करहु बिचार ॥टेक॥
अंजन उतपति बरतनि लोई बिना निरंजन मुक्ति न होई।
अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ ॥
जोग ध्यान तप सबै बिकार कहै कबीर मेरे राम अधार ॥११७॥

कबीर कहते हैं कि जो संसार दिखाई देता है वह अनित्य है मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है ऐसा विचार कर मनुष्यो उस ब्रह्म को पहचानने का प्रयत्न करो। इस संसार की उत्पत्ति व्यवहार कर्म बिना ज्योतिस्वरूप परमात्मा के नहीं हो सकता। दृश्यमान संसार तो उत्पत्ति और नाश के चक्र में बंधा हुआ है। परमात्मा सबके हृदय में रम रहा है। योग ध्यान जप तप आदि समस्त विधि-विधान विकार मात्र हैं कबीर को तो केवल राम-नाम का ही आश्रय है।

एक निरंजन अलह मेरा हिंदू तुरक दहूँ नहीं मेरा ॥टेक॥
राखूं व्रत न महरम जांनां तिसही सुमिरूं जो रहे निदांनां।
पूजा करूं न निमाज गुजारूं, एक निराकार हिरदै नमसकारूं॥
नां हज जाऊं न तीरथ पूजा एक पिछांण्यां तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा एक निरंजन सू मन लागा ॥११०॥

कबीर कहते हैं कि मेरा तो एकमात्र सम्बन्ध राम से ही है हिन्दू-मुसलमान इन दोनों में से कोई भी मेरा नहीं है। मैं न तो व्रत धारण करता हूं और न मौहर्रम में तत्सम्बन्धी आचरण करता हूं मैं तो ईश्वर का स्मरण कर पूर्ण निश्चिन्त हो जाता हूं। चाहे पूजा और नमाज न करूं किन्तु उस एक पूर्ण परमेश्वर को हृदय से नमस्कार कर लेता हूं मैं हज और तीर्थ यात्रा का विश्वासी हूं भला जब ब्रह्म को पहचान लिया तो इन व्यर्थ के कृत्यों से क्या प्रयोजन ? कबीर कहते हैं कि उस परमात्मा से मन की लगन लग जाने से संसार भ्रम तिरोहित हो गया।

तहां मुझ गरीब की को गुदरावै,
मजलसि दूरि महल को पावै ॥टेक॥
सतरि सहस सलार हैं जाके असी लाख पैकबर ताके।
सेख जु कहिये सहस अठयासी छपन कोटि खेलिबे खासी॥
कोटि तेतीस अरु खिलखांनां चौरासी लख फिरै दिवांनां।
बाबा आदम पै नजरि दिखाई नबी भिस्त घनेरी पाई॥
तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी देत जबाब होत बजगारी।
जन कबीर तेरी पनह समांनां भिस्त नजीक राखि रहिमांनां ॥१११॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु का महल बहुत दूर और अगम्य है, मंजिल दूर है मैं गरीब किस भांति वहां तक पहुंच सकता हूं। उस ब्रह्म की महिमा अपरम्पार है। सत्तर सहस्र तो उसके सैनिक और अस्सी लाख पैगम्बर हैं। अट्ठासी हजार शेख और छप्पन करोड़ खेलने वाले (बजाने) हैं। तैंतीस करोड़ व्यक्ति चौरासी लाख योनियों में उसी के कारण भटक रहे हैं। भ्रम में पड़े हुए लोग बाबा नबी फकीर आदि से झाड़ फूंक करवा नजर उतरवाते हैं—यह सब व्यर्थ है। हे प्रभु! आप स्वामी हैं और मैं भिखारी आप के सम्मुख अधिक कहना भी धृष्टता होगी। दास कबीर तो अब आपकी शरण में आ गया है उसे बहिस्त अथवा अन्य किसी सुख की कामना नहीं केवल आपकी कृपा ही सब कुछ है।

जो जाचौं तो केवल रांम आंन देव सूं नांही कांम ॥टेक॥
जाकै सूरिज कोटि करैं परकास कोटि महादेव गिरि कविलास।
ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरैं दुर्गा कोटि जाकै मरदन करैं॥

ब्रह्म घट-घट वासी है। कबीर कहते हैं कि कमल के समान हाथों वाले प्रभु की भक्ति कर प्रथम-पद परमपद का वरदान माँगना चाहिए।

विशेष—कबीर के निर्गुण ब्रह्म में यहाँ पर्याप्त मात्रा में सगुण के तत्व विद्यमान है।

मन न डिगै तार्थं तन न डराई
केवल राम रहे ल्यौ लाई ॥टेक॥

अति अथाह जल गहर गंभीर, बाँधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर।
जल की तरंग उठि कटिहै जंजीर, हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर॥
कहै कबीर मेरे संग न साथ जल थल मैं राखै जगनाथ ॥१४१॥

कबीर कहते हैं कि मेरा मन चंचल नहीं है इसलिए शरीर को कोई भय नहीं मैंने अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ राम में केन्द्रित कर दी हैं। संसार-सागर का जल अत्यन्त गम्भीर है उसमें माया-बन्धन में बाँधकर कबीर को डाल दिया है। प्रभु प्रेम की तरंग उठने से माया की शृंखला टूट गई और ईश्वर का नाम जपने से कबीर संसार के पार हो गया अथवा संसार से तटस्थ हो गया। कबीर कहते हैं कि मेरे साथ कोई सहायक नहीं है किन्तु जल-थल में सर्वत्र त्रिलोकीनाथ मेरी रक्षा करते हैं।

मलैं लोदी मलैं धोवौ मलैं धोवौ लाग
तन मन राँम पियारे जोग ॥टेक॥

मैं बौरी मेरे राँम भरतार ता कारनि रचि करौं स्यगार।
जैसे धुबिया रज मल धोवै हर-तप रत सब निंदक खोवै॥
न्यंदक मेरे माई बाप जनम जनम के काटे पाप।
न्यंदक मेरे प्रांन अधार, बिन बेगारि चलावै भार॥
कहै कबीर न्यंदक बलिहारी आप रहै जन पार उतारी ॥१४२॥

निन्दा करने वाले मनुष्य बहुत श्रेष्ठ हैं उनसे घृणा नहीं करनी चाहिए—वे तन-मन से प्रिय प्रभु के भजन में प्रवृत्त कराते हैं। मैं राम-प्रेम में दीवानी हूँ वही मेरे प्रियतम हैं मैं उन्हीं के लिए रूपसज्जा करती हूँ। जैसे धोबी मल-मल कर वस्त्र की कलुषता दूर करता है उसी भाँति प्रभु की भक्ति में लगे हुए भक्त के समस्त विकार निंदक द्वारा दूर हो जाते हैं—वह बुराई करता है और अपने दोषों का दृष्टि पा भक्त उन्हें दूर कर लेता है। कबीर कहते हैं कि निन्दक मेरे माता-पिता तुल्य हैं जो जन्म जन्मान्तर के पाप दूर करने में सहायता देता है। वस्तुतः निन्दक ही मेरे जीवन का आधार है जो बिना कुछ लिए हमारा कलुष दूर करवाता है। कबीर कहते हैं मैं निन्दक की बलिहारी जाता हूँ जो दूसरों का उपकार कर स्वयं गर्त में गिरता है।

विशेष—१ उपमा अलंकार।

२ 'निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।'

जो मैं बौरा तौ राम तोरा लोग मरम का जान मोरा ॥टेक॥
माला तिलक पहरि मनमाना लोगनि रांम खिलौना जांना।
थोरी भगति बहुत अहंकारा ऐसे भगतां मिलैं अपारा॥
लोग कहैं कबीर बौराना कबीरा को मरम रांम भल जांना॥१४३॥

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु-प्रेम में दीवाना हूँ और लोग मुझे पागल समझते हैं किन्तु ये पागल कहने वाले मेरा रहस्य नहीं समझ पाते हैं। लोग माला-तिलक धारण कर अपने को भक्त मानते हैं उन्होंने राम को खिलौना मात्र समझ लिया है। इस संसार में ऐसे अनेक भक्त मिल जायेंगे जो थोड़ी भक्ति करने पर दम्भ में भरे रहते हैं। संसार कहता है कि कबीर पागल हो गया है किन्तु कबीर की मनःस्थिति को केवल राम ही जानते हैं।

हरिजन हंस दसा लीयें डोलै
निर्मल नांव चवै जस बोलै ॥टेक॥
मानसरोवर तट के बासी राम चरन चित आंन उदासी।
मुक्ताहल बिन चंच न लावै मौंनि गहै कै हरि गुन गावै॥
कऊवा कुबधि निकटि नहीं आवै सो हंसा निज दरसन पावै॥
कहै कबीर सोई जन तेरा खीर नीर का करै नबेरा।२०४॥

प्रभु-भक्त की दशा हंस के समान है वह केवल ईश्वर के निर्मल नाम को ही ग्रहण करता है। वह भक्त शून्य-स्थित मानसरोवर के तट का वासी हो जाता है राम चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी ओर उसकी वृत्ति नहीं रमती। जिस प्रकार हंस मोती के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता उसी भाँति हरि भक्त या तो प्रभु गुणगान करता है अन्यथा अपनी वाणी को मौन का आवरण दे देता है। भक्त के निकट कुबुद्धि रूपी कौआ नहीं आता और वह हंसात्मा प्रभु का दर्शन पा जाता है। कबीर कहते हैं कि वही ईश्वर भक्त है जो क्षीर-नीर विवेक रखता है।

विशेष – हंस के विषय में यह कवि प्रसिद्धि है कि वह मिले हुए दूध और जल में से दूध-दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है। इस सम्बन्ध में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'हंस का नीर और विवेक' निबन्ध पठनीय है।

सति रांम सतगुर की सेवा पूजहु रांम निरंजन देवा ॥ टेक ॥
जल कै मंजन्य जो गति होई मींना नित ही न्हावै।
जैसा मींना तैसा नरा फिरि फिरि जोनी आवै॥

मन में मैला तीर्थ न्हांवै तिनि बैकुंठ न जांनां।
पाखंड करि करि जगत भुलांनां नांहिन रांम अयांनां॥
हिरदै कठोर मरै बानारसि नरक न बंच्या जाई।
हरि को दास मरै जे मगहरि सेन्यां सकल तिराई॥
पाठ पुरांन बेद नही सुमृत तहां वसै निरकारा।
कहै कबीर एक ही ध्यावो बावलिया संसारा॥१४७॥

कबीर कहते हैं कि संसार में राम सेवा और गुरु-सेवा ही सत्य है अन्य सब मिथ्या इसलिए निराकार परमात्मा की आराधना ही श्रेयस्कर है। भला यदि जल में स्नान मात्र से मुक्ति की प्राप्ति हो जाय तो मछली नित्य ही पानी में स्नान के कारण मुक्त हो गई होती किन्तु मीन और जीव दोनों ही स्नान से मुक्त नहीं हुए हैं इसलिए बारम्बार आवागमन चक्र में पड़ विभिन्न योनियों में भ्रमित होते हैं। जो मन मे कलुष रखते हुए तीर्थ-स्नान करता है, वह स्वर्ग लाभ नहीं करता। समस्त संसार पाखण्ड और ढोंग कर भ्रमित हो रहा है किन्तु प्रभ अज्ञानी नहीं है, वह सब कुछ देखता है। जो हृदय को कठोर कर काशी-करवट लेते हैं वे नरक से नहीं बच पाते। प्रभु भक्त तो मगहर मे जाकर ही मरता है वहां मर कर सब के सब मुक्ति-लाभ कर गये हैं। वहां पुराण वेद स्मृति आदि धर्मग्रन्थों का तर्क ज्ञान समाप्त हो जाता है वहां निराकार ब्रह्म का निवास स्थान है। कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख संसार! एक पूर्ण परमेश्वर का ही ध्यान कर, अन्य समस्त क्रिया-कलाप मिथ्या है।

विशेष—१ मरै बानारसि—में 'काशी करवट' की ओर संकेत है अंध विश्वासी धार्मिक जनता काशी के एक कुएं में जिसमें आरा लगा हुआ था गिरकर शरीर को कटवा देती थी। उन लोगों का विश्वास था कि इस कुएं मे गिरकर प्राण-त्यागने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वस्तुतः यह कुछ पुजारियों का ढोंग था। धनिक लोग खूब शृंगार-सज्जा कर, स्त्रियां आभूषणों से लद कर इसमें कूदती थीं तो वे पुजारी आरा चलाकर उनका काम तमाम कर देते थे और जो निर्धन पुरुष तथा स्त्रियां कुए मे गिरती थीं उनके लिए आरा नहीं चलाया जाता था और कह देते थे कि तुम स्वर्ग के योग्य नहीं हो वे कुए से वापस निकल आते थे। आरा चलाने का कार्य नीचे ही नीचे गुप्त रूप से इस प्रकार होता था कि वह स्वचालित सा लगता था। इसका रहस्य एक अंग्रेज अधिकारी ने पकड़ इसे बन्द करा दिया।

२ 'मरै मगहरि'—सामान्य जनता में यह विश्वास था कि जो कोई मगहर मे मृत्यु को प्राप्त होता है वह नरक का भोग करता है कबीर जीवन भर इस अन्ध विश्वास को मिटाने का प्रयत्न करते रहे और अन्त समय मे स्वयं भी वहीं

बाहर मरे। प्रस्तुत पद में भी व मगहर में शरीर त्याग से स्वर्ग लाभ की बात कहते हैं।

क्या ह्वै तेरे न्हाई धोई, आतम राम न चीन्हां सोई ।।टेक।।
क्या घट ऊपरि मजन कीयैं भीतरि मैलम पारा।
रांम नांम बिन नरक न छूटै जे धोवै सौ बारा।
का नट भेष भगवां बस्तर, भसम लगावं लोई।।
ज्यूं दादुर सुरसुरी जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई।।
परहरि कांम रांम कहि बौरे सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि को नांव अभै-पद-दाता कहै कबीरा कोरी ।।१४६।।

कबीर कहते हैं कि इस नहाने-धोने से क्या लाभ यदि हृदयस्थित परमात्मा को न पहचाना। बाहर के स्नान से क्या लाभ मन में तो अपार कलुष भरा हुआ है। राम नाम के आश्रय बिना नरक से मुक्त नहीं हुआ जा सकता जो व्यक्ति इसे जपता है वह मुक्त हो जाता है। नट के समान भगवा वस्त्र से विभिन्न भेष धारण करने और शरीर से भस्म रमाने का कोई प्रयोजन नहीं। जिस भाँति मेंढक की गंगा जल के सेवन बिना मुक्ति नहीं होती उसी प्रकार प्रभु नाम के बिना मनुष्य की मुक्ति सम्भव नहीं। हे बन्धु ! तू अज्ञानता और कामना अथवा विषय-वासना का परित्याग कर राम-नाम भज क्योंकि ईश्वर का नाम अभय पद, परम पद मोक्ष प्रदाता है —यह कबीर जुलाहे की सीख है।

विशेष—उपमा अलंकार।

पांणीं थैं प्रगट भई चतुराई,गुर प्रसादि परम निधि पाई ।।टेक।।
इक पांणीं पांणीं कूं धोवै इक पांणीं पांणी कूं मोहै।
पांणी ऊंचा पांणी नींचा ता पांणी का लीजै सींचा।।
इक पांणी थैं प्यंड उपाया दास कबीरा रांम गुण गाया ।।१४७।।

कबीर कहते हैं कि प्रभु रूप जल से संसार का समस्त ज्ञान उत्पन्न हुआ। गुरु-कृपा से मैंने आज उसी परम-तत्त्व को जान लिया है। ज्ञान जल माया रूपी जल को नष्ट कर रहा है दूसरा माया स्वरूप जल प्राणी को विमोहित कर रहा है। यह ज्ञान जल ही व्यक्ति को उच्च स्थान प्रदान करता है तब यही नम्र। इस ज्ञान जल से अन्तर-बाह्य अभिसिंचित करना श्रेयस्कर है। वीर्य भी पानी का ही रूप है जिससे मनुष्य शरीर की रचना हुई। जल—ब्रह्म—ही जगत् का कारण है इस प्रकार कबीर प्रभु-महिमा वर्णन करते हैं।

विशेष—यमक अलंकार।

मजि गोब्यंद भूमि जिनि जाहु
मनिसा जनम की एही लाहु ॥टेक॥
गुर सेवा करि भगति कमाई, जौ तैं मनिषा देही पाई।
या देही कूं लोचैं देवा सो देही करि हरि की सेवा॥
जब लग जुरा रोग नहीं आया तब लग काल ग्रसै नहिं काया।
जब लग हींण पड़ै नहीं बांणी तब लग भजि मन सारंगपांणी॥
अब नहीं भजसि भजसि कब भाई आवैगा अंत भज्यौ नहीं जाई।
जे कछू करौ सोई तत सार फिरि पछितावोगे वार न पार॥
सेवग सो जो लागै सेवा तिनहीं पाया निरंजन देवा।
गुर मिलि जिनि के खुले कपाट बहुरि न आवै जोनी बाट॥
यहु तेरा औसर यहु तेरी बार घट भींतरि सोचि बिचारि।
कहै कबीर जीति भावै हारि, बहु बिधि कह्यौ पुकारि पुकारि॥१४८॥

मनिसा=मनुष्य मानव। लोचैं=ललकते हैं। जुरा=जरा वृद्धावस्था। हींण=हीन। सारंगपाणि=कमल जैसे हाथ वाले। सेवग=सेवक भक्त। जोनी=योनि।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! प्रभु का नाम भज यह भूलने योग्य नहीं। मानव जन्म की सार्थकता ईश्वर-नाम-स्मरण में ही है। यदि तुझे मानव—देह पाई है तो गुरु सेवा कर भक्ति लाभ कर। इस मनुष्य-शरीर के लिये देवगण भी ललकते हैं इसलिये इसकी अमूल्यता को सोचते हुए परमेश्वर की भक्ति कर। जब तक वाक्शक्ति क्षीण नहीं होती है मन! तब तक परमात्मा का भजन कर। जब तक वृद्धावस्था और उसके रोग शरीर को नहीं व्यापते तब तक मृत्यु नहीं आती। अतः यदि तूने अब परमात्मा का भजन न किया तो फिर तो अन्तिम समय निकट आ जायगा। जो कुछ भी प्रभु-भक्ति के लिए अब कर लोगे वही रह जायगा अन्यथा काल के निकट आने पर तो घोर पश्चात्ताप ही शेष रह जायगा। भक्त वही है जो प्रभु की सेवा करे और वही ज्योतिस्वरूप निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। गुरु-उपदेश से जिनके ज्ञान-कपाट खुल गये वे पुनः इस संसार में जन्म लेने नहीं आते। तेरे लिये मनुष्य! यह स्वर्ण अवसर है कि मन को अन्तर्मुखी कर प्रभु प्राप्ति का प्रयत्न कर। कबीर बारम्बार पुकार-पुकार कर कहते हैं कि प्रभु-नाम-स्मरण से ही संसार में कल्याण सम्भव है।

ऐसा ग्यांन बिचारि रे मना
हरि किन सुमिरै दुख भंजना॥टेक॥
जब लग मैं मैं मेरी करै तब लग काज एक नहीं सरै।
जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ तब हरि काज सवारैं आइ॥

जब लग स्यंघ रहै बन मांहि तब लग यहु बन फूलै नांहि।
उलटि स्याल स्यंघ कूं खाइ तब यहु फूलै सब बनराइ॥
जीत्या डूबै हारया तिरै, गुर प्रसाद जीवत ही मरै।
दास कबीर कहै समझाइ, केवल रांम रहौ ल्यौ लाइ ॥१४९॥

हे मन! दुःख-विनाशक प्रभु का स्मरण क्यों नहीं करता है? जब तक तू मैं-पन की सीमा को समाप्त नहीं कर देता तब तक तेरा कोई भी काम सफल नहीं हो सकता। जब ममत्व-परत्व की भावना समाप्त हो जाती है तब प्रभु स्वयं आकर कार्य सफल करते हैं। जब तक इस संसार रूपी वन में माया का सिंह रहता है तब तक यह फलता फूलता नहीं। जीव रूपी शृगाल माया-सिंह को नष्ट कर देता है तब यह संसार पल्लवित होता है भक्ति के फल देता है। जो माया से जीता हुआ होता है वह संसार-समुद्र में डूब जाता है और जो उसे हरा देता है वह भवसागर से तर जाता है। गुरु कृपा से ही साधक जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ स्थिति को प्राप्त कर सकता है। अतः कबीर समझाकर कहते हैं कि केवल परमात्मा में ही लगन लगानी चाहिए।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन को डर बहुत कहत हैं उठि उठि पहरै लागि रे ॥टेक॥
ररा करि टोप ममा करि बखतर ग्यांन रतन करि पाग रे।
ऐसैं जौ अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे॥
ऐसी जागणीं जे को जागै ता हरि देइ सुहाग रे।
कहै कबीर जाग्या ही चहिये क्या गृह क्या बैराग रे ॥१५ ॥

हे अज्ञानी जीव! सावधान हो जा! इस संसार में बहुत से विकारों के चोर हैं, अतः तू शीघ्र ही सावधानी से अपनी पवित्रता की रक्षा कर। अब कबीर उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'रा' कार का टोप धारण कर 'म' कार का बख्तरबन्द पहन एवं ज्ञान-रत्न का विजय-चिह्न लगा यदि तू माया के अजगर को मारेगा तो इस सर्प के मस्तक से तुझे मस्तक की सुन्दर मणि प्राप्त होगी। यदि कोई उपरोक्त विधि से जागृत होता है तो स्वयं ईश्वर उस भक्त को अमर पद प्रदान करते हैं। कबीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह गृहस्थ अथवा विरक्त हो सर्वदा सचेत रहना चाहिए।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

जागहु रे नर सोवहु कहा, जम बटपारै रूंधे पहा ॥टेक॥
जागि चेति कछू करौ उपाइ, मोटा बैरी है जमराइ।
सेत काग आये बन मांहि, अजहूं रे नर चेतै नांहि॥
कहै कबीर तबै नर जागै, जम का डंड मूंड मैं लागै ॥१५१॥

बटपारै=बटमार। पहा=पथ। मोगा=बहुत बड़ा। सेत=खेत। ढंढ=बड़ा।

हे मनुष्य ! ! सावधान हो जा मायानिद्रा में पड़े रहना ठीक नहीं क्योंकि यम—मृत्यु-रूपी बटमार, लुटेरा तेरा पथ बन्द कर रहा है। सावधान होकर काम मुक्त होने का कुछ उपाय कर क्योंकि मृत्यु जैसा भयंकर शत्रु तेरे सम्मुख खड़ा हुआ है। ससार रूपी वन में विनाशकारी श्वेत कौए आ गये हैं किन्तु तू फिर भी सावधान नहीं होता। कबीर कहते हैं कि मनुष्य ! तभी ज्ञान प्राप्त कर सावधान होता है जब उसकी मृत्यु आ धमकती है किन्तु—

"अब पछताये क्या होत है जब चिड़िया चुग गई खेत।

जाग्या रे नर नींद नसाई चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥टेक॥

सोवत सोवत बहुत दिन बीते जन जाग्यां तसकर गये रीते ॥

जन जागे का ऐसहि नांण विष से लागै बेद पुरांण।

कहै कबीर अब सोवों नांहि रांम रतन पाया घट मांहि ॥१५२॥

अज्ञान निद्रा नष्ट हो जीवात्मा के जाग जाने पर मन सावधान हो गया और चिंतामणि स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो गई। अब मुझे सोते सोते अज्ञान में पड़े हुए बहुत समय व्यतीत गया था किन्तु जाग जाने पर ज्ञान लाभ करने से समस्त चोर—काम क्रोध मद लोभ मोह—खाली हाथ कुछ बिगाड़े बिना लौट गये। अब ज्ञान चक्षु प्राप्त हो जाने पर वेद-पुराण आदि शास्त्रग्रंथों का ज्ञान तो मुझे वृथा दिखाई देता है। कबीर कहते हैं कि अब मैं अज्ञान में नहीं पड़ूँगा क्योंकि मैंने हृदय के भीतर ब्रह्म की प्राप्ति कर ली है।

सबनि एक अहेरा लाया
मिर्गनि खेत सबनि का खाया ॥टेक॥

या जगम में पांचौ मृगा एई खेत सबनि का चरिगा ॥

पारधीपनौ जे साधै कोई अध खाया सा राखै सोई।

कहै कबीर जो पंची मारै, आप तिरै और कूं तारै ॥१५३॥

साधुमत एक बड़ा भयवा भक्ति के आखेटक को रखते हैं माया ने समस्त मनुष्यों की सम्पत्ति समाप्त कर दी। इस ससार रूपी वन में पांच विकारों के मृग रहते हैं जो सबकी खेती को चर गये। किन्तु जो लोग भक्ति-साधना करते हैं उनकी सुकृत्य सम्पत्ति चाहे आधी समाप्त भी हो गई हो फिर भी रक्षित हो जाती है क्योंकि भक्ति का आखेटक इन विकारों—मृगों—काम क्रोध मद लोभ मोह—को समाप्त कर देता है। कबीर कहते हैं कि जो इन पंच विकारों के मृग को समाप्त कर देता है वह स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, दूसरों को भी मुक्ति की प्रेरणा देता है।

विशेष—'पाँचों मृगा' से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी अर्थ लगाया जा सकता है।

हरि को बिलोवनों बिलोइ मेरी माई,
ऐसैं बिलोइ जसैं तत न जाई ॥टेक॥
तन करि मन्की मनहि बिलाइ, ता मटकी मैं पवन समोइ ॥
इला प्यंगुला सुषमन नारी बेगि बिलोइ ठाढी छछिहारी ।
कहै कबीर गुजरी बौरांनीं मटकी फूटीं जोति समांनीं ॥१२४॥

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे सखि ! प्रभु भक्ति के दूध को ऐसा बिलो जिससे विश्व का नवनीत—सारतत्व प्राप्त हो जाय। शरीर की मन्थी बनाकर मन को बिलो और इस शरीर की मटकी में प्राणायाम साधना कर। इड़ा पिंगला सुषुम्णा का सम्मिलन कर शीघ्र मन-साधना कर। कुण्डलिनी इस अवसर की प्रतीक्षा में है जिससे वह शीघ्र विस्फोट कर अमृत का पान कर। कबीर कहते हैं कि आत्मारूपी 'गूजरी' प्रभु-भक्ति में मदमस्त हो रही है और शरीर की मटकी फूट जाने पर पंच भूतों में विलीन हो गया। आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य हो गया।

विशेष—१ सांगरूपक अलंकार।

२ कबीर ने यहाँ आत्मा को 'गूजरी' इसलिए कहा कि अहीर और गूजर जाति का मुख्य व्यवसाय भी भैंस पालकर दूध का व्यापार करना था।

आसण पवन किये दिढ रहु रे मन का मैल छाडि दे बौरे ॥टेक॥
क्या सींगी मुद्रा चमकायें क्या बिभूति सब अंगि लगायें ॥
सो हिंदू सो मुसलमांन जिसका दुरस रहै ईमांन ॥
सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियांन काजी सो जांनैं रहिमांन ॥
कहै कबीर कछू आंन न कीजै रांम नांम जपि लाहा लीजै॥१२५॥

आसण—आसन समाधि से तात्पर्य योग के अष्टांग साधना में से एक। पवन—प्राणायाम। दिढ—दृढ। बौरे—बावला पागल। सींगी—शृंगी योगियों के धारण करने का वाद्य विशेष। मुद्रा—मुद्रा योगियों का एक आभूषण। बिभूति—भस्म। दुरस—दुरुस्त ठीक दृढ। लाहा—लाभ।

हे जीवात्मा ! तू समाधिस्थ हो प्राणायाम की दृढ साधना द्वारा मन का कल्मष दूर कर ले। योग केवल मात्र शृंगी मुद्रा धारण करने से ही नहीं बना जा सकता और न भस्म रमाने से कोई साधु हो सकता है। चाहे कोई हिन्दू है अथवा मुसलमान श्रेष्ठ वही है जिसका धर्म ईमान सब समय न टरे। ब्राह्मण अथवा ब्रह्म वही है जो ब्रह्म ज्ञान का कथन करता है एवं काजी वही है जो खुदा को जानता है। कबीर प्रभु-प्राप्ति का सरलतम उपाय बताते कहते हैं कि राम-नाम-स्मरण द्वारा परम प्रभु की

प्राप्ति कर लो अन्य कुछ विधि-विधान अथवा आडम्बर करने की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है।

तातैं कहियै लोकाचार, बेद कतेब कथैं ब्यौहार ॥टेक॥
जारि बारि करि आवै देहा मूंवां पीछैं प्रीति सनेहा ॥
जीवत पित्रहि मारहि डंगा मूंवां पित्र ले घालैं गंगा ।
जीवत पित्र कूं अन न ख्वावैं मूंवां पाछैं प्यंड भरावैं ।
जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध मूंवां पीछैं देहि सराध ॥
कहि कबीर मोहि अचिरज आवै कऊवा खाइ पित्र क्यूं पावै ॥१२६॥

कबीर यहाँ बाह्याचारों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि लोकाचार के विषय में उस को क्या समझाया जाय जो धर्मग्रंथों पर आश्रित रहता है। मृतक की देह को जलाकर उसका चिह्न तक समाप्त कर सम्बन्धी बाद में रो पीट कर मिथ्या प्रेम-प्रदर्शन करते हैं। जीवितावस्था में तो पिता को लोग दुत्कारते हैं अन्य प्रकार से अपमान करते हैं और मृत्यु को प्राप्त हो जाने पर उसे गंगा में ले जाकर विविध विधि-विधान रचते हैं। जीते जी तो लोग पिता को भोजन तक नहीं देते और मर जाने पर उसका पिण्डदान करते हैं। जीते जी तो पिता को कुवचन कहते हैं और मर जाने पर उसका श्राद्ध करते हैं—कैसी विडम्बना है। कबीर कहते हैं कि मुझे तो यह आश्चर्य है कि श्राद्ध में कौए जिमाने से यह भोजन पितृगण कैसे प्राप्त कर लेते हैं ?

बाप राम सुनि बीनती मोरी
तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी ॥टेक॥
पहलै काम मुगध मति कीया ता भै कंपै मेरा जीया ॥
राम राइ मेरा कह्या सुनीजै पहलै बकसि अब लेखा लीजै ॥
कहै कबीर बाप राम राया अबहूं सरनि तुम्हारी आया ॥१२७॥

हे पिता परमेश्वर ! आप मेरा निवेदन कृपा कर सुन लीजिए क्योंकि मैं संसार के सम्मुख तो अपनी वास्तविक दशा छिपाते रहता हूँ और आपसे सब कुछ प्रकट कर देता हूँ। पहले तो मुझे विषय-वासना ने अपने आकर्षणों में लिप्त कर लिया किन्तु अब उसका परिणाम सोच-सोचकर मेरा मन भयभीत हो रहा है। हे राजा राम ! आप मेरा निवेदन कृपा कर सुन लीजिए फिर चाहे आप उस पर अपना कोई भी अभिमत दें। कबीर कहते हैं कि हे परमपिता परमेश्वर, अब तो मैं आपकी शरण में आ गया हूँ अब आप मेरी रक्षा कीजिए।

अबहूं बीच कैसे दरसन तोरा
बिन दरसन मन मानैं क्यूं मोरा ॥टेक॥
हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजानां दुहु मैं दोस कहौ किन रांमां ।
तुम्ह कहियत त्रिभवन पति राजा मन बंछित सब पुरवन काजा ॥

कहै कबीर हरि दरस दिखावो
हमहि बुलावो क तुम्ह चलि आवो ।।१२८।।

हे प्रभु ! मैं आज कैसे आपका दर्शन पाऊं और बिना आपके दर्शन के मेरे मन को शान्ति नहीं । मैं तो आपका कुसेवक ही सिद्ध हुआ किन्तु आपने मुझे क्यों बिसरा दिया आप में ऐसी अन्यमनस्कता कैसे आ गई ? क्या मैं और आप दोनों ही दोषी हैं ? आप तो त्रिलोकीनाथ और समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले कहलाते हो मेरी भी कामना पूर्ण कीजिए । कबीर कहते हैं कि हे ईश्वर ! अब आप मुझे अपना सुदर्शन प्रदान कीजिए, या तो आप मुझे अपने पास बुला लो अथवा फिर स्वयं हो यहाँ आ जाओ ।

विशेष—यहाँ कबीर में सूर के समान भावों की सहज स्वाभ अभिव्यक्ति प्राप्त होती है जिसमें इष्ट और उपासक का सामीप्य प्रत्यक्ष हो जाता है । वस्तुतः यह भक्ति की ऐसी अवस्था है जहाँ भक्त के पावन हृदय की प्रेमधारा मर्यादा के कगार तोड़ अपने प्रियतम से मिलने के लिए उमड़ चलती है ।

अपू सीज गढ़ बंका भाई दोवर कोट अरु तेवड़ खाई ।।टेक।।
काम किवाड़ दुख सुख दरवानी पाप पुंनि दरवाजा ।
क्रोध प्रधान लोभ बड़ दूंदर मन मैं वासी राजा ।।
स्वाद सनाह टोप ममिता का कुबुधि कमांण चढ़ाई ।
त्रिसना तीर रहै तन भीतरि, सुबुधि हाथि नहीं आई ।।
प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यांन चलाया ।
ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता एकै चोट ढहाया ।।
सत संतोष ले लरने लागे तोरे दस दरवाजा ।
साध संगति अरु गुर की कृपा थैं पकरयौ गढ़ को राजा ।।
भगवत भीर सकति सुमिरण की काटि काल की पासी ।
दास कबीर चढ़ गढ़ ऊपरि राज दियौ अबिनासी ।।१२९।।

कबीर यहाँ हठयोगी साधना का वर्णन कर कहते हैं कि उस दुर्लभ शून्य गढ़ पर किस भाँति पहुँचा जाय ? क्योंकि मार्ग में उसकी खाई (विपुल) तथा बुर्जे (ढेर) दुरस्त हो रही है । वहाँ पर काम के कपाट लगे हुए हैं तथा सुख और दुःख प्रहरी हैं जो पाप और पुण्य के दरवाजों पर बैठे हुए हैं । क्रोध वहाँ प्रधान है और लोभ को भी उच्च स्थान प्राप्त है । फिर मन भी उस राजा की स्थिति है । रसना के विविध स्वाद एवं अहं तथा ममता का टोप मनुष्य ने लगा कर धर्मति था । कुबुद्धि जिस पर तृष्णा के बाण को शरीर को बींध रहे हैं—लगे हुए हैं और ज्ञान विवेक तो इसे प्राप्त हो ही नहीं रहा है । किन्तु साधक को अब ज्ञात हो गया उसके लिए और

प्राप्ति तभी हुई जब प्रभु प्रेम का पलीता सुरति के गोले में लगाकर उसका चालक ज्ञान को बनाया एवं ब्रह्माग्नि से इसका विस्फोट कर मायाडम्बर को नष्ट कर दिया। सत्य और सन्तोष कुविचारों को समाप्त करने लगे इस पर ब्रह्मरन्ध्र खुल गया। साधु-संगति और गुरु कृपा के द्वारा ही इस शून्य गढ़ में स्थित ब्रह्म रूपी राजा को प्राप्त कर लिया। ईश्वर भक्ति और नाम-स्मरण के द्वारा मृत्यु और आवागमन के चक्र को नष्ट कर दिया। भक्त कबीर इस प्रकार उस शून्य-गढ़ के ऊपर चढ़ गये और ब्रह्म ने उन्हें वहाँ परमपद का राज्य प्रदान किया।

विशेष — सांगरूपक अलंकार।

रनि गई मति दिन भी जाइ, भवर उड़े बग बैठे आई ॥टेक॥
कांचे करव रहे न पांनीं हंस उड़ या काया कुम्हिलांनी।
थरहर थरहर कंपै जीव नां जांनू का करिहै पीव ॥
कऊवा उड़ावत मेरी बहियां पिरांनी
कहै कबीर मेरी कथा सिरांनी ॥१६॥

रहस्यवादी कवि कबीर ने यहाँ प्रिय-मिलन से पूर्व की मनःस्थिति को नवोढ़ा के समान अभिव्यक्त किया है जो प्रथम समागम-भय से प्रिय-मिलन में संकोच करती है। वे कहते हैं कि रात बीत गई थी और अब दिवस भी व्यतीत हुआ जा रहा है रात्रि-आगमन सूचक चिह्न प्रकट होने लगे हैं, भ्रमर पुष्प-पराग से उड़ २ कर चल पड़े और बगुले पंक्ति बद्ध हो होकर अपने २ स्थान को लौट चले। मिट्टी के कच्चे घड़े में जिस प्रकार जल नहीं रुक सकता उसी भाँति आत्मा के उड़ जाने पर पार्थिव शरीर की भी समाप्ति कच्चे मिट्टी के भाजन के समान हो जाती है। अब मेरी आत्मा थर-थर कांप रही है क्योंकि पता नहीं प्रियतम—ब्रह्म—प्रथम मिलन में किस भाँति व्यवहार करेगा? प्रियागमन सूचक शुभ-शकुन कौए को उड़ाते हुए मेरी भुजा शिथिल हो गई, कबीर कहते हैं कि यह मेरी मिलन पूर्व अवस्था है।

काहे कूं भीति बनांऊ टाटी का जांनू कहाँ परिहै माटी ॥टेक॥
काहे कू मंदिर महल चिणांऊं, मूंवां पीछैं घड़ी एक रहण न पाऊं ॥
काहे कू छांऊं ऊंच उचेरा साढ़े तीनि हाथ घर मेरा।
कहै कबीर नर गरब न कीजै जेता तन तेती भुंइ लीजै ॥१६१॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तुझे पता नहीं कि मृत्यु के पश्चात् किस स्थान पर तेरे शरीर की मिट्टी जाकर पड़ेगी फिर भला क्यों ऊँचे ऊँचे मकान आदि बनाने की बात सोचता है? मृत्यु के पश्चात् तू इस संसार में एक क्षण के लिए भी नहीं रह पायेगा फिर भला क्यों महल आदि बनाता है? ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं का क्या लाभ तेरा वास्तविक घर तो साढ़े तीन हाथ का शरीर ही है। कबीर कहते

है कि है मनुष्य व्यर्थ घमंड करने की आवश्यकता नहीं जितना भर शरीर की गुजर के लिए स्थान पर्याप्त हो उतना ही लेना चाहिए।

राग बिलावल

बार बार हरि का गुण गावै गुर गमि भेद सहर का पावै ॥टेक॥
आदित करै भगति आरंभ काया मंदिर मनसा थंभ।
अखंड अहनिसि सुरष्या जाइ, अनहद बेन सहज मैं पाइ ॥
सोमवार ससि अमृत झरै चाखत बेगि तपै निसतरै।
बांणीं रोक्यां रहै दुवार मन मतिवाला पीवनहार ॥
मंगलवार ल्यौ मांहींत पंच लोक की छाड़ौ रीत।
घर छाड़ै जिनि बाहिर जाइ, नहीं तर खरौ रिसाइ राइ ॥
बुधवार करै बुधि प्रकास हिरदा कवल मैं हरि का बास।
गुर गमि दोऊ एक समि कर, ऊरध पंकज थैं सूधा धरै ॥
बिसपति बिषिया देइ बहाइ तीनि देव एकै संगि लाइ।
तीनि नदी तहां त्रिकुटी मांहि कसमल धोवै अहनिसि न्हांहि ॥
सुक्र सुधा ले इति ब्रत चढ़ै अह निसि आप आप सूं लड़ै।
सुरषी पंच राखिये सबै तौ दूजी द्रिष्टि न पैसे कबै।
थावर थिर करि घट मैं सोइ जोति दीवटी मेल्है जोइ ॥
बाहरि भीतरि भया प्रकास तहां भया सकल करम का नास।
जब लग घट मैं दूजी आंण, तब लग महलि न पावै जांण।
रमिता रांम सूं लागै रंग कहै कबीर ते निर्मल अंग ॥१६२॥

सद्गुरु ही इस अगम्य शरीर रूपी घर का भेद पा सकते हैं क्योंकि वह प्रतिक्षण अनुभूति में संलग्न रहते हैं। अब आगे कबीर भक्ति—योगसाधना—विधि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि साधक भक्ति का प्रारम्भ करता है उसके लिये शरीर ही मन्दिर है एवं मन ही वह स्तम्भ है जिस पर भक्ति—शरीर के मन्दिर का भार है। इस मन-साधना से मस्त रातदिन प्रभु में चित्त लगाता हुआ अनाहद नाद की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अब सप्ताह के प्रत्येक दिवस का महत्त्व बताते हुए कबीर कहते हैं कि सोमवार को ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवित होता है जिससे ताप से समस्त ताप निवृत्त हो जाते हैं। इस महारस का पान करने वाला मन है और जिह्वा इसके सम्मुख अन्य सांसारिक वस्तुओं के रस को बन्द रखती है। मंगलवार को साधक पंचविषयों की परिधि का परित्याग कर प्रभु में लय लगाता है। वह संसार को, जिसे घर समझता है छोड़कर ईश्वर लोक में प्रवेश करता है इसका विपरीत करने पर प्रभु अप्रसन्न होते हैं। बुधवार को बुद्धि परम निर्मल प्रकाश करती हुई गुरु अनुकम्पा से दोनों का भ्रम ऊर्ध्व समाधि द्वारा कमल भेदन कर मिटा देती है

इस भांति हृदयस्थ ब्रह्म-दर्शन होता है। साधक बृहस्पति को विवेक का ध्यान कर समस्त विषय-वासना नष्ट कर देता है। जहाँ तीनों—आँख नाक एवं मस्तिष्क का सन्धि बिन्दु है, वहीं त्रिकुटी है। इसी में अहर्निश अपनी वृत्ति केन्द्रित रखते हुए योगी को अपना समस्त पाप-कलुष धो देना चाहिए। शुक्रवार को महारस का पान कर भक्ति साधना करते हुए स्वयं अपने दोषों पर दृष्टिपात करे और पंच-ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में रखे तो कभी भी द्वैत भावना संकरित न हो। शनिवार को उस परम ब्रह्म को चित्त में पूर्ण स्थिर कर लिया जाय तो वह अमल निरंजन ज्योति निश्चय ही प्राप्त हो जाती है। उसकी प्राप्ति से समस्त अन्तर-बाह्य प्रकाशमान हो कर्म जंजाल कट जाता है। यदि साधक के हृदय में द्वैत भावना है तो इस शरीर स्थित मन्दिर, जिसमें प्रभु का वास है का रहस्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। कबीर कहते हैं कि जो अपनी वृत्तियों को राम में रमा देता है उसका अंग-प्रत्यंग निर्मल हो जाता है।

विशेष—ये समस्त मान्यताएं योगियों की हैं जो प्रयत्नम किसी न किसी रूप में कबीर पन्थियों में भी विद्यमान हैं।

राम भजै सो जांनिये जाकै आतुर नांहीं,
सत सतोष लीयें रहै धीरज मन मांही ॥टेक॥
जन कौ कांम क्रोध ब्यापै नहीं त्रिष्णा न जरावै।
प्रफुलित आनद मैं गोब्यंद गुण गावै ॥
जन कौं पर निंद्या भावै नहीं अरु असति न भावै।
काल कलपनां मेटि करि, चरनूं चित राखै ॥
जन सम द्रिष्टी सीतल सदा दुबिधा नहीं आनैं।
कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन मांनै। १६२॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्त उसी को समझना चाहिए जिसमें लेश मात्र भी आतुरता न हो। वह सत्य सन्तोष एवं धैर्य के आश्रय पर रहता है। भक्त को विषय-वासना क्रोध जैसे विकार कभी नहीं व्यापते और न उसे तृष्णा व्यथित करती है। उस भक्त को न तो दूसरों की निंदा रुचिकर लगती है और न वह असत्य-भाषण करता है। वह मृत्यु भय से दूर रह निश्चिन्तमना प्रभु-चरणों में हृदय लगाये रहता है। वास्तव में वह समस्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है और संसार भ्रम में नहीं पड़ता। कबीर वर्णन करते हैं कि ऐसे ही भक्त से मुझे प्रेम है।

विशेष—गीता से तुलना की जावे।

माधौ सो न मिलै जासौं मिलि रहिये
ता कारंनि बरनि बहु दुख सहिये ॥टेक॥
छत्रधार देखत ढहि जाइ अधिक गरब थैं खाक मिलाइ।

कुसल खेम अरु सही सलामति ए दोइ काकौं दीन्हीं रे।
आवत जात दुहुर्या मूटे सर्ब तत हरि लीन्हीं रे ॥टेक॥
माया मोह मद मैं पीया मुगध कहैं यहु मेरी रे।
दिवस चारि भलैं मन रजे यहु नांही किस केरी रे॥
सुर नर मुनि जन पीर अवलिया मीरां पैदा कीन्हां रे।
कोटिक भये कहां लूं बरनूं सबनि पयांनां दीन्हां रे॥
धरती पवन अकास जाइगा चंद जाइगा सूरा रे।
हम नांही तुम्ह नांहीं रे भाई रहे रांम भरपूरा रे॥
कुसलहि कुसल करत जग खीनां पड़े काल भौ पासी।
कहै कबीर सबै जग बिनस्या रहे रांम अबिनासी रे ॥३६६॥

कबीर कहते हैं कि कुशल-क्षेम और पूर्ण सुख-सुविधा किसी को प्राप्त नहीं होती। आवागमन में पड़े जीव को छूटना पड़ता है और उसका समस्त विवेक नष्ट हो जाता है। माया-मोह से मदमस्त हो जीव यहं अथवा ममत्व के फेर मे पड़ता है। वास्तव में यह माया जन्य आकर्षण किसी के भी नहीं जो चार दिन भले ही मन मगरस्जन कर दें किन्तु अन्तत: मैं दुख में ही परिवर्तित हो जाते हैं। देव मनुष्य ऋषि पीर, पैगम्बर, औलिया मीर आदि करोड़ों प्रकार की जीवात्माएं ईश्वर ने उत्पन्न कीं किन्तु अन्ततः सबको यहां से जाना पड़ा। पृथ्वी आकाश सूर्य चन्द्र वायु, हम और तुम सब काल-क्रम में नष्ट हो जायेंगे यदि शेष रहेगा तो केवल वह ब्रह्म ही शेष रहेगा। कुशलता और सुख के उपक्रम करता ही करता यह संसार नष्ट हो मृत्युबन्धन में पड़ गया। कबीर कहते हैं कि समस्त संसार विनष्ट हो जाता है, केवल अविनाशी प्रभु ही शेष रहता है।

मन बनजारा जागि न सोई, लाहे कारनि मूल न खोई ॥टेक॥
लाहा देखि कहा गरबांनां गरब न कीजै मूरिख अयांनां ॥
जिनि धन संच्या सो पछितांनां साथी चलि गये हम भी जांनां।
निस अंधियारी जागहु बंदे छिटकन लागे सबही सबें॥
किसका बंधू किसकी जोई चल्या अकेला संगि न कोई।
ढरि गये मंदिर टूटे बंसा सूके सरवर उड़ि गये हंसा॥
पंच पदारथ भरि है खेहा जरि बरि जायसी कंचन देहा।
कहत कबीर सुनहु रे लोई रांम नांम बिन और न कोई ॥३६७॥

हे मन रूपी बनजारे! तू सावधान हो सचेत हो जा अज्ञान निद्रा में मत पड़ मिथ्या सांसारिक लाभ के कारण अपने पूर्वसंचित पुण्य के मूलधन को भी मत खो देना। लाभ की सम्पत्ति को देखकर व्यर्थ क्यों गर्व करता है, हे अज्ञानी गर्व

यही करना चाहिए। जिन्होंने धन का संचय किया है वे अन्त समय में पश्चाताप ही है। हमारे अन्य साथी तो इस संसार से चले गये और हमें भी शीघ्र ही जाना है रे मूर्ख ऐसा सोचकर कार्य कर। इस संसार में अज्ञान की अंध-राशि व्याप्त है जिसमें विकारों के चोर भी सब लगाने की ताक में लगे हुए हैं। यहां कोई किसी का बन्धु-बांधव अथवा सम्बन्धी नहीं है अन्त में मनुष्य अकेले ही जाता है। इस शरीर के जीर्ण हो नष्ट हो जाने पर प्राणवायु निकलने पर आत्मा चली जाती है। शरीर के नष्ट होने पर पंच तत्त्व निर्मित यह सलोनी सी सुन्दर काया अग्नि में जल कर भूमि में मिल जाती है। कबीरदास जी कहते हैं कि हे लोई! (शिष्या का नाम) ध्यान-पूर्वक सुनो राम नाम के अतिरिक्त यहां और कुछ भी सत्य नहीं है।

मन पतंग चेतै नहीं जल अजुरी समान।
बिषिया लागि बिगूचिये दाझिये निदान ॥टेक॥
काहे नैन अनंदिय सूझत नहीं आगि।
जनम अमोलिक खोइये सांपनि संगि लागि॥
कहै कबीर चित चंचला गुर ग्यांन कह्यौ समझाइ।
भगति हींन न जरई जरै, भाव तहां जाइ ॥३९८॥

कबीर कहते हैं कि मन माया-दीप पर पतंग के समान मरता है किन्तु वह नहीं देखता कि जीवन अंजलि-बद्ध जल के तुल्य क्षणिक अस्तित्व वाला है। विषया-सक्त हो वह व्यर्थ ही इसे नष्ट कर शरीर को सांसारिक तापों से तप्त कर रहा है। तेरे नेत्र क्यों निराश रहते हैं उन्हें वासनाग्नि दृष्टिगत क्यों नहीं होती? माया-सर्पिन के साथ बन्धन में पड़ अमूल्य मानव जीवन को जीवात्मा खो देती है। कबीर कहते हैं कि मन तो चंचल है गुरु ने इसे ज्ञानामृत समझा कर कहा है। भक्तिहीन तो निश्चय ही संसार की विषयाग्नि में जलता है क्योंकि वह गम्य-अगम्य प्रत्येक स्थल पर जाता है।

स्वादि पतंग जरै जरि जाइ
अनहद सौं मेरौ चित न रहाइ ॥टेक॥
माया के मदि चेति न देख्या दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्या।
भेष अनेक किया बहु कीन्हां अकल पुरिष एक नहीं चीन्हां॥
केते एक मूये मरहिंगे केते केतेक मुगध अजहू नहीं चेते।
तंत मंत सब ओषद माया केवल रांम कबीर दिढ़ाया ॥३९९॥

जिस प्रकार पतंग अपने हित अनहित का विचार किए बिना नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मैं विनाशक सांसारिक आकर्षणों में तो लगा हुआ हूँ किन्तु 'अनहद' में मेरी वृत्ति नहीं रमती। मायामद में मैंने सावधान हो अपना हित अनहित नहीं

देखा और संसार भ्रम में ही पड़ा रहा। विभिन्न वेश-धारण कर मैंने बहुत से आडम्बर ठाठ खड़े किये किन्तु उस परम-परमात्मा को मैंने नहीं पहचाना। इसी संसार चक्र में पड़े हुए न जाने कितने मर गये किन्तु आज भी अधिकांश माया-लिप्त व्यक्ति सावधान नहीं हुए हैं। तन्त्र मन्त्र औषध आदि के उपकरण माया मात्र हैं। कबीर को तो केवल प्रभु का दर्शन चाहिए।

एक-सुहागनि जगत पियारी सकल जीव जंत की नारी ॥टेक॥
खसम मरै वा नारि न रोवै उस रखवाला औरै होवै।
रखवाले का होइ बिनास उतहि नरक इत भोग बिलास ॥
सुहागनि गलि सोहै हार संतनि बिख बिलसै संसार।
पीछै लागी फिरै पचिहारी संत की ठठकी फिरै बिचारी ॥
संत भजै वा पाछी पड़ै गुर के सबदू मार्‌यौ डरै।
साषत कै यहु प्यंड पराइनि हुंमारी द्रिष्टि परै जैसैं डाइनि ॥
अब हम इसका पाया भेद होइ कृपाल मिले गुरदेव।
कहै कबीर इब बाहरि परी संसारा कै अंचल टिरी ॥१७॥

माया रूपी सुहागिन नारी समस्त संसार को प्रिय है। यह समस्त प्राणिमात्र को प्रिय लगती है। इस माया-सुन्दरी का पति मनुष्य नष्ट होता है किन्तु इसे फिर भी दुख नहीं होता। उसका स्वामी तो कोई और ही होता है, यह प्रभु की दासी है। इस माया के रक्षक पति मानव का तो दोनों ओर विनाश है यहाँ संसार में तो यह भोग विलास में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है और मृत्युपरान्त उसे नरक भोगना पड़ता है। इस माया-नारी के कण्ठ में आकर्षक हार है किन्तु साधुजन तो इसे और इसके संसार को विष तुल्य मानते हैं। अब यह दासी के समान भक्त के पीछे पीछे दीनता से लगी फिरती है। जो भक्त प्रभु का भजन करता है उसके तो यह पीछे ही दासी के समान लगी रहती है एवं गुरु के उपदेश से तो इसकी यह काँपती है। दुराचारी शाक्त को यह प्राणतुल्य प्रिय है तो हमें तो साक्षात् डायन राक्षसी सी लगती है। कबीर कहते हैं कि अब मैं इसका रहस्य समझ गया हूँ यह रहस्य गुरु के ज्ञान-दान देने से ही समझ में आ सका है। अब तो यह माया मेरे सम्मुख तक नहीं आती और संसारी व्यक्ति के पास से टाले नहीं टलती।

पारोसनि मांगै कंत हमारा
पीव क्यूं बौरी मिलहि उधारा ॥टेक॥
माया मांगी रखो न देऊं, घटै मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊं।
राखि परोसनि लरिका मारा जे कयूं पाऊं सु आधा तारा ॥

बन बन ढूंढौं नैन भरि जोऊ पीव न मिलै तौ बिलखि करि रोऊं।
कहै कबीर यहु सहज हमारा बिरली सुहागनि कंत पियारा ॥१७१॥

पारोसनि=पड़ोसिन अन्य सांसारिक आत्मा। बौरी=पागल।

अन्य आत्मा हमारे पति—परमेश्वर—को मुझसे मांगती हैं किन्तु उन मूर्खाओं
ने यह बात नहीं कि प्रियतम उधार नहीं मिलते उनकी प्राप्ति के लिए तो अपना
सर्वस्व बलिदान करने की आवश्यकता है। यदि वह मांगे मर भी उन्हें मांगने के
लिए आती है तो मैं तो रत्ती भर भी उसे के लिए प्रस्तुत नहीं हूं। हे सखि आत्मा!
मुझ में व्याप्त माया को रग से तो मैं तुम्हे अपनी भक्ति में आधा भाग दूंगी। मैं
उस को बन-बन—सर्वत्र—खोज रही हूं और उनके लिए व्याकुल-व्याकुल हूं। यदि वे
मिल जावें तो प्रेमातिरेक से मेरे प्रभु निकल पड़ेंगे। कबीर कहते हैं कि यह हमारा
स्वाभाविक विश्वास है कि एकाध आत्मा में ही प्रिय-दर्शन की उत्कट लगन
होती है।

विशेष—यहां कबीर भक्ति-क्षेत्र से प्रेम-क्षेत्र जिसे दूसरे शब्दों में हम
इश्कबाद कह सकते हैं में चले जाते हैं। भक्त की यह इच्छा होती है कि जिस में
वह भक्त जो मेरा आराध्य है वह सबका पूज्य हो किन्तु प्रेमी प्रिय पर एकाधिकार
चाहता है। कबीर की मनःस्थिति भी यहां प्रिय पर पूर्ण स्वत्व स्थापित करने
की है।

राम चरन जाकै रिदै बसत है ता जन कौ मन क्यूं डोलै।
मानौं अठ सिध्य नव निधि ताकै हरपि हरपि जस बोलै॥टेक॥
जहां जहां जाइ तहां सच पावै माया ताहि न झोलै।
बार बार बरजि विषिया तै लै नर जौ मन तौलै॥
ऐसी जे उपजै या जीय कै कुटिल गांठि सब खोलै।
कहै कबीर जब मन परचौ भयौ रहै राम कै बोलै॥१७२॥

रिदै=हृदय। डाम=चचल हो। जस=यश। बरजि=निषेध। परचौ=
परिचय।

कबीर कहते हैं कि जिसके प्रभु के चरणों में वृत्ति रमी हुई होगी उसका मन
चंचल नहीं होगा। उसे तो मानो अष्ट-सिद्धि एवं नवनिधि की सहज प्राप्ति हो जाती
है और वह हर्षित हो हो कर प्रभु गुणगान करता है। वह जहां कहीं भी जाता है
फिर शान्ति-लाभ करता है एवं माया उसे नहीं सताती। हे सांसारिक व्यक्ति!
यदि तेरा मन विषय वासना में भटकता है तो बारम्बार उसे वर्जित कर शुद्ध—
शक्ति—कर बनाओ। मन का इस प्रकार आचरण करने से तो हृदय की समस्त

वसुधा और पाप नष्ट हो जावें। कबीर कहते हैं कि जब मन का परम-तत्व से साक्षात्कार हो जाता है तो वह प्रभु का दास बना रहता है।

विशेष—अष्ट सिद्धि एवं नवनिधि का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

जंगल में का सोवनां औघट है घाटा।
स्यंघ बाघ गज प्रजल अरु लंबी बाटा ॥टेक॥
निस बासुरि पेड़ा पड़ै जमदांनीं लूटै।
सूर धीर साचै मतै सोई जन छूटै ॥
चालि चालि मन माहरा पुर पटण गहिये।
मिलिये त्रिभुवननाथ सूं निरभै होइ रहिये ॥
अमर नहीं संसार में बिनसै नर-देही।
कहै कबीर वेसास सूं भजि रांम सनेही ॥१७३॥

कबीर कहते हैं कि साधना-पथ में सोना अत्यन्त कठिन कार्य है। मार्ग तो सम्बा है ही साथ में सिंह बाघ हाथी आदि के रूप में साधक को विषय-विकार सताते हैं। रात दिन विपत्ति में ही पड़े रहना पड़ता है, साथ ही काल भी सर्वदा नष्ट करने के लिए तत्पर रहता है। धैर्यवान् शूरवीर ही इस मार्ग का अवलम्बन करता है और वही संसार से मुक्त होता है। हे मेरे मन! तू उस मार्ग पर चल और शून्य लोक के सुन्दर नगर को प्राप्त कर। वहाँ तुम्हें त्रिभुवनपति के दर्शन होंगे और उनके दर्शन से परमपद—अभय पद की प्राप्ति हो जायेगी। संसार में अमर कुछ भी नहीं है, यह मानव देह निश्चय ही नष्ट हो जायेगी। इसलिए विश्वासपूर्वक प्रियतम राम का भजन करो।

राग ललित

रांम ऐसो ही जांनि जपी नरहरी
माधव मदसूदन बनवारी ॥टेक॥
अनदिन ग्यान कथैं घरियार, धूवां धौलहर रहै संसार।
जैसैं नदी नाव करि संग ऐसैं ही मात पिता सुत अंग ॥
सबहि नल दुल मलफ लकीर जल बुदबुदा ऐसो आहि सरीर ॥
जिभ्या रांम नांम अभ्यास कहै कबीर तजि गरभ बास ॥१७४॥

हे मनुष्यो! प्रभु को अत्यन्त प्रतापवान् जानकर स्मरण करो उसके माधव मधुसूदन एवं बनवारी अनेक नाम हैं। सांसारिक लोग प्रतिदिन घर बैठे ज्ञान तो बघारते हैं किन्तु वे रहते धुएँ के महल सदृश क्षणिक स्थिति वाले इस संसार में ही हैं। जैसे नदी नाव का संयोग क्षणिक होता है उसी भांति माता-पिता पुत्र आदि के सम्बन्ध अल्पकालिक हैं। समस्त प्राणी पाप-पुंज से बने हुए हैं। जल के बुलबुले के समान इस शरीर का अस्तित्व क्षणिक है। कबीर कहते हैं कि गर्व को त्याग कर, इस जिह्वा से राम-नाम स्मरण का अभ्यास करो।

रसनां रांम गुन रमि रस पीजै
गुन अतीत निरमोलिक लीजै ॥टेक॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई ॥
बिष तजि रांम न जपसि अभागे का बूड़े लालच के लागे।
ते सब तिरे राम रस स्वादी कहै कबीर बूड़े बकवादी ॥१७५॥

कबीर कहते हैं कि जिह्वा ! तू केवल राम-नाम के अमर रस का पान कर क्योंकि उसमें अमूल्य गुण विद्यमान हैं। हे भाइयो ! निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करो जिसके स्मरण द्वारा ज्ञान बुद्धि और विवेक की प्राप्ति होती है। विषय का परित्याग कर हे अभाग्यवान् ! राम का जप कर, क्यों व्यर्थ लालच के वशीभूत हो पतनोन्मुख बनता है। कबीर कहते हैं कि जो भी मुक्त हुए हैं वे राम रस का पान करने वाले थे और व्यर्थ ज्ञान बघारने वाले तो इस भवसिन्धु में डूबे ही हैं।

निवरक सुत ल्यौ कोरा रांम मोहि मारि कलि बिष बोरा ॥टेक॥
उन देस जाइबो रे बाबू देखिबो रे लोग किन किन खेबू लो।
उड़ि कागा रे उन देस जाइबा जासू मेरा मन चित लागा लो ॥
हाट ढूंढि ले पटनपुर ढूंढि ले नहीं गांव के गोरा लो।
जल बिन हंस निसह बिन रवू
कबीरा को स्वांमीं पाइ परिकैं मनैंबू लो ॥१७६॥

कबीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आप अपने अंश पुत्र को पूर्ण निर्मल ही करें और मुझे तो मार डालो क्योंकि मैं तो कलियुग की विषय-वासना रस में डूबा हुआ हूं। हे मित्र ! तुम प्रभु के उस लोक में जाकर तनिक देखना तो सही कि वहां पुण्यात्माएं किस भांति रहती हैं। हे कौए ! तू उड़कर के उस प्रिय के देश जा मैं जिसके प्रेम में अनुरक्त हूं। उस प्रभु के पास जाने वाले बाजार, नगर आदि समस्त परिवेशों से परिचित हो लो किन्तु इस मोहिनी माया से नहीं। जल के अभाव में हंस और पुत्र के अभाव में स्त्रि जिस भांति विकल रहती है उसी प्रकार मैं भी प्रभु बिन मैं विकल हूं। कबीर कहते हैं कि प्रियतम को मन का उत्सर्ग करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

राग बसंत

सो जोगी जाकै सहज भाइ अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥
सबद अनाहद सींगी नाद काम क्रोध बिषिया न बाद ॥
मन मुद्रा जाकै गुर को ग्यांन त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान ॥
मनही करन कौं करै सनांन गुर को सबद ले ले धरै धियांन।
काया कासी खोजै बास तहां जोति सरूप भयौ परकास ॥
ग्यांन मेषली सहज भाइ बंक नालि कौ रस खाइ।
जोग मूल कौ देइ बंद कहि कबीर थिर होइ कंद ॥१७७॥

वही योगी है जो सहज साधना करता है एवं ज्ञान तथा प्रेम का आधार लेकर जीवन धारण करता है। वह मुंगी धारण कर अनहद नाद में तल्लीन रहता है तथा काम क्रोध आदि विकारों के पास भी नहीं फटकता। मन को जो खेचरी मुद्रा नामक स्थिति में समाये हुए गुरु का उपदेश चित्त में रखता है और त्रिकुटी स्थल में वृत्तियों को केन्द्रित रखता है गुरु उपदेश के द्वारा वह ध्यानावस्थित हो मन को शून्य तट पर स्नान कराता है। इस शरीर में ही जो काशी के समान पवित्र तीर्थ को खोज लेता है उसे वहीं ज्योतिस्वरूप परम-तत्व के प्रकाश का दर्शन होता है। ज्ञान-सेवता को सहज समाधि में धारण करने से सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्र में विस्फोट कर अमृत का पान करती है। मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को उठा देने पर कबीर कहते हैं कि प्रियतम ब्रह्म का दर्शन होता है।

> मेरौ हार हिरांनौं मैं लजाऊं सास दुरासनि पीव डराऊं ॥टेक॥
> हार गुह्यौ मेरौ रांम ताग बिचि बिचि मान्यक एक लाग।
> रतन प्रवालै परम जोति ता अंतरि अंतरि लागे मोति॥
> पंच सखी मिलिहैं सुजान चलहु तजई ये त्रिबेणी न्हांन।
> न्हाइ धोइ कैं तिलक दीन्ह मेरौ माहि परोसनि हार लीन्ह॥
> तीनि लोक की जांनें पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ॥१७॥

मेरा भक्ति रूपी हार खो गया है जिससे मैं लज्जित हूं सास से भयभीत हो छिपती हूं ही प्रियतम से भी डरती हूं। मेरा हार राम रूपी तागे से गुथा हुआ था जिसमें बीच बीच में माणिक्य लगे हुए थे। मूंगे की ज्योति का परम सुन्दर हार था जिसमें अन्य मोती भी थोड़ी थोड़ी दूर पर टके हुए थे। पांच ज्ञानेन्द्रियां रूपी सखी मिली और वे मुझे स्नानार्थ ले गईं। नहा धोकर तिलकबिन्दु आदि लगाने के पश्चात् देखा तो पता नहीं हार किसने ले लिया था। वह सुन्दर हार को मेरी पड़ौसी सखी (इन्द्रियों से तात्पर्य) ने ही हार चुरा लिया। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आप तो सर्वोच्च शक्ति हैं तीनों लोकों के दुःखों से परिचित हैं मेरा यह दुःख दूर कीजिए।

विशेष—१ सांगरूपक अलंकार।

२ कबीर ने यहां यह वर्णन सामान्य भारतीय वधू की मनःस्थिति में होकर किया है। एक वधू का आभूषण खो जाने पर उसे जो सास का त्रास और पति का भय होता है उसका बड़ा स्वाभाविक एवं मार्मिक वर्णन कबीर के इस पद में प्राप्त होता है।

> नहीं छाड़ौं बाबा रांम नांम
> मोहि और पढ़न सूं कौन कांम ॥टेक॥

प्रह्लाद पधारे पढ़न साल। संग सखा लीयें बहुत बाल।
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल। मेरी पाटी मैं लिखि दे श्रीगोपाल।।
तब संनां मुरकां कह्यौ जाइ। प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ।
तू राम कहन कौ छाड़ि बांनि। बेगि छुड़ाऊ मेरौ कह्यौ मांनि।।
मोहि कहा डरावै बार बार। जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार।
बांधि मारि भावै देह जारि। जे हूँ राम छाड़ौं तौ मेरे गुरहि गारि।।
तब काढ़ि खड़ग कोप्यौ रिसाइ। तोहि राखनहारौ मोहि बताइ।
खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि। हरनाकस मार्यौ नख बिदारि।।
महापुरुष देवाधिदेव। नरस्यंघ प्रकट कियौ भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रहिलाद उबार्यौ अनेक बार।।१७६।।

हे गुरुवर ! अब मैं राम नाम का आश्रय नहीं छोड़ सकता मुझे राम नाम पठन के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्य में पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? प्रह्लाद बाल से सखाओं को लेकर पाठशाला में पढ़ने गए और उन्होंने अपने शिक्षक से कहा कि तुम मुझे संसार की अन्य बातें क्यों पढ़ा रहे हो मेरी तख्ती पर तो केवल श्री गोपाल—प्रभु नाम—ही अंकित कर दो। तब गुरु ने उनके विषय विरोधी पिता से आकर कहा और उसने शीघ्र आकर प्रह्लाद को बांध लिया और कहने लगे कि तू राम-नाम उच्चारण छोड़ दे तो मैं तुझे शीघ्र बंधन मुक्त कर दूंगा। प्रह्लाद ने पिता को उत्तर दिया तू मुझे क्यों बारम्बार डराता है। जिस प्रभु ने जल थल एवं पर्वत को पुष्ट किया मैं उसका नाम स्मरण नहीं छोड़ सकता। तुम्हारी इच्छा हो तो चाहे मुझे बांध कर अथवा जला कर मार दो किन्तु मैं रामाश्रय नहीं छोड़ सकता। तब उसने तलवार निकाली और क्रोधित होकर कहा बता तेरा रक्षक प्रभु कहाँ है। तब प्रभु स्तम्भ से नृसिंह रूप में प्रकट हुए और हिरण्यकश्यप को नाखूनों से चीर डाला। उस महान् प्रभु ने नरसिंह रूप में प्रकट होकर भक्तों के भाव की रक्षा की। कबीर कहते हैं कि कोई उस प्रभु के रहस्य का पार नहीं पा सकता उसने अनेक बार प्रह्लाद जैसे भक्तों की रक्षा की है।

विशेष—'क्या कबीर का ब्रह्म सगुण और अवतारवादी था'—यह विचार ऐसे स्थलों पर कबीर की ब्रह्म विषयक निर्गुण धारणा के सम्मुख प्रश्न सूचक चिह्न के साथ आ सकता है।

हरि कौ नांउ तत त्रिलोक सार। लौ लीन भये जे उतरे पार।।टेक।।
इक जंगम इक जटाधार। इक अंगि बिभूति करैं अपार।
इक मुनियर इक मनहूं लीन। ऐसे होत होत जग जात षीन।।

इक माराधें सकति सीव इक पड़दा दे ब मधे बकी।
इक कुलदम्यां की जपहि आप त्रिभवनपति भूले त्रिविध ताप॥
अंनहि छाड़ि इक पीवहिं दूध हरि न मिलै बिन हिरदें सूध।
कहै कबीर ऐसें बिचार राम बिना को उतरे पार॥३८॥

एक मात्र प्रभु-नाम ही सत्य और तीनों लोकों का सार है, इसमें वृत्ति रमाने से मनुष्य भवसागर से तर जाता है। कोई तो यति और ब्रह्मचारी साधु बन जाता है तो दूसरा अपने भेद-प्रपंच में विमति रमा अपने को बहुत बड़ा तपस्वी मानता है। कोई शिव अथवा शक्ति की आराधना करता है और एक पशु की ही बलि के लिए बांध रहता है। कोई त्रिलोकीनाथ ब्रह्म को विस्मृत कर कुलदेवता को ही पूजने में अपने कर्त्तव्य की इति श्री कर लेता है। एक वह भी अपने को साधक मानता है जो अन्न का परित्याग कर दुग्धाहारी बन जाता है किन्तु उन्हें ज्ञात नहीं कि हृदय की शुद्धता के अभाव में प्रभु-प्राप्ति नहीं होती। कबीर कहते हैं कि हृदय में विचार कर देखो राम-भक्ति के आश्रय बिना कोई भी संसार-सागर को नहीं तर सकता।

हरि बोलि सूवा बार बार तेरी ढिग मींनां कछू करि पुकार॥टेक॥
अंजन मंजन तजि बिकार सतगुरु समझायौ तत-सार।
साध संगति मिलि करि बसंत भौ बंद न छूटें जुग जुगंत।
कहै कबीर मन भया अनंद, अनंत कला भेटे गोब्यंद॥१॥

कबीर कहते हैं कि हे मन रूपी शुक! तू बारम्बार प्रभु नाम का उच्चारण कर, वह प्रभु तेरे पास ही अवस्थित है, तनिक उसे पुकार कर तो देख—

पास ही रे हीरे की खान।
तू क्यों खोजता उसे निदान॥ —निराला

अंजन-मंजन आदि बाह्य शुद्धि उपकरणों को अब छोड़ दे क्योंकि सद्गुरु ने तुम्हें परमतत्व का सार बता दिया है। साधु-संगति करना हुआ ही आयु व्यतीत कर क्योंकि संसार का माया बन्धन युग-युग तक नहीं छूटता। कबीर कहते हैं कि मन में तब अपरिमित आनंद हुआ जब अनन्त कलावान् प्रभु से भेंट हुई।

बनमाली जानें बन की आदि राम नांम बिन जनम बादि॥टेक॥
फूल जु फूले रुति बसंत जामैं मोहि रहे सब जीव जंत।
फूलनि मैं जैसें रहै तबास यूं घटि घटि गोबिंद है निवास॥
कहै कबीर मनि भया अनंद जगजीवन मिलियौ परमानंद॥१२॥

कबीर कहते हैं कि वह वनमाली प्रभु ही संसार की गति (आदि) को जानते हैं। वस्तुतः राम-नाम के अभाव में तो जीवन व्यर्थ है। ऋतु बसन्त में फूलने वाले कुसुमों के अप्रतिम सौन्दर्य में अपनत्व संसार के जीव जन्तु पड़े हुए हैं। जिस भाँति

पुष्पों के मध्य सुगन्ध का निवास है उसी प्रकार प्रत्येक के हृदय [में ईश्वर का निवास है। कबीर कहते हैं कि संसार में ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर अनुपम आनन्द की प्राप्ति हुई।

मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज, मूल घटै सिरि बधै ब्याज ॥टेक॥
नाइक एक बनिजारे पांच, बैल पचीस कौ संग साथ।
नव बहियां दस गौंनि आहि, कसनि बहतरि लागे ताहि ॥
सात सूत मिलि बनिज कीन्ह, कर्म पयादौ संग लीन्ह ॥
तीन जगाती करत रारि, चल्यौ है बनिज वा बनज झारि।
बनिज खुटानौं पूंजि टूटि, षाडू दह दिसि गयौ फूटि ॥
कहै कबीर यहु जन्म बाद, सहजि समांनूं रही लादि ॥१८३॥

कबीर कहते हैं कि मेरे जैसे वणिक से प्रभु का क्या कार्य हो सकता है क्योंकि मेरे से तो सुकर्मों का मूलधन दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है और ब्याज बढ़ता जा रहा है। नायक आत्मा तो एक ही है किन्तु पाँच इन्द्रियों के बनजारे २५ प्रकृतियों के बैल का साथ है। नौ बाहु तो बस्त है और दस स्त्रियां उसके साथ हैं तो भला किस भाँति उसका कल्याण सम्भव है। शरीर की सप्त धातुओं ने कर्म सैनिक को साथ लेकर यह व्यापार किया है। त्रिगुणात्मक प्रकृति झंझट खड़े कर रही है और व्यापारी उसी वन के मध्य घूमता जा रहा है। मनुष्य रूपी या आत्मा रूपी वणिक का अस्तित्व (मृत्यु से) समाप्त हो जाने पर सम्पत्ति नष्ट हो तत्व समस्त वातावरण में लीन हो जाते हैं। कबीर कहते हैं कि यह जन्म व्यर्थ जा रहा है, अब सहज समाधि में अपनी लय लगा लो।

विशेष—१ सांग रूपक अलंकार।

२ बनजारे पांच—पांच इन्द्रियां।

३ बैल पचीस—पच्चीस प्रकृतियां

आकाश की—काम क्रोध लोभ मोह भय।
वायु की—चलन बलन धावन प्रसारण संकोचन।
अग्नि की—क्षुधा तृषा आलस्य निद्रा मैथुन।
जल की—लार रक्त पसीना मूत्र वीर्य।
पृथ्वी की—हाड़ मांस त्वचा नाड़ी रोम।

४ नव बहियां—नौ द्वार (जिनमें लगान है)

चार अन्तःकरण—मन बुद्धि चित्त अहंकार।
पंच प्राण—प्राण अपान समान उदान व्यान।

५ सात सूत—सप्त धातु—रस रक्त मांस वसा मज्जा अस्थि शुक्र।

६ तीन जगाती—त्रिगुणात्मक प्रकृति—सत रज तम।

माधौ दारन दुख सह्यौ न जाइ
मेरौ चपल बुधि तातैं कहा बसाइ ॥टेक॥
तन मन भीतरि बसै मदन चोर जिनि ग्यान रतन हरि लीन्ह मोर।
मैं अनाथ प्रभू कहूँ काहि अनेक बिगूचे मैं को आहि॥
सनक सनंदन सिव सुकादि आपण कवलापति भये ब्रह्मादि।
जोगी जंगम जती जटाधार, अपनैं औसर सब गये हैं हारि।
कहै [कबीर रहु संग साथ अभिअंतरि हरि सूँ कहौ बात।
मन ग्यान जानि कै करि बिचार, रांम रमत भौ तिरिबो पार ॥१८४॥

हे प्रभु ! मेरी अल्प-मति की सामर्थ्य भी क्या है मुझसे विषय-वासना द्वारा दत्त दारुण दुख सहा नहीं जाता। अन्तर-बाह्य में कामरूपी चोर का आवास है जिसने मेरा ज्ञान का अमूल्य मणि चुरा लिया। हे ईश्वर ! मैं अनाथ हूँ अनेक व्यक्तियों ने मुझे नाश किया मैं आपके अतिरिक्त और किससे अपनी व्यथा-कथा कहूँ। सनक सनन्दन शिव एवं शुकदेव और ब्रह्मा आदि परमतत्व का साक्षात्कार कर गये हैं। जोगी साधु, तपस्वी जटाधारी आदि सब कोई उसे पाने का प्रयत्न कर झकमार कर बैठ गए हैं। कबीर कहते हैं कि हृदयस्थ ब्रह्म से भेंट करनी चाहिए। वे आप मन में विचारपूर्वक कहते हैं कि राम में वृत्तियाँ रमाने से ही संसार-सागर से पार उतरा जा सकता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

तू करौ डर क्यूं न करै गुहारि
तू बिन पंचानन श्री मुरारि ॥टेक॥
तन भीतरि बसै मदन चोर तिनि सरबस लीनौं छोरि मोर।
मांगै देइ न बिनैं मांन तकि मारै रिदा मैं कांम बांन॥
मैं किहि गुहराऊँ आप लागि तू करौ डर बड़े बड़े गये हैं भागि।
ब्रह्मा बिष्णु अरु सुर मयंक किहि किहि नहीं लावा कलंक॥
जप तप संजम सुचि ध्यान बंदि परे सब सहित ग्यान।
कहि कबीर उबरे द्वै तीनि जा परि गोबिंद कृपा कीन्ह ॥१८५॥

कबीर मनुष्य को सम्बोधित कर कहते हैं कि तू संसार-तापों से भयभीत होकर प्रभु को क्यों नहीं पुकारता भजता। इस शरीर के भीतर कामदेव रूपी चोर का वास है जिसने मेरा सर्वस्व अपहृत कर लिया है। वह मेरे चुराये हुए धन को मांगने से भी नहीं लौटाता और हृदय में काम-बाण मार देता है। मैं किस भाँति प्रभु का स्मरण करूँ इस काम से तो डर कर तो बड़े-बड़े लोग भाग गए हैं। ब्रह्मा विष्णु एवं देवता तथा चन्द्रमा सब काम ग्रस्त होने के कारण कलंकित हैं। जप ज्ञान

सहित जप तप संयम पवित्रता एवं ध्यान का आचरण किया जायगा तभी यह काम रूपी चोर बन्दी हो सकता है। कबीर कहते हैं कि वे कुछ लोग ही काम-विमुक्त हैं जिन पर प्रभु कृपा करते हैं।

ऐसो देखि चरित मन मोह्यो मोर
तातैं निस बासुरि गुन रमौं तोर ।।टेक।।
इक पढ़हिं पाठ इक भ्रमैं उदास इक नगन निरंतर रहैं निवास ।
इक जोग जुगति तन हूहिं खीन ऐसें रांम नांम संगि रहैं न लीन ।।
इक हूहिं दीन एक देहिं दांन इक करैं कलापी सुरा पांन ।
इक तंत मंत औषध बांन इक सकल सिध राखैं अपांन ।।
इक तीरथ व्रत करि काया जीति ऐसें रांम नाम सूं करैं न प्रीति ।
इक धोम घोटि तन हूहिं स्यांम यूं मुकति नहीं बिन रांम नाम ।।
सत गुर तत कह्यो बिचार, मूल गह्यो अनभै बिसतार ।
जुरा मरण थैं भये धीर रांम कृपा भई कहि कबीर ।।१६।।

संसार की दुर्दशा देखकर ही प्रभु ! मेरा मन अहर्निश आपकी भक्ति में संलग्न हुआ है। संसार के लोग विविध प्रकार से आपकी प्राप्ति का उपक्रम करते हैं उनमें से कुछ तो शास्त्रों का पठन करते हैं कोई स्थिर न होकर इधर-उधर घूमता है और एक दिगम्बर हो जीवन-यापन करता है एक व्यक्ति योग-साधना से अपने शरीर को क्षीण बनाता है किन्तु इनमें से कोई भी प्रभु नाम का आश्रय ग्रहण नहीं करता। एक भिखारी बना भिक्षा मांगता है तो दूसरा अपरिमित दान देता है और एक वह भी अपने को साधक मानता है जो वाममार्गी बन मदिरापान करता है। एक वह भी साधक है जो तन्त्र मन्त्र एवं औषध का सेवन करता है, तो कोई समस्त सिद्धि शास्त्रों को कण्ठ में रखे रहता है। एक वह भी साधक है जो तीर्थ व्रतादि से शरीर की वृत्तियों पर अंकुश रखता है किन्तु इनमें से कोई भी राम-नाम स्मरण नहीं करता। चाहे कोई कितना ही पञ्चाग्नि में तप करके धुएँ से काला ही जाय किन्तु राम के बिना उसे मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती। सद्गुरु ने विचारपूर्वक कहा है कि राम-नाम स्मरण के मूल तत्त्व मंत्र को ग्रहण करने से निर्भय पद की प्राप्ति होती है। कबीर कहते हैं कि राम-कृपा से व्यक्ति जरा-मरण के भय से विमुक्त हो जाता है।

सब मदिमाते कोई न जाग
तातैं संग ही चोर घर मुसन लाग ।।टेक।।
पंडित माते पढ़ि पुरांन जोगी माते धरि धियांन ।
सन्यासी माते अहंमेव तपा जु माते तप कै भेव ।।

आगे सुक उधव अकूर हणवत आगे लै संगूर।
संकर आगे घरल सेव कलि आगे नांमां जैदेव ॥
ए अभिमान सब मन के कांम ए अभिमांन नहीं रही ठांम।
आतमां राम कौ मन बिश्रांम कहि कबीर भजि रांम नांम ॥१८७॥

समस्त संसार मदान्ध हो अज्ञानावस्था में पड़ा है, कोई भी ज्ञान प्राप्त कर सचेत नहीं होता इसलिए काम क्रोध आदि विकार इस जगत् में प्राप्त दुर्लभ मनुष्य जीवन को नष्ट कर रहे हैं। पंडित मदमस्त हुआ धर्मग्रन्थों के पढ़ने में संलग्न है तो योगी ध्यानावस्थित होने में ही मस्त हो रहा है। संन्यासी अपने अहं वर्ग में चूर है तो तपस्वी तपस्या के कारण अपने को अद्वितीय मानता है। जो लोग ज्ञान प्राप्त कर सचेत हो गये थे वे शुकदेव उद्धव एवं अक्रूर तथा हनुमान् और अन्य वानर थे। शिव भी सावधान हो प्रभु-चरणों की सेवा करने लगे एवं कलियुग में नामदेव और जयदेव नामक संत ज्ञान थे। अहं आदि विकार सब मन के ही कारण हैं इस अहं-दर्प से सुरक्षित नहीं रहा जा सकता। जिसकी आत्मा में राम रमे हुए होते हैं उसका मन अचंचल शान्त रहता है इसलिए कबीर कहते हैं कि राम-नाम का स्मरण करो।

भमि भमि रे भवरा कवल पास भवरी बोलै अति उदास ॥टेक॥
तैं अनेक पुहप कौ लियौ भोग सुख न भयौ तब बढ़यौ है रोग।
हौं ज कहत तोसूं बार बार मैं सब बन सोध्यौ डार डार ॥
दिनां चारि के सुरंग फूल तिनहिं देखि कहा रह्यो है भूल।
या बनासपती मैं लागैगी आगि तब तू जैहौ कहां भागि ॥
पहुप पुरांने भये सूक तब भवरहि लागी अधिक भूख।
उड़यौ न जाइ बल गयौ है छूटि तब भवरी रूंनी सीस कूटि ॥
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भवरी लै चली सिर चढ़ाइ।
कहै कबीर मन कौ सुभाव रांम भगति बिन जम कौ डाव ॥१८८॥

हे मन रूपी भ्रमर! तू प्रभु-रूप कमल के पास चल तेरे इस आचरण से आत्मा बड़ी उदास हो गई है। तूने अनेक सुमनों का रसपान किया है किन्तु जब उन से तुझे आनन्द-प्राप्ति न हुई तो तुझे अपना भ्रम ज्ञात हुआ और दुःख की अनुभूति हुई। मैं (कबीर) तुमसे बारम्बार कहता हूं कि मैंने समस्त बन-प्रान्तर खोज-खोज कर देख लिया कि यहां के कुसुमों का सौन्दर्य क्षणिक है इस अस्थिर सौन्दर्य में भ्रमित मत हो। जब इस संसार-बन की माया विषय-वासनापूर्ण सम्पत्ति में आग लगेगी तो मन तू कहाँ भाग कर शरण लेगा? समय-ज्ञात ये सूख कर जब आकर्षण रूपी पुष्प सूख गये हैं तब मन रूपी भ्रमर की भूख और भी अधिक बढ़ गई किन्तु अब तो

उसका शरीर इतना क्षीण और जराक्रान्त हो गया है कि उससे उड़ा तक नहीं जाता। ऐसी विषमावस्था में आत्मा रूपी भ्रमरी पश्चाताप ही करके रह जाती है। वह समस्त दिशाओं में प्रभु को खोजती है और मन रूपी भ्रमर को भी उस परमतत्व के समीप ले जाती है। कबीर अपनी मनोदशा का वर्णन करते कहते हैं कि राम भक्ति के प्रभाव में काल का भय बना हुआ है।

विशेष—सांग रूपक रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।

माधव राम सबै करम करिहूँ
सहज समाधि न जम थैं डरिहूँ ।।टेक।।
कुंभरा ह्वै करि बासन घरिहूँ धोबी ह्वै मल धोऊं।
चमरा ह्वै करि रंगौं अघौरी जाति पाँति कुल खोऊं।।
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौं पाप पुंनि दोऊ पीरौं।
पंच बैल जब सूध चलाऊं राम जेवरिया जोरौं।।
छत्री ह्वै करि खड़ग सँभालूं जोग जुगति दोउ साधूं।
नऊवा ह्वै करि मन कूं मूंडूं बाढ़ी ह्वै कर्म बाढ़ूं।।
अवधू ह्वै करि यहु तन धूतौं बधिक ह्वै मन मारूं।
बनिजारा ह्वै तन कूं बनिजूं जुवारी ह्वै जम हारूं।।
तन करि नवका मन करि खेवट रसना करऊं बाडारूं।
कहि कबीर भौसागर तिरिहूँ आप तिरूं बप तारूं।। ८१।।

हे प्रभु ! मैं कर्म करता हुआ सहज समाधि लगाऊंगा और काल से भी भयभीत नहीं होऊंगा। मैं कुम्हार बन कर कर्म रूपी भावना में सुघरता लाऊंगा एवं धोबी बनकर धोबी के समान पाप-मल धोऊंगा। जाति-पाँति का विचार किए बिना मैं चमार बनकर कर्म के चमड़े को रंग सुन्दर रंग दूंगा। तेली बनकर कोल्हू में पाप-पुण्य को पेल दूंगा और समभाव उत्पन्न करूंगा। भक्ति की रज्जु का आश्रय लेकर मैं इन्द्रियों के पांच बैलों को नियन्त्रण में रख सम्भाव पर चलाऊंगा। राजपूत हो कर मैं तलवार पकडूंगा और योग-युक्ति की साधना करूंगा। नाई बनकर कर्मों की काट छाँट करूंगा। अवधूत बनकर योग साधना द्वारा इस शरीर को कष्ट-साधन योग्य बना दूंगा और वधिक बनकर मन को मार दूंगा। बनजारा बनकर मैं शरीर का व्यापार करूंगा और जुआरी बनकर यम के भय को दाव पर हार जाऊंगा। कबीर कहते हैं कि इस भांति मैं संसार समुद्र से पार उतर कर स्वयं भी मुक्त होऊंगा और पूर्वजों को भी मोक्ष प्राप्त करा दूंगा।

विशेष—१ यहाँ कबीर की विचारधारा से प्रकट होता है कि उनकी मान्यता थी कि चाहे कोई किसी भी सामाजिक स्थिति में हो उसे ईश्वर-साधना एवं भक्ति का

पूर्ण अवसर और अधिकार है। इसीलिए उन्होंने यहाँ सामाजिक दृष्टि से निम्न से निम्नतम व्यक्तियों के कार्यों का सम्बन्ध भक्ति से जोड़ा है।

२ इस दृष्टि से हम कबीर को धर्म का समर्थक प्रथम कवि भी कह सकते हैं।

राग मालो गौड़ी

पंडिता मन रंजिता भगति हेत ल्यौ लाइ रे।
प्र म प्रीति गोपाल भजि नर और कारण जाइ रे॥टेक॥
दांम छै पणि कांम नांही ग्यान छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरति नांही नैन छै पणि अंध रे॥
जाके नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा चरन गंग तरंग रे।
कहै कबीर हरि भगति वांछूं जगत गुर गोब्यंद रे॥३१॥

पण्डित जनों का मन प्रभु प्रेम में अनुरक्त है इसलिए हे मनुष्य ! तुम भी अन्य कार्य-कलापों को त्याग कर ईश्वर भक्ति करो। धन के होते हुए कोई काम नहीं रुकता और ज्ञान के होते हुए कोई संसार प्रपंच मे आबद्ध नहीं रहता। कान के श्रवण मात्र से किसी को ईश्वर-अनुरक्ति नहीं हो जाती। इसलिए नेत्रों के होते हुए अन्धे नहीं बनना चाहिए। इसलिए उसका ध्यान करना श्रमस्कर है जिसकी नाभि से कमल पर ब्रह्मा की उत्पत्ति और चरण-नख से गंगा की उत्पत्ति हुई है। कबीर कहते हैं कि प्रभ-भक्ति ही श्रेयस्कर है गोविन्द संसार के गुरु हैं।

बिष्णु ध्यांन सनान करि रे बाहरि अंग न धोइ रे।
साच बिन सीझसि नहीं कांई ग्यान दृष्टैं जोइ रे॥टेक॥
जंजाल मांहैं जीव राखै सुधि नहीं सरीर रे।
अभिअंतरि भेदै नहीं कांई बाहरि न्हावै नीर रे॥
निहकर्म नदी ग्यांन जल सु नि मंडल मांहि रे।
औधूत जोगी आतमा कांई पेषैं संजमि न्हाहि रे।
इला प्यंगुला सुषमनां पछिम गंगा बालि रे।
कहै कबीर कसमल झडैं कांई मांहि लौ अंग पषालि रे॥३२॥

कबीर कहते हैं कि विष्णु—ब्रह्म का ध्यान करने वाले केवल अंगों के बाह्य को ही धोने वाला स्नान नहीं करते अपितु वे तो अन्तर-बाह्य की शुद्धि करने वाला स्नान करते हैं। यह परमब्रह्म सत्याचरण के बिना दृष्टिगत नहीं हो सकता उसके दर्शनार्थ तो ज्ञान दृष्टि वांछित है। इस जीवात्मा को संसार के प्रपंच में डाले रखा जिससे यह अपने तन की सुधि भी विस्मृत कर बैठा। अन्तरतम के कलुष को तो दूर नहीं करता और व्यर्थ बाहर शरीर पर पानी गिरा कर स्नान का नाम कर रहा है। निष्काम ज्ञान-सरिता तो शून्य-प्रदेश मे ही प्रवाहित होती है कोई साधक

राग सारंग

यहु ठग ठगत सकल जग डोलै
गवन करै तब मुषह न बोलै ॥टेक॥
तू मेरो पुरिषा हौं तेरी नारी, तुम्ह चलतैं पाथर थैं भारी ॥
बालपनां के मीत हमारे, हमहिं लाडि कत चले हो निनारे ।
हम सूं प्रीति न करि री बौरी, तुम्हसे केते लाग ढौरी ॥
हम काहू संगि गये न आये, तुम्ह से गढ़ हम बहुत बसाये ।
माटी की देही पवन सरीरा, ता ठग सूं जन डरै कबीरा ॥३१४॥

यह माया रूपी ठग समस्त संसार को ठगता फिर रहा है, इसकी गति सर्वत्र है किन्तु यह मुख से कोई भी शब्द नहीं बोलता अर्थात् चुपचाप ही व्यक्ति के साथ में समस्त रहता है। किन्तु हे प्रभु ! मैं आपकी प्रियतमा और आप मेरे प्रिय हैं, आपकी चाल पत्थर से भी अधिक भारी है, गम्भीर है। आप हमारे बाल्यावस्था से ही मित्र हो (आत्मा और परमात्मा प्रारम्भ में एक थे) अब हमें अकेला छोड़कर कहाँ जा रहे हो ? हे पागल माया ! तू मुझसे प्रेम करने का प्रयास मत करना क्योंकि मैंने न जाने तुम जैसी (अनेक मायारूपों)को दुत्कार दिया है। हम न तो किसी के साथ गये हैं और न किसी के साथ आए हैं तुम जैसी कितनों को ही हमने उनके घर पहुंचा दिया है। मेरा शरीर मिट्टी का (पंचतत्व का) है जिसमें प्राणवायु, आत्मा का निवास है, इसीलिए मायारूपी ठग से मैं भयभीत हूं।

धंनि सो घरी महूरत्य दिनां
जब ग्रिह आये हरि के जनां ॥टेक॥
दरसन देखत यहु फल भया, नैनां पटल दूरि ह्वै गया ।
सब्द सुनत संसा सब छूटा, श्रवन कपाट बजर था तूटा ॥
परसत घाट फेरि करि घड़्या, काया कर्म सकल झड़ि पड़्या ।
कहै कबीर संत भल भाया, सकल सिरोमनि घट मैं पाया ॥३१५॥

वह मुहूर्त्त घड़ी तथा दिवस धन्य है जिस दिन मेरे द्वार पर हरि भक्त आये थे। उनके दर्शन का यह परिणाम पुण्य-फल है कि मेरा अज्ञान दूर हो गया। उनके उपदेश-वचन सुनते ही समस्त संशय विलुप्त हो गये एवं श्रवणों का सद्वचनों के न सुनने का नियम भी टूट गया। उनके चरणों का स्पर्श कर शरीर पाप-कर्मों से मुक्त हो मलिन न रह गया। कबीर कहते हैं कि मुझे सज्जनों साधुओं के दर्शन का पुण्य लाभ यह हुआ कि जो समस्त सृष्टि का सिरोभूषण ब्रह्म था उसे मैंने हृदय में ही पा लिया।

राग मलार

जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥
अपनें अपनें रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे।
अति अभिमान बदत नहीं काहू बहुत लोग पचि हारे ॥
बुधि मेरी किरषी गुर मेरौ बिझुका आखिर दोइ रखवारे।
कहै कबीर अब खान न दैहूं बरियां भली संभारे ॥१६६॥

साधना के बिना विकारों के मृग इस जीवन रूपी खेत को उजाड़ रहे हैं। अहर्निश प्रयास करने से भी वे टाले नहीं टलते भगाने का प्रयत्न करने पर भी नहीं मानते। वे अपनी-अपनी रुचि के रसों में संलिप्त हैं और उसी के लिए विविध भाँति के कर्मों का ताना-बाना बुनते हैं। वे मनुष्य को अत्यभिमानी बना देते हैं, बहुत से लोग समझाकर हार गए किन्तु फिर भी वे इस कुपन्थ का परित्याग नहीं करते। इस जीवन अथवा भक्ति रूपी क्षेत्र के दो ही रखवाले हैं मेरी बुद्धि जो खेत में खड़े किये गये पुतले का काम करती है और मेरा कण्ठ जिससे निकलने वाले 'राम' नाम के दो अक्षर ही मेरे सम्बल हैं। कबीर कहते हैं कि विकारों के मृग को अब इस खेती को नहीं छूने दूंगा अब की बार मैंने इसकी रक्षा का पूर्ण सम्भार कर लिया है।

हरि गुन सुमरि रे नर प्रांणी।
जतन करत पतन ह्वै जैहै भावै जांणम जांणी ॥टेक॥
छीलर नीर रहै धूं कैसें को सुपिनें सच पावै।
सूकित पांन परत तरवर थैं उलटि न तरवरि आवै ॥
जल थल जीव डहके इन माया कोई जन उबर न पावै।
रांम अधार कहत हैं जुगि जुगि दास कबीरा गावै ॥१६७॥

हे मनुष्य ! प्रभु गुणों का स्मरण कर क्योंकि प्रयत्न करते हुए भी मनुष्य का विनाश हो जाता है और वह आवागमन से विमुक्त नहीं होता। जल के बिना वृक्ष कैसे हरा भरा रह सकता है और स्वप्न में प्राप्त ऐश्वर्य के द्वारा कोई सुख लाभ कैसे कर सकता है? पानी के सूखने ही पेड़ के पत्र गिरना प्रारम्भ हो जाते हैं वह सूख जाता है, पुन पल्लवित हो हरीतिमा का सुख लाभ नहीं कर पाता। जल थल—प्रत्येक स्थान पर माया ने जीवों को बहकाया है इससे कोई भी बच नहीं पाया है। कबीर कहते हैं कि इससे बचने का एकमात्र आधार राम-नाम ही है जो युग-युग तक को इससे मुक्ति दिला देता है।

राग धनाश्री

जपि जपि रे जीयरा गोब्यंदो हित चित परमानंदो रे।
बिरही जन को बाल हौ सब सुख आनंदकंदा रे ॥टेक॥
धन धन झीजत धन गयौ सो धन मिल्यौ न आये रे।
ज्यूं बन फूली मालती जन्म अबिरथा जाये रे॥
प्राणीं प्रीति न कीजिये इहि झूठ संसारो रे।
धूवां केरा धौलहर जात न लागै बारो रे॥
माटी केरा पूतला काहे गरब कराये रे।
दिवस चारि को पेखनौ फिरि माटी मिलि जाये रे॥
कांमी रांम न भावई भावैं बिषै बिकारो रे।
लोह नाव पाहन भरी बूडत नांही बारो रे॥
नां मन मूवा न मरि सक्या नां हरि भजि उतर्या पारो रे।
कबीरा कंचन गहि रह्यौ कांच गहै संसारो रे ॥३१८॥

हे मन! तू हृदय को अमित आनन्द प्रदान करने वाले प्रभु नाम का स्मरण कर। समस्त सुखों की खान वे प्रभु अपने भक्तों के एकमात्र आधार हैं। सांसारिक धन के संचय में ही परमात्मा रूपी अमूल्य धन को दिया जो पुनः कभी भी नहीं मिल सकता। जिस भांति वन में फूली मालती का जन्म-वृथा ही बीत जाता है, वहाँ कोई रसपान करने वाला भौंरा नहीं होता उसी भांति संसार से प्रीति-सम्बन्ध बनाना अच्छा नहीं क्योंकि जगत् मिथ्या है। यह संसार तो धुएं के महल सदृश है जिसके नष्ट होते देर नहीं लगती। इस मिट्टी के पुतले शरीर के लिए गर्व करना व्यर्थ है। कामी पुरुष को प्रभु नाम प्रिय न होकर विषयानन्द प्रिय होते हैं। एक तो गर्व दूसरे काम-पिपासा रूपी लोहे की पत्थर-भरी नाव को डूबने में समय भी नहीं लगता। न तो मन की चंचलता ही समाप्त हो सकी और न मृत्यु ही आई और न प्रभु-भजन कर संसार से मुक्ति का कार्य किया। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम प्रभु स्वरूप कंचन को पकड़े रहो संसार तो विषयानन्दों के कांच को पकड़ने में ही मस्त है।

विशेष—१ यमक उपमा आदि अलंकार।

२ 'धूवां केरा धौलहर' की तुलना तुलसी से कीजिए—

'धूम्रां कैसे धौलहर, देखि न भूलि रे। —'विनयपत्रिका

न कछू रे न कछू रांम बिनां।
सरीर धरे की रहै परंमगति साध संगति रहनां ॥टेक॥
मंदिर रचत मास दस लागे बिनसत एक छिनां।
झूठे सुख के कारनि प्रांनी परपंच करत घनां॥

तात मात सुत लोग कुटम में फूल्यो फिरत मनां ।
कहै कबीर रांम भजि बौरे छाड़ि सकल भ्रमनां ॥१६६॥

कबीर कहते हैं कि हे मन ! प्रभु-स्मरण के बिना इस संसार में कुछ भी नहीं है। यह शरीर यहाँ रखे का रखा ही रह जाता है, इसलिए साधु-संगति का लाभ करना चाहिए। इस शरीर रूपी मन्दिर को बनाने में तो मातगर्भ में पड़े हुए दस मास लगे किन्तु नष्ट होने तो एक क्षण भी नहीं लगती। मिथ्या सांसारिक-सुख के लिए व्यक्ति अनेक पाप-कर्म करता है। एवं इसी कारण माता-पिता पुत्र परिवार आदियों में प्रसन्न हुआ फिरता है। कबीर कहते हैं कि समस्त भ्रमों का परित्याग कर मन ! तू प्रभु का स्मरण कर।

कहा नर गरबसि थोरी बात ।
मन दस नाज टका दस गठिया टेढ़ौ टेढ़ौ जात ॥टेक॥
कहा ले आयौ यहु धन कोऊ कहा कोऊ ले जात ।
दिवस चारि की है पतिसाही ज्यूं बनि हरियल पात ॥
राजा भयौ गांव सौ पाये टका लाख दस ब्रात ।
रावन होत लंक को छत्रपति पल में गई बिहात ॥
माता पिता लोक सुत बनिता अंति न चले संगात ।
कहै कबीर रांम भजि बौरे, जनम अकारथ जात ।४ ॥

कबीर का कथन है कि हे मनुष्य ! तू व्यर्थ क्यों गर्व करता है ? दस छिद्रों से परिपूर्ण टके भर की इस मिट्टी की गठिया के शरीर पर क्षण भर तुम गर्व कर चलते हो। कौन इस धन को लेकर आया है और कौन इस अपने साथ ले जायगा ? यह तो क्षणिक अत्यन्त अल्प समय की साहूकारी है जिस प्रकार हरियाली कुछ ही दिन रहती है। यदि कोई राजा हो गया और प्रचुर धन तथा विशाल भूमि भी प्राप्त हो गई तो उसका क्या लाभ ? क्योंकि लंकाधीश छत्रपति रावण क्षण भर में मारा गया। माता-पिता पत्नी पुत्र अन्त समय आने पर कोई भी साथ नहीं जाता। इसलिये कबीर कहते हैं कि हे पागल तू राम-नाम का स्मरण कर।

विशेष—उपमा दृष्टान्त आदि अलंकार।

नर पछिताहुगे अंधा ।
चेति देखि नर जमपुरि जैहै क्यूं बिसरौ गोब्यंदा ॥टेक॥
गरभ कुंडिनल जब तूं बसता उरध ध्यान ल्यौ लाया ।
उरध ध्यान मृत मंडलि आया नरहरि नांव भुलाया ॥
बाल बिनोद छहू रस भीनां छिन छिन मोह बियापैं ।
बिष अंमृत पहिचानन लागौ पांच भांति रस चापैं ॥

सरम तेज पर त्रिय मुख जोवै सर भासर नहीं जानैं।
प्रति उनमादि महामद मातौ पाप पुनि न पिछानैं ॥
ग्यंडर केस कसुम भये धौला सेत पलटि गई बानी ।
गया क्रोध मन भया जु पावस कांम पियास मदांनी ॥
तूटी गांठि दया धरम उपज्या काया कवल कमिलांनां ।
मरती बेर बिसूरन लागौ फिरि पीछैं पछितांनां ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ धन माया कछू संगि न गया ।
आई तलब गोपाल राइ की धरती सैंन भया ॥४१॥

हे अज्ञानी मनुष्य ! सावधान हो जा अन्यथा यमपुर जाते समय पछतायेगा इसीलिए प्रभु को विस्मृत मत कर। जब तू गर्भवास में उल्टा लटका हुआ दारुण दुख भोगता था तब प्रभु का भजन करता था किन्तु अब बाहर आने पर तू ईश्वर को विस्मृत कर बैठा। अब तो छहों रस से पूर्ण बाल-क्रीड़ाओं में आनन्दित हो प्रतिपल मोह बंधन मे पड़ता जाता है। स्वाद की दृष्टि से अब तू कटु और मधुर को पहचानने लगा है पाँच प्रकार के भोजनों का रस प्राप्त करता है। युवावस्था पर अवसर-कुअवसर प्रत्येक समय पत्नी के साथ रति-क्रीड़ा में संलग्न रहता है। इस प्रकार मद में अन्धा पाप-पुण्य का विभेद भी भुला बैठा है। किन्तु अब वृद्धावस्था आने पर वे सुन्दर केश श्वेत हो गये और वाणी भी लड़खड़ाने लगी। अब क्रोध भी चला गया है और मन वर्षा के समान आर्द्र हो उठा है। काम-पिपासा अब मिट चुकी है। गर्व गांठ के टूट जाने पर अब दया-धर्म जैसे गुणों की उद्भावना हुई है क्योंकि शरीर रूपी कमल मुरझा गया है। मृत्यु समय के दुर्गुणों को और स्मरण कर ले क्योंकि फिर तो पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ ही नहीं लगेगा। कबीर कहते हैं कि हे संत जन ! मनुष्य के साथ मृत्यूपरान्त धन-सम्पत्ति माया आदि कुछ भी नहीं जाता। जब प्रभु की इच्छा होती है तो वह धरती को ही शय्या में परिवर्तित कर देता है, मृत्यु सुला देता है।

विशेष—"गर्भ ... भुलाया" से तुलना कीजिए—

दुख में सुमरन सब करे सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमरन करे तो दुख काहे को होय ॥

लोका मति के भोरा रे ।
जौ कासी तन तजै कबीरा तौ रांमहि कहा निहोरा रे ॥टेक॥
तब हम वैसे अब हम ऐसे इहै जनम का लाहा ।
ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै यूं ढुरि मिल्या जुलाहा ।

राम भगति परि जाको हित चित ताकी अचिरज काहा।
गुर प्रसाद साध की संगति जग जीतें जाइ जुलाहा ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो भ्रमि परे जिनि कोई।
जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम सति होई ॥४ २॥

हे साधु ! हम तो साधारण बुद्धिधारी हैं यह जानते हैं कि यदि यहां काशी करवट लेकर प्राण गवा बैठे तो फिर प्रभु राम को किस भाँति मुंह दिखा सकते हैं ? तब काशी-करवट से तो हम वैसे ही पाप भागी बन जायेंगे ? यदि अब पापी हैं तो इस जन्म का लाभ प्राप्त कर प्रभु भक्ति द्वारा पाप-प्रक्षालन का प्रयत्न तो कर लेवें। जिस प्रकार जल में जल मिल जाने पर उसी जल का पुनः अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार मुझ कबीर जुलाहे के भूमि में मिल जाने पर पुनः शरीर रचना नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति को ईश्वर भक्ति में कुशलता दृष्टिगत होती हो भला उसका अहित कैसे हो सकता है ? गुरु-उपदेश पर एवं साधु-संगति से कबीर जुलाहा समस्त संसार पर आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर लेगा। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो ! माया भ्रम का परित्याग कोई विरला ही कर पाता है। यदि हृदय में राम-नाम का दृढ़ सम्बल हो तो काशी और मगहर में शरीर-त्याग समान है।

विशेष—१ 'गुरु प्रसाद' 'जुलाहा' में कबीर की आत्मश्लाघा अथवा आत्माभिमान नहीं अपितु दृढ़ आत्मविश्वास ही प्रकट होता है।

२ अन्तिम चरण के द्वारा 'मगहर' के प्रति फैले साधारण विश्वास कि 'मगहर' में मृत्यु से दुर्गति होती है का खण्डन किया गया है।

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै तेज पुंज तहाँ प्रांन उतारै ॥टेक॥
पाती पंच पहुप करि पूजा देव निरंजन और न दूजा ॥
तनमन सीस समरपन कीन्हाँ प्रगट जोति तहाँ आतम लीनां।
दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा परम पुरिख तहाँ देव अनंता ॥
परम प्रकास सकल उजियारा कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ॥४ ३॥

कबीर कहते हैं कि निम्नस्थ प्रकार से वर्णित आरती यदि समस्त संसार उतारे तो ज्योतिस्वरूप परमात्मा अवश्य दर्शन दें। पांचो इन्द्रियों रूपी पत्तियों पर मन सुमन को रख देवाधिदेव ज्योतिस्वरूप अमर निरञ्जन ब्रह्म की पूजा हो। उस परम ज्योति पर तन-मन शीश अर्पण कर आत्मा को पूर्ण लय कर दे। ज्ञानदीप एवं अनहद की घंटा ध्वनि से उस परम पुरुष सर्वोच्च देव परब्रह्म के दर्शन हों। कबीर कहते हैं कि वह ब्रह्म परमात्मा समस्त सृष्टि का प्रकाशक है और मैं उसका दास हूँ।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

रमैंणी भाग

राग सूहौ

तू सकल गहगरा सफ सफा दिलवार दीदार।
तेरी कुदरति किनहूँ न जानीं पीर मुरीद काजी मुसलमांनीं ॥
देवी देव सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मा देव महेसर।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आप सर्वशक्तिमान् एवं सर्वत्र परिव्याप्त है। तेरी इस त्रिगुणात्मक सृष्टि का भेद तथाकथित ज्ञानियों—पीर शिष्य काजी और मुल्ला आदि—देवगण गन्धर्वगण तथा अन्य जाति के मनुष्यों तथा ब्रह्मा एवं शिव को भी प्राप्त न हो सका।

विशेष—अन्तिम चरण में पुनरुक्ति दोष है।

तेरी कुदरति तिनहूँ न जानीं ॥टेक॥
काजी सो जो काया बिचारै तेल दीप मैं बाती जारै।
तेल दीप मैं बाती रहै, जोति चीन्हि जे काजी कहै ॥
मुलनां बंग देइ सुर जांनीं आप मुसला बैठा तांनीं।
आपुन मैं जे करै निवाजा सो मुलनां सरबत्तरि गाजा ॥
सेष सहज मैं महल उठावा चंद सूर बिचि तारी लावा।
अर्ध उर्ध बिचि आंनी उतारा सोई सेष तिहूँ लोक पियारा ॥
जंगम जोग बिचारै जहूंवां जीव सीव करि एकै ठऊंवां।
चित चेतनि करि पूजा लावा तेतौ जंगम नांउ कहावा ॥
जोगी भसम करै भौ मारी सहज गहै बिचार बिचारी।
अनभै घट परचा सू बोलै सो जोगी निहचल कदे न डोलै ॥
जैन जीव का करहु उबारा कौण जीव का करहु उधारा।
कहां बसै चौरासी का देव लही मुकति जे जांनीं भेव ॥
भगता तिरण मतै संसारी तिरण तत ते लेहु बिचारी।
प्रीति जांनि राम जे कहै, दास नांउ सो भगता लहै ॥
पंडित चारि बेद गुण गावा आदि अंति करि पूत कहावा।
उतपति परलै कहौ बिचारी संसा घालौ सबै निवारी ॥

विशेष—१ कबीर यहाँ योगसाधना पर बल देते हैं।

२ कबीर ने यहाँ काजी मुल्ला पीर, पैगम्बर सन्यासी पण्डित आदि का स्वरूप बताते हुए परिभाषा सी दी है जिससे स्पष्ट है कि उनके समय में ढोंगी साधु, पीर, काजी आदि बहुत हो गये थे तभी उन्हें आवश्यकता पड़ी कि वे इनके वास्तविक स्वरूप का कथन करें।

सतपदी रमैंणी

कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा जग भुलांन सौ किन्हूं न चीन्हां।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया आपण मांझै आप छिपाया॥
ते तौ आहि अनंद सरूपा गुन पल्लव विस्तार अनूपा।
साखा तत थैं कुसम गियांनां फल सौ आछा रांम का नांमां॥
सदा अचेत चेत जीव पंखी हरि तरवर करि बास।
झूठे जगि जिनि भुलसि जियरे, कहन सुनन की आस॥

जिसने नाना रूपात्मक विभिन्न इस संसार की सृष्टि की संसार के लोग उस न पहचानते हुए माया भ्रम में पड़े हुए हैं। उस ब्रह्म ने सत रज तम—त्रिगुणात्मक रूप प्रकृति से सृष्टि रचना की है और स्वयं को अपनी ही सृष्टि में इस भाँति छिपा लिया कि कोई भेद नहीं पा सकता। जिस भाँति वृक्ष में अगणित-पत्र होते हैं उसी प्रकार उस ब्रह्म के अनन्त गुण हैं और वह आनन्दस्वरूप है। उसका पूर्ण ज्ञान ही वृक्ष पर विकसित सुमन है और राम-नाम स्मरण का फल अनुपम वरदान है, ब्रह्म की प्राप्ति का सरलतम उपाय है।

कबीर कहते हैं कि हे सर्वदा अज्ञानांधकार में पड़े रहने वाले जीवात्मा प्रभु रूप अनुपम वृक्ष पर वास कर। भाव यह है कि प्रभु में अपनी चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित कर तथा इस मिथ्या संसार से भ्रमरत मत रह।

विशेष—१ सांगरूपक अलंकार।

२ संसार को 'कहन सुनन की आस' कहकर यहाँ उसके क्षणभंगुर स्वरूप का कथन किया गया है, इस प्रयोग में बड़ी लाक्षणिकता आ गई है।

सूक बिरख यहु जगत उपाया समझि न परै बिषम तेरी माया।
साखा तीनि पत्र जुग चारी फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी॥
स्वाद अनेक कथ्या नहीं जांहीं किया चरित सौ इन मैं नाहीं।
तेतौ आहि निनार निरंजनां आदि अनादि न आंन।
कहन सुनन कौं कीन्ह जग आपै आप भुलांन॥

हे ईश्वर! तेरी अनुपम माया का भेद नहीं पाया जाता बलरूप में आपने इस संसार की सृष्टि की है। सत रज तम त्रिगुणात्मक प्रकृति ही इस संसार-वृक्ष

की तीन शाखाएं हैं जिस पर शिखा के पत्र पल्लवित हैं तथा धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष ही इसके चार फल हैं जिनका उपभोग करने वाले पाप और पुण्य स्वरूप को अधिकारी हैं। इन फलों के स्वाद अवर्णनीय हैं और ईश्वर ने जो लीला रची है वह सब इन स्वादों में नहीं समा सकती। इसीलिए उस अनुपम ईश्वर को खोजने का प्रयत्न करो क्योंकि यह संसार तो भ्रम है जिसमें पड़कर जीवात्मा स्वयं विभ्रमित है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

जिनि नटवै नटसारी साजी जो खेलै सो दीसै बाजी।
मो बपरा थैं जोगति ढाठी सिव बिरंचि नारद नहीं दीठी॥
आदि अंति जा लीन भये हैं सहजैं जानि संतोलि रहे हैं।
सहजैं रांम नांम ल्यौ लाई रांम नाम कहि भगति दिढाई॥
रांम नाम जाका मन मांना तिन तौ निज सरूप पहिचांना।

नटवै—नट स्वरूप ब्रह्म। नटसारी—नट का सम्भार सृष्टि से तात्पर्य। दीसै—दृष्टिगत होता है। बाजी—किसी किसी को ही। दिढाई—दृढ़ करना।

जिस स्वरूप ब्रह्म ने इस सृष्टि की रचना की है वह किसी ही किसी को दृष्टिगत होता है। मैं बिचारा तो किसमें हूं मेरी गणना कहां जब शंकर और नारद जैसे ही उसका भेद न पा सके। कबीर कहते हैं कि जो सहज भावना द्वारा परमात्मा में ही रम गये हैं वो साधना उस प्रभु का ध्यान करते रहते हैं और इस प्रकार राम में वे अपनी दृढ़ भक्ति रखते हैं जिनका राम के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रयोजन ही नहीं रह जाता वे ही भक्त उस ब्रह्म के स्वरूप को पहचानते हैं।

विशेष—१ रूपकातिशयोक्ति अलंकार।
२ अनात्मवाद की पुष्टि।

निज सरूप निरंजनां निराकार अपरंपार अपार।
रांम नाम ल्यौ लाइस जियरे जिनि भूलै बिस्तार॥
करि बिस्तार जग धंधै लाया अंध काया थैं पुरिष उपाया।
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा ताकूं तैसा कीन्ह उपाया॥
तेतौ माया मोह भुलांनां खसम रांम सो किनहूं न जांनां।
जिनि जान्यां ते निरमल अंगा नहीं जान्यां ते भये भुजंगा।
ता मुखि बिष आवै बिष जाई ते बिष ही बिष मैं है समाई।
माता जगत भूत सुधि नांहीं भ्रमि भूलै नर आवैं जांहीं॥
जानि बूझि चेतै नहीं अंधा करम जठर करम के फंदा।

राम ईश्वर का स्वरूप निराकार, प्रसत्त एव ग्रगम्य है, वह इन्द्रियातीत है। हे मन ! तू राम-नाम म ही रमा रह क्यों व्यर्थ माया-प्रपच में फंसता है। अपने पापा का बोझ बड़ा कर तू इस ससार में ग्रा फंसा और ग्रब इस ग्रज्ञानमय शरीर से ब्रह्म प्राप्ति ,क्या चाहता है जो पूर्णरूपेण ग्रसम्भव है । जिसकी जैसी मनोभावना होती है, उस उसी रूप म ईश्वर की परिकल्पना रुचिकर लगती है और वह ग्रपने मनोनुकूल प्रभु प्राप्ति का उपाय करता है। किन्तु ये सब मनुष्य माया-मोह मे पड़े हुए हैं ग्रौर प्रियतम राम को कोई भी नही जान सका। जिन्होने ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान लिया व तद्रूप हो गय और शेष व्यक्ति तो विषय-वासना विष से परिपूर्ण सर्प ही रहे । इन विपासक्त मनुष्यों के तो ग्राचार-व्यवहार कथन आदि प्रत्येक क्रिया-कलाप में विष ही विष होता है। यह ससार विषय-वासना के भ्रामर्कों मे ग्रवसक्त है ग्रौर इसी लिए ग्रावागमन के चक्र में पड़ा हुग्रा है। हे ग्रज्ञानी मनुष्य ! सावधान क्यों नही होता ? इस कर्म-जजाल म क्यों फंसा हुग्रा है ?

करम का बाध्या जीयरा ग्रह निसि ग्रावै जाइ।
मनसा वही पाइ करि हरि बिसर तौ फिर पीछैं पछिताइ ।।
तौ करि त्राहि चेति जा ग्रमार तजि परकीरति भजि चरन गोव्यदा।
उदर कूप तजौ ग्रम बासा र जीव रांम नांम ग्रभ्यासा ।।
जगि जीवन जैस लहरि तरगा खिन सुख कू भूलसि बहु संगा।
भगति कौ हीन जीवन कछू नांहीं उतपति परलै बहुरि समांही ।।

कबीर कहते है कि कर्म-जजाल मे फंसा यह जीव ग्रहनिश ऐसे कुकर्मों में संलग्न रहता है कि ग्रावागमन चक्र म ही बधा रहता है। यदि मानव योनि पाकर भी जीवात्मा तू प्रभु का स्मरण न किया तो फिर पछताना पड़ेगा। तू प्रभु की वन्दना करता हुग्रा उनकी शरण मे जा ग्रा और ईश्वर के चरणों का भजन कर। तू मातृ-गर्भ मे पड़ा (उल्टा लटका हुग्रा) वहां से छूटने की प्रार्थना करता था राम-नाम के ही प्रभाव म तू उस नरक से मुक्त हो सका है। यह सांसारिक जीवन जल वीचि तुल्य क्षणिक है। क्षणिक विषयजनित ग्रामद के लिये तूने साधु ग्रात्माग्रों का साथ छोड़ दिया। ईश्वर भजन का जीवन किसी भी प्रकार से हेय नहीं है। वह ब्रह्म से वियुक्त हुग्रा पुन उसी के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

भगति हीन ग्रस जीवना जन्म मरन बहु काम।
ग्राश्रम ग्रनेक करसि रे जियरा रांम बिना कोई न करै प्रतिपाल ।।
सोई उपाव करि यहु दुख जाई ए सब परहरि बिसै सगाई।
माया मोह जरै जग ग्रागी ता सगि जरसि कवन रस लागी ।।
त्राहि त्राहि करि हरी पुकारा साध संगति मिलि करहु बिचारा।

रे रे जीवन नहीं बिश्रामा सब दुख खंडन राम को नामा ॥
राम नाम संसार में सारा राम नाम भौ तारनहारा ।

कबीर कहते हैं कि भक्ति-विहीन हमारा जीवन जन्म-मरण के आवागमन चक्र में बंधा रहता है । चाहे तू कितने ही आश्रमों का पालन कर ले किन्तु ईश्वर के बिना प्रभु पर दृढ़ विश्वास के बिना तेरा कोई सहायक नहीं हो सकता । हे प्रभु ! आप ऐसी अनुकम्पा कीजिए मेरे समस्त सांसारिक तापों का शमन हो आपसे प्रेम हो जाय । माया-मोह का नाश होकर सांसारिक तृष्णा नष्ट जाये इस विषय-वासना के साथ बंधे रहने से क्या लाभ ? तू साधु-संगति कर प्रभु के गुणों का गान कर उनकी शरण में जा । इस जीवन में विश्राम कहां समस्त दुखों के दूर करने वाले भी राम ही हैं । प्रभु-नाम ही संसार में एकमात्र सत्य है और वही भव-समुद्र से पार उतारने वाला है ।

सुम्रित बेद सबै सुनै नहीं आवै कृत काज ।
नहीं जैसे कुंडल बनित मुख मुख सोभित बिन राज ॥
अब गहि राम नाम अविनासी हरि तजि जिनि कतहूं के जासी ।
जहां जाइ तहां तहां पतंगा अब जिनि जरसि समझि बिष संगा ॥
चोखा राम नाम मनि लीन्हा भ्रिंगी कीट भ्यंन नहीं कीन्हा ।
भौसागर अति वार न पारा ता तिरबे का करहु बिचारा ॥
मनि भावै अति लहरि बिकारा नहीं गमि सूझै वार न पारा ।
भौसागर अथाह जल तामैं बोहिथ राम अधार ।
कहै कबीर हम हरि सरन तब गोपद खुर बिस्तार ॥ ॥

स्मृति वेद पुराण आदि धर्म-ग्रन्थों को पढ़-सुनकर भी वे उन पर आचरण नहीं करता था । उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी स्त्री का मुख कुण्डल पहने हुए भी शोभा नहीं पाता और किसी स्त्री का मुख बिना कुण्डल के भी शोभित होता है । हे मन ! अविनाशी प्रभु राम-नाम का जप कर क्योंकि उनकी शरण छोड़ फिर कहां शरण प्राप्त करेगा ? जहां जहां भी तू जाता है वहीं माया रूपी पतंग तेरा पीछा नहीं छोड़ता अब तो विषय-वासनाओं की नश्वरता का अनुमान कर इस मायाजन्य आकर्षण का साथ छोड़ दे । यदि तू राम-नाम मार्ग को अपना ले तो उसका आश्रय भृंगी नामक कीट के सदृश अनुरूप ही हो जायगा ।

इस संसार-समुद्र का ओर-छोर नहीं है अतः इससे पार करने की चिंता करो । मन को विषय-वासनाजनित आनन्द ही रुचिकर है इसीलिए संसार-सागर से मुक्त तथा कल्याण नहीं होता । इस भवसागर के अगम्य जल में पार उतरने के लिए राम-नाम ही एक मात्र नाव है । कबीर कहते हैं कि मैं तो ईश्वर की शरण में आ गया हूं और मुझे तो संसार-सागर गौ-चरण के समान छोटा लगने लगा है ।

विशेष—१ रूपक उपमा सांगरूपक अलंकार।

२ 'भिृंगी कीट ज्यंत नहीं कीन्हां' में वेदान्तियों के 'भृंगी कीट न्याय' की झलक है। इस भृंगी-कीट के विषय में प्रसिद्ध है कि यह जिस सामान्य कीट को अपना शिष्य बनाता है, उसकी परिक्रमा करता हुआ एक समय ऐसा आता है कि उसे भी तद्रूप कर देता है भृंगी ही बना देता है।

बड़ी अष्टपदी रमैणी

एक बिनानीं रच्या बिनांन, सब अयांन जो आपै जांन।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि बिस्तार उपाया॥
पंच तत ले कीन्ह बंधानं, पाप पुंनि मांन अभिमानं॥
अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपति बिपति दीन्हीं सब काहू॥
भले रे पोच अकुल कुलवंतां, गुणी निरगुणी धनं नीधनवंतां।
भूख पियास अनहित हित कीन्हां, हेत मोर तोर करि लीन्हां॥
पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे करम जो आहि अबंधू।
अवर जीव जंत जे आहीं, संकुट सोच बियापै ताहीं॥

उस परमात्मा ने इस सृष्टि का निर्माण किया जिसके भेद के विषय में सब अज्ञानी हैं, केवल वह स्वयं ही इसका रहस्य जानता है। सत रज तम त्रिगुणात्मक माया की रचना कर चारों दिशाओं अर्थात् सर्वत्र उसका प्रसार कर दिया। क्षिति जल पावक गगन समीरा इन पाँच तत्वों से ही पाप-पुण्य एवं मानाभिमानयुक्त शरीर की रचना की है। साथ ही अहंकार माया मोह आदि दुर्गुणों की भी सृष्टि की और प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुख प्रदान किया। धनियों से तो निर्धन ही अच्छे जो सद्व्यवहार रखते हैं सच्चरित्र हैं। धनिक तो भूखे प्यासे के साथ भी पैसे का लाभ प्राप्त करने की सोचता है, अतः वह स्वार्थ के लिये अपने पराये किसी का भेद नहीं रखता। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्वाद से जीवात्मा को संसार बंधन में बंधना पड़ा। और जो भी जीव-जन्तु हैं उनको भी अपने विस्तार की चिंता समान रूप से व्यथित करती है।

निंद्या अस्तुति मांन अभिमांनां, इनि झूठै जीव हत्या गियांनां।
बहु बिधि करि संसार भुलावा, झूठै दोजगि साच लुकावा॥

व्यर्थ की निन्दा मिथ्या प्रशंसा मानाभिमान वृथा ही जीवात्मा के ज्ञान का नष्ट करते हैं। इनके प्रपंच में फंस जगत् भ्रम में पड़ नरकगामी होता है एवं सत्य तत्त्व को खो देता है।

माया मोह धन जोबनां, इनि बंधे सब लोइ।
झूठै झूठ बियापिया कबीर अलख न लखई कोइ॥

मूर्खनि झूठ साच करि जानो मूर्खनि मैं सब साच लुकानो ।
धंध बंध कीन्ह बहुतेरा क्रम बिवर्जित रहै न नेरा ॥
षट दरसन आश्रम षट कीन्हा षट रस खाटि काम रस लीन्हा ।
चारि बेद छह सास्त्र बखानें बिद्या अनंत कथै को जानें ॥
तप तीरथ कीन्ह ब्रत पूजा धरम नेम दान पुन्य दूजा ।
और अगम कीन्हें ब्यौहारा नहीं गमि सूझै वार न पारा ॥
लीला करि करि भेख फिरावा ओट बहुत कछु कहत न आवा ।
गहन ब्यंद कछु नहीं सूझै आपन गोप भयो आगम बूझै ॥
भूलि परयो जीव अधिक डराई, रजनी अंध कूप ह्वै आई ।
माया मोह उनवैं भरपूरी दादुर दामिनि पवना पूरी ॥
तरिपै बरिषै अखंड धारा रैनि भामनी भया अँधियारा ।
तिहि बियोग तजि भये अनाथा परे निकुंज न पावैं पंथा ॥
बेद न आहि कहूँ को मानें जानि बूझि मैं भया अयानें ।
नट बहु रूप खेलै सब जानें कला केर गुन ठाकुर मानें ॥
ओ खेलै सब ही घट माहीं दूसर के लखै कछु नाहीं ।
जाके गुन सोई पै जानें और को जानें पार अमानें ॥
भले रे पोच औसर जब आवा करि सनमान पूरि जम पावा ।
दान पुन्य हम दिहु निरासा कब लग रहूँ नटारंभ काछा ॥
फिरत फिरत सब चरन तुरानें हरि चरित अगम कथै को जानें ।
गण गंध्रप मुनि अंत न पावा रह्यो अलख जग धंधै लावा ॥
इहि बाजी सिव बिरंचि भुलाना और बपुरा को क्यंचित जांना ।
त्राहि त्राहि हम कीन्ह पुकारा राखि राखि साईं इहि बारा ।
कोटि ब्रह्मंड गहि दीन्ह फिराई फल कर कीट जनम बहुताई ॥
ईस्वर जोग खरा जब लीन्हा टर्‌यौ ध्यान तप खंड न कीन्हा ।
सिध साधिक उनथैं कहु कोई मन चित अस्थिर कहु कैसें होई ॥
लीला अगम कथै को पारा बसहु समीप कि रहौ निनारा ।

खग खोज पीछैं नहीं तूं तत अपरंपार ।
बिन परचै का जानियें सब झूठे अहंकार ॥

माया मोह धन यौवनादि के दर्प में संपन्न जगत् बंधा हुआ है। ये सम्पूर्ण अधिक शरीरधारी मिथ्या सुखों में पड़ गये हैं जिससे अलख-निरंजन परमात्मा को कोई नहीं पहचानता। चाहे कितने ही उपक्रम कर उस ईश्वर को प्राप्त करने का उपाय किया जाय किन्तु वह तो कर्म-काण्ड में नहीं है। षट् दर्शन छः आश्रम (जब

कि मायम चार भेद हैं) पढ़ रस विषय रस चारों वेद, छहों शास्त्र तथा अनन्त विद्याओं जिनका कथन असम्भव है तप-तीर्थ व्रत पूजा स्नानादि तथा अन्य धार्मिक नियम यज्ञ दानादि के जितने भी उपक्रम हैं ये सब उस अगम्य परमात्मा को खोजने में असमर्थ हैं इनके द्वारा उसका कुछ भी रहस्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह ईश्वर छिपकर अनेक लीलाएं कर मनुष्य को नाना-योनियों में भ्रमित रखता है। उस अगम्य ईश्वर की गति का पार पाना असम्भव है, स्वयं अदृश्य बन धर्म-ग्रन्थों से अपना स्वरूप स्पष्ट कराता है। जीवात्मा इस संसार रूप अज्ञान-रात्रि में पड़ा हुआ भयभीत रहता है। संसार वास की रात्रि भी बड़ी भयानक है माया-मोह के पशुओं तथा विकारों के चापुरूधार एवं आवर्तनों की चपला सम चमक और बीहड़ वायु के झंझावातों ने इसे और अधिक भयानक बना दिया है। तापों और विपत्तियों की अगणित और मूसलाधार वर्षा हो रही है जिससे रात्रि की भयानकता बढ़ रही है। हम —जीवात्मा— उस परम परमात्मा के वियोग में अनाथ हैं जीव के लिए चलने पर अपरिमित अन्य बाधाओं को लिए हुए अन्धियारी रात्रि में बीहड़ वन के मार्ग पर भटक गये हैं। वेद-वर्णित ज्ञानानुसार आचरण कोई नहीं करता इसीलिए जानते हुए भी अज्ञानी ही रहते हैं। वह बड़ा इस सृष्टि में नट के समान नाना लीलाएं, क्रीड़ाएं करता रहता है किन्तु वह इन खेलों अथवा लीलाओं को करता दृष्टिगत नहीं होता अपितु वह दूरस्थ रहता हुआ ही यह सब कर लेता है। वस्तुतः जिसका कार्य होता है वही तो उसके सम्पूर्ण भेदों से अवगत रहता है अतः ईश्वर की महिमा भी ईश्वर स्वयं ही जान सकता है। अब तो हम उस अवसर की प्रतीक्षा में हैं जब यमराज पंच भूत की इस रचना शरीर को लेने आयेगा। दान-पुण्य आदि में भी हमें निराशा ही निराशा दृष्टिगत होती है। इन झूठे विधि-विधानों में घूमने से पर दुखाने से क्या लाभ? ब्रह्म की अनन्त लीलाओं का कथन शास्त्र ग्रन्थ भी नहीं कर पाये। यक्ष गन्धर्व ऋषि आदि कोई भी उस ईश्वर का भेद नहीं पा सका। जब उस ब्रह्म का स्मरण चिन्तन करते हुए स्वयं ब्रह्मा भ्रम में पड़ गया तो फिर भला मुझ मूर्ख की तो गणना ही क्या? अब मैं 'त्राहि माम् त्राहि माम्' कर रक्षा की दुहाई दे रहा हूँ हे प्रभु अब की बार मुझे शरण में रख लो। करोड़ों ब्रह्माण्ड में मैं चौरासी लाख योनियों में भटक घूम आया हूँ अतः अब मेरी रक्षा करो। प्रभु जब जिस भक्त को श्रेष्ठ समझ अंगीकार करते हैं तब उसके लिए समाधि तपस्या आदि की आवश्यकता नहीं होती। संसार-ग्रस्त जीवों से यह कौन कहे कि चित्त की स्थिरता से ही उनकी प्राप्ति होती है। उस ईश्वर की अगम्य अपार लीलाओं का कथन कहाँ तक किया जा सकता है उसके तो किञ्चित् सन्निकट ही रहना चाहिए, दूर रहने से क्या लाभ?

कबीर कहते हैं कि हे मन! प्रभु की खोज में तू पीछे मत रह बिना उसके

साक्षात्कार का कुछ भी नहीं जाना जाता और तथाकथित ज्ञान तो अहं-दर्प मात्र होता है।

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।
सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥
बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई सकल अतीत घट रह्यौ समाई।
आदि अंति ताहि नही मधे कथ्यौ न जाई आहि अकथे।
अपरंपार उपजै नहीं बिनसै जुगति न जानियें कथिये कैसें॥
जस कथिये तस होत नहीं जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै अरु परमारथ होइ॥

वह ब्रह्म निराकार, निर्भय एवं इन्द्रियातीत है। वह शून्य स्वरूप सूक्ष्म रूप रेखा विहीन है, तथा उसका रूप नेत्र-गोचर नहीं हो सकता। उसके वर्ण एवं स्वरूप का बखान नहीं किया जा सकता। किन्तु फिर भी प्रत्येक के हृदय-घट में उसका वास है। उस अवर्णनीय ब्रह्म के आदि मध्य और अवसान किसी का भी कथन असम्भव है। उसकी महिमा वर्णनातीत है, अब उसकी प्राप्ति का उपाय ही ज्ञात नहीं तो फिर भला उसका स्वरूप कैसे स्पष्ट किया जाय? कबीर ब्रह्म के स्वरूप वर्णन में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं कि मैं जैसा बखान करता हूं वह वैसा है ही नहीं वह तो जिस रूप में है वैसा ही रहेगा। किन्तु उसका स्वरूप अज्ञात होते हुए भी प्रभु चर्चा में मन रमता प्रतीत होता है और पुण्य का भी लाभ होता है।

जांनसि नहीं कसि कथसि अयांनां हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां।
मति करि हीन कवन गुन आंही लालचि लागि आसिरै रहाई॥
गुंन अरु ग्यांन दोऊ हम हींनां जैसी कछु बुधि बिचार तस कीन्हां।
हम मसकीन कछू जुगति न आवै जे तुम्ह दरवौ तो पूरि जन पावै॥
तुम्हारे चरन कवल मन राता गुन निरगुन के तुम्ह निज दाता।
जहुंवां प्रगटि बजावहु जैसा जस अनभै कथिया तिनि तैसा॥
बाजै जंत्र नाद धुनि होई जे बजावै सो औरै कोई।
बाजी नाचै कौतिग देखा जो नचावै सो किनहूं न पेखा॥
आप आप थै जांनियें है पर नांही सोइ।
कबीर सुपिनें केर धन ज्यूं जागत हाथि न होइ॥

उस ईश्वर को न जानते हुए भी अज्ञानी उसका स्वरूप निरूपण करते हैं एवं वह वस्तुतः है तो निर्गुण किन्तु उसे बताते सगुण ही हैं। हे प्रभु मैं तो बुद्धिहीन हूं मुझमें कोई भी गुण नहीं है। सांसारिक लाभ-लालसा में पड़ा हुआ परमु (?) तेरी आशा रखता हूं। गुण और ज्ञान से तो मैं शून्य हूं। इस भांति जो कुछ भी मेरा

जान है उसके आधार पर मैं आपका स्वरूप कथन करता हूँ। मेरा मन तुम्हारे चरण कमलों में ही रम गया है एवं सगुण तथा निर्गुण रूपधारी भी आप ही हैं। मुझ अल्पज्ञ को आपकी भक्ति का अन्य कुछ उपाय नहीं दृष्टिगत होता यदि आप यथार्थ हों तो मेरा कल्याण सम्भव है। आप जहाँ जिस रूप में चाहते हो उसी रूप में प्रकट हो जाते हो एवं निस्संकोच भाव से सर्वत्र गमन करते हो। इस शरीर रूपी तन्त्री में प्राण-वायु की स्वरलहरी बज रही है जिसका वादक कोई और ही है। उसी अदृश्य से परिचालित हो यह शरीर नाना कर्मों में निरत रहता है किन्तु उस परिचालक के दर्शन किसी को नहीं होते।

सब उस ब्रह्म को अपनी-अपनी विचारधारा के अनुकूल मानते हैं किन्तु वास्तव में वह वैसा है नहीं। उसका स्वरूप कुछ-कुछ समझ में आकर भी पुनः समझ से परे उसी प्रकार हो जाता है जिस भाँति स्वप्न की वस्तु पाकर भी प्राप्त नहीं होती।

जिनि यहु सुपिना फुर करि जाना और सबै दुखयादि न आना।
ग्यान हीन चेतै नहीं सूता मैं जाग्या विष हर भै भूता॥
पारधी बान रहै सर सांधैं विषम बान मारै विष बांधैं।
काल अहेड़ी संझ सकारा सावज ससा सकल संसारा॥
दावानल अति जरैं विकारा माया मोह रोकि ले जारा।
पवन सहाइ लोभ अति भइया जम चरचा चहुंदिसि फिरि गइया॥
जम के चर चहुं दिसि फिरि लागे हंस पंखेरुवा अब कहां जाइबे।
केस गहैं कर निस दिन रहई जब धरि ऐंचै तब धरि चहई॥
कठिन पासि कछू चलै न उपाई जंम दुवारि सीझै सब जाई।
सोई त्रास सुनि राम न गावै मृगत्रिष्णां झूठी दिन धावै॥
मृत काल किनहूं नहीं देखा दुख कौं सुख करि सबही लेखा।
सुख करि मूल न चीन्हसि अभागी चीन्हें बिना रहै दुख लागी॥
नींब कीट रस नींब पियारा यूं विष कूं अमृत कहै संसारा।
विष अमृत एकै करि सांनां जिनि चीन्हां तिनहीं सुख मांनां।
अछित राज दिन दिनहिं सिराई अंमृत परहरि करि विष खाई॥
जानि अजानि जिन्हूं विष खावा परे लहरि पुकारैं धावा।
विष के खायें का गुन होई, जा बेद न जानैं परि सोई॥
मुरछि मुरछि जीव जरि है आसा कांजी अलप बहु खीर विनासा।
तिल सुख कारनि दुख अस मेरू चौरासी लख लीया फेरू॥

असप सुख दुख माहि मनसा मन मैंगल भूल्यो मैमता ।
दीपक जोति रहै इक संगा नैन नेह मानूं पर पतंगा ॥
सुख विश्राम किन्हूं नहीं पावा परहरि साच झूठ दिन धावा ।
लालच लागे जनम सिरावा अति काल दिन आइ तुरावा ॥
जब लग है यहु निज तन सोई तब लग चेति न देखै कोई ।
जब निज चलि करि किया पयानां भयो अकाज तब फिरि पछितानां ॥
मृगत्रिष्णा दिन दिन ऐसी अब मोहि कछू न सुहाइ ।
अनेक जतन करि टारिये करम पासि नहीं जाइ ॥

किन्तु जो प्रभु की इस क्षणिक प्राप्ति को ही सत्य और अपना अवलम्बन बना लेते हैं उन्हें सांसारिक ताप सताते नहीं करते । ज्ञानविहीन मनुष्य सावधान नहीं होता वह तो अज्ञान में अचेत पड़ा रहता है किन्तु ज्ञान लाभ कर जागने पर विषय-वासना विदूरित हो सांसारिक भय नष्ट हो गया । माया-मोह का व्याध सर्वदा विषय-वासना के बाण मारता है । मृत्युरूपी आखेटक प्रति-पल (श्वास-नगारे) मनुष्य-रूपी खरगोशों का वध कर रहा है । विषय विकारों की अग्नि अहर्निश विदग्ध करती है एवं मनुष्य के माया-मोह इस विषयाग्नि को और भी प्रज्वलित कर देते हैं । जिस भांति प्रज्वलित अग्नि को वायु और भी धधका देती है उसी प्रकार लोभ की वायु इस विषयाग्नि को प्रदीप्त कर रही है । इस विषमावस्था में जीवात्मा पड़ी हुई थी तभी उसे समस्त विकारों से मय काल का भान हुआ । जब चारों ओर प्रभूत इस विषयाग्नि में पड़ी जीवात्मा को घेर रहे हैं तो फिर भला वह किधर से विमुक्त होकर बचे । वस्तुतः इस काल ने तो हमारे बाल पकड़ रखे हैं पता नहीं वह कब कहाँ हमें उठाकर पटक दे—

कबीरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस ।
ना जानें कित मारिहै क्या घर क्या परदेस ॥

यह भवबन्धन अत्यन्त विषम है जहां किसी भी प्रयत्न से विमुक्त होना असम्भव है क्योंकि सब एक न एक दिन अवश्य ही काल गाल में चले जाते हैं । सब भयों से भयभीत हो प्रभु का स्मरण भी नहीं किया और सांसारिक सुख मृग मरीचिका सदृश मिथ्या भ्रम है । हे अभागे मनुष्य ! तूने गुणातीत ईश्वर को जानने का प्रयत्न नहीं किया उसके सौन्दर्य में ही ये सांसारिक व्यापार मान करते पड़े हैं । जिस प्रकार नीम के कटु स्वाद को जानते हुए भी कोई नीम का सेवन करे उसी प्रकार विषय वासना जन्य आनन्द को मिथ्या जानते हुए भी ये जाने वाला जानकर भी सब उसी में संलिप्त रहते हैं इस प्रकार विष को विष जानते हुए भी अमृत मानते हैं ।

वस्तुतः संसार में विष और अमृत मिले हुए हैं किन्तु जो उसमें से अमृत को ही ग्रहण करता है वही शान्ति प्राप्त करता है। किन्तु कुछ लोग समझ होते हुए भी विषय प्रति-विषय व्यर्थ व्यतीत करते हैं प्रभु भक्ति नहीं करते। इस प्रकार वे अमृत को त्याग विष को ही ग्रहण करते हैं। जो जानबूझकर विषय वासना-विष को अपनाते हैं वे भवसागर में डूबते हैं और सहायता के लिए याचना करते हैं। चाहे विषय-वासना विष का थोड़ा ही सेवन किया जाय किन्तु वह घातक ही है, वैद्य भी उसका उपचार नहीं कर सकता क्योंकि वह तो संसार चक्र में ही पड़ा मृत्यु मुख में फंसा जाता है और उसके पुण्यों को मन पापांश उसी भाँति नष्ट कर देता है जिस भाँति चटाई का अल्पांश बहुत से वृक्ष को फाड़ने के लिए पर्याप्त है। क्षणिक विषय वासना के आनन्द के लिए मनुष्य दुःख के पर्वत का भार ढोता है क्योंकि इसी पाप में उसे आवागमन चक्र में पड़ चौरासी लाख योनियों की यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। इस अल्प सुख के कारण यह मदमस्त हाथी सा मन अपरिमित दुःख उठाता है। दीप के साथ ज्योति प्रज्वलित होने पर जिस भाँति शलभ प्रेम के कारण उस पर मर जाता है उसी भाँति ईश्वर भक्ति करनी चाहिए अथवा उसी प्रकार मनुष्य विषय-वासना पर मिट जाते हैं। इस भाँति कोई भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता और सत्य-तत्व परमात्मा को छोड़ सब विषय-वासना में लगे रहते हैं। लोभ-लालच के ही कारण मनुष्य मानव जीवन समाप्त हो जाता है और अन्त समय शीघ्र आ पहुँचता है। जब तक इस शरीर की कामना पूर्ति में लगे रहोगे तब तक लाभ-लाभ कर साव-धान नहीं हुआ जा सकता। किन्तु जब शरीर छूटने लगा तब प्रभु-भक्ति के लिए पश्चाताप करने से क्या लाभ ? कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे किन्तु कर्मों का जंजाल समाप्त नहीं होता और मनुष्य मिथ्या मृगमरीचिका में भटकता रहता है।

रे रे मन बुधिवंत भंडारा आप आप ही करहु बिचारा।
कवन सयांन कौन बौराई किहि दुख पइये किहि सुख जाई॥
कवन हरिख को बिष मैं जांना को अनहित को हित करि मांनां।
कवन सार को आहि असारा को अनहित को आहि पियारा॥
कवन साच कवन है झूठा कवन करूं को लागै मीठा।
किहि जरिय किहि करिये अनंदा कवन मुकति को गल के फन्दा।
रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि हौं तत पूछौं तोहि।
संसै सूल सबै भई समझाई कहि मोहि॥

हे बुद्धिमान् मनुष्य ! तुम स्वयं ही आत्मस्थित आत्मतत्व परम तत्व का विचार करो। तभी तुम विचार कर सकते हो कि कौन ज्ञानी है और कौन मूर्ख किसे सुख प्राप्त है और कौन दुखी है। किसने प्रभु को आग्रहणीय माना और किसने इस

प्रकार स्वयं अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी है—इस सब का ज्ञान परम तत्त्व का साक्षात्कार करने पर ही हो सकता है। कौन सा तत्त्व सत्य और कौन सा भ्रम मात्र मिथ्या है यह तभी ज्ञात हो सकता है। कौन सच्चा कौन झूठा कौन कड़वा और कौन मीठा क्या बाधक है एवं क्या आनन्ददायक है? कौन इस भवबन्धन से मुक्ति दिला सकता है—यह समस्त विवेक परमात्मा प्राप्ति पर ही आ सकता है। हे मन! तू मुझे व्यर्थ पागल मत बना। मैं समस्त सांसारिक भ्रमादि का परित्याग कर तुझसे परम-तत्त्व की चर्चा करता हूँ तू मुझे समझाकर यह सब बता।

सुनि हंसा मैं कहूं विचारी त्रिजुग जोनि सबै अंधियारी।
मनिषा जन्म उत्तिम जो पाया जांनूं रांम तौ सयांन कहाया।।
नहीं चेत तौ जनम गमावा परयौ विहांन तब फिरि पछतावा।
सुख करि मूल भगति जो जांनैं और सबै दुख या दिन आनैं।।
अमृत केवल रांम पियारा और सबै विष के भंडारा।
हरिख आहि जौ रमियें रांमां और सबै बिसमां के कांमां।।
सार आहि संगति निरबांनां और सबै असार करि जांनां।
अनहित आहि सकल संसारा हित करि जांनिये रांम पियारा।।
साच सोई जे थिरह रहाई उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई।
मींठा सो जो सहजैं पावा अति कलेस थैं करू कहावा।।
नां जरिये नां कीजै मैं मेरा तहां अनंद जहां रांम निहोरा।
मुकति सोज आपा पर जांनैं सो पद कहां जु भरमि भुलांनैं।।

प्रांननाथ जग जीवनां दुरलभ रांम पियार।
सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर जीये रे तरवर पंख बसियार।।

हे मुक्तात्मा! सुन इस संसार में सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है। उत्तम मानव जीवन प्राप्त कर। यदि राम-नाम स्मरण किया तो ही चतुरता है। यदि इस जन्म में भी सावधान न हुआ गया तो फिर जीवन की सन्ध्या में पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। जो प्रभु भक्ति को समस्त सुखों का प्रदाता मानता है उन्हें कोई भी दुःख नहीं व्यापते। केवल राम-नाम ही अमृत तुल्य है अन्य सब तो विष ही विष है। जो व्यक्ति हरि नाम जपते हैं उन्हें अन्य समस्त कार्य व्यापार वृथा भार होता है। साधु-संगति ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है अन्य समस्त विधि विधान तो व्यर्थ हैं। संसार के अन्य सब कामों में तो अहित है केवल प्रभु भक्ति में ही कल्याण है। सत्य वस्तु तो वही है जो स्थिर रहे अमर रहे अन्यथा अन्य सब पदार्थ तो नश्वर। और संसार के पदार्थ चक्र में पड़े हुए हैं। वही भक्ति-भावना मधुर है जिसमें सहज ही स्वाभाविक रूप से प्रभु प्राप्ति हो जाय अन्य उपाय—साधनाएं तो असाध्य हैं। जहाँ राम-नाम का ही एक मात्र आश्रय है वहाँ न तो सांसारिक भार है न अपना-पराया भिन्न की ईन

भावना। आत्म-तत्व को पहचानने पर मुक्ति सरल हो जाती है किन्तु वह परमपद किसी को ही प्राप्त होता है जहां समस्त भ्रम भाग जाते हैं।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में पुत्र शरीर, धन आदि का मोह त्याग अगम्य प्रभु की जो सबका जीवनाधार है, भक्ति करनी चाहिए। जिससे इस संसार-वृक्ष पर मुक्तात्मा पक्षी अपने पंख फैलाकर सुखपूर्वक रह सके।

रे रे जीव अपनां दुख न समारा जिहिं दुख व्याप्या सब संसारा।
माया मोह भूले सब भाई क्यंचित लाभ मांनिक दीयो खोई॥
मैं मेरी करि बहुत बिगूता जननीं उदर जन्म का सूता।
बहुतें रूप भेष बहु कीन्हां जुरा मरन क्रोध तन खीनां॥
उपजै बिनसै जोनि फिराई, सुख कर मूल न पावै चाही।
दुख संताप कलेस बहु पावै सो न मिलै जे जरत बुझावै॥
जिहिं हित जीव राखिहै भाई सो अनहित ह्वै जाइ बिलाई।
मोर तोर करि जरे अपारा मृग त्रिष्णां झूठी संसारा॥
माया मोह झूठ रह्यौ लागी का भयौ इहां का ह्वै है आगी।
कछु कछु चेति देखि जीव अबही मनिषा जनम न पावै कबही॥
सार आहि जे संग पियारा जब चेतै तब ही उजियारा।
त्रिजुग जोनि जे आहि अचेता, मनिषा जनम भयौ चित चेता॥
आतमां मुरछि मुरछि जरि जाई पिछले दुख कहतां न सिराई।
सोई त्रास जे जानैं हंसा तौ अजहू न जीव करै संतोसा॥
भौसागर अति वार न पारा ता तिरबे का करहु बिचारा।
जा जल की आदि अंति नहीं जांनिये ताकौ डर काहे न मांनिये॥
को बोहिथ को खेवट आही जिहिं तिरिये सो लीजै चाही।
समझि बिचारि जीव जब देखा यहु संसार सुपन करि लेखा॥
भई बुधि कछू ग्यांन निहारा आप आप ही किया बिचारा।
आपण मैं जे रह्यौ समाई नेडै दूरि कथ्यौ नहीं जाई॥
ताके चीन्हैं परचौ पावा भई समझि तासूं मन लावा।

माव भगति हित बोहिया सतगुर खेवनहार।
अलप उदिक सब जांनिये जब गोपद्खुर बिस्तार॥१॥

हे जीव ! तू अपने दुःख का शमन नहीं करता। तुझे ज्ञात नहीं कि इस वेदना से समस्त संसार व्यथित है। सब सांसारिक माया-मोह में भूले हुए हैं और उन्होंने विषय-वासना के वश मिथ्या लाभार्थ प्रेम रूप अमूल्य माणिक्य को खो दिया। 'मैं' और 'मेरे' पर मिथ्या की भावना ने सबे माइयों तक में बहुत दरार डाल दी

है। अनेक योनियों में बहुत से जन्म धारण किये और फिर क्षयादि से यह शरीर क्षीण हो गया —इस प्रकार यह जन्म मरण का चक्र चलता रहा। जन्म-मरण के इस चक्र में पड़कर भी मूल-मूल परम-पिता परमात्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं किया। उसकी प्राप्ति के अभाव में जीव नाना दुःख-व्यथाओं से उत्पीड़ित होता रहता है। जिस उद्देश्य—मोक्ष—के लिये अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं वही समाप्त हो जाता है। मैं-तूं के इस द्वैत से मिथ्या मृगमरीचिका में संसार भटक रहा है। मोह-ममता के माया-जाल में संसार पड़ा हुआ है और तापों की अग्नि में विदग्ध होता रहता है। हे जीवो कुछ तो सावधान होकर संसार और अपनी वास्तव दशा का विचार कर क्योंकि इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय मानव-जीवन ही है जो पुनः प्राप्त नहीं होता है। इस बात को मानकर जो सावधान हो जाते हैं उन्हें ज्ञान का दिव्य प्रकाश उपलब्ध होता है। जो संसार में मानव जीवन पाकर भी अचेत रहते हैं उनकी आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार नहीं करती और न उनके त्रिगत तथा आपत दुःखों की समाप्ति होती है। दुःख का ही ध्यान करके मुक्तात्मा प्रभु भक्ति में दत्तचित्त रहते हैं और वे चाहे कितनी ही प्रभु भक्ति करें, उनका प्रभु से प्रेम बढ़ता ही जाता है, उनकी भक्ति दृढ़ से दृढ़तर होती जाती है। इस संसार-सागर के अथाह जल का कोई पार नहीं पाया जा सकता अतः इस अगम्य सागर को पार करने का उपाय प्रभु भक्ति-साधना करो। जिस जल का कोई वार-पार नहीं उससे निस्तार का प्रयत्न आवश्यक है। इस सागर से पार जाने के लिये न कोई जलयान है न कोई नौकाधार। जो इससे तरना चाहता है उसे स्वयं ही प्रयत्न करना होगा।

जब जीवात्मा ने विचार कर विवेक बुद्धि से सोचा तो उसे यह संसार स्वप्नवत् मिथ्या दृष्टिगत हुआ एवं इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर उसने अन्तर्मुखी हो आत्म-तत्व का विचार किया। वह प्रभु हृदय में ही स्थित था उसके लिए कहीं अन्यत्र भटकना नहीं पड़ा। उसके साक्षात्कार से मन उसी में रम गया।

कबीर कहते हैं कि संसार सागर से पार जाने के लिये प्रेम भक्ति ही जल यान है तथा सद्गुरु उस पोत के खिवैया हैं। इसके द्वारा यह विस्तार भवसागर थोड़े से जल का हो जाता है, यह इतना छोटा हो जाता है जितना गौ के पद का चिन्ह जिसे बड़ी सुगमता से (बच्चा भी) पार कर सकता है।

विशेष—१ रूपक उपमा आदि अलंकार।

२ वेदान्तियों के समान संसार की 'स्वप्न' आदि से उपमा भी 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की पुष्टि करती है।

दुपदी रमैणी

भया दयाल बिषहर जरि जागा गहगहान प्रेम बहु लागा ।
भया अनंद जीव भये उल्हासा मिले रांम मनि पूगी आसा ॥
मास असाढ़ रवि धरनि जरावै जरत जरत जल आइ बुझावै ।
रुति सुभाइ जिमीं सब जागी अमृत धार होइ झर लागी ॥
जिमी मांहि उठी हरियाई, बिरहनि पीव मिले जन जाई ।
मनिकां मनि के भये उछाहा कारनि कौन बिसारी नाहा ॥
खेल तुम्हारा मरन भया मोरा चौरासी लख कीन्हां फेरा ।
सेवग सुत जे होइ अनिआई गुन औगुन सब तुम्हि समाई ॥
अपने औगुन कहूं न पारा इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा ।
दरबो नहीं कांइ तुम्ह नाहा तुम्ह बिछुरें मैं बहु दुख चाहा ॥
मेघ न बरिखै जांहि उदासा तऊ न सारंग सागर आसा ।
जलहर भरयौ ताहि नहीं भावै कै मरि जाइ कै उहै पियावै ॥
मिलहु रांम मनि पुरवहु आसा तुम्ह बिछुरयां मैं सकल निरासा ।
मैं रनिरासी जब निध पाई, रांम नांम जीव जाग्या जाई ॥
नलनी कै ज्यूं नीर अधारा खिन बिछुर्यां थैं रवि प्रजारा ।
रांम बिना जीव बहुत दुख पावै, मन पतंग जगि अधिक जरावै ॥
माघ मास रुति कवलि तुसारा भयौ बसंत तब बाग संभारा ।
अपनैं रंगि सब कोइ राता मधुकर बास लेहिं मैंमंता ॥
बन कोकिला नाद गहगहांनां रुति बसंत सब कै मनि मांनां ।
बिरहन्य रजनी जुग प्रति भइया, बिन पीव मिलें कलप टलि गइया ॥
आतमा चेति समझि जीव जाई, बाजी झूठ रांम निधि पाई ।
भया दयाल निति बाजहिं बाजा सहजैं रांम नांम मन राजा ॥

जरत जरत जल पाइया सुख सागर कर मूल ।
गुर प्रसादि कबीर कहि भागी संसै सूल ॥

राम के दर्शन हो जाने पर मेरा तृष्णि हो जीवात्मा आनन्दित हुई, ईश्वर के दयालु हो जाने पर मन में उनके प्रति गम्भीर प्रेम उत्पन्न हुआ । जिस प्रकार आषाढ़ की तप्त धरा का प्रथम बार पाकर शीतलता प्रदान कर चतुर्दिक अमृत वर्षा द्वारा सबको हरियाली देकर शोभा प्रदान करता है उसी भाँति युग-युग से प्रतीक्षारत विरहिणी आत्मा को प्रिय—परमात्मा—के दर्शन हो गये । परमात्मा हृदय में अमित उल्लास लिये विरहिणी से कहने लगी नाथ ! आपने मुझे क्यों विस्मृत कर दिया था । मैं आपसे खोजती खोजती चौरासी लाख योनियों में भटकती रही—यह

क्यंचिति ह्व सुपिनें निधि पाई नहीं सोभा कौं धरौं मुकाई ।
हिरदै न समाइ जांनिय नहीं पारा लाग सोभ न भौर हकारा ॥
समिरत हूं अपने उपमांनां क्यचित जोग रांम में जांनां ।
मुखां साच का जांनियें असाधा क्यचित जोग रांम में साधा ।
कुबिज होइ अमृत फल वछ्या पहुचा तब मनि पूगी इछ्यां ।
नियर थैं दूरि दूरि थैं नियरा रांम चरित न जांनियें जियरा ॥
सीत थैं अगिन फुनि होई रवि थें ससि ससि थें रवि सोई ।
सीत थै अगनि परजरई जल थैं निधि निधि थे थल करई ॥
बज्र थैं तिण खिण भीतरि होई, तिण थैं कुलिस करै फुनि सोई ।
गिरवर छार छार गिरि होई अविगति गति जानैं नहीं कोई ॥

इस संसार में केवल राम-नाम ही सत्य है शेष तो सब जंजाल है। मेरा उनका साथ वैसा ही है जैसे बेर और गीदड़ का। मैंने उनके स्वरूप का साक्षात्कार भ्रम समय के लिए वैसे ही किया है जैसे कोई स्वप्न में अमूल्य सम्पत्ति पा जाये। मैं उनकी वर्णनातीत शोभा को छिपाकर नहीं रख सकता। वह अपरम्पार शोभा मेरे हृदय में भी नहीं समा सकती। मैंने प्रभु के निरन्तर स्मरण से ही उन्हें थोड़ा बहुत जाना है। साधुओं के अमृत वचनों से ही मैंने राम को प्राप्त किया है। मैंने इस भांति जब अमृत स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लिया तभी मनोकामना पूर्ण हुई। राम के चरित्र को पहचानना बड़ा दुष्कर है—जब मैं विषय-वासना के समीप था तब वह प्रभु मुझ से दूर था किन्तु जब मैं वासना-जन्य भावनों से दूर रहने लगा तो वह मेरे बिल्कुल निकट हो गया। उस प्रभु की महिमा विचित्र है, वह शीतलतम वस्तु को अग्नि के समान दाहक बना दे जल जैसे शीतल को भी दाहकारी सूर्य और सूर्य को चन्द्र बना दे। वह शीतल वस्तु से अग्नि उत्पन्न करने के साथ ही जल को स्थल एवं स्थल को जल में परिवर्तित कर दे। वह वज्र को भी क्षणभर में तृण रूप में कर दे और तृण को शीघ्र ही पर्वताकार दे दे। पर्वतराज को भी धूलिकणों में और धूलि को भी पर्वत में परिवर्तित करना उसकी सामर्थ्य में है उस अगम्य प्रभु की महिमा का पार कोई नहीं पा सकता।

विशेष—उपमा विरोधाभास आदि अलंकार।

जिहि दुरमति डोल्यौ संसारा परे असूझि वार नहीं पारा ।
बिख अमृत एकै करि सीन्हां जिनि चीन्हां सुख तिहकूं हरि दीन्हां ।
सुख दुख जिनि चीन्हां नहीं जांनां ग्रासे काल सोग रति मांनां ।
होइ पतंग दीपक मैं परई झूठें स्वादि लागि जीव जरई ॥
कर गहि दीपक परहि जु कूपा यहु अचिरज हम देखि अनूपा ।
ग्यांनहीन ओछी मति बाधा मुखां साच करतूति असाधा ॥

दरसन समि कछू साध न होई गुर समान पूजिये सिष सोई।
भेष कहा जे बुधि बिसूधा बिन परचै जग बूड़नि बूड़ा॥
यदपि रवि कहिये सुर माही झूठै रवि लीन्हां सुर चाही।
कबहूं हुतासन होइ जरावै कबहूं अखंड धार बरिषावै॥
कबहू सीत काल करि राखा तिहूं प्रकार बहुत दुख देखा।
ताकू सेवि मूढ़ सुख पावै दौरे लाभ कू मूल गवावै॥
अछित राज दिने दिन होई दिवस सिराइ जनम गये खोई।
मृत काल किनहूं नहीं देखा माया मोह धन अगम अलेखा॥
झूठैं झूठ रह्यो उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई।
साचै नियरै झूठै दूरी बिष कू कहै सजीवनि मूरी॥
कथ्यो न जाइ नियरै अरु दूरी सकल अतीत रह्या घट पूरी॥
जहां देखौं तहां रांम समांनां तुम्ह बिन ठौर और नहीं आंनां।
जदपि रह्या सकल घट पूरी भाव बिना अभि-अंतरि दूरी॥
लोभ पाप दोऊ जरै निरासा झूठैं झूठि लागि रही आसा।
जहुंवा ह्वै निज प्रगट बजावा सुख संतोष तहां हम पावा॥
नित उठि जस कीन्ह परकासा पावक रहै जैसैं काष्ट निवासा।
बिना जुगति कैसैं मथिया जाई काष्टै पावक रह्या समाई॥
कष्टै कष्ट अगनि पर जरई जारै दार अग्नि समि करई।
ज्यू राम कहै ते रांमै होई दुख कलेस घालै सब खोई॥
जन्म के कलि बिष जांहि बिलाई भरम करम का कछु न बसाई।
भरम करम दोऊ बरतैं लोई, इनका चरित न जानैं कोई॥
इन दोऊ संसार भुलावा इनके लागैं ग्यांन गवावा।
इनको मरम पै सोई बिचारी सदा आनंद लै लीन मुरारी॥
ग्यांन द्रिष्टि निज पेखै जोई इनका चरित जांनैं पै सोई।

जो कुबुद्धिमान् इस संसार में माया जंजाल में भटकते फिरते हैं उनके लिये भवसागर का वार-पार नहीं किन्तु जिन्होंने समत्व दृष्टि प्राप्त कर गुण-निर्गुण परमात्मा को पहचान लिया उनका जीवन धन्य हो गया। जो गुण-गुण भटकते, मैं भव नहीं कर पाये वे जो जीवन पर्यन्त दुखी रहते हुए काल-कवलित हो गए। सांसारिक व्यक्ति मिथ्या विषयानन्द के लिए व्यापार में से उसी भांति सचित होता है जैसे पतंग दीपक पर जल मिटता है। जो स्वयं यह जानते हुए कि विषयानन्द मिथ्या एवं पाप-मूल है उसमें पड़ता है उसकी वैसी ही विडम्बना है जो जान बूझकर कुएं में पड़ने का

बुद्धि से साधुजनों के कार्य में बाधा उपस्थित करते रहते हैं। साधु के दर्शनों के बराबर अन्य किसी में पुण्य नहीं और गुरु पूजा के समान अन्य कोई महान् कार्य नहीं। ध्यान मनन का केवल माध्यम करने से कुछ नहीं होता क्योंकि इससे तो मन स्थिरता नहीं होती है भक्ति-साधना नहीं। ईश्वर के बिना ज्ञान ही संसार के लोग अगर विषय में फंसी विचारधारा गुरु की को बता पाना भारी बना है क्योंकि वह अन्य पर आधृत नहीं है। वह ईश्वर इतना महान् विचित्र सामर्थ्य है कि कभी तो वह सूर्य रूप से अपना प्रचण्ड धूप से सबको दग्ध करता है तो कभी मूसलाधार वृष्टि के रूप से समस्त धरिणी को जलमग्न कर देता है एवं कभी वह शीत की प्रचण्डता दिखाता है किन्तु तीनों ऋतुओं—ग्रीष्म वर्षा शीत—में विचित्र भ ति न रूप है। भाव यह है कि इतना विचित्र सुन्दर वस्तुएं बनाकर भी प्रभु ने उनमें कुछ न कुछ अभाव छोड़ दिये हैं यहाँ तो सृष्टि की पूर्णता में भी अपूर्णता है। प्रत्येक दृष्टि से तो केवल वह प्रभु ही पूर्ण है। संसार की उलझनों में पड़े हुए ही मूर्ख लोग सुख-लाभ करते हैं और वे भूल जाते हैं कि उनके जीवन का वास्तविक प्रयोजन क्या है। इस प्रकार वे जीवन में लाभ प्राप्त करने के स्थान पर अपना पूर्व संचित पुण्य का मूलधन भी गवां बैठते हैं। दिन प्रति दिन व सांसारिक माया जाल में ही फंसे रहते हैं। एवं इसी प्रकार जीवन का अन्त आ पहुंचता है। राम का कोई भी नहीं जानता वह तो माया-मोह-ममता आदि में संलिप्त रहता है। नश्वर शरीरधारी मनुष्य मिथ्या संसार में उलझे हुए हैं। एवं इस जगत् में जो सत्य तत्त्व परमात्मा है उसको खोजने का प्रयास कोई नहीं करता। वे लोग वास्तव ईश्वर से तो दूर रहते हैं और विषय-वासनाजन्य मिथ्या आकर्षणों में लिप्त रहते हैं एवं इस भांति विष को ही अमृत समझने का भ्रम करते हैं। वस्तुतः उस ईश्वर को न तो अपने से पास कहा जा सकता है और न दूर ही क्योंकि वह प्रत्यक्ष अन्तस्तल में विराजमान है। जहाँ देखो वहीं वह सर्वत्र व्यापी प्रभु है उसके अस्तित्व से शून्य कोई भी स्थान नहीं है। यद्यपि वह परमात्मा समस्त मानव मात्र प्राणीमात्र के हृदय में वर्तमान है किन्तु फिर भी वह बिना भक्ति भाव के बहुत दूर है। उसके दर्शन से काम क्रोध आदि की मिथ्या सांसारिक कामनाएं इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं। जहां प्रकट रूप से उस परमात्मा का भजन कीर्तन होता है वहीं हमारी शान्ति स्थायी तथा परिपक्व होती है। निस्सन्देह उठकर उसके गुणों का गान वांछनीय है वह सर्वत्र उसी प्रकार छिपा हुआ है जिस भांति काष्ठ में अग्नि का वास है। किन्तु चाहे वह काष्ठाग्नि-व्याप्त है उसका रूप ही रहा हो किन्तु बिना भक्ति साधना के उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। साधना की काष्ठाग्नि में जल जाने पर मनुष्य अग्नि के समान हो जाकर शुद्ध हो जाता है। राम-नाम कहने पर भक्त तद्रूप हो

रहता है। कबीर अन्य कुछ न कहकर यही कहते हैं कि भ्रम और अन्य जंजाल ने मनुष्य का विवेक अपहृत कर लिया है। मनुष्य की अज्ञान रात्रि समाप्त हो जाने पर ज्ञान सूर्य का उदय हो जाता है और तब भ्रम एवं मिथ्या-व्यर्थ कर्म-जंजाल नष्ट हो जाता है। ज्ञान-सूर्य के उदय से सांसारिक आकर्षणों के नक्षत्र विलुप्त हो जाते हैं और समस्त आचार-व्यवहार परिवर्तित हो जाता है। फिर विरक्त मानव को फिर विषय-वासना-विष अच्छा नहीं लगता अब तो वह सुखसिन्धु प्रभु को प्राप्त कर लेता है।

विशेष—उपमा रूपक एवं रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।

अनिल झूठ दिन धावै आसा अंध दुर्गंध सहै दुख त्रासा ॥
इक पियासत दुसरै रवि तपई, दह दिसि ज्वाला चहुँ दिसि जरई ॥
करि सनमुखि जब ग्यान बिचारी सनमुखि परिया अगनि मंझारी ॥
गछत गछत जब आगें आवा बित उनमान ढिंकुवा इक पावा ।
सीतल सरीर तन रह्या समाई तहां छाड़ि कत दाझै जाई ॥
यूं मन बारुनि भया हमारा दाझा दुख कलेस संसारा ।
जरत फिरै चौरासी लेखा सुख कर मूल किन्हूं नहीं देखा ॥
जाकै छाड़ें भये अनाथा भूलि परे नहीं पावै पंथा ।
अछ अभि-अंतरि नियरें दूरी बिन चीन्ह्यां क्यूं पाइये मूरी ॥
जा बिन हंस बहुत दुख पावा जरत जरत गुरि रांम मिलावा ।
मिल्या रांम रह्या सहजि समाई खिन बिछुर्यां जीव उरझै जाई ॥
जा मिलियां तैं कीजै बधाई, परमांनंद रैंनि दिन गाई ।
सखी सहेली लीन्ह बुलाई रुचि परमानंद भेटिये जाई ॥
सखी सहेली करहिं अनंदू हित करि भेटे परमानंदू ।
चली सखी जहुँवा निज रांमा भये उछाह छाड़े सब कांमा ॥
जानूं कि मोरैं सरस बसंता मैं बलि जाऊं तोरि भगवंता ।

वायु की मिथ्या आशा के वश हो दुर्गन्ध आदि दुखों को सहन करता हुआ भटकता है। एक तो वह अपनी कामना के लिये व्याकुल दूसरे ऊपर से सूर्य की तपन—इस भांति सर्वत्र जलन ही जलन पाता है। किन्तु इसी भांति भटकते-भटकते जब उसे एक गड्ढा की प्राप्ति होती तब वहाँ जाकर वायु भी शीतलता का अनुभव करता है और वह सोचता है कि इस शीतल स्थान को छोड़ कर अन्यत्र दग्ध होने के लिए क्यों जाऊं किन्तु फिर भी वह जाता है। इसी भांति मनुष्य जानते हुए भी विवश जल में पड़ता है। कबीर कहते हैं कि हमारा मन प्रभु प्रेम मदिरा का पान कर इस प्रकार मदमस्त हो गया है कि उसके समस्त सांसारिक दुःख समाप्त हो गए हैं। अन्य मनुष्य

व्यर्थ चौरासी लाख योनियों में भटक व्यथा भोगते फिरे उन्होंने सुख स्वरूप परमात्मा को जानने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने उसी परमात्माको छोड़ दिया जिसको छोड़ कर सब अनाथ बन जाते हैं एवं कभी भी उचित पद नहीं पाते। वह हृदयस्थ होते हुए भी दूर और पास हो जाता है कि। उसे जाने हुए मना मूलधन को कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

जिस ईश्वर के वियोग में आत्मा आकुल-व्याकुल थी उसी से सद्गुरु ने साधक को मिला दिया। राम-दर्शन होते ही क्षण भर में जीवात्मा उसी में रम गया तद्रूप हो गया। उसके मिलन पर सबको आनन्दित होना चाहिए। उस मुक्तात्मा ने इस पथ पर अन्य सभी आत्माओं का भी प्रेरित किया जिससे प्रभु-प्रेम उनमें भी जागृत हुआ। वे सभी आत्माएं समस्त सांसारिक कार्यों को छोड़ प्रभु मिलन के लिये चल दीं। यह जानकर भक्त कबीर का चित्त आनन्दमग्न हो रहा है और वे कहते हैं प्रभु मैं आप पर बलिहारी जाता हूं।

भगति हेत भाव लैलीनो ज्यूं बन नाद कोकिला कीन्हों ॥
बाजें संख सबद धुनि बेना तन मन चित्त हरि गोबिंद लीनां।
चल अचल पाइन पंगुरनी मधुकरि ज्यूं लेहिं अघरनी ॥
सावज सीह रहे सब मांची चंद अरु सूर रहे रथ खांची।
गण गंध्रप मुनि जोवें देवा आरति करि करि बिनवे सेवा ॥
बासि गमंद ब्रह्मा करें आसा हंस ज्यूं चित दुर्लभ राम दासा।
भगति हेत राम गुन गावें सुर नर मुनि दुरलभ पद पावें ॥
पुनिम बिमल ससि मास बसंता दरसन जोति मिले भगवंता।
चंदन बिलनी बिरहनि धारा यू पूजिये प्रानपति राम पियारा ॥
भाव भगति पूजा अरु पाती आतमराम मिले बहु भांती।
रांम रांम रांम रुचि मानें सदा अनंद राम ल्यौ जानें ॥
पाया सुख सागर कर मूला जो सुख नहीं कहूं सम तूला ॥
सुख समाधि सुख भया हमारा मिल्या न बेगर होइ।
जिहि लाधा सो जानि है राम कबीरा और न जानें कोई ॥७॥

कबीर कहते हैं कि भक्त जन आनन्दमग्न हो उसी भांति प्रभु का गुणगान करते हैं जिस प्रकार कोकिल वन में अपनी मधुर काकली छेड़ती है। इस नाम-स्मरण से सद्गुरु शब्दों की मंगलसूचक मंगलध्वनि हो रही है और मनसा-वाचा-कर्मणा प्रभु भक्ति के लिये प्रेरित करती है। जिस भांति वन में भ्रमर गुंजायमान होते हैं उसी भांति सब मनुष्य भक्ति में झूम रहे। उन महात्मा के लिये चन्द्र और सूर्य रथ रथ के जुते हुए होते हैं तथा मुनिगण और गन्धर्व विनय सहित उनकी आरती करते हैं।

ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े सुरराज यह पश्चात्ताप करते हैं कि काश ! हम भी राम के दास होते तो हम को भी यह वैभव और गौरव प्राप्त हो सकता। भक्त राम के गुणों का गान कर उस दुष्प्राप्य परमपद को प्राप्त कर सकता है जिसके लिये सब और महीपगण तरसते हैं। पूर्णिमा की निर्मल चन्द्रिका में माधवी रजनी में प्रभु के दर्शन प्राप्त हुए अर्थात् ज्ञानदृष्टि प्राप्त कर सौम्य शान्त निर्मल वातावरण में प्रभु प्राप्ति हुई। विरहिणी आत्मा को चन्दन की शीतलता प्राप्त हो गई, यही प्रभु भक्ति का प्रताप है। प्रेमा भक्ति का प्रताप है। प्रेमा भक्ति से घट आत्मस्थित परमात्मा को पाना सहज सम्भव है। सर्वदा समस्त चित्तवृत्तियों को राम-नाम में केन्द्रित कर देने से प्रभु की प्राप्ति होती है। इस मार्ग से हमने उस सुख सिन्धु को प्राप्त कर लिया जिसके समान अन्य कोई सुख नहीं है।

कबीर कहते हैं कि उस परमात्मा की प्राप्ति के सुख को वही जान सकता है जो उसे प्राप्त कर लेता है। इस सुख सिन्धु परमात्मा को पाकर तो हमने उससे तदाकारत्व ही कर लिया।

अष्टपदी रमैणी

केऊ केऊ तीरथ व्रत लपटांना केऊ केऊ केवल राम निज जांनां।
अजरा अमर एक अस्थानां ताका मरम काहू बिरलै जांनां॥
अबरन जोति सकल उजियारा दिष्टि समांन दास निस्तारा।
जे नहीं उपज्या धरणि सरीरा ताकै पथिन सींच्या नीरा॥
जा नहीं लागे सूरजि के बांनां सो मोहि आंनि देहु को दांनां।
जब नहीं होते पवन नहीं पांनी जब नहीं होती सिष्टि उपांनी॥
जब नहीं होते प्यंड न बासा तब नहीं होते धरनि अकासा।
जब नहीं होते गरभ न मूला तब नहीं होते कली न फूला॥
जब नहीं होते सबद न स्वाद तब नहीं होते बिद्या न बाद।
जब नहीं होते गुरू न चेला गम अगमैं पंथ अकेला॥

अवगति की गति क्या कहूं जस कर गांव न नांव॥
गुन बिहूंन का पेखिये काकर धरिये नांव॥

कोई साधक तीर्थ-व्रतादि के बाह्याडम्बर में ही भक्ति-साधना मानता है तो कोई केवल राम-नाम के माध्यम से तर जाता है। वस्तुतः उस अजर, अमर ईश्वर की वास्तविकता को कोई-कोई ही जान पाता है। उस अवर्ण्य ज्योतिस्वरूप परमात्मा से समस्त सृष्टि प्रकाशित है, भक्त जन भी उसी की अनुकम्पा से भवसागर पार करते हैं। जो इस पृथ्वी पर पंचतत्व निर्मित नहीं हुआ उसी का मार्ग जल से सींचत

किया जा सकता है मात्र यह है कि मनुष्य चाहे कोई भी क्यों न हो साधना का मार्ग उसके लिए विषम ही है। उस प्रभु की गति बड़ी विचित्र है और वह तब भी था जब इस सृष्टि वायु तथा जल किसी का भी अस्तित्व नहीं था। जब शरीर और गृह आदि तथा पृथ्वी और आकाश गर्भावस्था किसी वृक्ष की जड़ और कली तथा फूल धन्य विद्या उपदेश आदि कुछ भी नहीं था तब भी वह वहां था। जब गुरु शिष्य कोई नहीं था तब भी वही एकाकी परम-पुरुष था। कबीर कहते हैं कि उस इन्द्रियातीत ब्रह्म का जिसका न कोई गुण है न लक्षण न अन्य कोई रूपरेखा अथवा वर्ण वर्णन क्या करें। उस निर्गुण अनाम परमात्मा की गति अपार है।

आदम आदि सुधि नहीं पाई मां मां हवा कहां थैं आई।
जब नहां होते राम खुदाई साखा मूल आदि नहीं भाई॥
जब नहीं होते तुरक न हिंदू मांका उदर पिता का ब्यंदू।
जब नहीं होते गाई कसाई तब बिसमला किनि फुरमाई।
भूले फिरैं दीन ह्वै धावैं ता साहिब का पंथ न पावैं।
संजोगैं करि गुण धर्‌या बिजोगैं गुण जाइ।
जिभ्या स्वारथि आपणैं कीजै बहुत उपाइ॥

आदम और हौवा का भी ज्ञान कहां से आया अरे भाई! यदि प्रभु न हुआ होता तो आदम-हौवा की तो बात ही क्या संसार में कुछ भी नहीं होता। न तब हिन्दू होते और न मुसलमान न मातृ उदर होता और न पितृ बिन्दु—यह सब ईश्वर की ही लीला है। न जब गौ होती और न उसके मारने वाले वधिक कसाई सब उसी ब्रह्म की रचना है। सब लोग व्यर्थ भटकते फिरते हैं और उस परमात्मा को नहीं खोजते। यदि परमात्मा से संयोग मिलन भक्ति सम्बन्ध रखा जाय तब तो उचित है अन्यथा वियुक्त होने पर तो सब कुछ समाप्त ही है। विषयानन्द में न पड़ ब्रह्म प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

जिनि कलमां कलि मांहि पठाया कुदरति खोजि तिनहूं नहीं पाया।
कर्म करीम भये कर्तूता बेद कुरान भये दोऊ रीता॥
कृतम सो जु गरभ अवतरिया कृतम सो जु नाव जस धरिया।
कृतम सुंनति और जनेऊ हिंदू तुरक न जानैं भेऊ॥
मन मुसले की जुगति न जानैं मति भूलैं द्वै दीन बखानैं।
पांणी पवन संजोग करि कीया है उतपाति।
सुंनि मैं सबद समाइगा तब कासनि कहिये जाति॥

जो मुल्ला लोग इस कलियुग में कुरान आदि के कलमों को ही पढ़ कुछ होना चाहते हैं वे सृष्टि का भेद नहीं पा सके। वस्तुतः कर्म-व्यापार सदाचरण ही

मुक्तिदायक है, कर्म से ही ईश्वर अवलम्बक है। वेद-पुराण आदि धर्म ग्रन्थों में भी यही बात वर्णित है। जिस मनुष्य ने जन्म-धारण किया है उसे तो कर्म करना ही होगा। कर्म से ही पुण्य और अन्य विचारों के फल की प्राप्ति होती है। कर्म-फल की प्राप्ति होती है। कर्म फल सबके लिए समान है उसमें हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं है। हे मनुष्य! तू अपने चंचल मन की गति को नहीं जानता यह तो द्वैत भाव का सृजन कर दुःख का कारण बनता है।

कबीर कहते हैं कि संसार में जितने भी विलम्बा है वे माया और विषयाकार के द्वारा ही हैं। जब साधक शून्य में समाविष्ट हो जायेगा तब इन विषय-वासना का उससे कोई सम्पर्क नहीं रहेगा।

> सुरकी धरम बहुत हम खोजा बहु बजगार करैं ए बोधा।
> गाफिल गरब करें अधिकाई स्वारथ अरथि बधें ए गाई॥
> जाकौ दूध धाइ करि पीजै ता माता कौं बध क्यू कीजै।
> लहुरै थकें दुहि पीया खीरो ताका अहमक भकै सरीरो॥
> बेअकली अकलि न जानहीं भूले फिरें ए लोइ।
> दिल दरिया दीदार बिन भिस्त कहाँ थैं होइ॥

मुसलमान लोग बहुत धर्म की दुहाई देते हैं और उसी के लिए नाना कर्म करते हैं। वह व्यर्थ का वास्तविक मिथ्या गर्व करते हैं और अपने स्वार्थ के लिये भी गाय की हत्या कर देते हैं जिसके मधुर दुग्ध का पान वीड़कर करते है उसी गौमाता की हत्या का साहस वे किस प्रकार से करते हैं? गौ को समाप्त कर बकरी का खारा दूध पीने वालों को मूर्ख की ही संज्ञा दी जा सकती है। ये लोग व्यर्थ स्वर्ग की खोज में भटकते फिरते हैं किन्तु इन मूर्खों बुद्धिहीनों को ज्ञात नहीं कि हृदय की विशालता दयालुता एवं प्रभु-दर्शन के बिना स्वर्ग प्राप्ति नहीं होती।

> पंडित भूले पढ़ि गुन्य बेदा आप न पावैं नांना भेदा।
> संध्या तरपन अरु षट करमा लागि रहे इनकै आसरमा॥
> गायत्री जुग चारि पढ़ाई पूछौ जाइ कमति किनि पाई।
> सब मैं रांम रहे ल्यौ सीचा इन थैं और कहौ को नींचा॥
> अति गुन गरब करैं अधिकाई अधिकै गरबि न होइ भलाई।
> जाकौ ठाकुर गरब प्रहारी सो क्यू सकई गरब सहारी॥
> कुल अभिमान बिचार तजि खोजौ पद निरबांन।
> अंकर बीज नसाइगा तब मिलै बिदेही थान॥

संसार के माया-मोह में जकड़ता हुआ भी व्यर्थ शास्त्रचर्चों का पारायण करता है। इनकी आश्रम व्यवस्था में संध्या तर्पण और षट्कर्मों के लिये विधि-विधान के

अतिरिक्त और कुछ नहीं । चाहे व चार युगों तक गायत्री-जप करें किन्तु इन्हें वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। इन जीवों को यह कौन समझाये कि प्रत्येक स्थान पर प्रभु वर्तमान है। इनम व्यर्थ का मिथ्या दम्भ प्रत्यधिक है जबकि यह हानिकारक है। जिस साधक भक्त के आराध्य सर्वमंगलकारी हैं वह भला क्यों गर्व करेगा।

कबीर कहते हैं कि कुल-जाति के मिथ्या दम्भों का परित्याग कर परम प्रभु की खोज करो। जब तुम पूर्ण विनय सहित सर्वात्म—समर्पण कर दोगे तभी उस निर्गुण की प्राप्ति सम्भव है।

> छत्री करै छत्रिया धरमो तिनकूं होय सवाया करमो।
> जीवहि मारि जीव प्रतिपारै, देखत जनम आपनों हारैं॥
> पंच सुभाव जु मेटै कामा सब तजि करम भजैं रांम रामा।
> छत्री सों जु कुटुंब सूं झूझै पंचूं मेटि एक कूं बूझै॥
> जो आवध गुर ग्यान लखावा गहि करवाल धूप धरि धावा।
> ऐसा करै निसांनैं घाऊ, झूझ पर तहां मनमथ राऊ॥
> मनमथ मरै न जीवई, जीवण मरण न होइ।
> सुनि सनेही रांम बिन गये अपनपौ खोइ॥

यदि क्षत्रिय अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन करे तो उसे सवा गुना अर्थात् अत्यधिक पुण्य-फल प्राप्त हो। जो भयंकर जीवों से मानवमात्र की सहायता के लिये अपना सर्वस्व तक बलिदान कर दें वही क्षत्रिय हैं। वही राम का सच्चा भक्त है जो पंचेन्द्रियों के स्वार्थों को समाप्त कर दे। क्षत्रिय वही है जो माया कुटुम्ब (जिसे माया कटक कहा गया है) से युद्ध करे और पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का परित्याग कर केवल मनभावना में प्रवृत्त हो। जो यावज्जीवन गुरु वचनों पर चल सांसारिक बाधाओं को सहते हैं वे क्षत्रिय हैं। जो कामदेव रूपी राजा से युद्ध कर उसे पराजित कर दे वही वास्तविक रूप में क्षत्रिय है।

कबीर कहते हैं कि आत्मा का न मरण होता है और न जन्म किन्तु जो लोग राम की भक्ति बिना इस संसार से चले गये वे तो अपना सर्वस्व नष्ट कर ही गये।

> अरु भूले षट दरसन भाई पाषंड भेष रहे लपटाई।
> जैन बोध अरु साकत सैंना चारवाक चतुरंग बिहूंनां॥
> जैन जीव की सुधि न जांनैं पाती तोरि देहुरै आनैं।
> दौनां मरवा चंपक फूला तामैं जीव बसैं कर तूला॥
> अरु प्रिथमी का रोम उपारैं देखत जीव कोटि संघारैं।
> मनमथ करम करैं असरारा कलपत बिंद धसैं तिहिं द्वारा॥
> ताकी हत्या होइ अदभूता षट दरसन मैं जैन बिगूता।

ग्यान भ्रमर पद बाहिरा नेड़ा हो स दूरि।
जिमि जाण्यां तिनि निकटि है, रांम रह्या सकल भरपूरि ॥

संसार के समस्त लोग षट्दर्शनों के मिथ्या वितण्डा-वाद में पड़े हुए विविध वेष धारण किये घूम रहे हैं। जन बौद्ध, श्रावक आदि विविध विचारधाराओं के पचड़े में सब पड़े हुए हैं। जन बसे तो अहिंसा की दुहाई देते हैं किन्तु कभी कभी वे ऐसे दुष्कृत्य करते हैं कि जीव-हत्या का तनिक भी ध्यान नहीं रहता। वे कोने में भरकर जो चंपक आदि के सुमन चढ़ाते हैं उसमें तो करोड़ों जीव होते हैं और जब मन्दिर आदि के लिए पृथ्वी को खोदते हैं तब न जाने कितने जीवों की हत्या होती है। कामदेव संसार में विविध प्रपंच रच उनमें लोगों को फंसा लेता है। इन विषय वासना कर्मों में भी जीव-हत्या होती है—इस भांति जैन आदि विविध मतावलम्बी इन्हीं टंटों में उलझे रहते हैं। वह परम प्रभु ज्ञानहीनों के लिये पास रह कर भी दूर है। जो उसे जानते हैं उनके लिये वह पास हो जाता है वे उसका साक्षात्कार कर लेते हैं। वस्तुतः वह ब्रह्म तो सर्वत्र रम रहा है।

आपन करता भये कुलाला बहु बिधि सिष्टि रची दर हाला।
बिधनां कुंभ किये द्वै थांनां प्रतिबिंबता मांहि समांनां ॥
बहुत जतन करि बानक बांनां सौंज मिलाय जीव तहां ठांनां।
जठर अगनि दी की परजाली ता मैं आप करै प्रतिपाली ॥
भी तर थैं जब बाहिर आवा सिव सकती द्वै नांव धरावा।
भूलै भरमि पर जिनि कोई हिंदू तुरक झूठ कुल दोई ॥
घर का सुत जे होइ अयांनां ताकै संगि क्यूं जाइ सयांनां।
सांची बात कहै जे बासू सो फिरि कहै दिवांनां तासू ॥
गोप भिन्न है एकै दूधा कासूं कहिए बांम्हन सूधा।
जिनि यहु चित्र बनाइया सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन भले जे चित्रवत लेहि बिचार ॥५॥

वह प्रभु स्वयं ही इस सृष्टि का निर्माता कुम्भकार है जिसने इस माया रूपात्मक जगत का सृजन किया। ब्रह्म इस सृष्टि में उसी प्रकार विद्यमान है जिस भाँति भिन्न स्थानों पर रखे हुए घटों में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है। बहुत भांति के आयोजनों द्वारा इस सृष्टि का निर्माण हुआ है और तब उसमें जीव की अवस्थिति। मातृ-उदर में गर्भस्थ शिशु को जठराग्नि जलाये डालती है किन्तु वहाँ भी वह दयालु जीव की रक्षा करता है। जब जीवात्मा वहाँ से बाहर आता है तो उसे लिंग-भेद अनुसार नाम प्राप्त होता है जो शिव (पुरुष) अथवा शक्ति (माया-नारी) का प्रतीक है। चाहे कोई हिन्दू हो अथवा मुसलमान किन्तु उसे भूल कर भी संसार भ्रम में

नहीं पड़ना चाहिए। यदि घर का बेटा ही खोटा कपटिन निकल आये तो फिर उसके साथ चतुर व्यक्ति भी ठीक नहीं रह सकता। अतः दुर्जनों से दूर ही रहना चाहिए। यदि कोई सत्य बात कह दे तो फिर उससे तो ज्ञान लाभ होता ही है जिससे श्रोता संसार को त्याग देता है। समस्त मानव मात्र एक ही तत्व से निर्मित हैं केवल जाति भेद नाम मात्र का है।

कबीर कहते हैं कि जिस ईश्वर ने इस विचित्र-विचित्र सृष्टि की रचना की है वही इसका वास्तविक नियन्ता है। जो उसे हृदय में प्रमिट स्थान देता है वही उत्तम पक्षी का भक्त मनुष्य है।

बारहपदी रमैणी

पहला मन मैं सुमिरौं सोई ता सम तुलि अवर नहीं कोई।
कोई न पूजै वांसू प्रांना आदि अंति वो किनहूं न जांनां॥
रूप सरूप न आवै बोला हरू गरू कछू जाइ न तोला।
भूख न त्रिषा धूप नहीं छांहीं सुख दुख रहित रहै सब मांहीं॥
अविगत अपरंपार ब्रह्म ग्यांन रूप सब ठांम।
बहु बिचार करि देखिया कोई न सारिख रांम॥

सर्वप्रथम मैं उस परमात्मा का मन में स्मरण करता हूं क्योंकि उसकी महिमा अतुलनीय एवं अनुपम है। कोई भी उसके अन्तर का भेद नहीं जान सकता और न उसके आदि मध्य अवसान का कुछ पता है। न तो हम उसकी रूप रंग वर्ण आदि का विचार कर सकते हैं और न उसके भार-प्रभार का अनुमान कर सकते हैं। न उसे भूख लगती है और न प्यास धूप-छांह कुछ भी उसे नहीं सताती। वह समस्त सुख-दुखों से निलिप्त है। वह अगम्य महामहिम प्रभु सर्वत्र व्यापक है। बहुत विचार कर देख लिया किन्तु कोई भी उसकी समता नहीं कर सकता।

जो त्रिभुवन पति ओहै ऐसा ताका रूप कहौ धौं कैसा।
सेवग जन सेवा कै तांई बहुत भांति करि सेवि गुसांई॥
तैसी सेवा चाही लाई जा सेवा बिन रह्या न जाई।
सब कर तीं जो दुख भाई, सो दुख सुख करि गिनहु सबाई॥
सब कर तीं सो सुख पाया तिन सुख दुख दोऊ बिसराया।
सेवग सेव भुलानियां पंथ कुपंथ न जांन।
सेवक सो सेवा करै जिहि सेवा भल मांन॥

जो त्रिलोकीनाथ ऐसा महामहिम है उसका स्वरूप-वर्णन कैसे किया जा सकता है? इस प्रकार-का तो है प्रभु! सेवक उसकी स्वामी की अनेक प्रकार की विविध भांति से सेवा कर सकते हैं। हमको वही सेवा भक्ति करनी चाहिए जिसके बिना

हम रह न सकें। यदि प्रभु-सेवा में कुछ दुख उठाना पड़े तो उसे भी सुख से सवा गुना अधिक सुख मानकर सहन करना चाहिए। जो ईश्वर-सेवा में आनन्द प्राप्त करने लगता है फिर उसके लिए सांसारिक सुख-दुख का कोई महत्व नहीं रह जाता। किन्तु आज ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि सेवक सेवा-भक्ति के वास्तविक महत्व प्रयोजन भुला बैठे हैं। भक्त तो वही है जो प्रभु भक्ति में गौरव एवं सुख अनुभव करता है।

जिहि जग की तस की तस के ही आपै आप आपिहै एही।
कोई न लखई वाका भेऊ, भेऊ होइ तो पावै भेऊ॥
बाव न दाहिनै आगैं न पीछू अरध न उरध रूप नहीं कीछू।
माय न बाप आव नहीं जावा नां वहु जण्यां न को वहि जावा॥
जो है जैसा वोही जानैं ओही आहि आहि नहीं आनैं।
नैनां बैन अगोचरी श्रवनां करनी सार।
बोलन कै सुख कारनैं कहिये सिरजनहार॥

ईश्वर ने संसार की रचना स्वयं किसी अन्य की सहायता के बिना की। कोई भी उस परमात्मा के रहस्य का पार नहीं पा सकता और वास्तव में वह भेद-भाव द्वैत भाव से दूर है इसीलिए कोई उसका पार नहीं पा सकता। उसके बाम दक्षिण ऊपर-नीचे किसी भी पक्ष के चिन्ह नहीं बताये जा सकते क्योंकि उसका कुछ रूपाकार है ही नहीं। न उसका कोई माता पिता है और न उसका जन्म-मरण होता है। वह जैसा है वही जानता है अर्थात् वह स्वयं ही अपने स्वरूप रहस्य का ज्ञाता है।

वह वहा नेत्र वाणी श्रवण आदि की परिधि से दूर है। उस सृजनहार परमात्मा के गुणगान से ही सुख लाभ होता है।

सिरजनहार नांव धू तेरा भौसागर तिरिबे कू भेरा।
जे यहु मेरा राम न करता तौ आपैं आप आवटि जग मरता॥
राम गुसांई मिहर जु कीन्हां भेरा साजि सत कौं दीन्हां।
दुख खंडण मही मंडणां भगति मुकति बिश्रांम।
बिधि करि भेरा साजिया धर्या राम का नांम॥

हे प्रभु! आपका नाम ही इस संसार-समुद्र से पार उतरने के लिए जलयान के समान है। यदि आपके नाम का आश्रय न होता तो संसार स्वयं परस्पर संघर्ष द्वारा समाप्त हो जाता ईश्वर ने यथार्थ हो यह राम नाम का पोत साधु पुरुष को प्रदान कर दिया। दुख के स्थान में भक्ति ही मुक्ति का साधन रूप है। इस संसार सागर से

पार जाने के लिए राम नाम की भावना का पोत बनाकर साधक को भगवान् ने दे दिया ।

विशेष—सांगरूपक ।

> जिनि यहु भेरा दिढ़ करि गहिया, गये पार तिन्हौं सुख लहिया ।
> दुमनां ह्वै जिनि चित्त डुलाया, कर छिटके थें थाह न पाया ॥
> इक डूबे अरु रहे उरवारा, ते जगि जरे न राखणहारा ।
> राखन की कछु जुगति न कीन्ही, राखणहार न पाया चीन्ही ॥
> जिनि चीन्हां ते निरमल अंगा, जे अचीन्ह ते भये पतंगा ।
> रांम नांम ल्यौ लाइ करि, चित चेतनि ह्वै जागि ।
> कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे रांम ल्यौ लागि ॥

जिन्होंने राम-नाम का यह पोत दृढ़ रूप में पकड़ कर अपना सम्बल बना लिया है वे संसार-सागर से तर गये और उन्होंने सुख लाभ किया । जो द्वैत भावना में पड़ मन को भटकाते रहते हैं और राम-नाम का सम्बल नहीं पकड़ते वे संसार-सागर में डूब जाते हैं उन्हें थाह भी नहीं मिलती । जो संसार-समुद्र में ही डूबे रहते हैं वे तो नष्ट ही हो जाते हैं उनका रक्षक तो प्रभु भी नहीं है । जो प्रभु को जान जाते हैं उनके चित्त अन्तर-बाह्य शुद्ध हो जाता है अन्यथा शेष मनुष्य तो माया-दीप पर मरने वाले पतंग बने रहते हैं । राम-नाम में अपनी वृत्ति रमा हृदय को सावधान कर जो भक्ति करते हैं कबीर का विचार है कि वही मुक्तात्मा होते हैं ।

> अरचित अविगत है निरधारा, जांण्यां जाइ न वार न पारा ।
> लोक वेद थें अछै नियारा, छाड़ि रह्यौ सबही संसारा ॥
> जसकर गांउ न ठांउ न खेरा, कैसें गुन बरनूं मैं तेरा ।
> नहीं तहां रूप रेख गुन बांनां, ऐसा साहिब है अकुलांनां ॥
> नहीं सो ज्वान न बिरध नहीं बारा, आपैं आप आपनपौ तारा ।
> कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को लावै संग ।
> सेवौ तन मन लाइ करि, रांम रह्या सरबंग ॥

वह निर्गुण परमात्मा अगम्य एवं अलभ्य है उसका रहस्य नहीं जाना जा सकता । ईश्वर के विषय में वेदादि धर्मग्रन्थों एवं लोक में जो विश्वास है वह उससे सर्वथा भिन्न है । उसका वर्णन कैसे किया जाय? रूपरेखाविहीन निर्गुण स्वामी की विचित्र गति है । न वह युवा है और न वृद्ध है । स्वयं ही अपना भाग्य-निर्माता है । कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि राम सर्वव्यापी है अतः मनसा-वाचा-कर्मणा उसकी आराधना करो ।

नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा नहीं सो तात नहीं सो सियरा।
पुरिष न नारि करै नहीं कीरा घांम नां घांम न ब्यापै पीरा।
नदी न नाव धरनि नहीं धीरा नहीं सो कांच नहीं सो हीरा॥
कहै कबीर बिचारि करि, तासू लावो हेत।
बरन बिबरजत ह्वै रह्या नां सो स्यांम न सेत॥

वह ईश्वर न तो दूर है क्योंकि हृदयस्थ है और न पास ही है क्योंकि साधना द्वारा भी दुष्प्राप्य है। न वह मित्र है और न शत्रु। न वह पुरुष रूप में है और न स्त्री न उसे धूप-दुख आदि व्यापते हैं। न वह नदी है और न नाव और न पृथ्वीरूप ही है। कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि उसी ईश्वर से प्रेम करो न वह श्याम है और न श्वेत वह तो वर्ण रंग सीमातीत है।

नां सो धारा ब्याह बराता पीत पितंबर स्यांम न राता।
तीरथ ब्रत न आव जाता मन नहीं मोनि बचन नहीं बाता॥
नाद न बिंद गरथ नहीं गाथा पवन न पांणी संग न साथा।
कहै कबीर बिचारि करि ताकै हाथि न नाहि।
सो साहिब किनि सेविये जाकै धूप न छांह॥

न वह विवाहित है और न क्वांरा। न वह पीताम्बरधारी है और न श्याम अथवा लाल रंग का वस्त्र धारण करने वाला। न वह नाद है और न बिन्दु न किसी धर्मशास्त्र का विषय है और न किसी कथा आदि का। उसके साथ वायु पानी कुछ भी नहीं है। कबीर कहते हैं कि उसके हाथ-पैर कुछ भी नहीं है, अतः इस ईश्वर की सेवा कैसे की जावे जिसे धूप-छांह सुख-दुख भी नहीं व्यापते।

ता साहिब के लागौ साथा दुख सुख मेटि रह्यौ अनाथा।
नां दसरथ घरि औतरि आवा नां लंका का राव सतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा नां जसवै ले गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन क संग फिरिया गोबरधन ले न कर धरिया॥
बावन होय नहीं बलि छलिया धरनी बेद लेन उधरिया।
गंडक सालिगरांम न कोला मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बद्री बैस्य ध्यांन नहीं लावा परसरांम ह्वै खत्री न संतावा।
द्वारामती सरीर न छाड़ा जगनंनाथ ले प्यंड न गाड़ा॥
कहै कबीर बिचारि करि ये ऊलै ब्योहार।
याही थैं जु अगम है सो बरति रह्या संसारि॥

इसलिए हे प्राणी मन! तुम उसी ईश्वर के आश्रित होकर रहो क्योंकि वह समस्त सुख-दुख का मिटाने वाला है। वह प्रभु दशरथनन्दन राम के रूप में अवतरित

हो सका के राजा को नहीं सताता। न वह मातृ उदर में स्थित रह जन्म धारण कर यशोदा की गोदी में खेलता है। कृष्ण रूप में वह गोपिकाओं के साथ प्रेमक्रीड़ाओं में मस्त नहीं रहा और न उसने गोवर्द्धन पर्वत उंगली पर उठाया था। प्रभु ने वामन रूप धरकर राजा बलि को भी नहीं छला था और न मत्स्य अवतार में पृथ्वी पर उसने वेदों की रक्षा की थी। वह सालिगराम की पिंडी अथवा मछली और कछुए के रूप में भी नहीं रहा। बद्रीनाथ सठ बनकर कभी भी उसने भजन नहीं किया और न परशुराम बन क्षत्रिय संहार की प्रतिज्ञा कभी उसने की। द्वारकापुरी में न उन्होंने शरीर-मोह त्यागा और न किसी ने उस शरीर को पृथ्वी में गाड़ा है। कबीर कहते हैं कि संसार के अन्य सब कार्य तो व्यर्थ हैं। केवल उसी अगम्य प्रभु का ध्यान करो जो संसार का नियमन कर रहा है।

> नां तिस सबद न स्वाद न सोहा नां तिहि मात पिता नहीं माहा।
> नां तिहि सास ससुर नहीं सारा ना तिहि राम न रोवनहारा॥
> नां तिहि सूतिग पातिग जातिग नां तिहि माइ न देव कथा पिक।
> नां तिहि बिरध बधावा बाजै नां तिहि गीत नाद नहीं साजै॥
> नां तिहि जाति,पांत्य कुल लोका नां तिहि छोति पवित्र नहीं सीचा।
> कहै कबीर बिचारि करि ओ है पद निरबान।
> सति ले मन मैं राखिये जहाँ न दूजी आन॥

उस ईश्वर को न तो गुरु उपदेश के शब्दों की आवश्यकता है न वह इन्द्रियों के स्वाद से संश्लिष्ट है। वह माता-पिता आदि के मोह में भी पड़ा हुआ नहीं है। न उसके सास ससुर अथवा साला है और न उसे कोई दुःख है जिससे व्यथित हो वह अश्रु बहाए। न उसे सूतक पातक जातक आदि व्यापते हैं। न वह कोई सुन्दर कथा वाणी देती है। न उसे वृद्धावस्था आती है और न ही उसका जन्म होता है। उसे गान आदि रस-राग भी रुचिकर नहीं। न उसके यहां उच्च और निम्न वर्ग का भेदभाव है और न वह जाति-पाति कुल की संकुचित सीमाओं में बंधता है। कबीर विचार-पूर्वक कहते हैं कि वह ईश्वर परमतत्व है वह केवल सत्य धारण—भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है।

> ना सो आवै ना सो जाई ताकै बंध पिता नहीं माई।
> चार बिचार कछू नहीं वाकै उनमनि लागि रहौ जे ताकै॥
> को है आदि कवन का कहिये कवन रहनि वाका ह्वै रहिये।
> कहै कबीर बिचारि करि जिनि को खोजै दूरि।
> ध्यान धरौ मन सुध करि राम रह्या भरपूरि॥

वह ईश्वर न तो जन्म ग्रहण करता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है। उसका

माता-पिता भाई आदि कोई सगा सम्बन्धी भी नहीं है। न उसके यहाँ कोई आचार व्यवहार है, सम्पन्नावस्था द्वारा जो चाहे उसे प्राप्त कर सकता है। उसके आदि मध्य अवसान अथवा जीवन-मरण का किसी को भी ज्ञान नहीं।

कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि जिस ईश्वर को तुम दूर खोजते हो विचार कर देखो तो वह तो तुम्हारे हृदय में ही बसा हुआ है।

विशेष—तुलना कीजिए—

> कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूँढै बन माँहि।
> ऐसे घट घट राम है दुनिया देखै नाँहि।

> नाद बिंद रंक इक खेला आपैं गुरू आप ही चेला।
> आपै मंत्र आपैं मंत्रला आपै पूजै आप पूजला॥
> आपै गावै आप बजावै अपना कीया आप ही पावै।
> आपै धूप दीप आरती अपनी आप लगावै जाती॥
> कहै कबीर बिचारि करि झूठा लोही चाँम।
> जो या देही रहित है सो है रमिता राँम॥

नाद एवं बिन्दु की सहायता से उस ईश्वर ने इस सृष्टि का सृजन किया। वह स्वयं ही अपना गुरु और स्वयं ही अपना शिष्य है। वह पूजा और पूजक भी स्वयं ही है। वह स्वयं ही गाता बजाता है और स्वयं ही अपने कर्मों का फल भोगता है। वह स्वयं ही आराध्य और स्वयं ही आराधक तथा धूप दीप नैवेद्य आदि पूजोपकरण है। भाव यह है कि सर्वशक्तिमान् स्वयं में पूर्ण है उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। कबीर विचार कर अपनी जिव्हा कोई को सम्बोधित कर कहते हैं कि यह शरीर मिथ्या है जो इस तन के सुखों में नहीं उलझा रहता उसी की मति प्रभु में रमती है।

चौपदी रमैंणी

> ऊंकार आदि है मूला राजा परजा एकहि सूला।
> हम तुम्ह माँहैं एकै लोहू एकै प्रांन जीवन है मोहू॥
> एकहि बास रहै दस मासा सूतक पातग एकै आसा।
> एकही जननी जान्यां संसारा कौंन ग्यांन थैं भये निनारा॥
> ग्यांन न पायो बावरे, धरी अविद्या मैंड।
> सतगुर मिल्या न मुक्ति फल तातैं खाई बैंड॥

इस सृष्टि का आदि नियामक वह ईश्वर ही है। राजा और रंक राजा और प्रजा सब उसी की ही सृष्टि है। हम सब में एक ही रक्त संचरित होता है और एक

ही प्राणतत्व विद्यमान है। सब मातृगर्भ में दस मास तक रहे हैं और सबको ही मृत्यु-पातक व्यापते हैं। हमको एक ही शक्ति द्वारा माता ने जन्म दिया है फिर भला यह कौन सा ज्ञान है जिससे वर्ग भेद की खाई उत्पन्न कर दी गई है।

कबीर कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव ! तुमने ज्ञान-लाभ नहीं किया और तुम्हारे अन्तर अज्ञान ही रहा। तुम्हें सद्गुरु की भी प्राप्ति न हुई जिससे मोक्ष फल भी न पा सके और संसार-तापों में बन्ध होते रहे।

बालक ह्वै भग द्वारे आवा भग भुगतन कूं पुरिष कहावा।
ग्यांन न सुमिरयो निरगुण सारा विष थैं बिरचि न किया बिचारा॥
साध भगति सूं हरि न अराधा जनम मरन की मिटी न साधा।
साध न मिटी जनम की मरन तुरांमा आइ।
मन क्रम बचन न हरि भज्या अंकुर बीज नसाइ॥

मनुष्य बालक के रूप में जन्म-धारण कर मातृ गर्भ से योनिद्वार के द्वारा बाहर आता है किन्तु जो भुक्त-भोगी हैं उन्हें फिर वह क्यों पुरुष कहने का साहस करता है। उस निर्गुण परमात्मा का ध्यान करते हुए विरक्ति से भी कभी उसका स्मरण न किया। प्रेमाभक्ति से ईश्वर को न भजने से जन्म-मरण का आवागमन चक्र समाप्त नहीं होता।

इस जन्म-मरण के प्रपंच का आवागमन चक्र का नाश नहीं हुआ और न मनसा-वाचा-कर्मणा दत्तचित हो प्रभु का भजन किया जिससे संसार-ताप समूल नष्ट हो जाते।

तिरण चरि सुरही उदिक जु पीया द्वारैं दूध बछ कूं दीया।
बछा चूंखत उपजी न दया बछा बांधि बिछोही मया॥
ताका दूध आप दुहि पीया ग्यांन बिचार कछू नहीं कीया।
जे कुछ लागनि सार किया माता मंत्र यादि ही सीया॥
पीया दूध रुध्र ह्वै आया मुई गाइ तब दोष लगाया।
बाकस ले चमरां कूं दीन्हीं तुचा रंगाइ करौती कीन्हीं॥
लै रकरौती बैठे संगा ये देखी पांडे के रंगा।
तिहि रकरौती पांणी पीया
यहु कुछ पांडै अचिरज कीया।
अचिरज कीया लोक मैं पीया सुरागल नीर।
इंद्री स्वारथि सब कीया बंध्या भरम सरीर॥

यहाँ कबीर गाय के दृष्टान्त द्वारा संसार की स्थिति को प्रकट करना चाहते हैं कि गाय घास और जल खाकर ही अपनी शक्ति से बछड़े के लिए दूध देती है किन्तु

बछड़े को भूखा हुए मरा भी दया नहीं आती और वह सिर मार कर भूखता है जिससे गाय उससे अलग हो जाती है। फिर मनुष्यों ने उस बछड़े का भाग दूध स्वयं निकालकर पी लिया यह भी नहीं सोचा कि यह हमारे लिए नहीं है। संसार के इन लोगों ने जो भी कुकर्म जी में आया है किया और बाद में माला आदि लेकर व्यर्थ भक्ति का आडम्बर खड़ा किया है—

'नौ मन चूहे खाय बिल्ली हज को चली। (लोकोक्ति)

गाय का दूध पीकर मनुष्यों ने उसे शक्तिहीन कर दिया और जब वह मर गई टैक्स लेकर उसे चमारों को दे दिया फिर उसी की माता की खाल को रंगवा कर जूते आदि बनवा लिये और मशक भी बनवाई। इन पण्डित कहे जाने वालों का यह कार्य देखो कि उस मशक को सबके साथ गौरव सहित लिए फिरते हैं और उसी से पानी पीते हैं—कैसा मिथ्याचार है? इस प्रकार ऐसे मार्गों से संसार में बड़े आश्चर्य पूर्ण दुष्कृत्य किये हैं यद्यपि कहने के यही हैं कि हमने गौ-चर्म की मशक का स्वादिष्ट जल पीया है वस्तुतः उन्होंने जिह्वा के तथा अन्य इन्द्रियों के रस के लिए शरीर को नाना प्रपंचों में जिन्हें वे आनन्द समझते हैं उलझाया है।

विशेष—'गो-हत्या निरोध आन्दोलन' तो आज चला है किन्तु यह कबीर की दूरदर्शिता है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए उन्होंने गऊ का महत्व समझ लिया था किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वप्रथम कबीर ने ही इस गौ की रक्षा की बात उठाई हो। उनकी विशेषता यही है कि गौ की रक्षा के साथ ही उन्होंने तथाकथित सवर्ण हिन्दुओं की पोल खोली है।

एकै पवन एकहि पाणी करी रसोई न्यारी जांनीं।
माटी सू माटी ले पोती, लागी कहौ कहां थू छोती॥
धरती लीपि पवित्र कीन्हीं छोति उपाय लीक बिचि दीन्हीं।
याका हम सू कहौ बिचारा क्यू भव तिरिहौ इहि आचारा॥
ए पाखंड जीव के भरमा मानि अमानि जीव के करमा।
करि आचार जु ब्रह्म संतावा नांव बिनां संतोष न पावा॥
सालिगराम सिला करि पूजा तुलसी तोड़ि भया नर दूजा।
ठाकुर ले पाटै पौढ़ावा भोग लगाइ अरु आपै खावा॥
साच सील का चौका दीजै भाव भगति की सेवा कीजै।
भाव भगति की सेवा मांनै सतगुर प्रगट कहै नहीं छांनैं॥
अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न समाई।
जब लग भाव भगति नहीं करिहौ तब लग भवसागर क्यू तिरिहौ॥

भाव भगति बिसवास बिन कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन मुकति नहीं रे मूल॥

कबीर यहाँ ब्राह्मणों के छुआछूत "नौ कनौजिया तेरह-चूल्हे" के मिथ्याचारों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि सबका एक ही अन्न और वायु है किन्तु फिर भी अपना भोजन अलग बनाकर उन्होंने तुष्टि अनुभव की कि हम श्रेष्ठ हैं। जब उन्होंने मिट्टी से ही चौके को लीपा है तो फिर भला छूत कहाँ बची रही? और क्या मनुष्य मिट्टी से भी निकृष्ट है जिससे वह अपने चौके का बचाव करता है। चौके को लीप कर उसे और अधिक पवित्र रखने के लिए उसके चारों ओर सीमा-रेखा बांध दी। कबीर कहते हैं कि इस आचरण में कौन सी बुद्धिमत्ता और श्रेष्ठता है, इन मिथ्याचारों से किस भाँति संसार-समुद्र पार करोगे? यह पाखण्ड तथा व्यर्थ का मान-सम्मान ऊँच नीच भेद बोध का भ्रम-मात्र ही है। ऐसे व्यर्थ कर्म करके जो ईश्वर को भी दुख पहुंचाते हैं वे मूर्ख हैं प्रभु के नामस्मरण के बिना शान्ति नहीं। पत्थर के टुकड़े को शालिग्राम के रूप में पूज और तुलसीदल तोड़ कर मनुष्य अपने को भक्त समझता है (क्या गर हुआ)। ठाकुर जी को न भोग शयन भी कराते हैं और उनमें भोग लगाकर स्वयं भोजन ग्रहण करते हैं। यह कैसा आडम्बर है? अरे मूर्ख 'सत्याचरण का चौका लगाकर प्रेमाभक्ति से प्रभु को प्राप्त करो। ईश्वर भावपूर्ण भक्ति से निश्चय ही प्राप्त होंगे"—सद्गुरु का ऐसा कथन है किन्तु हे जीव! मेरी तो विचित्र गति है मुझमें मद का संचार हो रहा है और मेरा चित्त भी चंचल है जो परोपकार में तो रमता ही नहीं है। कबीर कहते हैं कि जब तक प्रेम भाव से प्रभु की भक्ति नहीं करोगे इस संसार-समुद्र को नहीं तर सकोगे।

प्रेमसहित प्रभु-भक्ति और प्रभु पर अनन्य विश्वास के अभाव में संसार भ्रम समूल नष्ट नहीं होगा (कदाचित् ज्ञान से वह नष्ट हो जाय किन्तु समूल नष्ट तो भक्ति से ही होगा।) इसीलिए कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति के बिना मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं।

विशेष—१ समाज के बाह्याचारों पर करारी चोट में कबीर के व्यंग्य का श्रेष्ठतम रूप प्राप्त होता है।

२ नामस्मरण महिमा।

३ प्रेमाभक्ति और अनन्य विश्वास यही दो कबीर की भक्ति के दृढ़ स्तम्भ हैं जिन पर यहाँ बल दिया गया है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

१ कबीर ग्रन्थावली — श्री श्यामसुन्दर द्वारा सम्पादित

२ कबीर की विचार धारा — डा गोविन्द त्रिगुणायत

३ कबीर — डा हजारीप्रसाद द्विवेदी

४ कबीर वचनावली — श्री हरिऔध

५ कबीर का रहस्यवाद — डा रामकुमार वर्मा

६ कबीर और जायसी का रहस्यवाद — डा गोविन्द त्रिगुणायत

७ कबीर और जायसी का मूल्यांकन — श्री पुरुषोत्तम चन्द्र वाजपेयी

८ तसव्वुफ और सूफीमत — श्री चन्द्रबली पाण्डेय

९ कबीर एक अध्ययन — डा रामरतन भटनागर

१० कबीर पंथ — श्री शिव व्रतलाल

११ कबीर-बीजक — श्री हंसराज शास्त्री

१२ कबीर एक विवेचन — डा सरनाम सिंह

१३ हिन्दी साहित्य का इतिहास — श्री रामचन्द्र शुक्ल

१४ कबीर साहित्य और सिद्धान्त — श्री यज्ञदत्त शर्मा

१५ कबीर जीवन-वृत्त — श्री चन्द्रबली पाण्डेय